

काव्यप्रकाशः ।

श्रीमन्नटभट्टविरचितः ।

पण्डितकुलपतिना

वि, ए, उपाधिधारिणा

श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्य्येण

प्राचीनां व्याख्यामवलम्ब्य सङ्कलितया

व्याख्यया समङ्कतः ।

द्वितीयसंस्करणम् ।



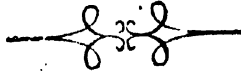
कलिकातानगरे

कलिकाता यन्त्रे

मुद्रितः ।

१९२०।

काव्यप्रकाशस्य सूचीपत्रम् ।



| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ | विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ |
|---------------------------|-------------------|--|-------------------|
| अथ प्रथमीत्यासारम्भः | १ १ | साध्यवसाना | ४० ३ |
| मङ्गलाचरणम् | ४ १ | गौणी | ४० ० |
| काव्यस्य प्रयोजनम् | ७ ३ | गुहा | ४० ० |
| „ कारणम् | १० १ | गौर्वाङ्गीक इत्यत्र लत्यार्थ- | |
| „ स्वरूपम् | १३ १ | निरर्थः | ४१ ३ |
| अम—(ध्वनि)—काव्यम् | १६ ३ | लक्षणायाः षड्विधत्वम् | ४४ ० |
| मध्यम—(गुणीभूतव्यङ्ग्य)— | | गूढव्यङ्ग्यम् अगूढव्यङ्ग्यम् | ४५ ३ |
| काव्यम् | १९ ३ | लक्षणायाः त्रैविध्यम् | ४६ ३ |
| अधुम—(चित्र) काव्यम् | २० ३ | लाक्ष्यिकशब्दः | ४६ ४ |
| अथ द्वितीयोक्त्यासारम्भः | २२ १ | लक्षणासूत्रव्यञ्जनाव्यव- | |
| शब्दभेदाः | २२ ३ | स्थापनम् | ४६ ८ |
| अर्थभेदाः | २२ ५ | अभिधामूला व्यञ्जना | ५० १ |
| तात्पर्यार्थः | २२ ७ | संयोगादिनैकार्थनियमम् | ५० ८ |
| अर्थव्यञ्जकता | २३ ५ | व्यञ्जकशब्दः | ५३ ५ |
| वाचकशब्दः | २६ १ | शब्दस्य व्यञ्जकतायामर्थस्य | |
| वाच्यार्थनिरर्थः | २७ ४ | सङ्कारिता | ५३ ७ |
| अभिधाविचारः | २७ ५ | अथ तृतीयोक्त्यासारम्भः | ५४ १ |
| लक्षणा | ३२ ८ | अर्थो व्यञ्जना | ५४ ४ |
| उपादानलक्षणा | ३६ १ | वक्त्रादीनां वैशिष्ट्ये व्यञ्जनस्योदा- | |
| लक्षणा-लक्षणा | ३७ १ | हरणम् | ५४ १० |
| आवेपार्थापत्तिस्थले न | | अर्थव्यञ्जकतायां शब्दस्य | |
| लक्षणा | ३७ ६ | साहाय्यम् | ६१ ३ |
| लक्षणायां प्रयोजनप्रतीतिः | ३८ ४ | अथ चतुर्थोक्त्यासारम्भः | ६२ १ |
| सारीपा लक्षणा | ३९ ४ | अविबचितवाच्यध्वनिः | ६३ ४ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तिः |
|------------------------------|--------------------|
| अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः | ६२ ५ |
| अत्यन्तविरक्ततवाच्यध्वनिः | ६२ ५ |
| विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिः | ६४ २ |
| अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः | ६४ ४ |
| विभावानुभावव्यभिचारिणः | ६५ ७ |
| रसस्वरूपम् | ६६ २ |
| रसनिष्पत्तिः भङ्गो- | |
| लटादिसम्भता | ६७ ३ |
| , श्रीशङ्कुसम्भता | ६७ ५ |
| , भङ्गनायकसम्भता | ७० १ |
| , अभिनवयुगसम्भता | ७१ १ |
| रसविभागः | ८१ १ |
| सुस्मेरुगः | ८३ १ |
| रसानामुदाहरणानि | ८४ १ |
| विप्रलम्भः | ८५ १ |
| स्थायिभावाः | ८३ १ |
| व्यभिचारिभावाः | ८३ ५ |
| शान्तरसः | ८६ ३ |
| भावः | ८८ १ |
| रसाभासभावाभासी | १०१ २ |
| भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः | |
| श्रवणता च | १०३ ४ |
| भावशान्त्यादीनां क्वचित् | |
| प्राधान्यम् | १०६ ४ |
| संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः | १०६ ७ |
| शब्दशक्त्युत्पन्नध्वनिः | १०७ ३ |
| शब्दशक्त्युत्पन्नकारध्वनि- | |
| रुदाहरणम् | १०९ ६ |
| शब्दशक्त्युत्पन्नध्वनिरुदा- | |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तिः |
|--|--------------------|
| हरणम् | ११० ३ |
| अर्थशक्त्युत्पन्नध्वनिविभागः | १११ १ |
| अर्थशक्त्युत्पन्नध्वनिप्रभेदानाम् | |
| उदाहरणानि | ११२ ६ |
| शब्दार्थोभयशक्त्युत्पन्नध्वनिः | १२० १ |
| शब्दशक्त्युत्पन्नार्थशक्त्युत्पन्नध्वनीनां | |
| प्रदगतत्वम् | १२१ ११ |
| अर्थशक्त्युत्पन्नध्वनीनां प्रबन्ध- | |
| गतत्वम् | १३५ ७ |
| रसादेः पदैकदेशरचनावर्ष- | |
| गतत्वम् | १३७ १ |
| रसादेः प्रबन्धगतत्वम् | १४६ २ |
| ध्वनेः शुद्धभेदसङ्कलनम् | १४६ ४ |
| ध्वनेः संसृष्टिसङ्करो | १४७ १ |
| ध्वनेः संसृष्टिसङ्कराधीना | |
| संख्या | १४७ ६ |
| ध्वनेर्भेदसमष्टिः | १४७ ८ |
| अथ पञ्चमीज्ञासारम् | १५० १ |
| गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यप्रभेदाः | १५० २ |
| अगुदव्यङ्ग्यम् | १५१ ३ |
| अपराङ्गव्यङ्ग्यम् | १५२ १० |
| अस्फुटव्यङ्ग्यम् | १६० १ |
| सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्यम् | १६१ ५ |
| वाच्यसिद्धरूपव्यङ्ग्यम् | १६१ ८ |
| काकाक्षिप्तव्यङ्ग्यम् | १६१ १० |
| असुन्दरव्यङ्ग्यम् | १६२ ३ |
| गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिवत् | |
| प्रभेदः | १६३ १ |
| वस्तुव्यङ्ग्यकारस्य तु गुणी- | |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ |
|----------------------------------|-------------------|
| भूतव्यङ्गता | १६३ ० २ |
| ध्वनिगुणीभूतव्यङ्गयोः | |
| सङ्करः | १६३ ६ |
| प्रकारान्तरेण ध्वनेस्त्रैवि- | |
| ध्यम् | १६४ ८ |
| व्यञ्जनावृत्तिसंस्थापनम् | १६५ १ |
| पञ्चमील्लाससमाप्तिः । | |
| षष्ठस्य उल्लासस्य अधमचित्तकाव्य- | |
| निर्णये तात्पर्यम् । | |
| अथ षष्ठील्लासारम्भः | १८८ ७ |
| शब्दचित्तार्थचित्तयोः | |
| स्वरूपम् | १८८ ८ |
| शब्दार्थचित्तयोः क्रमेण | |
| उदाहरणे | १८९ १ |
| शब्दार्थचित्तयोः बहुभेदता | १९० ९ |
| षष्ठील्लाससमापनम् । | |
| सप्तमस्य उल्लासस्य काव्यदोष- | |
| निर्णये तात्पर्यम् । | |
| तत्र सप्तमील्लासारम्भः | १९१ १ |
| दोषलक्षणम् | १९१ २ |
| पददोषविभागः | १९२ १ |
| श्रुतिकटुता | १९३ ५ |
| च्युतसंस्कारः | १९३ ८ |
| अप्रयुक्तत्वम् | १९४ ४ |
| असमर्थत्वम् | १९५ २ |
| निहृतार्थत्वम् | १९५ २ |
| अनुचितार्थता | १९६ २ |
| निरर्थकता | १९६ ८ |
| अवाचकता | १९७ ३ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ |
|--------------------------------------|-------------------|
| अश्लीलता | १९९ ३ |
| सन्दिग्धता | २०१ ४ |
| अप्रतीतत्वम् | २०१ ७ |
| याव्यत्वम् | २०२ २ |
| नेयार्थत्वम् | २०२ ५ |
| क्लिष्टत्वम् | २०३ ३ |
| विधेयाविमर्षः | २०४ ३ |
| विरुद्धमतिकारिता | २०८ ८ |
| पददोषाणां केषाञ्चित् वाक्य- | |
| पदांशगतत्वम् | २१० ३ |
| वाक्यगतपददोषाणामुदा- | |
| हरणानि | २११ ४ |
| यत्तच्छब्दयोः साकाङ्गनिरा- | |
| काङ्गताविचारः | २१९ ५ |
| पदांशगतदोषाणामुदा- | |
| हरणानि | २२६ ९ |
| अप्रयुक्तत्वादीनामसामर्थ्यरूपत्वेऽपि | |
| पृथगुक्तिवैजम् | २३२ १ |
| वाक्यदोषाः | २३२ ४ |
| प्रतिकूलवर्णता | २३३ १ |
| उपहृतविसर्गता | २३४ ७ |
| सम्भावश्लीलता | २३५ १ |
| क्सिन्धिः | २३५ १ |
| हृतवृत्तता | २३६ ८ |
| न्यूनपदत्वम् | २३९ ३ |
| अधिकपदत्वम् | २४९ ९ |
| कथितपदत्वम् | २४१ १ |
| पतत्प्रकर्षः | २४१ ६ |
| समाप्तपुनराचता | २४२ ३ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तिः |
|---|--------------------|
| अर्हान्तरे कवाचकता | २४३ १ |
| अभवन्मलयोगः | २४४ १ |
| अनभिहितवाच्यता | २४५ १ |
| अस्थानस्थपदता | २५० ६ |
| अस्थानस्थसमासता | २५२ २ |
| सङ्कीर्णता | २५२ ८ |
| गर्भितता | २५३ ६ |
| विरुद्धमतिकारिता | २५४ ३ |
| प्रसिद्धिदृष्टता | २५४ ४ |
| भङ्गप्रक्रमता | २५५ ६ |
| उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावस्थले कथित- पदस्य बुद्धता | २५६ ४ |
| अक्रमता | २६० १२ |
| अमतपरार्थता | २६२ १ |
| अर्थदीषाः | २६२ ५ |
| अप्रुष्टार्थता | २६३ १ |
| कष्टार्थता | २६३ ६ |
| व्याहृतार्थत्वम् | २६४ ४ |
| पुनरुक्तत्वम् | २६५ ५ |
| दुष्कर्मत्वम् | २६६ १ |
| काम्यार्थता | २६६ ४ |
| सन्दिग्धार्थता | २६६ ६ |
| निर्हेतुता | २६७ १ |
| प्रसिद्धिविरोधः | २६७ ६ |
| प्रसिद्धिविरोधस्य कविसमया— सिद्धत्वं न दीषः | २६८ ७ |
| विद्याविरोधः | २६९ ३ |
| अनवीकृतता | २७० ६ |
| अनियमेऽनियमः | ३७१ १ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तिः |
|---|--------------------|
| अनियमेऽनियमः | २७१ ७ |
| विशेषेऽविशेषः | २७२ ४ |
| अविशेषे विशेषः | २७२ ९ |
| साकाङ्क्षता | २७३ ५ |
| अपदयुक्तता | २७४ १ |
| सहचरभिन्नता | २७५ १ |
| प्रकाशितविरुद्धता | २७५ ७ |
| विध्ययुक्तता | २७५ ९ |
| अनुवादायुक्तता | २७७ २ |
| त्यक्तपुनःस्वीकृतत्वम् | २७८ ३ |
| अज्ञीलार्थता | २७८ ६ |
| कर्णावतंसादिपदे न पौन- रुक्त्यदीषः | २७९ ३ |
| विशेषणदानार्थं क्वचित् पौनरुक्त्यम् न दीषः | २८२ २ |
| प्रसिद्धिसत्त्वे निर्हेतोरदुष्टता | २८२ ७ |
| अनुकरणे सर्वेषामदीषता | २८३ १ |
| दीषाणाम् क्वचिददीषता गुण्यता वा | २८३ ५ |
| कष्टार्थताया गुण्यता | २८३ ८ |
| कष्टता न दीषो न गुणः | २८६ १ |
| अप्रयुक्तनिहृतार्थयीरदुष्टता | २८६ ६ |
| अज्ञीलत्वं गुणः | २८७ ४ |
| सन्दिग्धत्वस्य गुण्यता | २८८ ८ |
| अप्रतीतता गुणः | २८९ ४ |
| काम्यत्वं गुणः | २९० ५ |
| न्यूनपदत्वं गुणः | २९१ १ |
| न्यूनपदत्वं न गुणो न दीषः | २९१ ६ |
| अधिकपदत्वं गुणः | २९२ ३ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्ति |
|----------------------------------|-------------------|
| कथितपदत्वं गुणः | २८२ १२ |
| पतत्प्रकर्षः गुणः | २८३ ७ |
| समाप्तपुनरात्तलं न | |
| दीषी न गुणः | २८३ ८ |
| अस्थानस्थसमासः गुणः | २८३ १० |
| गर्भित्वं गुणः | २८३ ११ |
| रसदीषाः | २८४ ५ |
| व्यभिचारिणः स्वशब्द- | |
| वाच्यत्वम् | २८५ १ |
| रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वम् | २८५ १ |
| स्थायिनः स्वशब्दवाच्यत्वम् | २८७ १ |
| अनुभावस्य कष्टकल्पना | २८७ ८ |
| विभावस्य कष्टकल्पना | २८८ १ |
| प्रतिकूलविभावादि- | |
| परिग्रहः | २८८ १ |
| पुनःपुनर्दीप्तिः | २८८ ३ |
| अकारुहे प्रथनम् | २८८ ४ |
| अकारुहे च्छेदः | २८८ ६ |
| अङ्गस्थातिविसृतिः | २८८ ८ |
| अङ्गिनीऽननुसन्धानम् | २८८ ८ |
| प्रकृतिविपर्ययः | २८८ ११ |
| अनङ्गस्थाभिधानम् | ३०१ ११ |
| व्यभिचारिणः स्वपदवाच्यत्वम- | |
| दीषः | ३०२ ५ |
| विरुद्धरससञ्चारिभावादीनां वाध्य- | |
| तथोक्तिगुणः | ३०२ ११ |
| विरुद्धधोरपि रसधीः | |
| अविदीषः | ३०४ ४ |
| अष्टमीज्ञास समापनम् | ३०८ ४ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्ति |
|--|-------------------|
| अष्टमस्य उच्चासस्य गुणालङ्कार- | |
| भेदसहितगुणनिरूपणे | |
| तात्पर्यम् । | |
| तत्र अष्टमीज्ञासारम्भः | ३०८ ५ |
| गुणलक्षणम् | ३०८ ६ |
| गुणानां रसधर्मत्वम् | ३०८ ७ |
| अलङ्कारलक्षणम् | ३११ १ |
| गुणालङ्कारयोः प्रभेदः | ३१३ ५ |
| वामनाद्युक्तगुणालङ्कार- | |
| लक्षणखण्डनम् | ३१३ ८ |
| गुणविभामः | ३१५ ४ |
| माधुर्यगुणलक्षणम् | ३१५ ६ |
| ओजीगुणलक्षणम् | ३१६ १ |
| प्रसादगुणलक्षणम् | ३१६ ५ |
| वामनाद्युक्तदशविधार्थगुणानां यस्मिंश्च | |
| यस्यान्भावः यस्य च अदी- | |
| षता | ३१७ २ |
| वामनाद्युक्तदशविधशब्दगुणानां लक्ष- | |
| णानि यस्मिंश्च यस्यान्भावः यस्य | |
| चादीषस्वरूपता | ३१७ ३ |
| माधुर्यगुणस्य व्यञ्जकाः | ३१८ १ |
| ओजीगुणस्य व्यञ्जकाः | ३२० १ |
| प्रसादगुणस्य व्यञ्जकाः | ३२१ ८ |
| रचनायाः क्वचित् वैपरीत्यम् | ३२२ ६ |
| अष्टमीज्ञाससमाप्तिः | ३२४ ३ |
| नवमस्य उच्चासस्य रीतिसहित- | |
| शब्दालङ्कारनिरूपणे तात्पर्यम् । | |
| तत्र नवमीज्ञासारम्भः | ३२४ ५ |
| नकीर्तिः | ३२५ ६ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ |
|---|-------------------|
| अनुप्रासः | ३२६ १ |
| हृत्तिः | ३२६ ५ |
| लिकानुप्रासः | ३२६ ८ |
| इत्थनुप्रासः | ३२७ ३ |
| उपनागरिकारौतिः | ३२७ ६ |
| परुषा रीतिः | ३२७ ७ |
| कीमला रीतिः | ३२७ ८ |
| उपनागरिकाप्रभृतौनां यथाक्रमं वैदर्भी- गौड़ीपाञ्चालीति नाम | ३२७ १४ |
| छाटानुप्रासः | ३२८ १ |
| यमकम् | ३२८ ६ |
| श्लेषः शब्दगतः | ३३४ २ |
| श्लेषस्य नवमी भेदः | ३३७ ७ |
| श्लेषविचारः | ३३८ ५ |
| दीर्घगुणालङ्काराणां शब्दार्थ- गतत्वे नियामकम् | ३३८ ८ |
| चित्रालङ्कारः | ३४४ १४ |
| खड्गबन्धः | ३४५ ४ |
| सुरजबन्धः | ३४६ १ |
| पद्मबन्धः | ३४७ १ |
| सर्वतीभङ्गम् | ३४८ १ |
| पुनरुक्तवदाभासः | ३४८ ६ |
| नवमीज्ञाससमाप्तिः | ३५० ४ |
| दशमस्य उज्ञासस्यालङ्कारदीर्घनिर्णय- सङ्घितायालङ्कारनिर्णये ताम्यर्थम् । | |
| तत्र-दशमीज्ञासारम्बः | ३५० ६ |
| उपमा | ३५० ८ |
| धूर्त्तपमा कुलीपमा च | ३५१ ६ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ |
|-----------------------------------|-------------------|
| श्रीती उपमा | ३५१ ७ |
| आर्थी उपमा | ३५२ १ |
| उपमाविचारः | ३५६ ७ |
| धर्मलोपे उपमा | ३५७ १ |
| उपमानलोपे उपमा | ३५८ ७ |
| इवादिलोपे उपमा | ३५८ ३ |
| धर्मवाद्युभयलोपे उपमा | ३६० १२ |
| धर्मोपमानलोपे उपमा | ३६१ ८ |
| उपमेयवादिलोपे उपमा | ३६१ ८ |
| धर्मोपमानेवादिलोपे उपमा | ३६२ ४ |
| उपमायाः पञ्चविंशतिः- विषयत्वम् | ३६२ ६ |
| मालीपमा | ३६२ ७ |
| रसनीपमा | ३६२ १२ |
| अनन्वयः | ३६४ ८ |
| उपमेयीपमा | ३६५ ३ |
| उत्प्रेक्षा | ३६६ १ |
| सन्देहः | ३६६ ७ |
| रूपकम् | ३६७ ११ |
| समस्तवस्तुविषयरूपकम् | ३६८ १ |
| एकदेशिवर्तिरूपकम् | ३६८ १ |
| साङ्गरूपकम् | ३६८ १० |
| निरङ्गरूपकम् | ३७० १ |
| मालारूपकम् | ३७० ७ |
| परम्परितरूपकम् | ३७१ १ |
| रसनारूपकम् | ३७३ ८ |
| अपङ्कतिः | ३७४ १ |
| श्लेषः अर्थगतः | ३७५ ८ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ | विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ |
|------------------------------|-------------------|--------------------------|-------------------|
| समाप्तीतिः | ३७६ ०६ | भाविकम् . | ४०६ ८ |
| निदर्शना | ३७७ २ | काव्यलिङ्गम् | ४०७ २ |
| माखानिदर्शना | ३७८ ५ | पर्यायीकम् | ४०८ ८ |
| निदर्शना अन्यरूपा | ३७८ ६ | उदात्तम् | ४१० १ |
| अप्रस्तुतप्रशंसा | ३७८ १२ | उदात्तम् अन्यविधम् | ४१० ७ |
| अप्रस्तुतप्रशंसाभेदाः | ३७९ ३ | समुच्चयः | ४११ ३ |
| अतिशयोक्तिः | ३८४ ७ | समुच्चयोऽन्वविधः | ४१२ १२ |
| प्रतिवस्तूपमा | ३८६ १ | पर्यायः | ४१४ ४ |
| दृष्टान्तः | ३८६ १२ | पर्यायः अन्यविधः | ४१५ १० |
| दीपकम् | ३८७ ८ | अनुमानम् | ४१७ १ |
| मालादीपकम् | ३८८ ११ | परिकरः | ४१७ १० |
| तुल्ययोगिता | ३८९ ५ | व्याज्जीतिः | ४१८ ८ |
| व्यतिरेकः | ३९० १ | परिसंख्या | ४१९ ५ |
| उपमानस्याधिकत्वे न व्यतिरेकः | ३९० ३ | कारणमाला | ४२० ११ |
| व्यतिरेकस्य भेदाः | ३९० ७ | अन्योन्यम् | ४२२ १ |
| मालाव्यतिरेकः | ३९२ ८ | उत्तरम् | ४२२ ८ |
| आक्षेपः | ३९४ ५ | उत्तरस्यान्वखिन्नलङ्कारे | |
| विभावना | ३९५ ५ | नान्तर्भावसम्भवः | ४२३ ७ |
| विशेषीतिः | ३९५ १० | सूत्रम् | ४२४ ६ |
| व्यासङ्ग्रहम् | ३९६ १० | सारः | ४२५ ८ |
| अर्थान्तरन्यासः | ३९७ ७ | असङ्गतिः | ४२६ १ |
| विरीधः | ३९९ १ | विरोधादसङ्गतेर्भेदः | ४२६ ८ |
| विरीधविभागः | ३९९ ४ | समाधिः | ४२७ १ |
| स्वभावोक्तिः | ४०३ १ | समम् | ४२७ ६ |
| व्यानस्तुतिः | ४०३ ७ | विषमम् | ४२८ ५ |
| सङ्गीतिः | ४०४ ५ | अधिकम् | ४३० ६ |
| विनीतिः | ४०५ ३ | प्रत्यनीकम् | ४३१ ५ |
| परिहृतिः | ४०५ ८ | मीलितम् | ४३२ ७ |
| | | एकावची | ४३३ १२ |

| विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ | विषयः | पृष्ठायाः पङ्क्तौ |
|----------------------------|-------------------|-------------------------------------|-------------------|
| अरण्यम् | ४३४ ११ | धमकदीषः, तस्य उक्तेऽन्त- | |
| भान्तिभाग् | ४३५ ८ | भावश्च | ४५६ ६ |
| प्रतीपम् | ४३६ ७ | अपमादीषाः, तेषामुक्तेऽन्त- | |
| सामान्यम् | ४३८ ८ | भावश्च | ४५६ ८ |
| विशेषः | ४४० १ | अपमायां क्वचित् लिङ्गवचनादि- | |
| तद्गुणः | ४४१ १० | भेदस्यादुष्टता | ४५८ ११ |
| अतद्गुणः | ४४२ ८ | कालादिभेदे अपमायाऽदुष्टता- | |
| व्याघातः | ४४३ ७ | व्यवस्थापनम् | ४५९ ६ |
| संख्येष्टिः | ४४४ ३ | अपमायामपरी दीषी तयोरुक्ते- | |
| अङ्गाङ्गिभावसङ्करः | ४४५ ८ | ऽन्तभावश्च | ४६२ २ |
| सन्देहसङ्करः | ४४८ ५ | उत्प्रेक्षादीषः तस्य उक्तेऽन्त- | |
| सन्देहसङ्करस्थूलनिर्णयः | ४५० ३ | भावश्च | ४६३ ५ |
| एकाग्रयानुपवेशसङ्करः | ४५१ ६ | अर्थान्तरन्यासदीषः | ४६३ ५ |
| अलङ्काराणां शब्दार्थगतत्व- | | समासीक्तिदीषः तस्य उक्तेऽन्त- | |
| नियमः | ४५३ १३ | भावश्च | ४६४ २ |
| अलङ्कारदीषाः पृथक् न | | अप्रस्तुतप्रशंभाया दीषः तस्य उक्ते- | |
| सन्ति | ४५४ १२ | ऽन्तभावश्च | ४६५ ८ |
| अनुप्रासदीषाः, तेषामुक्ते- | | दशमील्लाससमापनम् । | |
| ऽन्तभावश्च | ४५४ १३ | काव्यप्रकाशसमापनम् । | |

काव्यप्रकाशः ।



प्रथमः उल्लासः ।

यन्वारम्भे विद्मविधाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थज्ञात् परा-
च्छ्रयति ।

सुखीयतुर्भिः सुवते विधाने सोचं श्रुतीनाम् चतुष्टयाय ।

भुजैश्चतुर्भिश्चतुरीश्वर्णाम्बुमी ददानाय चतुर्भुजाय ॥

दुर्व्याख्याजनितप्रमीदृशमनी वैषम्यविध्वंसिनी

वैश्यादतिरोचनी रसखनी काव्यार्गलोद्घाटिनी ।

टीका विज्ञानप्रमीदजननी भावार्थचिन्तामयी

भद्राचार्यमहेश्वरेण रचिता काव्यप्रकाशीपरि ॥

काव्यप्रकाशाख्यविश्वकाखने वैषम्यदीर्घार्पितकामि काखने ।

अन्नायमानापि ममास्तु टीका माधुर्यधुर्यैकसुधाय टीका ॥

दीर्घो विचारसुखनी यदि दुष्यतां तद् दूधे न तत्र शयतैकमिदन्तु धीराः ! ।

यन्यान् यद्यार्थमतिसंस्कृतमानसत्वाद् व्याख्या मम प्रथममेव न दूषयीया ॥

सुहृन्मारान् रामकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारेण गच्छन्ति शास्त्रान्तरे प्रवर्त्तयितुम्
अग्निपुराणादिभ्यः उद्भूय काव्यरसास्वादकारणम् अलङ्कारशास्त्रं सङ्घिव्य भरतमुनिः
प्रणीतवान् । तदुक्तं “स्वादुकाव्यरसीम्नित्रं शास्त्रमप्युपमुञ्चते । प्रथमालीढमधुराः
पिबन्ति कटु क्षेपणम् ॥” इति । मन्मटसङ्घस्तु ताः कारिकाः सीदाहरणं व्याख्यातुं
कारिकायन्त्रप्रथममङ्गलभूतां नियतिज्ञतनियमेत्यादि कारिकाम् अत्यापवति
यन्वारम्भे इत्यादि । ग्रन्थः महावाक्यविशेषः । स च विशेषः महाजनानां सम्बन्धेन
व्यवहारान् एव परिधीयः । तदाकाङ्क्षापूरणरूपैकप्रयोजनवस्त्रेण समस्तवाक्यानाम्
एकवाक्यत्वात् । तदुक्तम् अर्थेक्यात् एकं वाक्यं साक्षाद् धेत् विभागी ख्यात्
इति तत्र च अर्थेक्यात् इत्यत्र प्रयोजनेक्यात् इत्यर्थः । न च विभिन्नदीपगुणालङ्का-

रबीधकवाक्यानां प्रयुक्तत्वेन तदाक्यैकवाक्यत्वात् समसकारिकीकृतवाक्यानां वर्तमानस्य च वचनी तु ग्रन्थस्य च वचनम् अथ एव आह । यथा “प्रेक्षावत्प्रहस्यपीपयिकत्वेन चमिषीयमानसम्बन्धप्रयोजनकः सन्दर्भोऽयम्” इति । सम्बन्धप्रयोजने च तत्सन्दर्भस्य इव अन्वदीयसम्बन्धप्रयोजनयोः अभिप्रायस्य अनुपयुक्तत्वात् । ननु क्वचित् महाकाव्यरूपयन्त्रे “अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा इत्यादी वस्तुमाचस्यैव निर्देशेन तत्र सम्बन्धप्रयोजनयोः एकस्य अपि अत्रभिधानेन तत्र अस्यातेः । वस्तुमाचनिर्देशस्य अपि महाकाव्यस्य च लक्षणेन दण्डिना उक्तेः तस्य महाकाव्यत्वेन सन्दर्भानपायात् तत्र च वचनम् । “सर्गवन्धी महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् । आशीर्गमस्त्रियया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् इति । तद्योग्यतायाश्च ग्रन्थत्वं विना अर्थं दुर्वचत्वात् सुखबीधार्यम् अमुकस्त्रीकस्य अमुकलक्षणावाक्यस्य अमुकपञ्चमेवा व्याख्या क्रियते इत्युक्तिपूर्विकायां व्याख्यायां ग्रन्थत्वेन अव्यवहृतायाम् अतिव्याप्तेः दुर्बलत्वापत्तेश्च । तस्य प्रकृतकारिका रूपग्रन्थस्य आरम्भे आद्यप्रयत्ने भाविनीति शेषः । तथाच प्रकृतग्रन्थस्य आद्यप्रयत्नप्रागभावकाले भारतीं वागधिष्ठाष्टदेवतां समुचितां वागात्मकग्रन्थारम्भप्राप्त्युक्तिकानार्हां परावृष्टति उपलोकनार्हेण रूपेण जिघात्सर्गेण उत्कर्षेण प्रकारेण स्त्रीकशब्दात् एव जानाति इत्यर्थः । परापूर्ववृष्टघातीः ज्ञानार्थकत्वेन ज्ञानविशेषपरत्वात् अत्र बुभुक्षावशात् स्त्रीकशब्देन अपि स्वस्य शब्दबीधकजननात् । तथाच उत्कर्षबीधकत्वात् स्तुतिरूपमङ्गलमेव नियति इत्यादिकम् इति बीध्यम् । न च भाविनीति पूरणं किमर्थम् इति वाच्यं आद्यप्रयत्ने मङ्गलाचरन्वाघात् न च वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वम् भावित्वं तथाच भाविनीत्यस्य आरम्भविशेषत्वेन वर्तमानप्रागभावप्रतियोगितया एव आरम्भे बोधिते कथम् आरम्भानुयोगिप्रागभावकालाधिकारणकत्वं मङ्गलस्य बोध्यताम् इति वाच्यं भाविपदार्थैकदेशस्य आरम्भानुयोगिनः वर्तमानप्रागभावस्य एकदेशे वर्तमानकाले एक अधिकारणतायाः सतिसप्तम्याः बीधनात् “भविः अत्ययने पुण्यम्” इत्यादौ आरम्भे सर्वज्ञज्ञानान् इत्यादौ अनुमाने निरूपणीय इत्यादौ च सतिसप्तम्याः तादृशविलक्षणव्युत्पत्तेः । आरम्भपदं वा आद्यप्रयत्नप्रागभावपरम् । अहवर्ती तु निमित्तसप्तमी एव इत्यम् । तथाच ग्रन्थप्रयत्ननिमित्तमित्यर्थः इति आह तत् न । निमित्तस्य इष्टदेवतापराभर्तस्य फले आरम्भे इति विद्वद्विधातरूपकृतान्तरप्रदर्शने चकारः एव तदा विनिर्दिष्टः स्यात् तद्विनिर्देशात् च ज्ञानं तात्पर्याभावात्तन्निर्वायात् आरम्भसामान्ये व्यभिचारात् अकारणस्य तत्परामर्शस्य आरम्भविशेषेः कारणताप्रदर्शनस्य प्रहस्यनुपयोगित्वेन तत्प्रदर्शनानुपयोगात् । तिसिद्ध-

संतत्या हि द्विविधः अर्थः स्वप्रकृत्यर्थे अन्वयदर्शकारणरूपं निमित्तत्वम् इति एकः ।
 तथा "चर्मणि शीपिन् इति" इत्यत्र प्रकृत्यर्थे चर्मणि इत्यनविशेषस्य कारणता न तु
 इत्यनसामान्यस्य चर्मं विनापि तदुत्पत्तेः । स च प्रकृते न सम्भवति मङ्गलं विना अपि
 उत्पद्यमानम् चारुभासांमार्थं प्रति मङ्गलस्य अनिमित्तत्वात् चारुभविशेषं प्रति
 निमित्तत्वस्य तु परप्रकृत्यनुशीलित्वेन वक्तुम् अनुचितत्वात् स्वप्रकृत्यर्थे प्रति अन्वयस्य
 निमित्तत्वम् इति अपरः अर्थः । यथा कन्यापुत्रविवाहे नान्दीमुखमित्यत्र स्वप्रकृत्यर्थे
 विवाहं प्रति नान्दीमुखस्य कारणत्वम् । स च अपि न सम्भवति चारुभस्य मङ्गला-
 जनकत्वात् । यदि च चारुभाय इत्येवं चतुर्थ्यर्थे सप्तमी इति उच्यते तथापि
 चारुभे चित्रविधाताय इति चकाराप्रथीगार्थे वक्तुं तत्र तात्पर्यम् इति आस्तां
 विसरः । प्रेम्तासुष्ठितयस्यसमाप्तेः मङ्गलं विना अपि आतत्वेन व्यभिचारात्
 यन्वयविघ्नविघातः एवं मङ्गलफलम् इत्यभिप्रायात् आह चित्रविधातायिति । तथाच
 समाप्तिः स्वकारणात् एव इत्यभिप्रायः । अस्य अर्थस्य च यन्वयगौरवमिदं न
 विचारः प्रदर्शितः । समुचितत्वे अपि इष्टत्वाभावे तदुपपत्तिकं न क्रियते तेषां
 अकृते अपि तत्फलं न स्यात् इत्यतः आह इष्टेति । इष्टदीनतायाः अपि प्रकृत-
 फलदाभासमर्थत्वं सा न उपपत्तिव्यति इत्यत आह समुचितेति । यन्वयकृत् भरतमुनिः
 तस्य एतत्कारित्वस्य तदीयसंहितायाम् आसां कारिकायां दर्शनेन परावृत्तति इत्यत्र
 प्रथमपुरुषनिर्देशस्वरसेन च निर्धारिते इति प्रकृतः कारिकाकारित्वे तु परावृत्तानि
 इत्येवं निर्देशः एव उचितः स्यात् अत एव "अष्टौ नाव्ये रसाः कृता" इति कारि-
 कायाम् अष्टरसकथने अपि निर्देशस्य प्रथमीवादानस्वरसेन नवनः शान्तरसः इत्थी
 अष्टीकरिष्यते कारिकायां इति प्रकृतप्रथीतत्वे तु कारिकायाम् एव नव रसाः
 भाष्येरन् । अत एव च समस्तवस्तुविवयं श्रिताः चारीपिताः यदा इति समस्त-
 वस्तुविवयरूपककारिकायां श्रिताः चारीपिताः इति बहुवचनम् अविबक्षितम् इति
 इत्थी एवं व्याख्यातम् । स्त्रीकारिकात्वे तु श्रिता चारीपिता यदा इत्येव उच्यते न
 च रसयन्ने तत् अतः भरतः इत्यस्य अतुपपत्तिः । तदुक्तं यन्वयकृता इत्युक्तेः एव
 श्रीनिध्यात् इति वाच्यं तनु भरतप्रथीतनाम्याशास्त्रम् इत्यर्थकत्वेन नाव्यशास्त्रे तस्य
 प्रकृतयन्वयकारित्वानावात् नावा एव निर्देशुम् उचितत्वात् । अतु एवं इत्यनीशास्त्रे
 रूपकप्रत्यसाङ्गम् एतन्निरूपणं यद्वं नागात् पूर्ववत् इति कारिकायां पूर्वोक्त-
 भाष्यीपितास्यतया नाशारूपककथनानुपपत्तिः "अन्येनेव राजश्रीर्देवनेव मन-
 क्षिता । नक्षी साच विधादेन पद्मिनीव हिमाशसा ॥" इत्येवं आवा तु न उच्यता

नियतिकृतनियमरहितां

क्लादैकमयीमनन्यपरतन्वाम् ।

एवंविधवैचित्र्यसङ्घसम्भवात् उक्तभेदानतिक्रमाच्च इति । कारिकायाम् अनुक्तायाः मालीपमाथाः इत्थो एव उक्तत्वात् । इतिकृतः एव कारिकाकारित्वे तु वृत्त्युक्तमालीपमातुल्यतया मालारूपकस्य कारिकायाम् उक्तिः सम्भवति एव इति चेत्, न । विलीपे च समासगति पञ्चविंशतिप्रभेदोपमा शेषकारिकायां चकारस्य अनुक्तमालीपमासमुच्चयार्थकत्वेन चकारेण कारिकायाम् एव उक्तात्मः मालीपमाथाः इतिकृता दर्शितत्वेन मालारूपकस्य तत्तुल्यतया कथने अनुपपत्त्यभावात् न लक्षितेति वृत्त्युक्तेः विशेष्य न लक्षितेति अर्थात् इति भाङ्गः । परावृत्ति-इत्यस्य अर्थः दर्शितः एव । चक्रवर्त्ती तु जयत्यर्थेन नमस्कारः आच्छिद्यते इति इतिदर्शनात् नमस्कारानुमानाय तदव्याप्योत्कर्षवत्तया भारती परावृत्ति इत्यर्थः इत्याह । ननु नमस्काररूपफलस्य उत्कर्षाव्यापकत्वात् कस्यचिदुत्कृष्टस्य अपि केन अपि अजमस्करत्वात् किन्तु नमस्तथायाः एव तदव्यापकत्वात् तदाक्षेपस्य च अन्यकृता अदर्शितत्वात् एव । किं च नमस्कारव्याप्यत्वस्य जिघातुना अनुपस्थापितत्वेन नमस्कारव्याप्यत्वाशस्य भाव्य-अन्यार्थत्वाभावे तादृशार्थकतया आभावयत्येन कथनस्य बाधितार्थकत्वात् एव नमस्कारः आच्छिद्यते इति वृत्तेः तु नमस्कारः व्यज्यते इत्येव अर्थः तत्प्रदर्शनञ्च स्मृतिरूपमङ्गलमानसनमस्कारस्य अपि अनुबन्धि इति प्रदर्शनाय इति अवधेयम् । नियतीत्यादि । भारती वाग्धिष्ठात्री देवता जयति उत्कर्षाश्रयः, उत्कर्षाश्रयत्वसाधकम् अन्वयिलक्षणं विशेषणम् आह कवेरिति । कवेः काव्यरूपां निर्मितम् आदधती जनयन्ती आङ्-पूर्वधाधातीः जननार्थकत्वस्य अपि गर्भाधानादिप्रयोगदृष्टत्वात् काव्यस्य च कविः इव भारती अपि कवीं तत्प्रसादेन एव कविना काव्यकरणात् विशिष्टौ शब्दार्थौ च काव्यम् इति अन्यकृत् एव वक्ष्यति । जनरूपनिर्मितिकृतः ब्रह्मणः देवत्वत्वेन भारत्या उत्कर्षं समर्थयितुं तत्कृतकाव्यरूपनिर्मितेः विशेषणानि अर्थशब्दरूपांश-हयावच्छेदेन आह नियतीत्यादि ।

नियतिः अदृष्टं तत्कृतः तन्निरुद्धः नियमः अन्यतालक्षणः तच्छून्याम् अदृष्टाजन्याम् इत्यर्थः । शब्दार्थोभयरूपस्य काव्यस्य अर्थांशे विशेषणम् इदं बोध्यम् । चन्द्रकलाजकमुखरूपस्य कुन्देन्दुचबलयत्रीरूपस्य व्यलीकस्य आकाशादिमित्त्व-रूपस्य च काव्यार्थस्य अजन्मत्वेन अदृष्टाजन्यत्वग्रीव्यात् शब्दांशवच्छेदेन तादृश-

नवरसरुचिरां निर्मितम्

आदधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

काव्यरूपनिर्मितिजनकत्वेन च उक्तार्थः समर्थितः । अतः “निर्मितिमादधती” इत्युक्त्वा काव्यस्य भारतीयजन्यताङ्गीकारे अपि अदृष्टाजन्यताकथनाविरोधः । शब्दांशे जन्यतायाः अर्थविशेषांशे अजन्यतायाश्च अविरोधत्वात् एकावच्छेदे एव तयोः विरोधात् । यद्वा नियम्यते इति नियतिः संसारः तत्र कृतः दर्शितः नियमः जली एव पद्मम् इत्यादिरूपः तद्रहिता अभेदेन सुखे भेदेन नायिकायाम् अपि कमलवर्णनेन तत्र तादृश-नियमराहित्यात् । ज्ञादिति । ज्ञादः सुखम् एकः केवलः दुःखासम्भिन्नः यस्यात् काव्यात् तन्मयीं तत्स्वरूपाम् इत्यर्थः । अनन्येति । अन्यानि स्वभिन्नानि समवा-य्यादिकारणानि तत्परतन्त्राः तज्जन्याः ये ब्रह्मरूपिण्यः घटादयः तद्विभ्राम् इत्यर्थः । यद्यपि “परतन्त्रः पराधीनः” इति क्रीषः तथापि अत्र गुरुपरतन्त्रेत्यादिषु इव अधीनमात्रे तदेकदेशे परतन्त्रपदे निरुद्धाक्षयिकं तेन न अन्यपदपीनरुक्तम् । अत्र च अन्यपदं नियतिभिन्नकारणपरम् एव कारणमात्रपरत्वे नियतिक्रतेत्यादेः पृथगुपा-दानानुपपत्तेः । न च तत् एव किमर्थं कृतम् इति वाच्यं ध्वंसस्य समवाय्यसमवायि-कारणाभावेन तदजन्यत्वेन तन्निरपेक्षादृष्टजन्यत्वं अर्थरूपकाव्यस्य तु तादृशादृष्ट-जन्यत्वम् अपि नास्ति इत्येतत्प्रतिपादनाय गीषण्व्यायात् पृथगुपादानात् । चक्रवर्ती तु विशेषणइयम् इदम् अन्यथा एव व्याचष्टे । यथा नियतिः अदृष्टं तत्कृतः ब्रह्म-रूपो नियमः नियमविशेषः चन्द्रः एव चन्द्रपदप्रयोगात् तद्दृष्ट्याङ्गादकत्वादिधर्माणाम् अपि अपवर्गः इत्येवं रूपः । कविनिर्मितेः तु तद्रहिता सुखे अपि कविना चन्द्रपदप्रयोगे कृते आङ्गादकत्वावगमात् इति । तथा वेदान्तिनये कार्यकारणयोः अभेदः अपि आद्रियते प्रतिभाजन्यकार्यान्त्या अभिन्ना एव प्रतिभा तत्परतन्त्रां तज्जन्यां प्रतिभा-जन्याम् इत्यर्थः इति तद्वच्यम् अपि न । तथाचि चन्द्रः एव चन्द्रपदप्रयोगात् आङ्गा-दकत्वावगमः इत्यस्य कः अर्थः ? किं ब्रह्मरूपी अचन्द्रे चन्द्रपदप्रयोगः एव न अस्ति ? किं वा प्रयोगसत्त्वे अपि आङ्गादकत्वावगमः न अस्ति इति ? न आद्यः, गौर्वाहिकः इतिवत् चन्द्रः सुखम् इति विधेयस्य चन्द्रस्य आदौ प्रयोगे चन्द्रसदृशे अपि चन्द्र-प्रयोगस्य सारोपायाः लक्षणायाः ब्रह्मरूपी अपि दृष्टत्वात् तत्र एव चन्द्रनिष्ठाङ्गादक-त्वस्य प्रयोजनस्य सुखे प्रतीत्या । न द्वितीयः अपि इति, नियतिक्रतेत्यादेः तादृश्याः

नियतिशक्त्या नियतरूपा, सुषुदुःखमोहस्वभावा, परमा-
खाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा, षड्रसाः, न च
हृद्यैव तैः, तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिः निर्माणम्, एतद्विलक्षणा

व्याख्यायाः विरोधात् । तथा अनन्यपदे प्रतिभापरत्वे व्याख्यानम् अपि अयुक्तं
वृत्तिविरोधात् । तथाहि ब्रह्मनिर्मितिपरमाखादिकारणपरतन्त्रा तद्विलक्षणा तु
कविवाङ्निर्मितिः इति लिखने कविनिर्मितिः समवाय्यादिकारणपरतन्त्रताभावे
लब्धे परतन्त्रपदार्थः एव नञर्थान्वयस्य दर्शितत्वात् न तु अन्यपदार्थः इति । नवरसिति ।
नव रसाः यत्र इति षड्भ्रौह्मिणा नवरसिति एकं विशेषणम्, अतः तत्प्रतियोगितया
षड्रसिति ब्रह्मनिर्मितिः विशेषणं वृत्ती व्याख्यास्यते अन्यथा एव षड्रसैः न हृद्यैव
व्याख्येयत न च वृत्ती एव किमर्थं तथा न व्याख्यातम् इति वाच्यं ? तथा व्याख्याने
नवरसैः रुचिरैत्येव प्रकृते अपि समासः स्यात् अन्यथा व्याख्यानव्याख्येयविसंवादा-
त्तेः । तादृशसमासे च संख्यापूर्वककर्मधारयत्वेन द्विगुत्वात् अपादादित्वाच्च नदादि-
त्वेन नवरसो रुचिरैत्येवम् एव निर्देशापत्तेः । न च नवभिः रसैः रुचिराम् एवेति
समासाश्रयेण तद्दोषानवकाशः इति वाच्यं ? चिपदतत्पुरुषस्य व्याकरणनिषिद्धत्वात्
रुचिराम् इति अपरं विशेषणं आह्लादजनिकाम् इति अर्थकम् । न च इदं विशेषणं
कथं ब्रह्मनिर्मितिवैलक्षण्यसाधकं ब्रह्मनिर्मितिः अपि रुचिरत्वात् इति वाच्यं ? रुचि-
राम् एव इति नियमगर्भत्वे वैलक्षण्यसाधकत्वात् । अत एव न च हृद्यैव तैः इति
ब्रह्मनिर्मितौ हृद्यत्वे नियमाभावः दर्शयिष्यते । न च एवं ह्लादमात्रजनिकाम् इति
अर्थपर्यवसाने ह्लादैकमयम् इत्यनेन सह पीनरक्त्यम् इति वाच्यं ? तत्र अलङ्काराधीन-
ह्लादस्य अत्र च रसाधीनह्लादस्य विवक्षितत्वेन अपीनरक्त्यात् । अत एव न च हृद्यैव
तैः इति व्याख्यया रसाधीनह्लादः विवक्षितः शृङ्गारादिरसमवकमधुरादिरसषट्कयोः
भेदे अपि श्लिष्टरसपदमहिम्ना एकत्वावभासात् । यद्यपि रसकपह्लादः वक्ष्यंति यथापि
रसव्यक्तीनां धारावाहिलेन पूर्वरसव्यक्त्या अपररसव्यक्तिजननात् रसाधीनत्वं ह्लादस्य
बोध्यम् । न च एवं रसैः हृद्यमात्रताभावप्रदर्शनात् नवरसैः रुचिराम् इत्येव समासः
प्रदर्शितः इति वाच्यम् ? पृथग्रसपदार्थापेक्षेण एव तत्प्रदर्शनात् कवेः भारती इति
अन्वयं आदधती इत्यत्र अपि कवितरीति अध्याहारस्य आह चक्रवर्ती आधानं स्वयं
निर्माय कवितर्यैवम् इति आह । तत् न । कवेः निर्मितम् इति अन्येन एव
आधानस्य जननरूपत्वेन एव च सर्वज्ञानकाले कवितरीति अध्याहारस्य भारतीः

तु कविवाङ्मितिः, अत एव जयति, जयत्यर्थेन च नम-
स्कारः आक्षिप्यते इति ताम् प्रति अस्मि प्रणतः इति लभ्यते ।

इह अभिधेयं सप्रयोजनम् इति आह ।

काव्यं यशसिऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

कविनिर्पेक्षकर्तृत्वकल्पनस्य च गौरवयस्तत्वात् ब्रह्मनिर्मितेः विशेष्यप्रदर्शनेन तद्विप-
रीते कविनिर्मितिविशेषणं भारत्या उक्तं समर्थयितुं ब्रह्मनिर्मितेः विशेषणानि
आदौ आक्षिप्य आह नियतिशक्त्येति । नियतेः अदृष्टस्य शक्त्या सामर्थ्येन नियतरूपा
पापात् दुःखी पुण्यात् सुखी इत्येवंनियमविशिष्टा इत्यर्थः । मदीयद्वितीयव्याख्यानुमते
तु नियती संसारे शक्त्या नियमेन जले एव पद्मम् इत्येवं नियतरूपा इत्यर्थः । सुखेति
मीहानपदम् अत्र तज्जनकपदं बोध्यम् । परमाशुवादीत्यादि पदात् इण्यकुपा-
लिकाकापालादिपरिग्रहः । एतानि समवायिकारणानि उपादानं समवायिकारणं
कर्म कुञ्जकारादीः क्रिया आदिपदात् समवायीतरसम्स्तकारणपरिग्रहः तानि
सङ्कारिकारणानि ब्रह्मण्यः निर्मितेः इति आक्षिप्तनिर्मितपदम् उपादाय व्याचष्टे
निर्माणमिति । क्वचिद्विभक्तभावत्वात् निर्णीयमाणघटाद्यर्थकम् । स्त्रीकस्थविशेषणानि
अधुना व्याचष्टे एतद्विलक्षणा तु इति, बाङ्निर्मितेः वागुपनिबद्धा शब्दार्थात्मक-
काव्यरूपा निर्मितेः ।

अत एवेति । उक्तविशेषणवैलक्षण्यात् एव इत्यर्थः । स्तुतिरूपमङ्गलम् इदं
मानसनमस्काररूपमङ्गलस्य अपि व्यञ्जकम् इति अभिप्रायेण आह जयत्यर्थेनेति ।
उक्तार्थेण इति अर्थज्ञातीत्कर्षस्य स्वकार्यनमस्कारव्यञ्जकत्वात् तस्य स्तुत्यन्यत्त-
न्नमस्कारस्य आक्षारम् आह तां प्रति इति । लभ्यते व्यञ्जयता बुध्यते स्त्रीकार्यवीङ्मिः
इति शेषः । ननु काव्यरूपनिर्मित्याधानात् भारत्या उक्तं समर्थितः । तत् च
काव्यस्य उपादीयते एव घटते तदेव तु न तस्य निष्प्रयोजनत्वात् इत्यतः काव्यस्य
सप्रयोजनकत्वं कारिकया उक्तं तत् एव उचितकृतं दर्शयति इहेति । इह कारिका-
यस्ये आह इति अन्वयः । अभिधेयं कारिकायस्ये वाच्यं प्रतिपाद्यमिति शेषः ।
अथादि विविधं काव्यं, तत् सप्रयोजनं प्रयोजनविशेषजनकम् इत्याह इत्यर्थः ।
सप्रयोजनम् आह इति । कारकशून्यं क्वचित् कपाले काव्यतत्प्रयोजनयोः
स्वकीयकल्पमग्नौ एव वेगिभ्यं बोध्यम् । तथाच उद्दिश्यविषया काव्यं विशेष-

सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासन्मिततयोपदेशयुजे ॥२॥

कालिदासादीनाम् इव यशः, श्रीहर्षादेः धावकादीनाम् इव धनं, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम् आदित्यादेः मयूरादीनाम् इव अनर्थनिवारणं, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरम् एव रसास्वादनसमुद्भूतं विमलितवेद्यान्तरम् आनन्दं, प्रभुसन्मि-

विषया तन्प्रयोजनम् आह इत्यर्थः । कृते विदेयुजे इति वयः भावज्ञिवन्तात् चतुर्थी उपदेशयुजे उपदेशयोगाय यशसे इत्यादौ चतुर्थ्या जनकत्वबोधनात् काव्यं यशः-प्रभृति करोति इति व्याचष्टे कालिदासादीनाम् इव इति । यशोजनकत्वस्य प्रमितत्व-ज्ञापनाय दृष्टान्तः दर्शितः । एवम् अन्यदये अपि बोध्यम् । श्रीहर्षः राजा धावकः रत्नावलीकारः कविः तेन राजनाम्ना रत्नावलीकाव्यं कृत्वा धनं लब्धम् । राजादि-गतुः राजादिसम्बन्धी उचिताचारः प्रजासु राज्ञां राजसु प्रजानाम् आचारः तज्ज्ञानस्य काव्येन तदर्थनात् । शिवेतरस्य अशिवस्य चति दर्शयति अनर्थनिवा-रणम् इति । स्तुतिरूपकाव्यप्रीतेन आदित्येन मयूरमदस्य कुष्ठनिवारणात् । सद्यः-परनिर्वृतये इति व्याचष्टे सकलिति । सकलित्यादिकं परपदार्थः सद्यःपदार्थम् आह समनन्तरम् एव इति । काव्यार्थबोधसमनन्तरम् एव इत्यर्थः । निर्वृतिपदार्थम् आह आनन्दमिति । अस्य आनन्दविशेषरूपतात्पर्यावसानाय विशेषणद्वयम् आह रसा-स्वादिति । यद्यपि आस्वादः एव रसः वक्ष्यते अतः रसस्य न आस्वादः तथापि अत्र रसरूपं यत् आस्वादनं तद्रूपं सत् सम्भूतं समुद्भूतं वा उभयथा अपि जातम् इत्यर्थः । तादृशास्वादकाले विषयान्तरयुद्धः नास्ति इति आह विगलितेति । ज्ञानाविषयीभूता इत्यर्थः । उक्तिसौष्ठवाय कान्तासन्मिततया इति विशेषणव्याख्यानात् पूर्वं काव्य-पदं विलक्षणकाव्यपरतया व्याचष्टे प्रभुसन्मितेति । प्रभुः अत्र प्रभीः आदेशः तत्सन्मितं तत्तुल्यं यच्छब्दप्रधानं वेदादिशास्त्रं विधिनिषेधबोधकः वेदः आदिपदान् वैदिक-मन्त्रस्य ततः विलक्षणं यत् काव्यम् इति अन्यथः । अत्रः समरसिंहतया व्यव-क्रियताम् इति प्रभीः आदेशे यथा संग्रामसिंहः इति न शब्दपराङ्मत्या व्यवहारः किन्तु समरसिंहतया एव इति शब्दप्रधानता तथा वेदीकशब्दं न एव संस्कृतीकशाब्दि-वाक्यरचना न तु शब्दपराङ्मत्या तदर्थकशब्दान्तरेण इति शब्दप्रधानता यथा स्तुति-बोधहारः इति नियमात् बोधारः वाक्यरचना । सुदृत्सन्मितेति । सुदृत् अत्र सुदृ-

तत्र शब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सन्निभितार्थतात्पर्यवत् पुराणा-
दौतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोः 'गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवण-
तया विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म,
तत् कान्ता इव सरसतापादनेन अभिसुखीकृत्य रामादिवत्
वर्तितव्यं न रावणादिवत् इति उपदेशं च, यथायोगं कवेः
सहृदयस्य च करोति इति सर्वथा तत्र यतनीयम् ॥

दुपदेशः । अर्थतात्पर्यवन्तः ये पुराणेषु इतिहासाः तन्शास्त्रेभ्यः तदीयकशास्त्रेभ्यश्च
विलक्षणम् इति अन्वयः । सुहृदुपदेशस्य इतिहासशास्त्रस्य च अर्थमात्रेण एव व्यव-
हारः तदर्थकशब्दान्तरपराहत्या अपि इति सुहृदुपदेशसन्निभितलम् इतिहासशास्त्रस्य
इतिहासादिभ्यः इति क्वचित्पाठः तथापि तदीयशास्त्रपरम् एव तथापि तत्पदम् ।
वेदादिशास्त्रेतिहासशास्त्राभ्यां काव्यस्य वैलक्षण्ये हेतुम् आह शब्दार्थयोरिति ।
गुणभावः गुणता अनुपादीयता इत्यर्थः । तर्हि काव्ये किं प्रधानम् इति आह रसा-
ङ्गेति । रसस्य अङ्गभूतः बोधकः व्यापारः व्यञ्जनारूपः यच्च व्यङ्गाय रसाङ्गभूत-
व्यापारः तत्र प्रधानतया इत्यर्थः । व्यापारान्तराप्रधान्यस्य अनुकृतात् व्यञ्जनाव्यापारस्य
प्राधान्यकथनानुपयोगेन बहुव्रीहिः अत्र दर्शितः । कविकृतकाव्यस्य एव इति
हृदयेन कविभवं काव्यम् इति योगार्थे कविः विलक्षण एव अभिमत इत्याह लोको-
त्तरिति । लोकविलक्षणवर्णनायां निपुणः यः कविः तस्य कर्म जन्मम् इत्यर्थः । कान्ता-
सन्निहिततया इत्यादिकं व्याख्यातुम् आह तदिति । तत् काव्यं कर्तुं पूर्वोक्तं यज्ञ-
आदिकं उपदेशश्च करोति इति अन्वयः । उपदेशाकारम् आह रामादिवदिति ।
अथ धर्म्यकर्मप्रवृत्त्युपदेशः न रावणादिवत् इति अधर्म्यकर्मनिवृत्त्युपदेशः । तत्र च
कान्तासन्निहितत्वं दर्शयति कान्ता इव इति । काव्येन अपि प्रथमं स्वरसत्वापादानम्
अतः कान्ताशुक्लता । उक्तानि प्रयोजनानि सर्वाणि न कवेः व्यवहारोपदेशयोः
पूर्वज्ञातयोः एव कविना उपनिबृहत्वात् । न वा वीरुः तस्य काव्यात् यज्ञीऽर्था-
भावात् किन्तु स्वज्ञानप्रकर्षात् एव तस्य यज्ञीऽर्थलाभात् इत्यतः आह यथार्थी-
गमित्यादि । यथासम्भवम् इत्यर्थः । सकृत् यस्य वीरुः इत्यं प्रयोजन-
वत्त्वेन तस्माः काव्यरूपनिर्मितेः उपादीयत्वेन तज्जनकतया भारत्याः उत्कर्षः युज्यते

अस्य कारणम् आह ।

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणत् ।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासे इति हेतुस्तदुक्तम् ॥ ३ ॥

शक्तिः कवित्ववैजृम्भः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्, लोकस्य स्थावरजङ्गमा-

एव स्वप्रयोजनत्वेन तत्र कविनां काव्यबोधो वा यतनीयं च इति आह सर्वथा तत्रेति । तत्र काव्ये तद्दीर्घे च यतनीयं कविना तद्दीर्घं च इति शेषः । ननु यत्रमात्रात् न फलसिद्धिः अपि तु कारणान्तरसत्त्वाद् एव इति कारणान्तरम् अपि ज्ञातव्यम् अतः तदाह कारिकायाम् इति आह अस्मिन् । कवेः सङ्घट्टस्य यतनीयत्वे कथनात् अस्य इत्यत्र काव्यस्य काव्यबोधस्य च कारणम् आह इत्यर्थः ।

शक्तिरित्यादि । लोकशास्त्राद्यवेक्षणात् निपुणः इत्यत्र अन्वयः । शक्तिपदार्थम् आह कवित्ववैजेति । कवित्वपदम् अत्र शाब्दतद्दीर्घोभयपरं सङ्घट्टस्य अपि यतनीयत्व-कथनेन तद्दीर्घकरणकथनस्य अपि आकाङ्क्षितत्वात् अत एव अर्थे तदुक्तम् इत्यत्र तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्माणे समुत्पत्तिश्च इति व्याख्यास्यति । समुत्पत्तिः हि ज्ञानम् । अत एव काव्यज्ञपदस्य काव्यविचारकपरता अपि व्याख्यास्यते च । तथा च संस्कारविशेषः इत्यत्र संस्कारत्वे कलात् एकार्थकं संस्कारव्यक्तिविशेषी इति तु धरमार्थः । संस्कारपदं च अत्र अतीन्द्रियात्मविशेषणत्वेन पुण्यविशेषपरं, पुण्य-विशेषवतः एव काव्यकर्तृत्वात् काव्यबोद्धृत्वात् च । भावनाख्यसंस्कारपरमिति चक्रवर्ती तत् न । तस्य अतिजनकता एव सिद्धा काव्यतद्दर्शानुभवयोः अजनकत्वात् पदार्थस्मारकभावनायाश्च सर्वसाधारणत्वेन अव्यवर्तकत्वात् काव्याकर्तृकाव्याबोद्धृ-व्यावर्तनाय पुण्यविशेषस्य अवश्यवक्तव्यत्वात् च । अन्वयव्यतिरेकयोः कारणतावाचक-त्वात् अन्वयस्य व्यभिचारिसाधारणत्वेन तम् अदर्शयित्वा व्यतिरेकम् एव दर्शयति प्रसृतं वा इति । जनकशक्त्वा प्रसृतं वा बोधिका शक्तिं विना वा विना इति वा अनिका शक्तिं विना इत्यर्थः । न प्रसरत् न जायते इत्यर्थे शक्तिव्यतिरेकात् काव्य-व्यतिरेकं दर्शयित्वा शक्त्यन्तरव्यतिरेकात् काव्यबोधकव्यतिरेकं दर्शयति प्रसृतं वा इति । जनकशक्त्वा प्रसृतं वा बोधिका शक्तिं विना बोधाभावेन उपहसनीयं स्यात् इत्यर्थः । सत्त्वाधीपहासात् एव बोधव्यतिरेकज्ञानः । काव्यपदस्य अत्र अनुप-

कालोक्तस्य, शास्त्राणां ह्यन्वीयाकरणाभिधानकीषकला-
च्चतुर्वर्गगतुरगस्यद्वादिलक्षणग्रन्थानां, काव्यानां च महाकवि-
सम्बन्धिनाम्, आदिप्रहृष्टात् इतिहासादीनां च विमर्शनात्
व्युत्पत्तिः, काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन
करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिः इति त्रयः समुदिताः न

इसनीयकाव्यपरत्वे प्रसृतं वा इति वाकारेण तत्र एव प्रसृतत्वान्वयस्य यादृशीयत्व-
नियमात् न तु उपइसनीयकाव्यरूपधर्म्यन्तरे । तथा च शक्तिं विना अनुपइसनीयस्य
प्रसृतत्वानुपपत्तिः एव बोधकशक्त्यकथने इति यत्र यः तस्य काव्यनिर्माणे समुद्भासे
च हेतुः इति वृत्त्यनुपपत्तेश्च तयान्तर्गतायाः शक्तेः बोधकारणतागुक्तौ तादृशोप-
संहारानुपपत्तेश्च । अतः यां विना इत्यनेन जनकशक्तिव्यतिरेकस्य एव प्रदर्शितत्वे न
यां विना प्रसृतं वा इति अनुपपन्नं कारणव्यतिरेकेश्च कार्यस्य प्रसरणाभावात् इति
दूषणम् अपास्तम् मैथिलाः तु अनुपइसनीयकाव्यस्य एव शक्तिजन्यत्वात् यां विना
प्रसृतं काव्यान्तरम् उपइसनीयं स्यात् इति आहः तत् न । प्रसृतं वा इत्यादिः अना-
क्राह्यताभिधानतापत्तेः शक्तिकाव्यकारणतायां यादृशतायां शक्तिजन्यकाव्येन एव
शक्तिव्यतिरेकानुविधानस्य आकाङ्क्षितत्वात् न शक्त्यजन्यकाव्यस्य उपइसनीयतायाः ।
यां विना यदि प्रसृतं स्यात् तदा उपइसनीयं स्यात् इति तर्कपरम् इति अन्ये
तद्गपि न । एतस्य यथाश्रुतस्य घटादौ व्यभिचारात् । यदि च यदि यां विना
प्रसृतकाव्यं स्यात् इति क्रियते तथापि यां विना प्रसृतकाव्यासिद्धेः प्रसिद्धौ
तु अनुपइसनीये तत्र एव व्यभिचारात् मूलशैथिल्यात् उपइसनीयम् इति
कर्मणि अनीयः अपकाव्यम् इदम् इति काव्यस्य उपहासात् । चक्रवर्ती तु करणे
एव अत्र अनीयः काव्येन करणेन तत्कर्मः एव उपहासात् इति तत् न । बोधकशक्त्य-
भावस्य एव उपहासकरणत्वात् । न तु वस्तुतः अदृष्टस्य काव्यस्य लोकाशास्त्रादिकं
व्याचष्टे लोकाशास्त्रकाव्यानाम् अवेचणात् इत्युक्तौ एव लक्षणा प्रत्येकं लोकादीनाम्
अन्वयं दर्शयन् व्याचष्टे लोकास्तेति । लोकादर्शनं न काव्यहेतु किन्तु वर्धनीयार्थ-
ज्ञानं स्वरूपज्ञोक्तस्य अवर्धनीयत्वात् इत्यत लोकापदं लोकादसपरतया व्याचष्टे लोक-
दशास्तेति । अवेचणात् इत्यत्र अन्वयः स्थावरठगं च नवप्रपञ्चकविक्रानुसुनीत्यादन-
द्वीरपञ्चवशादिः अभिधानकीषः समरसिंहिहाहिनामसमुच्चयबोधकशास्त्रम् । कलादौ

तु व्यस्ताः तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्माणे समुत्पासे च हेतुः न तु हेतवः ।

सर्वत्र लक्षणयन्त्रान्वयः । कला नायिकानां हिलालीलादयः चतुःषष्टिः, चतुर्वर्गः, धर्मार्थ-
काममोक्षाः, खन्नात् इत्यादिपदात् रवपरिचयः एषां लक्षणयन्त्रज्ञानात् बर्णनीयार्थ-
ज्ञानं इतिहासादीनाम् इत्यादिपदात् नाख्याङ्गपरिचयः । अवेक्षणात् इत्यस्य व्याख्या-
विमर्शणात् इति व्युत्पत्तिः लीकव्यादिरूपविमर्शनीयार्थविषयकः संस्कारः निपुणता
पदस्य इयं व्याख्या काव्याङ्गपदं काव्यकर्तृकाव्यबीदप्रभयपरतया शिक्षापदं च
उपदेशपरतया व्याचष्टे काव्यं कर्तुम् इति । करणे प्रयोजने च इति काव्यकर्तृप-
देशेन करणे काव्यविचारकीपदेशेन अन्वयबीधरूपयोजने प्रवृत्तिः प्रवृत्तितन्वयेन
क्रियमाणार्थयीज्यमाणार्थविषयज्ञानेन जनितः संस्कारः प्रवृत्तेः अस्मायित्वात् ।
समुदिता इति च दृष्टचक्रन्यायेन परस्परसङ्गिताः एव हेतुः फलोपधायकाः इत्यर्थः ।
मिलनेन सामग्रीत्वात् एकवचनं न तु व्यस्ता प्रीष्टियवन्त्यायेन टयारणिमणिन्यायेन
वा प्रत्येकं न हेतवः न फलोपधायकाः इत्यर्थः स्वरूपयोग्यतारूपं हेतुत्वं तु केवलानां
दृष्टादीनाम् इव अस्ति एव इति बोध्यम् । मिलितानां तथात्वं तु मन्नाद्यनधीन-
काव्यं प्रति एव बोध्यं शिशुजते काव्ये तु अन्मान्तरीयतन्त्रयम् अस्ति एव इति ।
अत्र समुदिताः व्यस्ताः इत्युभयोः हेतुः न तु हेतवः इत्यत्र एव अन्वये एकस्मिन् अत्र
वाक्ये न तु पदद्वयं पुनरुक्तं अतः अत्र अध्याहारिण्य वाक्यमिदं एव करणीयम् ।
तथाहि समुदिताः कारिकास्थेन इतिशब्देन परासृष्टा इति अध्याहारान् एकं
वाक्यं न तु व्यस्ताः इति आहत्या प्रत्येकं न तु परासृष्टाः इत्यपरं वाक्यं तथा च
हेतुः न तु हेतवः इति अपरं वाक्यद्वयम् इति न तु पदद्वयापीनरुक्तं एवं च कारि-
कास्थेति शब्दः अपि व्याख्यातः भवति अन्वयात् तु तद्व्याख्यान्मृता स्मात् । न च
इति चये इति शक्यता व्याख्या एव कृता इति क्व न्यूनता इति वाच्यं ? तथात्वे
अपि समुच्चये इतिवत् इति चये इत्येव निर्दिश्येत स्वप्रयुक्तेशब्देन एव उक्तम् इति
चये इति उद्भवपदम् उत्पत्तिबीधीभयपरतया व्याचष्टे निर्माणे समुत्पासे चेति ।
समुत्पासः बोधः । काव्यपदार्थाज्ञाने तदर्थप्रयत्नासम्भवात् कारिकायां काव्यलक्षणम्
उक्तं तत् आभाषयति एवम् इति । काव्यतद्बीधीभयकारणस्य उक्तत्वात् एवम्
अनयोः कारणम् उक्त्वा अस्य स्वरूपम् आह इत्येव अन्वयस्वरूपं लक्षणम् ।

एवम् शब्दकारणम् उक्ता स्वरूपम् आह ।

तददोषी शब्दार्थौ

सगुणावनलङ्घ्यौ पुनः क्वापि ।

दोषगुणालङ्काराः वक्ष्यन्ते, क्वापि इत्यनेन तद्वाह यत् सर्वत्र
सालङ्कारौ क्वचित् तु स्फुटालङ्कारविरहे अपि न काव्यत्वहानिः ।

यथा

तददीपाविति । अदीपत्वादिविशिष्टौ शब्दार्थौ तत् इति अन्वयः । तत्पदेन च
काव्यं यत्रसे इत्याद्युक्तं काव्यं परामर्शम् । एवं च काव्यत्वं विशिष्टवृत्ति न
प्रत्येकवृत्ति यत् तु काव्यं ग्रन्थोक्ति इति प्रत्ययात् काव्यत्वं शब्दमात्रवृत्ति इति
कीचित् भावः तत् न, अत्र अपि शब्दद्वारा तथा प्रतीतिविषयत्वात् आत्मा श्रोतव्यः
इतिवत् न काव्यत्वं व्यासव्यवृत्ति अर्थाज्ञाने अपि शब्दावलीमात्रे काव्यत्वानुभवी-
तुपपत्तेः यावत् आश्रयाविषयदानेन व्यासव्यवृत्ति अर्थाविषयीकरणभावात् ।
शब्दार्थयोः प्रत्येकं सगुणत्वादिविशेषणभावात् शब्दानुपनिबन्धार्थतदनिबन्धकशब्दयोः
इति व्याप्तेः । न प्रत्येकं शब्दार्थौ काव्यं किन्तु परस्परविशिष्टौ एव तौ काव्यम्
इत्यर्थः । तत्र क्वचित् शब्दविशिष्टः अर्थः क्वचित् अर्थविशिष्टः शब्दः इति बोध्यं
न तु एकः श्लोकः एव द्विधा काव्यत्वम् एकधा काव्यत्वेन एव व्यवहारीपपत्तेः ।
तद्विनिगमना च यत्र शब्दो व्यञ्जना तदभावे अपि अर्थालङ्कारमात्रं वा तथार्थः विशेष्यः ।
यत्र तु शब्दो व्यञ्जना तदभावे अपि शब्दालङ्कारमात्रं वा तत्र शब्दः विशेष्यः इति
बोध्यम् । उभयालङ्कारसत्त्वे तु तद्व्यञ्जकाराधिक्या सापेक्षा विनिगमना बोध्या । अद्वौ
अत्र प्रव्यवृत्ति अग्निः उर्ध्वः प्राव्यः प्रोक्षन् उल्लसति अत्र भूमः इत्यादी नीरसादितया
अकाव्यत्वेन स्वयं वक्ष्यमाणे अतिव्याप्तिवारणाय सरसौ इति विशेषणं भङ्ग्या दातुं
सगुणी इति । गुणाः हि नापुर्व्योऽनःप्रसादाख्याः त्रयः रसवृत्तयः रसत्वव्यापकधर्माः ।
ते च रसद्वारा एव काव्यवृत्तयः इत्यतः गुणवर्ज्ये शारभूतत्वेन रसस्थित्या सरसौ
इति पर्यवस्यति । न च एवं भावतदाभासादिष्वनी अव्याप्तिः इति वाच्यं भावतदाभा-
सादीनाम् अपि रतिस्वादिभावकत्वेन रतिस्वादिभावकधर्मा प्रसारतुल्यकचत्वात्
तथापि नापुर्व्युच्चारणीकारात् एवं प्रीथन् स्वकविभासादिभावध्वनी श्रीश्रीगुणक
रदिसूक्तौ तु नापुर्व्युक्त्वात् अङ्गीकारात् । तदस्यति "रतिर्देवादिविषयाः स्वभिन्नारि-

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः
ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।

तथाञ्चितः” इति भावप्रोक्तः इति । न च एवम् अस्यादि व्यभिचारिध्वनी अपि
अभ्यासिः । तत्र अस्यादेः एव स्थायिभावत्वात् इति वाच्यं तथापि रसावश्यभावात् ।
परन्तु भावप्रतीतिः प्रौढत्वात् भावध्वनितया व्यवक्रियते । तदुक्तं “न भावहीनीऽस्ति
रसी न भावी रसवर्जितः । परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः” । इति । एवं वल्-
लङ्कारध्वनिगुणीभूतव्यञ्जादौ अपि रसावश्यभावात् न अभ्यासिः । अलङ्कारमात्र-
विशिष्टं चित्रकाव्यम् अपि सद्गङ्गासवत्त्वात् अभ्यासिरहितम् एव तन् वक्ष्यति
“शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यञ्जं खड्गं व्युत्तम्” इति लक्षणे अव्यञ्जम् इति स्फुटप्रतीय-
मानार्थरहितम् इत्यर्थः, इति प्रतीयमानार्थः व्यञ्जः इति स्फुटतद्वाङ्मियात् ईषत्तद्वत्ता
अवगम्यते प्रकाशयिष्यते च अयम् अर्थः दशमीज्ञासे उपमालङ्कारे । अनलङ्कती पुनः
इत्यत्र पुनः शब्दः अप्यर्थे ईषदर्थे च नञ् तेन ईषदलङ्कृती अपि इत्यर्थः । अप्यर्थेन
प्रौढालङ्कृतिपरिग्रहः, तेन सालङ्कारी इत्यर्थः व्याख्यास्यते च एवं वृत्ती । अलङ्कृतिपदस्य
प्रौढालङ्कृतिपरत्वमनिरासार्थम् इत्यम् उक्तिः । रसवतः अवश्यं सालङ्कारत्वम्
इत्येतत्प्रदर्शनाय एव तदुपादानं न तु अव्याप्तमिव्याप्तिवारणाय “तत्कथं कामयमानं
मां न त्वं कामयसे कथम् ?” इति दृष्टुक्तम् अकाव्यम् एव प्रङ्गाररसवति अपि
तत्र अतिव्याप्तिवारणाय सालङ्कारी इति तद्विशेषणम् इति वा । वैचित्र्यमात्रस्य एव
अलङ्कारत्वेन स्त्रीकालङ्काराभावे अपि अन्वीकालङ्कारप्रौढ्यात् निःशेषिव्यादौ चन्दन-
श्ववनादेः वापीकानहेतुकत्वात् डेवलङ्कारस्य एव सत्ता एव प्रायशः डेवलङ्कारवत्ता
एव बहूनां काव्यानाम् । ननु अदीषी इत्यनेन यदि दीषसस्ते काव्यत्वं न इत्यते ?
तत् किं “तथाभूतां दृष्टा वृषसदसि पाञ्चालतनयाम्” इत्यादेः कृतम् “अनुमतं दृष्टं वा
यैः इदं गुरुपातकम्” इत्यादेः च अथ स्वयं काव्यत्वेन उदाहरणं कृतं दीषीज्ञासे तथा-
भूताम् इत्यादेः शून्यपददीषवत्त्वेन कृतम् अनुमतम् इत्यादिषु पुनरुक्तदीषवत्त्वेन उदा-
हरिष्यमाश्रत्वात् इति चेत्, न, रसप्रतिबन्धकदीषाणां प्रतिकूलवर्णमुक्तिकटुकताणां
शाब्दबोधसामग्रीविघटकानां च शून्यतसंस्कृतिः क्लिष्टा भवन्नतयोर्नदीषाणाम् अभावस्य
एव अत्र विवक्षितत्वात् शून्यतसंस्कृतिना साधुत्वज्ञानस्य क्लिष्टेन आसत्तिज्ञानस्य
अभवन्नतयोर्न आकाङ्क्षादीग्यताज्ञानयोः च शाब्दबोधकारणानां विघटनात् ।
दीषान्तरं तु काव्यप्रकर्षकम् एव न तु काव्यत्वविघातकम् । केचित् तु एकत्र एव

सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारस्त्रीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले, चेतः समुत्कण्ठते ॥

काव्ये दीवदवयवावच्छेदेन अकाव्यत्वम् अन्वावच्छेदेन तु काव्यत्वम् अतः दीव-
सामान्याभाववन्ती इति एव अर्थम् आहः । तत् च एकत्र उभयव्यवहारपरात् अनु-
पादेयम् एव । दीवाद्यज्ञाने अदीवताद्यगहात् आह दीवगुणेति । ज्ञापीत्यन्वे-
नेति समीचीनः पाठः, ज्ञापीत्यनेनेति बहुपुस्तकपाठेऽपि तथा एव अर्थः बोध्यः ।
अनलङ्घ्यती पुनः इत्यादिः अर्थस्यैव यत् सर्वचेत्यादिना अदर्शितत्वात् । सर्वत्र स्त्रीके
ईषदर्थकनञ्चा अप्यर्थकपुनःशब्देन च ईषदनीषदलङ्कारत्वाभात् आह सालङ्कारा-
विति । अतः स्फुटालङ्कारवत्त्वं लक्षणेन प्रवेशितम् इति आह क्वचिद्विति ।
देशविशेषे कृतसङ्केतायाः गृहे स्वयं परामर्शः अर्थं रेवायाः नद्याः शोधसि तीरे वेतसी-
नामकस्य तरुविशेषस्य तले सुरतस्त्रीलाविधिनिमित्तं तथापि चेतः समुत्कण्ठते । ननु
विलक्षणरतिचमनायकप्राप्तार्थं युज्यते एव उत्कण्ठया इत्यत्र आह यः कौमार इति ।
कौमारं कुमारीत्वं अविवाहितत्वम् इति यावत् तत् यः विवाहेन कृतवान् अर्थात्
पतिः सः एव वरः श्रेष्ठः विलक्षणरतिचमनः एव इत्यर्थः । विलक्षणश्रीपिकायाः
रात्रेः प्राप्तार्थं तत्र उत्कण्ठया इत्यपि न इति आह ता एवेति । एवम् अनिल-
विशेषप्राप्तिः अपि अत्र एव अस्ति इति आह चैवेति । चैवचपायां कदम्बपुष्पाभावात्
कदम्बपदम् अत्र धूलोकदम्बपरम् इति चक्रवर्ती । स्थानविशेषमाहात्म्यात्
चैवे अपि कदम्बपुष्पम् इति अन्ये । मन्दागिलस्य एव उद्दीपकत्वात् प्रौढत्वे अपि
मान्यलाभार्थं कदम्बवृक्षानिखाः इति एव उक्ताः । वृक्षानिलाणां प्रौढत्वे अपि मन्दात्वात्
इति वयम् । तत्र गत्वा अहं विलक्षणरूपा स्याम् ? इत्यपि न इति आह सा चैवेति ।
अत्र अपि अहं तदवस्था एव अस्ति इत्यर्थः । तथा च तत्र उत्कण्ठाचिन्ताहेतुका
इति भावः । एवं च चिन्तनभाववैलक्षण्यविषयेषु विज्ञानेन उद्दीपितः शङ्कारा-
भासः अत्र व्यक्तः । अत्रेति रसानुगुण्ये सति शब्दात् साक्षात्प्रतीयमानत्वं स्फुटत्वम् ।
अत्र तादृशाः तयः अलङ्काराः सन्ति । तथाहि रतिचमनपत्यादिसत्त्वकथनात्
उत्कण्ठाकारत्वं नास्ति इति भङ्गा उक्तं, उत्कण्ठारूपं फलं तु दर्शितम् इति विभा-
वनालङ्कारः अस्ति । क्रियायाः प्रतिषेधे अपि “फलव्यक्तिविभावना” इति तद्व-
चयात् । “अप्रदीप्यन्तं गृहम्” इत्याद्यनुरीचेन क्रियापदस्य कारञ्चपरत्वात् । स
च अलङ्कारः अत्र शब्दतः साक्षात् न प्रतीयमानः, उत्कण्ठाकारचानां रतिचम-

अत्र स्फुटः न कश्चित् अलङ्कारः रसस्य च प्राधान्यात् न
अलङ्कारता ।

तद्भेदान् क्रमेण आह ।

दूदमुत्तममतिशयिनि

व्यङ्घे वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥

पद्याद्यसत्त्वानां पद्यादिसत्त्वकथनेन आक्षेप्यत्वात् एव नञः अनुपस्थापितत्वात् ।
तथा अनुत्कष्टाकारणानां रतिचमपव्यादिसत्त्वानाम् उक्तौ अपि अनुत्कष्टारूपफलस्य
अभावः उक्तः इति विशेषोक्त्यालङ्कारः अपि अस्ति । “विशेषीकृतः अलङ्कारो कारणेण
फलावचः” इति तद्वचसात् । फलावचः फलाभावीकृतः । स च अनुत्कष्टा-
रूपफलस्य नजाभावाकथनात् उक्त्याकथनेन एव आक्षेप्यत्वात् शब्दतः साक्षात्
अप्रतीयमानत्वेन अस्फुटः । तथाकीं नामहवी वरः इति रेफानुप्रासः अपि अत्र
अलङ्कारः । स च अत्र शब्दतः साक्ष्यत्प्रतीयमानः अपि प्रकृतशङ्काराभासरूप-
रसानुगुणत्वात् अस्फुटः लघुरूपाणां एव माधुर्यव्यञ्जकत्वेन शङ्कारानुगुणत्वात् ।
तत् वक्ष्यति । “मूर्ध्नि वर्मान्वयाः स्वर्गा अटवर्नारणी लघू । अङ्घ्रिर्मध्यङ्घ्रिर्वा
माधुर्ये घटना तथा ॥” अत्र लघुः अरच्यीः एव माधुर्यव्यञ्जकत्वोक्तेः । ननु
रसाभासत्वात् कर्जस्तिनामालङ्कारः एव अत्र स्फुटः अस्ति ? इत्यतः आह रसस्य
हीति । रसाभासस्य हि इत्यर्थः परनायकविषयरतेः रसाभासत्वात् प्राधान्यात्
पराङ्गत्वाभावात् पराङ्गत्वे एव हि रसवत् प्रेयः कर्जस्तिनामालङ्कारः एव अत्र
स्फुटः अस्ति इत्यतः आह । समाहितनामानः अलङ्कारः अलङ्काराः वक्ष्यन्ते । काव्य-
सामान्यघाते तदीयप्रभेदे जिज्ञासा जायते इति तद्भेदविधीयिका कारिका आभा-
षयति तद्भेदान् आह इति इदमिति । वाच्यात् अतिशयिनि वाच्यात् अधिकास्त्राख्ये
व्यङ्घे सति इदं काव्यम् उत्तमं तत् एव च बुधैः ध्वनिः कथितः इत्यर्थः । ननु
ध्वनिपरिभाषा ह अपि केन अपि न ज्ञाता तत्कथम् अलङ्कारमाख्ये सा ज्ञाता ? इति
आकाङ्क्षायां वैयाकरणरूपबुधसंवादं दर्शयन् व्याचष्टे बुधैः वैयाकरणेति । एवञ्च
न इयं कारिकास्तुबुधपदव्याख्या इति अवधेयम् । अत्र प्रथम् अर्थः अनेकवर्षा-
त्कस्य अलसादिपदस्य प्रत्ययं न सञ्जवति आह्वयिनाश्रितो क्रमिकायां वर्षानां
नेलकाभावेन तन्नेलकात्मनः पदस्य गृहीतम् अलङ्कारत्वात् । न च प्रत्येक-

इदमिति काव्यं, बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूप-
व्यङ्ग्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिः इति व्यवहारः कृतः, ततः तन्म-
तानुसारिभिः अन्यैः अपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यञ्जनक्षमस्य
शब्दार्थयुगलस्य । यथा

निःशेषच्युतचन्दनं स्ननतटं निर्मृष्टरागोऽधरः

नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।

वर्णाभुवजन्वसंस्कारैः सकलवर्णात्मनः पदस्य समूहात्मनश्च्युतिः एक नैया-
यिकमत्सिद्धा असु इति वाच्यं वर्षपदयोः एकदेशैकदेशिभावेन भिन्नत्वात् वर्षविप-
यकसंस्कारैः पदस्वरणजननाश्रयत्वात् इति अभिप्रायवक्तिः वैयाकरणैः पूर्वपूर्ववर्णाभु-
वज्जनितसंस्कारसहितेन अनुभूयमानस्वरमवर्षेण शीघ्रं व्यञ्जनाख्यः व्यापारः जन्यते ।
तेन एव व्यापारेण गष्टवर्षघटितम् अपि पदं स्फोटपरिभाषितं शीघ्रं साक्षात् क्रियते
इत्युच्यते तत् आह बुधैः वैयाकरणैः इति । अर्थप्रत्यायकत्वात् एकदेशित्वात् च पदं
वर्णापेक्षया प्रधानभूतं स्फोटशङ्कं च तद्रूपव्यङ्ग्यञ्जकस्य शब्दस्य अन्ववर्णात्मनः
इत्यर्थः । अतः तन्मतेति चरमवर्णात्मनि शब्दे तेषां ध्वनिव्यवहारः आलङ्कारि-
काणाम् अपि काव्यात्मनि शब्दे ध्वनिव्यवहारः इति शब्दे व्यवहारसाध्यात् मतानु-
सृष्टम् अन्ये वा आलङ्कारिकरूपैः बुधैः । काशिकास्थबुधपदव्याख्यानम् इदं न्यग्भावितं
स्वख्यात् अगिष्कृष्टीकृतं वाच्यं येन पदार्थेन तद्व्यञ्जनक्षमस्य इत्यर्थः । वाच्यात् अति-
शयिनि व्यञ्जि सति ध्वनिस्वरस्य कारिकीकृतात् । शब्दार्थयुगलस्य इति चरस्वर-
विशिष्टयोः शब्दार्थयोः काव्यत्वेन उक्तत्वात् । विशिष्यविशिष्यभाषापन्नयोः तयोः एव
च मुख्यगौणभावेन व्यञ्जकत्वात् । तच्च शब्दविशिष्टार्थस्य अतिशयासाध्यव्यङ्ग्यञ्जक-
त्वेन ध्वनिकाव्यम् उदाहरति निःशेषेति । उपनायकम् आभितुं प्रेषितं तेन एव
सम्भूतां तम् अनासाद्य ज्ञात्वा आगता अस्मि इति उक्तवतीं दूतौ प्रति नायिकायाः
उक्तिः इयम् । यत्नात् अपि स न आयातः इति मिथ्यावादिनि ! हे दूति ! वाच्यजनस्य
मम नायकानागमने यत्पीडागमः तम् अज्ञातवती त्वम् ज्ञानुक् इतः वापीं गता
असि न पुनः तस्य अधकन्त्र अतिकम् इति अन्यः । दूतीप्रस्थापनसामेक्षत्वेन तस्य
अधकत्वम् । वापीकानसाधकानि आह निःशेषेत्यादि । तत्र स्ननतटे यतः निःशेष-
च्युतं चन्दनं यत्र ताटश्रेण्यम् उत्तरत्र अपि समासः । दूरम् अतिशयं इयं दृश्यमाना

मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्यान्नतपीडागमे !
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

तन्वी क्षीया तव तनुः पुलकिता स्नानभागेन अनेति प्राधान्येन दर्शितं व्यङ्ग्यं वाच्या-
पेक्षया प्रधानत्वेन शब्दविशिष्टेन अर्थेन व्यज्यते इत्यर्थः । शब्दीपनिबन्धे वाच्यार्थे
अवगते सति उक्तव्यङ्गावगमात् । तथाहि चन्दनस्य निःशेषशुक्तिः अतिशयमर्दनात्
एव स्नाने तु स्नानम् एव न शुक्तिः । तथा स्नानस्य तट-प्रान्तभागः तव स्नानान-
सृष्टत्वात् तादृशं स्नाने तु समस्तस्नानः एव तादृशः स्यात् । तथा चुम्बनात् एव रागः
निर्मुष्टः भवति स्नाने तु स्नानितः इव स्यात् । तथा अधरस्य उक्तानत्वात् चुम्बन-
सृष्टत्वेन तव एव निर्मुष्टरागत्वम् उक्तं न तु चुम्बने पूर्वोक्ते अपि स्नाने तु
इयम् एव तथा स्यात् । तथा दूरं प्रान्तभागं व्याप्यैव अनस्नाने चुम्बनसृष्टत्वात् स्नाने तु
सर्ववच्छेदेन एव तथा स्यात् । तथा इयम् इदानीं दृश्यमाना तनुः पुलकिता इत्य-
नेन इदानीम् एव पुलकः नीचरतात् नीचरतं हि नायिकायाः पश्चात् भावीहीधेन
प्रकृते च विलम्बे नायिकायाः एव स्वयम् आगमनसम्भवनया समस्वरतित्वेन प्रथमं
भावानुहीधेन न उच्चरतं कार्यनिर्वाहे सति तु भयाभावेन पश्चात् भावीहीधः स्नाने
तु तदानीम् एव पुलकः स्यात् वर्त्मन्मात् तु तन्निवृत्तेः एव तथाधमत्वं तादृशी-
त्तमनायिकापेक्षया दूतीप्रसक्तत्वात् । केचित्तु क्वचित् पुस्तके प्राधान्येन अधमपदेन
व्यज्यते इति पाठं दृष्ट्वा दूतीगमनत्वात् एव अधमत्वस्य उपपत्तिः । अन्यथा दूत्यगमने
तस्य अपराधाभावेन अधमत्वोक्तेः अनुपपन्नत्वात् अधमपदस्य अन्यापेक्षया प्राधान्येन
व्यञ्जकत्वं वर्णयन्ति तत्, न, वाच्यापेक्षया अतिशयिनः पदार्थयुगलेन व्यज्यमानस्य
उदाहरणे दर्शयितव्ये अतिशयित्वरूपप्राधान्यस्य व्यङ्ग्यं एव वक्तुम् उचितत्वात् । न तु
व्यञ्जके अधमपदे दूतीप्रस्थापनसापेक्षत्वेन अपि अधमत्वोपपत्त्या व्यञ्जकान्तरापेक्षया
तस्य प्राधान्याभावात् च । यत्तु पञ्चमीलासे व्यक्तिवादिना तु अधमपदसहायानाम् एषां
चन्दनच्यवनादीनां व्यञ्जकत्वम् उक्तम् इत्युक्तम् गन्धकता, तत्र अपि अधमपदस्य सहा-
यता एव उक्ता न तु प्राधान्यं न हि दृष्टसहायं चक्रं घटजनकम् इत्युक्ते दृष्टस्य
प्राधान्यम् अवगम्यते । तथात् अधमपदेनेति पाठः तत्त्वानवबोधप्रभवः एव । अत्र केचित्
तदन्तिकगमनस्य वाच्यार्थस्य बाधितत्वे तेन स्नाविरोधिनः तदन्तिकगमनस्य कथं
व्यञ्जना ? बाधितत्वे अनवगतः वाक्यार्थः । कथं तदन्तिकम् एव इत्यादिकं व्यनक्ति

अत्र तदन्तिकम् एव रन्तुं गता असि इति प्राधान्येन
अधमपदेन व्यज्यते ।

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्गं व्यङ्ग्यं तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यात् अनतिशयिनि । यथा

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥

इत्यतः लक्ष्यम् इति पूरयित्वा गन्धं समर्थयन्ति । तथा च तदन्तिकं गता असि
इति लक्ष्यं वर्षे व्यज्यते रमणं व्यज्यते इत्यर्थः इत्याहुः तत् न । प्रथमम् अबाधितत्वं
अपि यथोक्तविशेषणतात्पर्यप्रतिसन्धाने सति स्वविरोधिनः तदन्तिकमनस्य व्यञ्जने
सति वाच्यार्थबाधे अनुपपत्त्यभावात् । तदुक्तम् अन्यत्र “क्वचिद्वाध्यतया ख्यातिः
क्वचित् ख्यातस्य बाधनम् । एकत्र लक्ष्यैव स्यादन्यत्र व्यञ्जनैव तु ॥” इति । किञ्च
लक्ष्यम् इति पूरयित्वा अन्यसमर्थनम् अपि असम्भवम् । तथाहि, तदन्तिकं गता असि
इति लक्ष्यम् इति यदुक्तं तत्र कुत्र पदे गमनं लक्षणा गमधातोः स्वर्यत्वात् एव
गमनस्य नवा नञि गमनलक्षणा गतासि इत्यनेन पीनरुण्यपत्तेः लक्षणां विना अपि
वापीं ज्ञातुं न गता असि तस्य अधमस्य अन्तिकं पुनर्गता असि इति अन्वये अपि
तदर्थसिद्धेः । किञ्च पञ्चमीकृते निःशेषित्यादौ विधिः व्यङ्ग्यः एव इति गमनविधिः
व्यङ्ग्यत्वस्य गन्धदुक्तस्य विरोधः तैः गमनस्य लक्षणीकैः ।

अतादृशीति । व्यङ्ग्ये अतादृशि तु सति काव्यं मध्यमम् । तत् च गुणीभूतव्यङ्ग्यं
बुधैः कथितम् इति लिङ्गव्यत्ययेन अनुषङ्गः । वाच्यात् अनतिशयश्च द्विधा भवति ।
वाच्यन्यूनचमत्कारित्वे वाच्यतुल्यचमत्कारित्वे च इति । तत्र वाच्यन्यूनचमत्कारित्वे
उदाहरति ग्रामतरुणमिति । नवा नवीना या वञ्जुलमञ्जरी अश्रीककलिका तत्-
सनाथकरं तद्युक्तकरं ग्रामतरुणं मुहुः पश्यन्त्याः तरुण्याः मुखच्छाया मुहुः मलिना
नितरां भवति इत्यन्वयः । अश्रीकतरुतले कृतसङ्केतं तत्र गत्वा तदीयमञ्जरीम्
आदाय प्रतिनिवृत्तं दृष्ट्वा गृह्यव्यापाराविशात् स्वकृतसङ्केतभङ्गात् स्वापराधभावगया
मसीमुख्या वर्णनम् इदं नायिकासम्मुखे अपरिचितपुरुषस्य अपस्थाने अन्येषां शङ्की-
दयात् आह्वयमिति । तरुणतरुस्थीरेव तथोचित्यप्रतिपादनाय उभयत्र तरुणत्वो-
पादानं मङ्गलार्था अनवत्वापादानं प्रथमजातमङ्गलार्थां सर्वेषां दिदृक्षासस्तेन तद्दिदर्श-

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता न आगता इति व्यङ्ग्यं
गुणीभूतं, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

शब्दचित्रं वाच्यचित्तमव्यङ्ग्यन्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

चित्तम् इति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यम् इति स्फुट-
प्रतीयमानार्थरहितम् । अवरम् अधमम् । यथा

यिषया तद्युक्तकरणत्वेन परिषां न शङ्कीदयः इत्येतदर्थम् । सुहुः दर्शनम् अनुरागात् सुहुः मालिन्यं स्वापराधभावनया अत्रेति । एतच्च व्यङ्ग्यं श्रीकार्यवीडुसामाजिकबीधविषयः वाक्यव्यङ्ग्यीः चमत्कारित्वं च प्रकृते विप्रलम्भपुष्टिकारित्वात् एव तत्र दर्शितं व्यङ्ग्यं न स्वयं तत्पुष्टिकारि सङ्केतस्थलगमनाभावस्तु सुहुर्दर्शनजन्यं सुहुर्मालिन्यं वाच्यार्थम् अनपेक्ष्य विप्रलम्भाव्यञ्जकत्वात् तादृशकार्यत्वाभि अपि तस्यभावात् अगतसङ्केतस्थलायाः सुहुर्नायकदर्शनात् सुखमालिन्येन वाच्यार्थेन एव विप्रलम्भव्यञ्जनात् इति व्यङ्ग्यार्थस्य निःशेषेत्यादौ तदन्तिकम् एव इत्यादिः इव वाच्यार्थनिरपेक्षरसपीषकत्वाभावात् गुणीभूतत्वं सुहुर्दर्शनात् सुहुर्मुखमालिन्यं तु वाच्यार्थः अनुरागात् एव जायते इति स्वातन्त्र्येण रसपीषकत्वात् भवति एव उक्तव्यङ्ग्यापेक्षया चमत्कारि । न च त्यक्तस्य पुनरागमने क्रीडात् अपि सुखमालिन्यं जायते इति वाच्यार्थः अपि व्यङ्ग्यसङ्कतः इति पीषकः इति वाच्यम् ? स्वयं कृतसङ्केतायाः तस्याः तद्दर्शनेन क्रीडानुदयात् । अनुरागात् एक सुहुर्दर्शनात् क्रीडात् तु सङ्कतदर्शनात् एव ।

शब्दचित्तमिति । अव्यङ्ग्यं काव्यं पूर्वीक्तव्यपेक्षया अवरम् अधमम् । तत्र शब्दचित्रं वाच्यचित्रञ्च इति द्विधा बुधैः कथितम् इति अनुषङ्गः । एतेन उभयम् एव चित्रम् इति गम्यते । तत् एव उक्तव्य व्याचष्टे चित्रम् इतीति गुणालङ्कारेति । न च स्वीकृताधुर्वीजः प्रसादाख्याः गुणाः रसवृत्तयः एव अव्यङ्ग्यत्वे न च स्फुटं रसानुपलम्भात् गुणयुक्तत्वं कथं लक्षणे दत्तम् इति वाच्यम् । स्फुटानुपलम्भे अपि उपलम्भमानत्वात् एव इति दशमीज्ञासि उपमायन्त्रे वक्ष्यमाणत्वात् । शब्दालङ्कारवत्त्वे अपि शब्दचित्तत्वम् अर्थालङ्कारवत्त्वे वाच्यचित्तत्वम् उभयसत्त्वे तु सङ्करः इति बीध्यम् । प्रतीयमानार्थः व्यङ्ग्यार्थः । न च वाच्यसिद्धाङ्गम् अस्फुटम् इति यत् अस्फुटव्यङ्ग्यगुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यं वक्ष्यते तदभेदापत्तिः इति वाच्यम् ? स्फुटालङ्कारत्वे चित्रमस्फुटालङ्कारत्वे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यम् इति भेदात् सर्वथा वैचित्र्यभावात् निरालङ्कारं तु चमत्कार्यम् एव सालङ्कारत्वघटितकाव्यत्वभावात् ।

स्वच्छन्दीच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतरास्युच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाङ्गिकाऽङ्गाय वः ।

भिन्यादुद्यदुदारददुरदरीदैर्घ्या दरिद्रदुम-

द्रोहीद्रेकमहोर्मिदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराङ्गवत्पुण्यस्य यदृच्छ्याऽपि यम् ।

ससम्भ्रमेन्द्रुतपातितार्गला निमौलिताचीव भियाऽमरावती ॥

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूपविशेष-

निर्णयः नाम प्रथमः उक्तासः ।

स्वच्छन्देति । मन्दाकिनी वः युष्माकं मन्दतां पापेन अपकृष्टतां अत्राय भटिति
भिन्यात् इति आशीः । भियात् इति पाठे आशिषि एव लिङ् सप्तमी । कीदृशी
मन्दाकिनी स्वच्छन्दम् अप्रतिबद्धम् उच्छलत् अच्छं निर्मलं गिरिकच्छकुहरैः क्राते-
तरं वलिष्ठं यत् अन्वु तच्छटया तत्कान्था मूर्च्छन्तः नम्रन्तः मोहाः अज्ञानानि धीषीं
तादृशैः महर्षिभिः हर्षेषु विहितं स्नानसन्धाङ्गिकं यस्यां तादृशी । तथा प्रवाहवृद्धि-
वशात् जलप्रवेशेन उपरिभागभङ्गात् उद्यत् व्यक्तीभवत् उदाराणां ददुरदरीणां दैर्घ्यं
यस्यां तादृशी । तथा दरिद्राणां अचीयानां महतां दुमानां द्रोहीद्रेकेषु ये महो-
र्मयः तैः मीदुरः पुष्टः मदः प्रवाहचापकां यस्यां तादृशी । उच्छलदिति । शलगती
“अनासी दुर्बलन्धातः” इत्यमरः । अथ हकारस्य महर्षिहर्षेत्यस्य आङ्गिकाङ्गा-
येत्यस्य दकारस्य मन्दमन्देत्यस्य च अनुप्रासः शब्दालङ्कारः । मन्दाकिनीविषयः
भावस्तु ददुरदरीत्याद्यपुष्टार्थविशेषणवशेन दौर्घसमासेन च अस्फुटीकृतः अस्फुट-
तद्गुणे गुणवत्त्वं च बोध्यम् । अर्थचित्रम् आह विनिर्गतमिति । मानदमित्यत्र दादी-
धातुद्वयः क्लृप्तः तेन अयं मित्राणां मानदासारं श्रूषां मानस्वच्छनञ्च यदृच्छ्या आत्म-
मन्दिरात् विनिर्गतम् उपपन्नस्य परम्परया श्रुत्वा संसम्भ्रमिञ्च इन्द्रेण पातितता अर्गला
यस्याः अमरावती तादृशी सती भयात् निमौलिताची इव भवति इति अन्ययः । अथ
सन्नेचाद्यालङ्कारः राजविषयास्फुटभावसम्प्राप्त्य तद्गुणितगुणवत्ता । नचेन्द्रभीतिजनकत्वे न
पौरुषस्थापकविशेषणवत्त्वेन पुष्टार्थविशेषणवत्त्वात् अथ भावः स्फुटः एवेति वाच्यं ?
तदेवं स्यात् यदि भावव्यञ्जनी वाक्यविश्रान्तिः स्यात् किन्तु निमौलिताची इव भवति इति
उत्प्रेक्षावाचकवाक्ये एव विश्रान्तिः इति तस्यैव प्रथमम् अवभासात् प्रौढत्वम् इति

द्वितीयः उल्लासः ।



क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपम् आह ।

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अत्र इति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

वाच्यादयस्तदर्थः स्युः

वाच्यलक्ष्यव्यङ्गाः ।

तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

भावस्य तेन तिरोहितत्वात् अस्फुटत्वं पातितार्गला भवति इति न अन्ययः । तदा निमीलिताश्चैव इव इत्यत्रापि तत्क्रियानुषङ्गापत्तेः । अतः अननुषङ्गाभिप्रायेण एव इदम् उदाहरणं बोध्यं भावस्य प्रतीतिविलम्बेन अस्फुटत्वं च अभिप्रेत्य उक्तं वस्तुतः तु शब्दस्वीतीतिजम्बकियोत्प्रेषया अपि राजविषयभावपर्यवसानम् एव इत्यतः आपाततः एव इदम् उदाहरणम् उक्तं षष्ठीज्ञासि ते दृष्टिमानपतिताः इत्यादिकं यदर्थचित्तीदाहरणं वक्ष्यते तदेव उदाहरणं बोध्यम् ।

इति श्रीमद्भिनुरन्ध्यायलङ्कारभट्टाचार्यविरचिते काव्यप्रकाशादध्वने

प्रथमः प्रतिबिम्बः ॥ १ ॥

ननु बोधकबोध्ययोः एव शब्दार्थयोः काव्यत्वं वक्तव्यम् अभीधकाबोध्ययोः तयोः वैशिष्ट्यस्य एव अभावात् ? बोधकबोध्यभावश्च तस्या एव भवति इति कया तस्या शब्दानां बोधकत्वं अर्थानाञ्च बोध्यम् इत्यत्र उक्तां कारिकाम् आभासयति क्रमिचेति । स्वरूपम् अत्र लक्ष्यम् । काव्ये इति । काव्ये विचार्ये अलङ्कारशास्त्रे इत्यर्थः । शास्त्रान्तरे तु व्यङ्ग्यार्थस्य अनुमितिनम्यत्वम् इति भावः । तथाच शब्दः शक्त्या लक्षणया व्यञ्जनया च प्रतिपादकः इत्यर्थः । एषां स्वरूपम् इत्यत्र स्वरूपं लक्षणम् । केषुचित् नैयायिकेषु । तन्मते उपस्थितपदार्थसंसर्गकपदस्य तात्पर्यार्थस्य शब्द-
रूपविषयत्वं दर्शयति आकाङ्क्षेति । अभिधानापर्यवसानम् आकाङ्क्षा अन्यवा-

आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थः विशेषवपुः अपदार्थः अपि वाक्यार्थः समुल्लसति इति अभिहितान्वयवादिनां मतम्, वाच्यः एव वाक्यार्थः इति अन्विताभिधानवादिनः ।

सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।

तत्र वाच्यस्य यथा

माए ! घोरोवधुरणं अस्मि ह्यु यं त्यक्ति साहिष्णं तुमए ।

उपाधः योग्यता अव्यवधानेन अव्ययप्रतियोग्यपक्षान् सन्निधिः एतन्नयनशात् पदार्थानां समन्वये बोद्धव्यः इति शेषः । समन्वयरूपः एव तात्पर्यार्थविशेषवपुः त्रिलक्ष्यस्वरूपं समुल्लसति भासते इत्यर्थः । जात्यादिः जातिः एव इति । पदार्थाः वक्ष्यमाणाः इत्याह वक्ष्यमाणेति । तात्पर्यार्थस्य त्रिलक्ष्यस्वरूपत्वं दर्शयति अपदार्थः इति । पदार्थात् अन्वयः इत्यर्थः । तर्हि स कस्य अर्थः इत्यत्र आह वाक्यार्थः इति । अन्वयविषयः अपि वाक्यप्रतिपाद्यः इत्यर्थः । संसर्गस्य इयं मर्यादा यदशक्यः अपि असौ वाक्यात् भासते इति । तस्य संसर्गमर्यादाकल्पव्यवहारः । अभिहितेति । इत्या पदीपस्थापितम् अभिहितं तेषाम् अन्वयः पश्चात् अवगम्यते इति वादिनः नैयायिकाः तेषाम् इत्यर्थः । केषुचित् इत्यनेन वृत्तिविषयात् प्रथक् अर्थः न अस्ति इति मतभेदः सूचितः तम् आह वाच्यः एवेति । वाक्यार्थः संसर्गः वाच्यः एव पदवृत्तिविषयः एव न तु संसर्गमर्यादाकल्पः इत्यर्थः । घटपदम् इतरास्मिते शक्तम् इति सामान्यतः शक्तिर्यद्हे सति घटमानय इत्यादिसमभिव्याहारवशात् इतरविशेषम् आदाय अन्वयत्रोधः इति तेषां मतम् अतः ते अन्विताभिधानवादिनः शीमांसकाः । अनुशब्दः अव्यञ्जकः इत्यनेन शब्दस्य व्यञ्जकत्वम् उक्तम् ? तत्र न घटते वाच्यार्थं बोधयित्वा एव शब्दस्य विरतत्वात् अतः अर्थबोधनद्वारा एव शब्दस्य व्यञ्जकत्वं वक्तव्यम् । तत्र अर्थस्य अव्यञ्जकत्वे द्वारत्वानुपपत्त्या न घटते इत्यतः अर्थानाम् अपि व्यञ्जकत्वम् आह सर्वेषाम् इति । अर्थानाम् अपि इत्यपिकारान्वयः । घटम् आनय इत्यादौ अव्यञ्जकस्य शब्दस्य अर्थः अपि अव्यञ्जकः इत्यतः प्रायशः इति उक्तम् । तत्र वाच्यस्येति व्यञ्जकत्वमिति कारिकास्थे अन्वयः । एवम् उत्तरत्र अपि । साए इत्यादि ।

ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाए ॥

अत्र खैरविहारार्थिनी इति व्यञ्जते ।

लक्ष्यस्य यथा

साहेन्ती सद्धि ! सुभगं खणे खणे दूणिभासि मज्झ कए ।

सर्वभावसिणोहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥

अत्र मप्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वम् आचरितम् इति लक्ष्यं,
तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यञ्ज्यम् ।

मातृगृहीपकरणमयं हि नास्तीति साधितं त्वया ।

तद्वयं किं करणीयमिव न वासरः स्थायी ॥ इति संकतम् ।

गृहीपकरणं गृहकर्म साधितं प्रतिपादितं एवम् एव अनिर्व्यापारः
एवं वासरः दिवसः न स्थायी न स्थास्यति । तथाच व्यापारमादिशेति व्यङ्ग्यं
बहिर्व्यापारम् आदाय एव पर्यवस्यति इत्यतः आह अवेति । अत्र सर्वे एव अर्थाः
अलक्ष्यत्वं न वाचाः एव । साहेन्तीति ।

साधयन्ती सद्धि ! सुभगं खणे खणे दुणीवि मम ज्जते ।

सहावसेहकरणीयसद्वर्गं तावद्विरचितं त्वया ॥ इति संकतम् ।

नायकं स्वयम् एव उपभुञ्ज्य क्लिष्टायातां दूतीं प्रति नायिकायाः सीङ्गुला उक्तिः
इयम् । सहावः क्लिष्टता कोऽहः वात्सल्यं तयोः करणीयस्य सद्वर्गम् उचितं विरचितं
ज्ञतम् । अवेति प्रमाथान्तरात् अवगतापकारिणीं प्रति एतादृशोक्तिवाधात् इयं
लक्षणा । ननु दर्शितः लक्ष्यार्थः कस्य पदस्य लक्षण्याय गम्यः ? तदितरपदार्थस्य तत्र
अन्वयासम्भवात् । अत्र सुबुद्धिमिथाः सहावसेहपदयोः असहावा कोऽहलक्षणा । एवं
साधयन्ती इत्यत्र स्वरमपार्थं साधयन्ती इत्यर्थः । मम ज्जते इत्यत्रापि स्वस्य ज्जते इत्येव
लक्ष्यार्थः । दर्शितार्थस्तु तन्मूलकव्यङ्ग्यः एव । अतः लक्ष्यम् इत्यत्र लक्षणात्मूलकव्यङ्ग्यम्
इत्येव अर्थः । न चैवं लक्ष्यार्थव्यङ्ग्योदाहरणं तत् एव मर्यादाम् इति तेन च कान्तुकीत्यादि
प्रदर्शनम् अफलम् इति वाच्यम् ? अत्र क्लृप्तीदाहरणतया तत्प्रदर्शनाभावे अपि व्यङ्ग्यस्य
अपि व्यङ्ग्यम् अत्र अस्ति इति प्रसङ्गात् एव दर्शितत्वात् । तत् न, लक्ष्यार्थम् अदर्शयित्वा
तन्मूलकव्यङ्ग्यार्थप्रदर्शनस्य स्थायते शब्दप्रयोगे लक्षणात्मूलकव्यङ्ग्यम् इति अनुज्ञा
कल्प्यम् इत्युक्ते तेन च इत्यादिप्रकृतानुपयोगिप्रदर्शनस्य च अनीचिव्यात् । अत्रवर्ती

व्यङ्ग्यस्य यथा

उअ णिञ्चल । णिप्पन्दा भिसिणीपत्तमि रेहइ वलाभा ।

णिञ्चलमरगअभाअणपरिद्धिआं सङ्गसुत्तिव्व ॥

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं तेन च जनरहितत्वम् । अतः सङ्केतस्थानम् एतत् इति कयाचित् कश्चित् प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या वदसि 'न त्वम् अत्र आगतः अभूः' इति व्युच्यते ।

तु "मत्प्रियं रमयन्त्या" इति हेतुप्रदर्शनम् आचिष्य एवं कृतम् । आचरितमिति । विरचितपदवाच्यार्थः एव शतुत्वम् इत्येव सदृशपदलक्ष्यम् । तथाच मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया आचरितं शत्रुत्वं लक्ष्यम् इति वृत्त्यर्थः इत्याह । तदपि न सद्भावस्त्री हकरणीयशत्रुत्वम् इत्यन्वयासम्भवात् अचेतनस्य करणीयस्य शत्रुत्वभावात् सद्भावस्त्री हयीः करणीयं शत्रुत्वम् इति समासस्थं अपि असम्भवात् मितत्वस्य एव तयोः करणीयत्वात् न शत्रुत्वस्य । वयं तु सदृशपदे विसदृशलक्षणा । तत्र विसदृशलत्वं लक्ष्यतावच्छेदकम् अपह्णाय लक्ष्यमात्रं विसदृशं विवृत्य दर्शितं मत्प्रियम् इत्यादि । तेन व्यङ्ग्यं दर्शयति तेन च इति । कामुकैत्यत्र एकशेषः । तथाच कामुककामुकौ विषयेत्यर्थः । यद्यपि सापराधत्वरूपम् एव व्यङ्ग्यं द्वितीविषयः न तत्प्रकाशनं तथापि तत्प्रकाशनपर्यन्तं सामाजिकबीधविषयः इति तत् एव प्रदर्शितम् उच्यं णिञ्चलेति ।

पश्य निञ्चल ! निष्पन्दा विसिनीपत्ते राजते वलाका ।

निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥ इति सं ।

उपनायके सङ्केतस्थलं प्रदर्शयन्त्याः तत्र गत्वा नायिकाम् अनासाय प्रतिनिवृत्त्य आगतः अस्मि इति नायकोक्तेः मिथ्यात्वप्रदर्शिकायाः वा इत्याः उक्तिः इयम् । उच्यते वितर्कय पश्य इत्यर्थः । निञ्चल इति लम्बीधर्मं चलनस्यन्दावत्रयवावविक्रियाद्यं तद्रहितेति तु निञ्चः, निञ्चला पृथिवी सा इव निष्पन्दा इति तु चक्रवर्ती तत् न । अचलापदस्य परिग्रह्यत्वमत्र न निञ्चलापदस्य पृथिव्यवाचकत्वात् अथवा दीवीज्ञासि निष्कम्पात् अस्य पृथिव्यवाचकत्वं अन्यत्राहृत्यमात्रं न उपपद्येत । अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वम् इति अन्यत्राहृत्यनुपपत्तेः । निञ्चलानिष्पन्दत्वेन इत्येव सदुक्तवैचित्र्यात् । शङ्खशुक्तिः शङ्खकपालम् । अनेत्यादि कश्चित् प्रत्युच्यते प्रतिपाद्यते । प्रतिपादनं च वाच्यव्यङ्ग्यसाधारणं बीध्यम् । अतः सङ्केतस्थानम् इत्यत्र पञ्चानरम् आह अथवा मिथ्येति । एषां स्वरूपं वक्ष्यते इत्युक्तत्वात् । इदानीं वाचकस्य लक्षणम् आह ।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपम् आह ।
 साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थ-
 मभिधत्ते स वाचकः ॥ ७ ॥

साक्षादित्यादि । सङ्केतः पदपदार्थयोः सम्बन्धरूपा वृत्तिः साक्षात् सङ्केतितम् उपस्थित्यन्तराव्यवधानेन गृहीतस्वसङ्केतं यम् अर्थं यः प्रतिपादयति तस्य अर्थस्य सः वाचकः । यः अयम् अर्थं प्रतिपादयति इत्येतावन्मात्रकारणे व्यञ्जनया अश-
 क्यार्थप्रतिपादके अपि तद्वाचकतापत्तिः स्यात् अतः सङ्केतितमिति, गृहीत-
 स्वसङ्केतम् इत्यर्थः । सङ्केतः हि वृत्तिः व्यञ्जार्थस्तु न तादृशः अगृहीतायाः
 एव व्यञ्जनायाः बोधकत्वात् । “गङ्गायां घोषः” इत्यादौ प्रवाहबाधोपस्थितेः व्यव-
 धानेन एव तीरे लक्ष्यारूपसङ्केतयद्वात् न साक्ष्यिकेति व्याप्तिः । न च सङ्केतः
 शक्तिः एव । तथाच सङ्केतितं गृहीतस्वशक्तिकं यम् अर्थं यः प्रतिपादयति इत्येता-
 वर्ता एव साक्ष्यिकवारणे किं साक्षात् इत्यनेन इति वाच्यं स्यात् ? वाचकः इत्या-
 द्युक्तस्य शक्त्या प्रतिपादकस्य एव लक्षतावच्छेदकत्वलक्षणेन बुभुक्षितत्वात् अर्थे
 गृहीतस्वशक्तिकत्वप्रवेशे आत्माश्रयापत्तेः । अर्थनिष्ठगृहीतस्वशक्तिकत्वशब्दनिष्ठशक्ति-
 कारणकप्रतिपादकत्वयोः एकवृत्तिवेद्यात्वात् । न हि वाचकसंज्ञकत्वम् अत्र
 लक्षतावच्छेदकम् अनेन लक्षणेन यास्त्येन गृहीतशक्तिकत्वप्रवेशेन न आत्माश्रयः
 स्यात् । अतएव यस्य यत्र शक्तिः सः तस्य वाचकः इत्यपि न कृतम् । अत्र एव च
 अभिधत्ते इत्यत्र प्रतिपादयति इत्येव अर्थः, न तु अभिधया प्रतिपादयति इति ।
 तथात्वे अपि तद्दोषः तादवस्थ्यात् साक्षात् गृहीततीरपदसङ्केतस्य तीरस्य प्रति-
 पादके गङ्गापदे अतिव्याप्तिवारणाय गृहीतस्वसङ्केतत्वम् उक्तं साक्षाद्गृहीतस्वसङ्केत-
 स्वार्थप्रतिपादकस्य शब्दस्य अन्वार्थस्य वाचकतावारणाय यः अयम् अर्थं स तस्येति
 यत्तत् प्रवेशः गृहीतत्वम् अप्रवेशस्य साक्षात्स्वसङ्केतविषयभावप्रवेशे सङ्केते असाक्षा-
 त्त्वाभावात् साक्षादित्यस्य अनुपादेयत्वापत्तेः । तदनुपादाने च साक्ष्यिकस्य
 अवारणम् एव स्यात् । गृहीतत्वप्रवेशे तु साक्ष्यिकशब्दार्थे व्यवधानेन एव सङ्केत-
 यद्वात् भवति एव । तद्वारणञ्च अत्र च स्वसङ्केतविषयम् अर्थं यः साक्षात् अभिधत्ते
 इतिना अन्वयः । अभिधत्ते इत्यस्य उक्तयुक्ता प्रत्यायकत्वपरत्वेन स्वपरसाक्ष्यिक-
 शब्दभावे एव अतिव्याप्तापत्तेः लक्ष्यार्थानुकारसाक्षात् एव प्रतिपादकत्वात्
 तेषाम् । न च शक्तिशब्दात् अशक्यार्थप्रतिपादके शब्दे अतिव्याप्तिः इति वाच्यम् ?

इह गृहीतसङ्केतस्य शब्दस्य अर्थप्रतीतिः अभावात् सङ्केत-
सहायः एव शब्दः अर्थविशेषं प्रतिपादयति इति यस्य यत्र
अव्यवधानेन सङ्केतः गृह्यते स तस्य वाचकः ।

सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

यद्यपि अर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिः
एव । तथापि आनन्ध्यात् व्यभिचारात् च तत्र सङ्केतः कर्तुं न

सङ्केतप्रमायाः एव विवक्षितत्वात् । सङ्केतप्रमा अपि सङ्केतधर्मानुपरक्ता बोध्या ।
अन्यथा शक्यार्थे यदि बोधुः शक्तिभ्रमः वक्तृतात्पर्यात्मकलक्षणरूपसङ्केतप्रमा च तत्र
अतिव्याप्तापत्तेः । अपभ्रंशे तु शक्तिः अभ्युपगम्यते एव इति दिक् । ननु सङ्केत
यद्दस्य कारणत्वे भवति एवं लक्षणार्थः तत्र एव किं प्रमाणम् ? इत्यत्र आह इह
गृहीतिति । इह संसारे सङ्केतसहायः गृहीतसङ्केतसहायः । सः च सङ्केतः
बोध्यतया तात्पर्यरूपः उक्तः एव । तच्च तात्पर्यं शक्तपदे ईश्वरीयं साक्षात्कपदे
च वक्तुः इति बोध्यं, तद्वारणाय चासहायस्य यत्र अव्यवधानेन इति यत् तत् प्रवेश-
प्रयोजनं च दर्शितम् एव । एवञ्च अन्यव्यतिरेकः एव सङ्केतयद्दस्य कारणत्वे
प्रमाणम् । ननु अव्यवहितव्यवधानेन सङ्केतयद्दः किं धर्मिणि, किं तदीयधर्मे वा,
विशिष्टे वा ? इत्यत्र आह ।

सङ्केतित इति । साक्षात् गृहीतसङ्केतः तेन वाच्यार्थस्य इव चतुर्विधत्वं
कारिकायैः । जातिक्रिया यद्दशीपाधिरूपचतुर्भेदः इत्यर्थः । तदुक्तम् “शब्दैरेव
प्रतीयन्ते जातिद्रव्यगुणक्रियाः” इति । तत्र च द्रव्यपदं यद्दशीपाधिपरम् ।
व्यक्तीभविष्यति च इदम् अर्थे महाभाष्यकारमतम् इदम् । “जातिरेव वा” इति मता-
न्तरम् । ननु अर्थस्य ज्ञानोपादानाय शब्देन अर्थः बोध्यते ज्ञानोपादानञ्च न जाति-
क्रियादेः किन्तु व्यक्तेः एव इति ? तद्विधाय प्रयुज्यमानस्य शब्दस्य तत्र एव सङ्केत-
यद्दः उचितः इति अभिप्रायम् उद्घास्य जात्यादिषु एव सङ्केतं द्रवयति यद्यपीति ।
अर्थः प्रयोजनं जलाहरणादि तदर्थं क्रिया घटादेः आनन्दनादि तत्कारितया
तन्निर्वाहकतया व्यक्तिरेव इति अनन्तरं तत्र एव सङ्केतयद्दः वक्तुम् उचितः इति
पूरणायम् । तथापीति । आनन्दभावादिव्यक्तेः अनन्तत्वेन सङ्केतयद्दशासौ सकल-
तदयद्दकारणत्वात् इत्यर्थः । ननु तदावीम् उपस्थितव्यक्तिषु एव सङ्केतः गृह्यताम् ?

बुध्यते इति । “गौः शुक्लश्वेतः छित्यः” इत्यादीनां विषयविभागः न प्राप्नोति इति च तदुपाधी एव सङ्केतः । उपाधिश्च द्विविधः वस्तुधर्मः वस्तुदृष्ट्या सन्निवेशितश्च । वस्तुधर्मः अपि द्विविधः सिद्धः साध्यश्च । सिद्धः अपि द्विविधः पदार्थस्य प्राणप्रदः विशेषाधानहेतुश्च । तत्र भाव्यः जातिः । उक्तं हि वाक्यपदीये “न

इत्यतः चाह व्यभिचाराहेति । अष्टहीतसङ्केतायाम् अपि गवादिव्यक्ती गवादि-
पदात् वीधस्य सङ्केतयद्गुणकारणव्यभिचारित्वात् इत्यर्थः । सङ्केतः कर्तुम् इति ।
सङ्केतयद्गौणा गहीतुम् इति बहवः । तत् न, व्यभिचाराच्च इति असङ्ख्यापत्तेः ।
न हि वाचकेन दृष्टव्यक्ती सङ्केतयद्गौ व्यभिचारयद्गः तद्विषयकः तत्काले तस्य
व्यभिचारणभावकल्पने च क्व आनन्त्यं क्व वा व्यभिचारः ? इत्यतः चाह गौरित्यादि ।
ईदृशशब्दचतुष्टयस्य एकस्यां व्यक्तौ व्यक्तिगद्गौणादिप्रकारकतत्त्वैलक्षणे न स्यात्
इत्यर्थः । न च यस्य यस्य येन येन प्रकारेण शक्तिगद्गः तेन तेन प्रकारेण एव
ततः ततः शब्दात् एकस्याः एव गोव्यक्तेः उपस्थितौ विषयविभागीपपत्तिः स्यात् इति
वाच्यम् । शक्तिगद्गस्य सप्रकारकत्वे प्रकारांशे शक्तिः आयाता इति निश्चितशक्ति-
वादीपत्त्या निष्कारकस्य एव तदभिप्रेतत्वात् इदं रूपम् इति भावात् । एवञ्च
व्यभिचाराच्च इति उक्तदूषणम् अपि अनुवृत्तम् एव बोध्यं शक्तिगद्गकाले प्रकारा-
गद्गेषु उक्तरीत्या तदुद्गारासम्भवात् । न प्राप्नोति इति न भवति इत्यर्थः । भवतेः
प्राप्त्यर्थकवत् प्राप्तेः अपि भवत्यर्थकत्वम् । यदा न प्राप्नोति उपपत्तिम् इति
शेषः । क्वचित् तु विषयविभाजः अपि न स्यात् इति एव पाठः । तदुपाधी एव
इति । तस्य च व्यक्तेः उपाधी धर्मे सङ्केतः यद्व्यक्ते इति शेषः । तथाच अष्टहीत-
सङ्केतस्य उपाधिः अविनाभूतः आश्रयः शब्दानुभवस्य एव विषयः न पदाश्लेष्यते.
इति भावः । तदुक्तं “जातिशक्तं पदव्यक्तिम्, अनुभावयति इति ईदृशः एक
कारणकारणभावः यदर्थशक्तात् पदात् तदर्थव्युत्पन्नम्” इति । एवञ्च “गौः शुक्लः”
इत्यादौ सप्तमविभक्तियपदस्यस्य पदार्थव्यभिचारव्यभिचारव्यभिचारकत्वम् इति न तन्मते
व्युत्पत्तिः, किन्तु पदार्थव्यभिचारव्यभिचारः एव अभेदात्पदव्यभिचारकत्वम् इति तन्मते व्युत्पत्तिः
इति बोध्यम् । विभक्तिविभागेन उपाधिः जातिव्युत्पत्तिसाधक्योपाधिरूपता
दर्शयन् चाह उपाधिहेति । वस्तुधर्मः वस्तुधर्मः व्यक्तेः धर्मः वाचकः धर्मः
इत्यर्थः । तथाच जातिव्युत्पत्तिरूपः इत्युक्तं भवति जातिव्युत्पत्तयाम् अपि

हि गौः स्वरूपेण गौः न अपि अगौः गोत्वाभिसम्बन्धात् तु गौः इति । द्वितीयः गुणः यज्ञादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते । साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः । डित्यादियब्दानाम् अन्यबुद्धिनिर्घातं संवृतक्रमं स्वरूपं यज्ञा यदृच्छ्या डित्यादिषु अर्थेषु उपाधित्वेन सन्निवेश्यते इति । सः अयं संज्ञा-

तैः नित्यत्वाङ्गीकारात् । तदुक्तम् “एकाः एव एव हि यज्ञादृच्छादिव्यक्तयः” इति । एवञ्च संयोगादयः अपि गुणा एव तैः नित्याः स्वीक्रियन्ते । आविर्भावतिरोभावी एव उत्पत्तिविनाशी इति तन्मतम् । साध्यः ज्ञः । तथाच क्रियारूपः इत्युक्तं भवति । विविधं सिद्धं पुनर्विभजति सिद्धः अपि इति पदार्थश्चेति । यद्यपि घर्मः एव सङ्केतितत्वात् पदार्थः तथापि पदाद्यनुभूयमानत्वात् व्यक्तिः अपि अत्र पदार्थः तस्य हानीपादानम् एव प्राणः तत्प्रदः तन्निर्वाहकः इत्यर्थः । एतेन जातिरूपञ्च इत्युक्तं भवति । जातिः गुणभिन्नः अखण्डोपाधिरूपगीर्त्वात्मभावत्वजातित्वाकाशत्वादिरूपः बोध्यः । गीर्त्वात्मत्वादिरूपस्य तस्य वैशिष्ट्यस्य विना गीर्त्वात्तेः हानीपादानाभावात् । गीर्त्वात्प्रदः गीर्त्वात्मत्वादिः विशेषाधानं हानीपीपादानीयसामान्यस्य अवान्तरविशेषबुद्धिजननं तद्वैतुः इत्यर्थः । एतेन गुणरूपः इत्युक्तं भवति । प्राणप्रदस्य स्वरूपं दर्शयति प्राणः इति । जातिः अखण्डोपाधिः वाक्यपदीयं यन्यविशेषः । तत्र गीर्त्वात् इत्यस्य वा गीर्त्वापीपादानवैतुत्वम् उक्तम् इत्यर्थः । तदुक्तिं दर्शयति गौः स्वरूपेति । स्वरूपेण गीर्त्वात्मत्वाभिसम्बन्धित्वेन न गौः न गीर्त्वात्मत्वाभिसम्बन्धित्वेन न अपि अगौः न अपि अज्ञादिव्यवहारविषयः इत्यर्थः । अनाधीनगीर्त्वात्मत्वाभिसम्बन्धित्वेन न गौः न गीर्त्वात्मत्वाभिसम्बन्धित्वेन न अपि अज्ञादिव्यवहारः इति प्राण गीर्त्वाभिसम्बन्धात् तु इति । अभिसम्बन्धात् ज्ञातम् इति शेषः । गीर्त्वाभिसम्बन्धात् एव इत्यर्थः । एवं इत्यस्यभिसम्बन्धात् तु गौः इति अपि बोध्यं यज्ञादिः तु न एवं प्राणप्रदस्य यज्ञानुवाचके अपि इत्यस्यगीर्त्वात्मत्वात् एव यज्ञस्य व्यवहार्यत्वात् यज्ञत्वेन यज्ञः एव तदुपेक्षयात् । न च गीर्त्वात् यज्ञः एव गीर्त्वात्मत्वाभिसम्बन्धित्वेन न यज्ञः इति वाच्यम् । ज्ञातत्वेन न यज्ञे अपि प्राणप्रदानरूप इत्यस्य उपेक्षयात् एव । इत्यस्य च प्राणप्रदः एव न विशेषाभाववैतुः इति दिव्

रूपः यदृच्छात्मकः इति । “गीः शुक्लश्वलो डित्यः” इत्यादी
 “चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः” इति महाभाष्यकारः । परमाखा-
 दीनां तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् । गुणक्रियायदृ-

विशेषाधानहेतोः स्वरूपं दर्शयति द्वितीयः इति । तस्य विशेषाधानहेतुत्वं
 ग्राहयति शुक्लादिना हि इति । लम्बसत्ताकं प्राणप्रदेन गीत्वेदन्त्वादिना व्यव-
 हार्यतां प्रापितं गवादिरूपं वस्तु शुक्लादिना विशिष्यते विलक्षणगवादित्वेन ज्ञायते
 इत्यर्थः । साध्यः इति । पूर्वापरीभूतः अवयवः एकदेशः यस्याः पाकादिक्रियायाः
 तादृशक्रियारूपः इत्यर्थः । स्पन्दमात्ररूपे कर्मणि सङ्केतग्रहोक्तौ पचिगम्योः
 एकार्थतापत्तिः अतः पूर्वापरीति । तेन अधिययणाद्यवतारणान्तस्पन्दधारा एव
 पचिक्रिया । तत्र एव पचधातोः सङ्केतग्रहः इत्यर्थः । यदृच्छीपाधिम् आह
 डित्यादीति । डित्यादि शब्दानां स्वरूपम् । वक्ता यदृच्छया डित्यादिषु अर्थेषु
 प्रथमगवादिरूपेषु उपाधित्वेन सन्निवेश्यते इति अन्वयः । ननु आशुविनाशिनां
 क्रमिकाणां वर्णानां मेलकाभावात् तन्मेलकार्थकं डित्यादिशब्दानां स्वरूपं वक्ता एव
 न ज्ञायते कथं तेन सन्निवेश्यताम् ? इत्यतः आह अन्यबुद्धीति । पूर्वपूर्ववर्णानुभव-
 जन्यसंस्कारसंचिवया अन्यवर्णबुद्धिः अनिर्याह्यं सामस्येन याज्ञम् इत्यर्थः । स्फोट-
 रूपस्य पदस्य चरमवर्णानुभवेन ग्राहणस्य प्रागुक्तत्वात् । ननु चरमवर्णेन अपि
 क्रमिकवर्णग्रहक्रमेण ग्राहणं कथं पदस्वरूपग्रहः ? इत्यतः आह संज्ञतति । तेन
 एकदा एव ग्राहणात् क्रमसंहारः इत्यर्थः । केचित्तु अन्यबुद्धिपदज्ञानानन्तरीणा
 बुद्धिः पदार्थस्मृतिरूपा डित्यादिसंज्ञायाः पदपदार्थोभयरूपत्वेन तथा डित्यादि-
 पदस्य एव विषयीकरणात् तादृशबुद्धिनिर्याह्यम् इत्यर्थः । गवादिपदार्थस्मृत्या तु
 गीत्वादिः एव विषयीक्रियते न गवादिपदं तत्र पदपदार्थयोः भेदात् इति विलक्षण्यं
 तथा संज्ञतिक्रमं ईश्वराद्युत्तरीत्तरवक्तृप्रयुक्तत्वे रूपक्रमरहितं आधुनिकसंज्ञारूप-
 त्वात् इति व्याचक्ष्यते, तत् न, तत्कथनस्य प्रकृतानुपयोगित्वात् । सः संज्ञारूपः
 इति । तथाच डित्यादिसंज्ञासु अन्यवाच्या वाचिका च डित्यादिधर्मिणां तु
 आक्षेपेण एव बोधः इति नामविशिष्टनामि बोधः । यद्यपि समवायिसमवेतयोः
 एव अविनाभावः सः एव आक्षेपहेतुः तथापि अविनाभावः अपि असन् एव
 वक्ता यदृच्छया आरोपिता धर्माक्षेपहेतुः इति बोध्यम् । यदृच्छात्मकः इति ।
 यदृच्छया आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशः इत्यर्थः । न तु यदृच्छया एव उपाधिः

च्छानां वस्तुतः एकरूपाणाम् अपि आश्रयभेदात् भेदः इव लक्ष्यते । यथा एकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात् ।

हिमपयः शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतः भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्द-
शेन शुक्लः शुक्लः इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिः तत् शुक्ल-
त्वादिसामान्यं गुडतण्डुलादिपाकादिषु एवम् एव पाकत्वादि ।

संज्ञायाः एव उपाधित्वेन उक्तत्वात् प्रवृत्तिः प्रवृत्तिविषयपरमाणुशब्दवाच्यस्य पर-
माणुलोपाधेः किं गुणत्वं किं वा अखण्डलोपाधित्वेन जातित्वम् ? इति आका-
ङ्क्षायां आह परमाणादीनामिति । परमाणुतादीनाम् इत्यर्थः । गुणमध्येति
अस्य महत् दीर्घं ऋत्वञ्चेति । परमाणुरूपगुणमध्ये पाठात् पारिभाषिकमिति ।
परिभाषणात् एव तस्य गुणत्वसिद्धिः न तु तत्र गुणत्वसाधकं प्रमाणम् अस्ति इति
सूचितम् । ननु आनन्त्यात्त्वव्यभिचाराच्च व्यक्ती सङ्केतग्रहम् अनुक्त्वा उपाधिप
एव तद्ग्रहः उक्तः तथापि तौ एव आनन्त्यव्यभिचारौ गुणादीनां प्रतिव्युक्ति-
भिन्नत्वे न तथात्वात् ? इत्यतः आह गुणक्रियेति । यद्ग्रह्या इच्छानिवेशितः
उपाधिः । न च एवं क्रियायाः अपि एकत्वेन आविर्भावतिरोभावी एव तदुत्पत्ति-
विनाशौ इति, सिद्धेः गुणः सिद्धः क्रिया साध्या इति विभागः कथम् उपपत्ताम्
इति वाच्यम् ? महाप्रलये आकाशपरमाणादिसंयोगादीनां स्थितिः न तु क्रियायाः
महाप्रलये परमाणूनाम् अपि निष्क्रियत्वेन अनित्यत्वं इति, अनित्यत्वं रूपस्य
तस्याः साध्यत्वस्य उक्तत्वात् । तैलाद्यालम्बनेति । आलम्बनम् आश्रयत्वेन ज्ञातं
न तु आश्रयः एव खड्गादीनां वस्तुतः सुखाश्रयत्वाभावात् । जातिः एव वा इति
मतिं व्याचष्टे ।

हिमपय इति । आश्रयान्ते बहुव्रीहिः । अभिन्नाभिधानेति । अभिधानं शब्दः
प्रत्ययः प्रत्यक्षं सामान्यम् इति । तथाच तत्र एव सङ्केतग्रहः इति पूर्वोक्तं
पाकादित्वं पकत्वादि बालादि स्वरवैलक्षण्यात् । डित्यादिशब्दानाम् अर्नकत्वं
साधयित्वा तत्र एव डित्यलजातिं स्वीकृत्य तत्र एव सङ्केतग्रहः डित्यशब्दः डित्य-
रूपार्थयोः तु आक्षेपः इति हृदयेन आह बालवृद्धेति । ननु एवं परम्परया
आश्रयस्य डित्यस्य आक्षेपात् सिद्धौ घटपदात् भूतलस्य कपालस्य च प्रतीत्यापत्तः
शुक्लपदात् पटादिप्रतीतेः लक्षणाधीनत्वेन तत्र अनुयोगाभावात् ? इत्यतः आह
प्रतिक्षणमिति । क्षणः अत्र बाध्यधीवनाद्यवस्थाकालः तत्र हृदिकासदर्शनं

बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्यादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्य-
मानेषु डित्याद्यर्थेषु वा डित्यत्वादि अस्ति इति सर्वेषां शब्दानां
जातिः एव प्रवृत्तिनिमित्तम् इति अन्ये ।

“तद्वान् अपोहो वा शब्दार्थः” क्वचित् उक्तः इति ग्रन्थ-
गौरवभयात् प्रकृतानुपयोगात् च न दर्शितम् ।

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधीच्यते ॥८॥

सः इति साक्षात्सङ्केतितः । अस्य इति शब्दस्य ।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ६

धर्मिभेदस्वीकारात् । चणभङ्गुरादी तु चणरूपविशेषणभेदात् भेदः । डित्य-
त्वादिजातिः अनेकव्यक्तिवृत्तिलीपपादनाय व्यक्तिभेददर्शनं डित्यादित्वं डित्य-
त्वादि । इत्यञ्च क्लिष्टशब्देन शब्दार्थवृत्तिजातिद्वयस्य तन्नेष कथनम् । नैया-
यिकमतम् आह तद्वानिति । प्रकारीभूतधर्मविशिष्टः इत्यर्थः । अपोहः अत-
व्यावृत्तिः बौद्धमतम् इदम् । न दर्शितं न साधकबाधकदर्शनेन प्रदर्शितम्
इत्यर्थः ।

मुख्यार्थबाधे इत्यादि । लक्षणा लक्षणे नैयायिकमतीक्तमुख्यार्थस्य प्रवेशयिष्य-
माणत्वात् तत्परिचयाय आह स मुख्यः इति । स नैयायिकमतीक्तः तद्वान् ।
यद्यपि तत्र मुख्यार्थपदं मुख्यतावच्छेदकेन प्रकारेण इत्यर्थकं भविष्यति तथापि मुख्य-
ार्थज्ञानार्थम् इदम् उक्तं प्रकारणादिना नानार्थशब्दस्य एकार्थनियन्त्रणे सति तदीय-
द्वितीयार्थे मुख्ये अपि शाब्दी व्यञ्जना वक्ष्यते । तथा मुख्यार्थे अपि अजहन्त्स्वार्था
उपादानलक्षणा वक्ष्यते तद्वारणाय व्यापारे मुख्यत्वम् उपादानं, तच्च व्यापारान्तर-
बाधकं विना एक कल्पत्वं बोध्यम् लक्षणाव्यञ्जनयोस्तु शक्तिबाधेन एव कल्पत्वात्
न मुख्यत्वम् ।

लाक्षणिकशब्दलक्षणं कर्तुं लक्षणासामान्यलक्षणम् आह मुख्यार्थबाधे इति ।
यदिति यथा इत्यर्थे अव्ययम् । तथाच मुख्यार्थबाधे तद्योगे च ज्ञाते सति इदि-
ज्ञानात् प्रयोजनज्ञानात् वा ज्ञातया यथा इत्या अन्यः अर्थः अर्थानरं वक्ष्यते

“कर्मणि कुशलः” इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगात् “गङ्गायां घोषः” इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवात् मुख्या-
र्थस्य बाधे । विवेचकत्वाद्दौ सामीप्ये च सम्बन्धे । रूढितः
प्रसिद्धेः । तथा “गङ्गातटे घोषः” इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा

प्रतिपाद्यते, सा वृत्तिः लक्षणा । सा च वक्तृतात्पर्यात्मिका एव । केचित् तु
नक्ष्यार्थस्मारकं मुख्यार्थबाधतंछीगज्ञानम् एव लक्ष्यार्थस्मृतिः एव तु लक्षणा सा तु अनु-
भाविका एव न स्मारिका । तथाच लक्ष्यते इति । क्रियायाः विशेषणम् एव यत्
इति या पदार्थस्मृतिः इत्यर्थः । तत् न लक्ष्यार्थस्मृतिः पदासम्बन्धलक्ष्यार्थविषयत्वं न
पदपदार्थसम्बन्धरूपत्वाभावेन तस्याः पदनिष्ठत्वाभावे तद्दुः लाक्षणिकः शब्दः इति
इति वक्ष्यमाणम् अनुपपन्नं स्यात् । किञ्च लक्ष्यार्थस्मृतिः अग्रहीतायाः एव शाब्द-
बोधजनकत्वेन परस्परया अपि तदग्रहणाभावात् तद्वारणाय साक्षात् सङ्केतितम्
इति वाचकलक्षणे साक्षात्पदवेद्यर्थ्यापत्तेः । पदार्थापस्थितित्वेन यः कारणतः
तथा एव शाब्दबोधोपपत्तौ लक्षणात्वेन इत्यकाररुताकल्पनानुपयोगात् । आरो-
पितपुरुषतात्पर्यात्मिकायाः तदबोधकशब्दे अपि तदबोधकतया पुरुषेण आरोपित-
क्रियाबोधकतासम्बन्धरूपा वृत्तिः । “गङ्गायां घोषः” इत्यादौ मुख्यार्थस्य प्रवाहस्य
प्रत्यक्षसिद्धत्वेन बाधाभावात् पदार्थान्तरस्य मुख्यार्थे अन्वयबाधः इत्यर्थः । तथापि
“यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा” इत्यादौ आश्रयत्वेन लाक्षणिकस्य
द्वितीयमित्यपदस्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यलक्षणायां अव्याप्तिः कच्छ्वकार्यस्य पूर्व-
मित्यपदार्थे अमेदान्वयस्य अबाधितत्वात् अतः मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण अन्वयबोध-
नपपत्तौ इत्यर्थः । तत्र तु पौनरुक्त्यस्य एव अनुपपत्तिवात् न अव्याप्तिः । तथापि
“कृचिणः गच्छन्ति” “कुन्ताः प्रविशन्ति” इत्यादौ कृत्वित्वे न कुन्तात्वे न च मुख्यातावच्छेद-
केन रूपेण गमनप्रवेशयोः अन्वयस्य अनुपपत्त्यभावात् अव्याप्तिः । अतः तात्पर्यविषयी-
भूतान्वयस्य मुख्यातावच्छेदकेन रूपेण तात्पर्यवशात् एव तद्भावात् इति वाच्यं तीरादौ
घोषान्वयस्य तात्पर्यविषयस्य अनुपपत्त्यभावेन असम्भवापत्तेः । मुख्यातावच्छेदकेन
तु प्रवाहत्वादिना तीरादौ अन्वयः अनुपपन्नः एव इति न असम्भवः । मुख्यातात्पर्य-
यानुपपत्तिः ज्ञानसादानुलक्षणा किन्तु मुख्यार्थयोगज्ञानम् अपि अन्वयव्यतिरेक-
सिद्धम् अपेक्षणीयम् । अतः आह तदयोगे इति । तदयोगे अपि ज्ञाते इत्यर्थः ।

प्रतिपत्तिः । तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः

घटसंयुक्तपटानघनार्थं तात्पर्यसत्त्वे अपि पटानयनार्थं घटमानय इति न केनचित् विदग्धेन प्रयुज्यते । अतः रुद्धिप्रयोजनयोः एकतरङ्गानात् एव लक्षणाया प्रयोगः इत्यतः अन्यथैवतिरेकसिद्धं रुद्धिप्रयोजनयोः एकतरङ्गानम् अपि हेतुः इत्यतः आह रुद्धितः इति । अथशब्दः वार्थः । रुद्धितः प्रयोजनान् वा ज्ञातात् इत्यर्थः । अन्यः अर्थः इति । मुख्यार्थतावच्छेदकभिन्नरूपावच्छिन्नः इत्यर्थः । तेन “यस्य मित्राणि मित्राणि” इत्यादौ द्वितीयमितपदेन चाश्रयत्वेन रूपेण मुख्यार्थस्य मित्रस्य एव लक्षणात् न अव्याप्तिः । रुद्धिहेतुकायाः प्रयोजनहेतुकायाश्च उदाहरणद्वयम् एकदा एव दर्शयन् लक्षणं व्याचष्टे कर्मणोति । कुशलसाध्वे कर्मणि इत्यर्थः । कुशं लाति इति व्युत्पत्त्या कुशलपदं कुशयाहिणि शक्तम् । दक्षे तु रुद्धिलक्षणिकं तदभिप्रायेण एतत् दर्शयति न च एवं गच्छति इति गौः इत्यर्थे गनेर्ङोप्रत्यये गौशब्दसिद्ध्या गच्छति इति गवि शक्तिः । “गौः शते” इत्यादौ तु सुप्ते गवि लक्षणा स्यात् इति वाच्यं प्रायिकव्युत्पत्त्या एव उणादिप्रत्ययान्तप्रयोगाणां साधितत्वेन तत्र अवयवशक्तिः अयाह्यत्वेन समुदायः एव गौत्वेन रूपेण शक्तियद्वाङ्गीकारात् । अत एव पञ्चपादिकाख्यान् उणादिप्रत्ययान् सङ्गृह्य “उणादयो बहुलम्” इत्येकेन एव सूत्रेण लिखतः भगवतः पाणिनेः अपि अयम् अभिप्रायः इत्युक्तम् । शब्दचिन्तामणौ चिन्तामणिकारिणः कुशलपदं तु नामधातुभ्याम् अवयवाभ्यां सिद्धम् इति तत्र अवयवशक्तिः यास्या एव इति अभिप्रायः । वस्तुतस्तु वैयाकरणमतानुसारेण एव रुद्धिलक्षणीदाहरणम् इदम् उक्तं विचारतस्तु दक्षे शक्तिः अस्ति एव । अन्यथा मण्डं पिबति इति व्युत्पत्त्या कुण्डं लाति इति व्युत्पत्त्या च मण्डपपदकुण्डलपदयोः मण्डपातरि कुण्डयाहके च एव शक्तिः स्यात् । गृहविशेषभूषणविशेषयोस्तु लक्षणा एव स्यात् इति । तथाच “मन्त्राः प्रीशन्ति” “कलिङ्गः साहसिकः” इत्यादिशब्दम् एव रुद्धिलक्षणीदाहरणं मन्तव्यम् दर्भयद्धान्ययोगात् घोषायधिकरणत्वासम्भवाच्च उभयत्र मुख्यार्थबाधः इति अन्यथः । मुख्यार्थयोगं दर्शयति विवेचकत्वाद् इति । सायसमूलत्वादिपिवेचनात् विवेचकत्वं कुशयाहिणः धर्मः दक्षस्य अपि भद्राभद्रविवेचनात् तद्वत्त्वं अपि इत्येकधर्मवत्त्वं सम्बन्धः विवेच्यमानभेदेन विवेचनभेदेन च विवेचकत्वभेदे अपि एकशब्दवाच्यत्वात् एकीपाधिस्वीकारात् इदम् उक्तम् । गङ्गातटयोः सम्बन्धम् आह सामीप्यं च इति ।

प्रयोजनात् च मुख्येन अमुख्यः अर्थः लक्ष्यते यत् स आरोपितः
शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठः लक्षणा ।

कृश्लपदं लक्षणासाम् आह रुद्धितः इति, प्रसिद्धिः इति । तद्वृत्तिः गङ्गापदं लक्षणा-
याम् आह तथा गङ्गति, तथा प्रतिपादनात्मनः इति । तदगतत्वेन प्रतिपाद-
नात्मनः इत्यर्थः । प्रयोजनात् ज्ञातात् इति शेषः । लक्ष्यार्थबोधद्वारा लक्षणायाः एव
प्रयोजनात् ज्ञातात् इत्यर्थः । क्वचित् तु प्रतिपाद्यमाने पावनत्वादौ अपि प्रयोजन-
पदम् उपचारात् एव प्रयोज्यते इति अवधेयम् । मुख्येन इति । बाधप्रतियोगितया
उपस्थितेन मुख्येन सहकारिभूतेन सह अमुख्यः मुख्यतानवच्छेदकधर्मावच्छिन्न-
लक्ष्यते । शब्देन एव इति शेषः । न च मुख्येन अर्थेन लक्ष्यते लक्षणाया प्रत्याख्यते
इत्येव अर्थः अस्तु । तथाच शब्दतदर्थेयीः एव लक्षणाव्यासवृत्तिः शक्यत्वाभिप्रेता
इति वाच्यम् ? अनेन शब्देन अयम् अर्थः बोध्यताम् इति वक्तृतात्पर्यात्मिकायाः
लक्षणायाः मुख्यार्थाविषयत्वेन विषयतासम्बन्धेन तस्याः तदवृत्तित्वात् । मुख्यार्था
गङ्गत्कत्वं लक्षणायाः यावद्भिः आलङ्कारिकैः शक्यसम्बन्धः लक्षणा इति नैयायिका-
न्तायाः लक्षणायाः अनादरत्वेन वक्तृतात्पर्यस्य एव लक्षणावस्वीकारात् । शक्यप्रति-
योगिकसम्बन्धस्य शक्यावृत्तित्वेन नैयायिकोक्तलक्षणायाः अपि मुख्यार्थावृत्तित्वाच्च ।
यदिति वृत्तौ अपि यत्पदं यथा इत्यर्थे अव्ययम् । आरोपिता क्रिया इति व्याचष्टे
स आरोपितः इति वृत्तित्वारोपवान् इत्यर्थः । वक्ता जनितः इति वा । तथाच
अत्रन्यायाः शक्तिः व्यावृत्तिः सान्तरति । स व्यवधानीपस्थितार्थः तटादिनिष्ठः
इत्यर्थः । अत्र निष्ठापर्याप्तिबोधकता इति यावत् तटादिबोधकः इत्यर्थः । यद्वा
अनेन शब्देन अयम् अर्थः बोध्यताम् इति वक्तृत्वारूपायाः लक्षणायाः बोध्यं तथा
अर्थविषयत्वात् तेन सम्बन्धेन अर्थनिष्ठः इत्यर्थः । इत्थं सामान्यतः लक्षणम् उक्त्वा
तद्विशेषेषु वक्तव्येषु तद्विशेषद्वयम् आह स्वसिद्धये इति । उपादानं लक्षणञ्च इति ।
नामहयेन द्विधा उक्त्वा लक्षणा शुद्धा एव शुद्धपरिभाषिता एव न तु वक्ष्यमाणलक्ष-
णादयवत् सम्बन्धभेदवशात् शुद्धगौणीभयपरिभाषिता इति एवकारार्थः । मुख्यार्थः
अपि उपादीयते अनया इति उपादानं करणयुक्तत्वात् नपुंसकलिङ्गम् । एवं
मुख्यार्थानुपादानेन लक्ष्यते उपलक्ष्यते अनया इति लक्षणम् । अथ उपादानम्
आह ।

स्वसिद्धये पराक्षेपः, परार्थे स्वसमर्पणम् ।

स्वसिद्धये इति । स्वं मुख्यार्थः तस्य सिद्धये तस्य अतात्पर्यविषयान्वयसिद्धये परस्य मुख्यतानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नसाक्षेपप्रतिपादनं यथा इति शेषः । सा लक्षणा उपादानं स्वार्थस्य कुन्तादेः प्रवेशान्वयसिद्धये तु न परस्य कुन्तादेः आक्षेपः किन्तु कुन्तित्वेन रूपेण तात्पर्यात् तस्मिन् इय एव इत्यतः तात्पर्येति षष्ठम् । लक्षणलक्षणान् आह परार्थः इति । परस्य स्वभिन्नतीरादिशब्दस्य अर्थे तीरादौ स्वसमर्पणं स्वार्थता-समर्पणं तीरादिः एव गङ्गादिशब्दार्थः भवति इत्यर्थः । स्वार्थस्तु घीषाद्यन्वये त्यज्यते इति पर्यवसितार्थः । अत्र उपादानलक्षणीदाहरणं दर्शयन् तां व्याचष्टे कुन्ता इति कुन्ता-दिभिरिति । तात्पर्यविषयौभूतान्वयबाधज्ञानविषयौभूतैः इति शेषः । तादृशैः तैः सह-कारिभिः सह कुन्तादिपदैः एव तत्संयोगिनः कुन्ताद्वयः आच्छिद्यन्ते लक्ष्यन्ते इत्यर्थः । तद्विति । तत् तस्मात् उपादानेन प्रवेशान्वये मुख्यार्थस्य कुन्तादेः उपादानेन अन्वयित्वप्रापत्तयेन इयं लक्षणा इत्यर्थः । उपादानेनेति । भावयुक्तम् अत्र बोध्यम् । इयम् अजहत्स्वार्थसंज्ञिका च बोध्या । ननु एवं धर्मशक्तस्य पदस्य धर्मिणि लक्षण्या विशिष्टान्वयसिद्धौ जातिशक्तिवादे गीपदम् अपि गीत्वशक्तं गवि लाक्षणिकं स्यात् ? तथाच लौकिकप्रयोगात् वैदिकप्रयोगे अपि उपादान-लक्षण्या एव सिध्यतु इति आशङ्क्य निषेधते गीः अनुबन्धः इति । इदं विवाहं गवानुबन्धनविधिवान्वयम् । तत्र गीशब्देन गीत्वलक्षणायां तन्मुख्यार्थस्य गीत्वस्य स्वान्वयबाधज्ञानद्वारा सीपयीगितां दर्शयन् लक्षणम् उपपादयति सुतिदेशित-मिति मे इति । गीत्वजातेः प्राणित्वापचारिण औपचारिकी तस्याः भावना जात्या गीत्वरूपया मुख्यार्थेन सह आच्छिद्यते लक्षणम् प्रतिपाद्यते । गीशब्देनेति शेषः । ननु व्यक्तौ अपि शक्तिः एव अस्तु । तथापि च गीशब्देन गीत्वम् उपस्थाप्य गीः अपि शक्त्या एव उपस्थाप्यताम् ? इत्याशङ्क्य निरस्यति नतुशब्देन इति ? विशिष्यं गीव्यक्तिं अभिधाय गीशब्दस्य शक्तिः न गच्छेत् न विषयी-करोति । तत्र हेतुम् आह कीयेति । विशिष्ये गीत्वे उपस्थापिते चीवशक्तिः औपसामर्थ्या इत्यर्थः । शब्दबुद्धिकर्मणां विषय व्यापारभावात् इति भावः । एकदा एव विशिष्यविशेष्यौपस्थापनं तु विशिष्टशक्तिवादः एव न प्रकृतिविशेषणशक्तिवादे इति तत्राशङ्कितम् इति अवधेयम् । इत्यं विशिष्यं शक्तौ निरस्तायाम् आशङ्कितः

उपादानं लक्षणाञ्चे-

त्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ १० ॥

“कुन्ताः प्रविशन्ति” “यष्टयः प्रविशन्ति” इत्यादी कुन्ता-
दिभिः आत्मनः प्रवेशसिद्धयर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषाः आक्षिप्यन्ते ।
तदुपादानेन इयं लक्षणा ।

“गौरनुबन्धः” इत्यादी श्रुतिसञ्चोदितम् अनुबन्धनं कथं
मं स्यात् ? इति जात्या व्यक्तिः आक्षिप्यते नतुशब्देन उच्यते
“विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे” इति न्यायात्
इति उपादानलक्षणा तु न उदाहर्त्तव्या । न हि अत्र प्रयो-
जनम् अस्ति न वा रुद्धिः इयं व्यक्त्यविनाभावित्वात् तु जात्या
व्यक्तिः आक्षिप्यते । यथा क्रियताम् इत्यत्र कर्त्ता, कुरु इत्यत्र

उपादानलक्षणा एव पर्यवसितार्थः तां निरसति इत्युपादानेति । इतिरीत्या
उपादानलक्षणा तु अत्र न उदाहर्त्तव्या न वक्तव्या इत्यर्थः । तत्र हेतुम् आह
न हि अवेति न वेति । अतु गीशब्दस्य गवि भूरिप्रयोगः प्रसिद्धः एव तत्कथमियं
रुद्धिः ? इति । अत्र चक्रवर्ती चाधुनिकदेवदत्तादिशब्दे रुद्धिः न अस्ति इत्यनेन
दर्शितम् इति, तत् न, गीशब्दस्य गवि लक्षणायां रुद्धेः खण्डितत्वात् । न वा
रुद्धिः अत्र इत्येव लिखनीयित्वाच्च । अत्र कथं न वा रुद्धिः इयम् इत्यनेन भूरि-
प्रयोगमात्रम् । न लक्षणाहेतुः रुद्धिः किन्तु लक्ष्यार्थविनिर्मुक्तशक्यार्थे प्रयुक्तस्य
शब्दस्य लक्ष्यार्थे भूरिप्रयोगः एव रुद्धिः । यथा लक्ष्यार्थीभूतैः कलिङ्गदेशस्य-
मञ्जुस्यपुरुषदत्तैः विनिर्मुक्तेषु देशमञ्जुस्यवाहिप्रयुक्तानां कलिङ्गमञ्जुस्यशब्दानां
कलिङ्गदेशस्यमञ्जुस्यपुरुषदत्तेषु भूरिप्रयोगरूपा एव रुद्धिः लक्षणा हेतुः इति
गोव्यक्तिविनिर्मुक्ते शक्यार्थे गोत्वे अप्रयुक्तस्य तु गीशब्दस्य गोव्यक्तौ भूरिप्रयोगः न
रुद्धिः इति उक्तं न वा रुद्धिः इयम् इत्यनेन व्यक्तौ लक्षणायाः अभावे अपि
तत्प्रतीत्युपायम् आह व्यक्त्यविनेति । जातिशक्तात् पदान् व्यक्त्यनुभावः जात्युप-
स्थापनद्वारा एव इति, जातिशक्तौ अपि दारत्वेन कारणत्वबोधिका जात्या
इति तृतीया । जातिशब्दः जातिस्मृत्यर्थः आक्षिप्यते अनुभाव्यते इत्यम् उपादान-

कर्म, प्रविश पिण्डम् इत्यादौ गृहं भक्षय इत्यादि च । पीनः देवदत्तः दिवा न भृङ्क्ते इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते श्रुतार्थापत्तेः अर्थापत्तेः वा तस्य विषयत्वात् ।

“गङ्गायां घोषः” इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थम् अर्पयति । इत्येवम् आदौ लक्षणेन एषा लक्षणा । उभयरूपा च इयं शुद्धा उपचारेण अभिहितत्वात् । अनयोः लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम् । तटादीनां गङ्गादि-

पदशक्त्यविषयस्य अपि व्यक्तेः । शब्दबीधविषयतामात्रे दृष्टान्तम् आह यथेति कर्त्तेति । कर्त्तुः उपात्तशब्दशक्त्यविषयस्य अपि अध्याहारात् एव बीधः कर्मणः तु आख्यातशक्तिविषयता एव इति भावः । कुरु इत्येति । अत्र कर्त्तुः वा ख्यातशक्तिविषयता एव अत्र कर्त्तृत्वकर्मत्वरूपेण सामान्यतः अध्याहारं दर्शयित्वा विशेषरूपेण अपि अध्याहारं दर्शयति प्रविशति । “प्रविश गृहं” “पिण्डं भक्षय” इति अन्वयः । पिण्डं यासम् । ननु एवम् उपात्तशक्त्यविषयस्य अपि शाब्दबीधविषयत्वे अर्थापत्त्युद्देशः अर्थापत्तिलक्ष्यार्थस्य अपि शाब्दबीधविषयत्वेन एव तदुपपत्तेः इत्यतः आह । पीन इति । न लक्ष्यते न प्रतीयते शाब्दबीधोत्तरप्रतीति विषयत्वात् एव तस्य इति भावः । शाब्दो हि आकाङ्क्षा शब्देन एव प्रपूर्यते इत्यतः अर्थापत्तिलक्ष्यार्थस्य अपि अध्याहृतशब्देन बीधनम् इति मते श्रुतार्थापत्तिः, अतादृशमते तु अर्थापत्तिमात्रम् इत्यम् उपादानलक्षणां व्याख्याय लक्षणलक्षणां व्याचष्टे गङ्गायाम् इति । स्वार्थं स्वार्थताम् अर्पयति तीरशब्दार्थः इति शेषः । लक्षणेन स्वार्थोपलक्षणेन स्वार्थस्य अन्वये अप्रवेशात् लक्ष्यार्थबीधने स्वार्थस्य उपलक्षणत्वात् लक्षणेनेति भावयुक्तान्तम् । इत्युक्ता शुद्धा इत्यर्थः । लक्ष्यार्थे शक्यार्थामिदारीपराहित्यम् एव शुद्धत्वम् । शुद्धात्वे हेतुम् आह उपचारेति । लक्ष्यार्थे शक्यार्थामिदारीपरूपं प्रयोजनम् उपचारः तदभिहितत्वात् तत्प्रयोजनाभावात् इत्यर्थः । न हि कुलस्य कुलनि प्रवाहस्य वा तीरे अभिदारीपः । प्रयोजनम् अत्र लक्षणान्वये वक्ष्यमाणसारीपांसाध्यवसनयोस्तु सादृश्यहेतुकत्वे शक्यस्य लक्ष्यार्थे अभिदारीपः एव प्रयोजनम् इति वक्ष्यति । अत्र गौणभेदयोः भेदे अपि तादृश्यप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् इत्यनेन । ननु अनयोः लक्षणप्रभेदयोः ईदृशीपचाररूपप्रयोजनराहित्यात् न

शब्देः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजन-
सम्प्रत्ययः । गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीती “गङ्गातटे घोषः” इति
मुख्यशब्दाभिधानात् लक्षणायाः कः भेदः ?

सारीपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयौ विषयस्तथा ।

सप्रयोजनकत्वज्ञानाधीनः लक्षणाधीनलक्ष्यार्थबीधः, किन्तु शक्यलक्ष्यसम्बन्ध-
मात्रज्ञानाधीनः एव रुदितु नास्ति एव । तथाच रुदिप्रयोजनशून्या नेयार्थ-
लक्षणा एव इयम् । सा च न विदग्धः प्रयुज्यते इति तदुत्पादमफलम् इति
भ्रान्तशङ्कायाम् आह अनयोरिति । अनयोः लक्षणाप्रभेदयोः इत्यर्थः । तटस्थः
लक्षणा शक्यार्थरूपीदासौनप्रत्यायकत्वात् ताटस्थं लक्षणात्वम् । भेदरूपम् इत्यत्र
च भेदः भेदमात्रम् अभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रम् इत्यर्थः । मात्रगर्भता च स्वयम्
एव प्रकाशयिष्यते । तथाच अनयोः उक्तलक्षणाप्रभेदयोः ताटस्थं लक्षणात्वम्
अभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रात् रूपं स्वरूपं यस्य न तादृशम् । तथाच शक्यलक्ष्य-
सम्बन्धज्ञानमात्रज्ञायं न इत्यर्थः । किन्तु सप्रयोजनकत्वज्ञानेन अपि ज्ञाप्यते
इति भावः । सप्रयोजनसत्त्वे एव सप्रयोजनकत्वज्ञानं भवति इत्यतः प्रयोजनं
दर्शयति तटादीनामिति । प्रतिपादने इति सति सप्तमी । तथाच तटादीना
गङ्गादिशब्दप्रतिपादने स्वारणे सति तत्त्वप्रतिपत्तौ शब्दबीधे जनिते सति इत्यर्थः ।
प्रतिपिपादयिषितः प्रतिपादयितुम् इष्टस्य प्रयोजनस्य पावनत्वादेः सम्प्रत्ययः
इत्यर्थः । अत्र प्रतिपत्तिरूपप्रयोजनसम्बन्धात् प्रतिपाद्यमानपावनत्वादी अपि
प्रयोजनपदं प्रयुक्तम् इति बोध्यम् । एवम् उत्तरत्र अपि भेदरूपम् इत्यत्र मात्र-
गर्भतां प्रकाशयन् दर्शितभ्रान्तशङ्कां निरस्यति गङ्गासम्बन्धमात्रेति । कः भेदः ?
कः विशेषः । तल्लक्षणाचतुष्टयं विवक्षुः एवाम् आह ।

सारीपेति । सारीपा लक्ष्यार्थे शक्यार्थाभेदारोपपूर्विका । शक्यलक्ष्यार्थाः
तुल्यविभक्तिनिर्देशवशेन प्रथमं तयोः अभेदे ज्ञाते ततः एव तद्वाधप्रतीत्या वक्त-
तात्वर्थरूपा लक्षणा ज्ञानात् अन्या उक्तलक्षणाद्वयतः भिन्ना । तथाच कर्मणि
कुशलः पुरुषः” इत्यत्र “कलिङ्गः साहसिकः” इत्यत्र “मन्थाः पुरुषाः” इत्यत्र कुन्ता
यष्टयश्च पुरुषाः इत्यत्र च शक्यलक्ष्ययोः तुल्यविभक्तिकत्वनिर्देशसत्त्वे सारीपा एव
लक्षणा, न तु उपादानलक्षणांरूपे लक्षणे इति हृदयम् । कुशलादेः मन्थादेः

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्र न अनपङ्क्तभेदौ
सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा ।

विषय्यन्तः कृते न्यऽस्मिन्

सा स्यात् साध्यवसानिका ॥ ११ ॥

विषयिणा आरोप्यमाणेन अन्तःकृते निगोर्णे अन्यस्मिन्
आरोपविषये सति सा साध्यवसाना स्यात् ।

भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।

गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ

कुत्तादेश्च विशेष्यस्य पुरुषस्य अनुपादाने कलिङ्गः सदृशं करोति इति करणे च
एव उपादानलक्षणलक्षणलक्षणे बोध्ये सारोपायुक्तलक्षणादयस्त्व एव अमान्तरविशेषः
इति तु दर्पणकारः । उक्तौ कथितौ तुल्यविभक्तिकतां विना लक्ष्यार्थे उक्तेः एव अस-
म्भवात् तुल्यविभक्तिकतया उक्तौ इत्यर्थः विषयी शक्यार्थः आरोप्यमाणः विषयः
लक्ष्यार्थः आरोपाधिकरणं व्याचष्टे आरोप्यमाणः इति, अनपङ्क्तभेदौ इति । तुल्य-
विभक्तिकद्वयेन आपाततः एव भेदापङ्क्तवः क्लियते । बाधप्रतिसन्धाने तु तदपङ्क्तवः एव
इत्यर्थः । अपङ्क्तभेदौ इति पाठे तु आपाततः तदपङ्क्तवम् आदाय व्याख्येयम् ।
सामानाधिकरण्यतुल्यविभक्तिकता ।

सारोपायाः एव प्रभेदम् आह विषय्यन्तः कृते इति व्याचष्टे विषयिणा इति ।
आरोपविषये निगोर्णे सति इति अन्वयः । निगोर्णता च स्वशब्देन अनुपादानं
विषयिविषयी पूर्वव्याख्यातौ एव । उत्कटविषय्यारोपेऽप्यवशेन विषयस्त्व स्वशब्देन
अनुपादानात् विषय्युपादानेन इव तत्कृतम् इति अध्यासात् निगोर्णे विषयिणः
कारणता इति तद्विधिका । विषयिणा इति द्रव्यता । स्वशब्देन अनुपादाने अपि
न सर्वथा अनुपादानम् । तथात्वे समानविभक्तिकत्वासम्भवे न आरोपस्त्व एव
अभावात् अतः सर्वनाम्ना उपादानं पर्यवस्यति इति बोध्यम् । तत् वक्ष्यति । गौः
अयम् इत्यत्र इति अध्येयमानम् उत्कटः आरोपः स्वशब्देन उपादाने तु भेदक-
धर्मस्य वाङ्मिकात्वादेः बोधात् आरोपे न उत्कटत्वं सम्बन्धविशेषज्ञानश्लेषत्ववशात्
अनयोः विरुपत्वम् आह ।

इमौ आरौपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतु भेदौ । “गौर्वा-
हिकः” इत्यत्र “गौरयम्” इत्यत्र च ।

अत्र हि स्वार्थसहचारिणः गुणाः जाड्यमान्यादयः लक्ष्य-
माणाः अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तम् उप-
यान्ति इति केचित् । स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगताः
गुणाः एव लक्ष्यन्ते न तु परार्थः अभिधीयते इति अन्ये । साधा-

भेदौ इमौ इति आरौपाध्यवसानरूपौ इति आरौपाध्यवसानाख्यं रूपं परिचयः
ययोः तौ सा आरौपाध्यवसानरूपौ इत्यर्थः । सादृश्यहेतु भेदौ इति गौशौ इति
कारिकास्थे अन्यतः । यथासंख्यम् उदाहरणद्वयम् आह गौः वाहीकः इत्यत्र
इत्यादि । अत्र गोपदस्य गौसदृशे लक्षणा । न च एवरूपकीभेदः, मुखचन्द्रः
इत्यत्र अपि चन्द्रपदे तद्वदृशत्वेन गौशसारीपा लक्षणा एव अस्तु इति वाच्यम् ? “अनु-
वाद्यमनुक्तं न विधेयमुदीरयेत्” इति रूपके नियमात् । यत्र मुख्यस्य वाहीकस्य
वा अनुवाद्यस्य प्राङ्निर्देशः तत्र रूपकम् एव । यत्र तु विधेयस्य चन्द्रस्य गौर्वा
प्राङ्निर्देशः तत्र गौशसारीपा इति विषयविभागात् वाहीकः अनवाहकः जाड्य-
मान्यरूपगोसादृश्यात् तत्र गौसदृशे लक्षणा । तथाच गोसादृश्यसम्बन्धः लक्ष्य-
तावच्छेदकश्च बोध्यम् । लक्षणीयस्तु सदृशत्वेन रूपेण वाहीकः एव । अत्र एव
मतभेदम् आह अत्र हीति अत्र तु इत्यर्थः । उक्तं प्रति ब्रह्ममाणस्य हेतुत्वासम्भ-
वात् । स्वार्थः गौत्वं तत्सहचारित्वसम्बन्धेन गौवाहीकीभयनिष्ठजाड्यमान्यादौ एव
लक्षणा । ततश्च वाहीकव्यक्तिप्रतिपत्त्यर्थं ब्रह्ममाणेन तेन रूपेण वाहीकव्यक्ती
शक्तिग्रहः ततः जाड्यमान्यविशिष्टवाहीकप्रतीतिः इति तेषां मतं तदुक्तम् एतावता,
न च शक्तिग्रहककोषाद्यभावात् कथं व्यक्ती शक्तिग्रहः इति वाच्यम् ? धर्मलक्ष-
णायाः एव धर्मिणि शक्तिग्रहकत्वस्यैतः अभ्युपगमात् । अत्र मते जातिशक्ता च
पदात् व्यक्त्याक्षेपवत् धर्मसाक्षयिकात् पदात् धर्मिणः आक्षेपात् एव सिद्धौ अत्र शक्ति-
कल्पनागौरवं प्रतिव्यक्तिजाड्यमान्यव्यक्तिभेदेन लक्ष्यमाणस्य गौवृत्तिजाड्यमान्यस्य
गौवाहीकवृत्तित्वाभावेन तस्य शक्यतावच्छेदकत्वानुपपत्तिस्य, दूषणं तद्वयं परिहर-
तां मतम् आह स्वार्थसहचारिगुणेति । अभेदः अत्र साजात्यं परार्थगता
इत्यत्र गतत्वं सहचारित्वं वाहीकत्वस्य एव वाहीकपदार्थतया तैः उक्तत्वेन जाड्य-
मान्यादौः तत्सहचारित्वात् एव पूर्वमततीक्षां व्यक्तेः अभिधेयतां निरस्यति ननु इति ।

शब्दगुणान्त्रयत्वेन परार्थः एव लक्ष्यते इति अपरे । उक्तं च
अन्वय “अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्ष्योच्यते । लक्ष्यमात्र-
गुणैर्योगाद्गच्छेदिति तु गौणता ॥” इति । अविनाभावः अत्र
सम्बन्धमात्रं न तु न अन्तरीयकत्वम् । तथात्वे हि मन्त्राः
क्रोशन्ति इत्यादी न लक्षणा स्यात् । अविनाभावे च आक्षेपेण
एव सिद्धेः लक्षणायाः न उपयोगः इति उक्तम् ।

अथ मते जायमान्यस्य गीपदार्थत्वे तुल्यविभक्तिकत्ववशात् जायमान्यवाहीकः
इत्यन्वयबीधापत्तेः दूषणम् इति चक्रवर्ती । तत् न, गीः शुक्रः इति अत्र इव तुल्य-
विभक्तिकपदार्थाश्रयिणीः एव तैः अनेदान्वयबीधस्वीकारे तद्दीपस्यर्शाभावात् ।
वस्तुतस्तु एतन्नते यदि जायमान्ये लक्ष्यतावच्छेदकेन रूपेण लक्षणा इति, स्वपक्ष-
पातिना मतम् आह साधारणेति । एकधर्मावच्छिन्नगुणान्त्रयवशात् इत्यर्थः । तेन
जायमान्यव्यक्तिभेदे अपि तस्य साधारणत्वम् उपपन्नं परार्थे इति । “तदनेव
पदार्थः” इति नैयायिकमतावलम्बनेन अङ्गत्वमन्वयविशिष्टा अङ्गमन्वदुपपर-
पदार्थः इत्यर्थः । न परे अपरे इति व्युत्पत्त्या अपरे स्वपक्षपातिनः । एतावता
प्रबन्धेन सादृश्यरूपात् अक्षयसम्बन्धात् लक्षणायाः गौणीत्वेन लक्ष्णे अक्षयसम्बन्धे सति
एव इत्यर्थः । लक्षणा सा तु वस्तुतात्पर्यात्मिका एव न तु अक्षयसम्बन्धरूपा । तद्योग
इत्यनेन तस्य लक्षणातः पृथक्कथनात् अक्षयसम्बन्धः सम्बन्धे लक्षणेत्वेन संवादप्रद-
र्भकम् इदम् अहं अथ बहुव्रीहिस्य लक्ष्यार्थप्रत्यायिका लक्षणा इत्युक्तम्, सा च
तत्र एव तादृशी इति वीध्यम् । गृहीतस्तेव तात्पर्येण एव वीथकत्वात् । केचित्तु
अभिधेया विना श्रुतम् अभिधेयस्य सम्बन्धः तस्य प्रतीतिः एव स्वरूपमती प्रत्यायिका
लक्षणा इति व्याचक्षते । अन्ये तु अभिधेया विना श्रुतस्य अभिधेयसम्बन्धस्य
लक्ष्यार्थस्य प्रतीतिव्यतिः एव लक्षणा, सा च अत्रागता एव प्राप्तीत्यस्य इव अनिका
इति व्याचक्षते । तदद्वयम् अपि न वचिरं, तं तादृश्याः प्रतीतिः पदासम्बन्धलक्ष्यार्थ-
विषयत्वेन पदाश्रयत्वाभावेन तदभूर्लाचक्षिकः शब्दः इति अनुपपत्तेः । बहि च
तदर्थे तन्मदतात्पर्यम् एव पदपदार्थसम्बन्धः इति लक्ष्यार्थः पदसम्बन्धः एव इति
उच्यते तदा पदपदार्थसम्बन्धरूपत्वेन तस्य एव लक्षणावच्छिन्नीयत्वात् अतिवत्
सादृश्यसम्बन्धेन लक्षणा गौणीत्वे तु संवादप्रदर्भकं परार्थम् । तत्र च गुणाः

“आयुर्हृतम्” आयुः एव इदम् इत्यादौ च सादृश्यत् अन्वयत्
कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम् । एवम् आदौ च—

कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वम् आरोपाध्यवसाने । अत्र
गीचभेदयोः भेदे अपि तादृश्यप्रतीतिः सर्वथा एव अभेदावगमश्च

शक्यधर्माः लक्ष्यमात्राश्च ते चेति इत्यः तैः परस्परं योगात् ज्ञातायाः इतोः लक्षणायाः
गीचता इष्टा इत्यर्थः । केचित्तु लक्ष्यमात्रस्य शक्यगुणैः योगात् इति समर्थयन्ति
तत् न, लक्ष्यमात्रस्य इत्यस्य योगात् इत्यत्र अन्यतः गुणैः सह तु समासः इति
व्युत्पत्तेः युक्तार्थत्वाभावे समासासम्भवात् । तदुक्तं “नाम्नां समासी युक्तार्थः” इति ।
न अन्तरीयकत्वं तदभावे तदभावरूपा व्याप्तिः । आक्षेपेण एव इति अनुमानिना
एव इति वद्वः । तत् न, जातिशक्तात् गवादिपदात् गीलीपस्थित्यव्यवहितम् एव
गीचत्वगुणभवात् । मध्ये अनुमानाव्याप्तिसंख्यादिस्त्रीकारासम्भवात् । तस्मात्
आक्षेपात् जातिशक्तपदस्य व्यक्त्यनुभवकारकतारूपात् सामर्थ्यात् इत्यर्थः इत्युक्तम्
इति उपपदानलक्षणाप्रसङ्गेन गीः अनुबन्ध इत्यादौ सम्बन्धान्तरहेतुकत्वं शुद्धयोः
जनयोः उदाहरणम् आह ।

आयुरित्यादि । अत्र आयुःपदम् आयुर्जनके लाक्षणिकम् । यद्यपि उभय-
रूपा च इत्वं शुद्धा उपचारेण अभिप्रितत्वात् इत्युक्त्वा उपचारमित्यथे शुद्धाभावः
प्रत्येकम् उचितः इत्यतः तुल्यविभक्तिकतया प्राथमिकीपचारमित्यता । आयु-
र्हृतमिति लक्षणा अपि न शुद्धा भवितुम् अर्हति । तथापि शुद्धत्वत्र शुद्धा एव
इत्यर्थेन केवलशुद्धत्वे उपचारमित्यत्रस्य हेतुत्वप्राप्त्या उपचारमित्यथे तथार्थस्य
व्यावृत्तिः प्रतीयते । शुद्धगीचीभवरूपस्य तु न व्यावृत्तिः इति सारोपायाः सम्बन्ध-
भेदेन उभयवदत्वात् आयुर्हृतम् इति शुद्धा । आयुरिदम् इत्यत्र मैथिलपुस्तके
पाठः सुष्ठुः । आयुरेवेति गीचीयपुस्तके पाठे तु प्राथमिकामेदोपचारस्य उत्कटत्व-
लक्षणः एव एवकारः । गौरयम् इत्यत्र तादृश्यपाठाभावात् न असौ समीचीनः ।
लक्षणपूर्वम् इति लक्षणं परिचयः तत्पूर्वं तस्य पूर्वं तुल्यविभक्तिकवशात् अभेदा-
रोपाध्यवसाने इत्यर्थः । अध्यवसानम् उत्कटः आरोपः इत्युक्तम् एव । लक्षणा-
पूर्वम् इति पाठे कार्यकारणभावादिना वा लक्षणा तस्याः पूर्वम् इत्यर्थः । गीच-
सारोपाध्यवसानयोः प्रतीकनम् आह अत्र गीचेति । भेदः प्रभेदः भेदे अपि
गीचद्वयलक्षणावशात् गीभेदप्रतीती अपि तादृश्यप्रतीतिः आद्यासारोपरूपा गीचुक्तिः

प्रयोजनम् । शुद्धभेदयोः तु अन्यवैलक्षण्येन अव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि । क्वचित् तादर्थ्यात् उपचारः । यथा “इन्द्रार्थाः स्थूणाः” इन्द्रः क्वचित् स्वस्वाभिभावात् । यथा राजकीयः पुरुषः राजा । क्वचित् अवयवावयविभावात् । यथा “अग्रहस्तः” इत्यत्र अग्रमात्रे अवयवे हस्तः । क्वचित् तात्कर्म्यात् । यथा “अतच्चाः तच्चाः” ।

लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२ ॥

आद्यभेदाभ्यां सह । सा च ।

प्रयोजनम् इत्यर्थः । सर्वथा एव आरोपे उत्कटत्वं दर्शितम् । तत्र चशब्देन बाह्यैकत्वादिभेदकर्मानुपस्थितिः बीजम् । शुद्धसारीपाध्यवसानयोः प्रयोजनं दर्शयति । शुद्धभेदयोस्त्वित्यादि कार्यकारित्वे अन्यवैलक्षण्यज्ञानेन अपि कारणान्तरसापेक्षत्वज्ञानम् अस्ति एव अव्यभिचारज्ञाने तु कारणान्तरसापेक्षत्वज्ञानम् अपि न अस्ति इति विशेषः । आयुःपदस्य आयुर्जनकः लक्षणवशात् एव कार्यकारित्वलाभः । तत्र अन्यवैलक्षण्यम् अव्यभिचारः प्रयोजनं बीध्यम् । सम्बन्धान्तरं पल्लवयति क्वचिदिति । उपचारः लक्षणाहेतुबाधप्रतियोग्यभेदस्यारोपस्थूणा स्तम्भः इन्द्रध्वजसंज्ञः । तत्र च इन्द्रस्थूणा इन्द्रः अयम् इति यथोक्तवैविध्यं बीध्यम् । इन्द्रवत् पूजनीयत्वं सर्वथा तथात्वं च प्रयोजनं बीध्यम् । एवम् उत्तरत्र रीतिः जज्ञा । अग्रहस्तः इत्यत्र तथा प्रयोगदर्शनात् एव समासेन निर्दिष्टम् । असमासे तु हस्तस्य अग्रं हस्तस्य इदम् इति ईरूप्यं बीध्यम् । अग्रहस्तः इत्यत्र अनुवायस्य अग्रस्य प्राङ्निर्देशः अपि तादृश्या प्रतीत्या न रूपकम् अतः अत्र शुद्धसारीपा एव सादृश्यप्रतीती हि अनुवायस्य प्राङ्निर्देशे शुद्धसारीपाबाधकं रूपकम् इति मन्तव्यम् । अतच्चा ब्राह्मणादिः । आद्यभेदाभ्यां सह इति शुद्धगोष्पभेदेन समप्रयोजनकत्वज्ञाने हेतुभूते सति । ननु प्रयोजनवती लक्षणा कथं व्यङ्ग्येन व्यञ्जनाव्यापारगम्येन सहिता ? इत्यतः आह प्रयोजनं हि इति । गूढं यथा इति । सहृदयैकवेद्यं गूढम् । सुखम् इत्यादिवत् हृषं इन्दुवदनायाः सानी तरुणिकः तारुण्यस्यं उद्गमः इतिहितभावत्वात् उद्गतं तारुण्यम् इत्यर्थः । मीदते उत्कर्षभाक् भवति इत्यर्थः । नत्र ज्ञापकहेतून् आह सुखमित्यादि । विकसितं विस्तृतं क्षितं यत्र तत् तादृशं

व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यम् एव ।

तच्च गूढमगूढं वा

तच्चेति व्यङ्ग्यम् । गूढं यथा

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं

समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।

उरौ मुकुलितस्तनं जघनमंशवन्धोद्गुरं

वतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥

अगूढं यथा

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥

मुखं तथा वशितः स्वायत्तीकृतः विक्रमा येन तत् तादृशं प्रेक्षितं तथा समुच्छलितः समुद्गतः विभ्रमः यत्र सा तादृशी गतिः शलगती तथा संस्था नियता एकविषयता सा अपास्ता यत्र सा तादृशी मतिः मुकुलितः मुकुलितल्यः धर्मी स्तनः यत्र तत् उरः तादृशम् अंशवन्धेन प्रत्यङ्गविभाग-प्राप्त्या यतः जघनम् उद्गुरम् उत्तुङ्गम् अङ्गविभागेन मध्यकाश्यात् जघनस्य उत्तुङ्गस्य अपि उत्तुङ्गता । अत्र मोदस्य प्राणिधर्मत्वेन तारुण्ये तद्वाधे उत्कृष्टे लक्षणा स्वाश्रयप्रकर्षकत्वं शक्यमोदलक्ष्यीत्कृष्टयोः स्वाश्रयाश्रयस्य इन्दुवदनायाः प्रकर्षः सहृदयैकवेद्यः व्यङ्ग्यः प्रयोजनम् इयम् अपि लक्षणलक्षणा अत्यन्ततर स्तनवाञ्छध्वनिः अयं श्लोकः । अगूढं यथा इति । विदग्धाविदग्धवेद्यम् इत्यर्थः । श्रीपरिचयात् इति जडाः अपि जनाः विदग्धचरितानां अभिज्ञा श्रीपरिचयात् लक्ष्मीसम्बन्धात् भवति इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तालङ्कारम् आह उपदिश-तीति । यौवनमदः एव कामिनीनां ललितानि उपदिशति ज्ञापयति इत्यर्थः । अत्र गुरूपदेशं विना अपि यथा ललितशिक्षा कामिनीनां तथा विदग्धचरितशिक्षा अपि जडानाम् इत्येवंरूपः दृष्टान्तालङ्कारः । अत्र परप्रवर्त्तकवागात्मनः उप-दिशस्य संतनुरुद्धमत्वात् यौवनमदं अर्चने दशाधात् ज्ञापने लक्षणाज्ञापनञ्च

अत्र उपदिशति इति ।

तदेषा कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥

अव्यङ्गा गूढव्यङ्गा अगूढव्यङ्गा च ।

तद्गूलाक्षणिकः

शब्दः इति सम्बध्यते । तद्गूः तदाश्रयः ।

तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

कुतः ? इति आह

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥

फले शब्दैकगम्ये च व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगः तत्र मान्यतः तत्प्रतिपत्तिः अपि तु तस्मात् एव शब्दात् न च अत्र व्यञ्जनात् ऋते अन्यः व्यापारः । तथाहि

ज्ञानीत्यन्धनुःकुलव्यापारः, स च यौवनमदे ललितज्ञानप्राक्स्थितिरूपः एव । जेयविषयकप्रवर्तकत्वं तु शक्योपदेशलक्ष्यज्ञापनयोः सम्बन्धज्ञानजनने ज्ञातः अनायासः शक्योपदेशधर्मः व्यङ्ग्यः प्रयोजनं वाच्यार्थवत् सर्वप्रतीयमानत्वात् अगूढः । परीपदेशेन ज्ञाने स्वप्रणिधानाधीनज्ञानापेक्षया अनायाससाध्यत्वस्य सर्ववेद्यत्वात् । अत्र अनायासशिखादानम् अभिधेयवत् स्फुटं प्रतीयते इति मूले एव क्वचित् पुस्तके पाठः । तत्र शिखादानं ज्ञानजननम् इयम् अपि लक्षणलक्षणा अगूढाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदः इदं काव्यम् । गूढागूढव्यङ्ग्या इत्यत्र व्यङ्ग्यप्रदस्य गूढागूढयोः द्वयोः अपि सम्बन्धः । सम्बध्यते इति शब्दः अत्र व्यञ्जकः विधा इत्यर्थः । फले शब्दैकगम्ये इत्यत्र फलपदं फलीभूतज्ञानविषयपरम् इति प्राक् एव दर्शितम् । लक्षणया शब्दप्रयोगः इति समीचीनः पाठः । लक्षणाशब्देति पाठे तु लक्षणाश्रयशब्देत्यर्थः । तत्र न अन्यतः इति शब्दैकेत्यस्य व्याख्या व्यञ्जनात् ऋते इति व्यञ्जनात् न अपरित्यस्य व्याख्यासमयाभावात् इत्यत्र समयः कीषादिभिः शक्तियदृशम् अतः न साध्याविशेषः । सङ्केतिताः कीषादिर्गाहृतसङ्केताः । सुख्यार्थेति सुख्यार्थे वाषः तदयोगः रुदिप्रयोजनयोः

नाभिधा समयभावात्

“गङ्गायां घोषः” इत्यादौ ये पावनत्वादयः धर्माः तटादौ प्रतीयन्ते, न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः ।

हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥

मुख्यार्थबाधादित्यं हेतुः । तथाच

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।

न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्वलङ्घतिः ॥ १६ ॥

यथा गङ्गाशब्दः स्नीतसि रुनाधः इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटे अपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत्, न च तटं

एकतरञ्च इति । एवं तत्र घोषान्वयार्थं प्रवाहबाधेन तटे लक्षिते पावनत्वादिषु लक्षणायां तटे घोषान्वयबाधे एव अपेक्षणीयः । तदबाधे तत्र एव घोषान्वयान्वय-लक्षणानुपयोगात् इत्यतः तटान्वयबाधस्य एव मुख्यार्थबाधत्वेन वक्तव्यत्वं हिधा । तत्रैदम् आह ।

लक्ष्यम् इति । अर्थबाध एव लक्षणाहेतुः न तत्र मुख्यत्वप्रवेशः इत्युक्ती अपि आह ।

नाप्यत्र इति । बाधः घोषान्वयस्य इति शेषः । चक्रवर्त्ती तु तटे पावनत्वान्वयस्य प्रतीयमानत्वात् तटादौ न पावनत्वान्वयबाधा इति व्याचष्टे तत् न, अकालक्षयीः अन्वयबाधनस्य लक्षणाहेतुत्वाभावात् । किन्तु घोषान्वयपरपदार्था-न्वयबाधस्य एव फलेन पावनत्वादिना न योगः गङ्गाधर्मस्य तस्य तटे आरोप्यत्वं न अवान्तरत्वात् एव इत्यर्थः । ननु एवं गङ्गादिशब्दः पावनत्वान्वयबाधकः एव स्वीक्रियतां वृत्त्यसम्भवात् इत्यत्र आह न च शब्द इति । स्वभावः न स्वलङ्घीकत्व-स्वभावः इत्यर्थः । अनुभवसिद्धतद्दीधकत्वात् व्याचष्टे यथा गङ्गा इति । तटे अपि सबाधः घोषान्वयबाधवान् इत्यर्थः । न अपि अत्र बाधा इति घोषान्वयस्य इत्यर्थः । लक्षणीयैः सम्बन्ध इति । गङ्गाधर्माणां तेषां तटे आरोप्यत्वात् एव अवान्तरत्वात् इति भावः । न च शब्दः स्वलङ्घतिः इति व्याचष्टे न च गङ्गाशब्दः इति तटे प्रतिपादयितुं यथा समर्थः तथा प्रयोजनं पावनत्वादिकं प्रतिपादयितुम्

सुर्यः अर्थः, न अपि अत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैः लक्षणीयैः सम्बन्धः, न अपि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्, न अपि गङ्गाशब्दः तटम् इव प्रयोजनं प्रतिपादयितुम् असमर्थः ।

एवमप्यनवस्था स्याद् या मूललक्षतिकारिणी ।

एवम् अपि प्रयोजनं चेत् लक्ष्यते तदप्रयोजनान्तरेण तत् अपि प्रयोजनान्तरेण इति प्रकृताप्रतीतिकृत् अनवस्था भवेत् ।

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तम् एव तटं लक्ष्यते गङ्गायाः तटे घोषः इत्यतः अधिकस्य अर्थस्य प्रतिपत्तिश्च प्रयोजनम् इति विशिष्टे लक्षणा तत् किं व्यञ्जनेन ? इति आह

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥ १७ ॥

असमर्थः न इति । व्यतिरेकेण दृष्टान्तः अनुभवसिद्धः तत्प्रतिपादनसामान्यम् अस्त्रलितम् इव इत्यर्थः । तथाच लक्षणया तत्प्रतिपादकत्वामर्थ्ये अपि व्यञ्जनया एव तत्प्रतिपादनसमन्वयः इत्यर्थः । प्रयोजनं प्रतिपादयितुं समर्थः इति वाङ्मये तटम् इव लक्षणया इति शेषः इत्याहुः तत् न, तदर्थस्य स्वलङ्घित्वव्याख्या-रूपत्वात्सम्भवेन तथा पाठस्य एव प्रामादिकत्वात् । ननु विवक्षितार्थान्वयानुपपत्तिः एव लक्षणाहेतुः विवक्षितार्थः । तीरे घोषः इति अन्वयानन्तरं तीरं पावनम् इति अन्वये पावनत्वादिः एव । अतः लक्षणां विना तदन्वयानुपपत्त्या आरोप्य तदर्थान्गन केन अपि प्रयोजनान्तरेण च पावनत्वादी लक्षणा अस्तु इत्यतः आह ।

एवमपीति । या मूलैति व्याचष्टे प्रकृतेति । प्रकृता तटलक्षणा उत्तरोत्तर-प्रयोजनलक्षणा सापेक्षत्वात् तदप्रतीतिः । इत्थं क्रमशः लक्षणायां दूषितायां पावनत्वविशिष्टतटलक्षणा एव आस्ताम् इति आशङ्कने ननु इति कारिकया तत् निरस्यति ।

प्रयोजनेनेति । प्रयोजनीभूतज्ञानविषयीकृतेन पावनत्वादिना सहितं तटादिकम् इत्यर्थः । तस्य लक्षणीयत्वायुक्तत्वोक्त्या च तत्र लक्षणायाः एव अयुक्तत्वम् उक्तम् । अयं भावः । लक्षणाप्रयोजनं तावत् तज्जन्तुत्वत्प्राधान्यभिरम् एव जन्तु-जनकयोः भेदनिश्चयान् तदा तु शब्दप्रयोगार्थाधिकारस्य लक्षणाविषयार्थस्य प्रति-

कुतः इति आह

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

प्रत्यक्षादेः नीलादिः विषयः फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा ।

विशिष्टे लक्षणा नैवं

व्याख्यातम् ।

विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयः ते च अभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यः व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जनध्वननादिशब्दाद्यम् अवश्यम् एषितव्यम् ।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वम् उक्तम् । अभिधामूलं तु आह

पत्तिः एव प्रयोजनम् इत्युक्तं तत् च स्वविषयार्थप्रतिपत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वांशक्तौ हृदिहेतुकलक्षणायाश्च अविशिष्टमिति प्रयोजनवत्त्वस्याव्यवर्तकत्वम् एव उपपद्यते लक्षणाजन्यलक्ष्यार्थज्ञानस्य प्रयोजनं लक्ष्यार्थज्ञानम् एव इति च पर्यवसितं स्यात् । तच्च न युज्यते फलफलिनीः अभेदस्य अदृष्टचरत्वम् । तत्र हेतुम् आह ज्ञानस्येति । हिशब्दः अत्र इवार्थे अव्ययत्वात् । तथाच ज्ञानस्य विषयः यथा ज्ञानात् अन्यः तथा फलम् अपि तदन्यत् एव उदाहृतं उदाहरणेषु दृष्टम् इत्यर्थः मत्ततज्ज्ञानम् एव तज्ज्ञानफलम् इति भावः । तत् एव दर्शयति प्रत्यक्षादेर्हेति । प्रकटता ज्ञातता संवित्तिः अनुव्यवसायः तौ यथा नीलादिप्रत्यक्षात् भिन्नौ इत्यर्थः । हिशब्दस्तु न हेतौ विषयान्यत्वस्य फलान्यत्वाप्रयोजकत्वात् ज्ञानविषययोर्भेदे अपि ज्ञानतत्फलयोः अभेदसम्भवात् । ज्ञानस्येति च प्रकृताभिप्रायेण एव स्वफलस्त्रयोः भेदस्य समस्तपदार्थस्य साधारणत्वात् । चक्रवर्त्ती तु प्रयोजनेन सहितम् इत्यादिना पावनत्वविशिष्टलक्षणायाः अयुक्तत्वम् उक्त्वा तत्र हेतुमाह ज्ञानस्येति । त्वया पावनत्वविशिष्टलक्षणायाः पावनत्वं लक्षणाजन्यज्ञानविषय उक्तः । फलपदस्यात्र फलीभूतज्ञानविषयपरत्वेन फलीभूतज्ञानविषयरूपं फलम् अपि पावनत्वम् एव उक्तम् । तच्च ज्ञानविषयतत्फलयोः एकत्वम् अदृष्टम् इत्याह ।

ज्ञानस्येति । यतः ज्ञानविषयतत्फलौभूतज्ञानविषयो परस्परभिन्नौ इत्यर्थः । ननु फलपदस्य अत्र फलीभूतज्ञानविषयपरतया व्याख्याने प्रकटतासंवित्थिः विषया-

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगादौ रवाच्चार्यधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥१६॥

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्ये देशः कालो व्यक्तिः स्वरवादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

इति उक्तदिशा

सशङ्खचक्रः हरिः अशङ्खचक्रः हरिः इति उच्यते । “राम-
लक्ष्मणी” इति दाशरथी । “रामार्जुनगतिस्तयोः” इति भार्गव-

न्यत्वदर्शनानुपपत्तेः तयोः अज्ञेयत्वेन फलीभूतज्ञानविषयत्वाभात् फलीभूतज्ञानालोक-
त्वात् च प्रतिपत्तिप्रयोजनम् इति आशङ्कया फलपदस्य ज्ञानपरत्वात् च । विशेषाः
स्युः इति अर्थे लक्षिते सति अर्थान्तररूपविशेषाः व्यापारान्तरेण एव गम्याः स्युः इति
पूरणात् व्याख्येयम् । ते च विशेषाः क्वचित् लक्ष्यार्थतीरादिषु आरीप्यमाणाः एव
पावनत्वादयः । क्वचित्तु लक्ष्यार्थस्थितवित्सारदिवृत्तयः मनीहरत्वादयः । क्वचित्
तु अन्यवृत्तयः अपि इति बोध्यम् । व्याचष्टे तटादौ इति तच्चेति व्यापारान्तरम्
इत्यर्थः । ध्वननादौति आदिना प्रत्यायनाञ्जनव्यक्त्यादिशब्दपरिग्रहः ।

अनेकार्थस्य इति । संयोगादौः वाचकत्वे नियन्त्रिते इति अन्वयः । नियन्त्रणं
च एकार्थकस्य अपरार्थबोधनम् । अवाच्यार्थ इति वस्तुतः वाच्यत्वे अपि अवाच्य-
तापन्नार्थेत्यर्थः । अञ्जनं व्यञ्जनम् अत्र पदस्य इति अनुपादाय शब्दस्य इति उपादानं
तिग्मरुचिरप्रताप इत्यादि सभङ्गश्च षड्पवाक्यस्य इन्द्रशब्दः इत्यादि समासभेदाधीना-
नेकार्थसमासवाक्यस्य च परिग्रहाय इति तत्तदुदाहरणावसरे अवधेयम् ।

अन्त्यान्तरीक्तान् एव संयोगादीन् दर्शयति संयोग इति । संयोगविप्रयोगौ पदार्था-
न्तरस्य सम्बन्धतद्गत्सौ साहचर्यं विरोधित्वे अपि पदार्थान्तरस्य अर्थः निर्दिष्टक्रियायाः
प्रयोजनं लिङ्गं निर्दिष्टधर्मं शब्दस्य समासविभक्तिकस्य सामर्थ्यं निर्दिष्टविशेषेण
जनेन औचित्ये उचितत्वं तात्पर्यनिर्वाहकता व्यक्तिः शब्दस्य पुंनपुंसकादि लिङ्गम्
अनवच्छेदं अनेकत्वे । एषां पदार्थविशेषस्मृतिं प्रति एव हेतुता इति मीमांसका-
नुसारेणाम् आलङ्कारिकाणां मते तदाह विशेषस्मृतिहेतव इति । नैयायिकमते

कार्तवोर्ध्ययोः । “स्थाणुं भज भवच्छिदे” इति हरे । “सर्वं जानाति देवः” इति युष्मदर्थे । “कुपितो मकरध्वजः” इति कामे । “देवस्य पुरारातेः” इति शम्भौ । “मधुना मत्तः कीकिलः” इति वसन्ते । “पातु वो दयितामुखम्” इति सांमुख्ये । “भात्यत्र परमेश्वरः” इति राजधानीरूपात् देशाद्राजनि । “चित्रभानुर्विभाति” इति दिने रवौ रात्रौ वङ्गौ । “मित्रं भाति” इति सुहृदि । “मित्रो भाति” इति रवौ । इन्द्रशत्रुः” इत्यादौ वेदे इव काव्ये न स्वरः विशेषप्रतीतिकृत् । आदि-ग्रहणात् ।

एहहमेत्तयणिआ एहहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।

एहहमेत्तावत्या एहहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥

तु अनेकार्थपदात् समसार्थस्मृतिः एव अन्वयबीधे तु एभिः तात्पर्यबीधिते तेन नियन्त्रणम् इति । इत्युक्तदिशा इति । इति अपरयन्योक्तरीत्या दर्शयिष्यमाणीदा-हरणेषु वाचकत्वनियामकाः संबीगादयः इत्यर्थः । “अशङ्कचक्रः” इत्यत्र त्यागार्थे नञ् अच्युते अर्थे हरिपदस्य नियमनम् इत्यर्थः । एवम् उत्तरत्र बोध्यम् । उदाहरणानि च यथासख्यं बोध्यानि । परन्तु उक्तानां स्मृत्तिक्रमेण एव नियमकता । अत एकत्र एव अनेकसङ्करे अपि अदोषः । युष्मदर्थे इति । यद्यपि युष्मत्पदार्थे देवपदं न शक्तं तथापि प्राकरषिकस्य राशः एव युष्मत्पदार्थत्वात् राशि इत्यर्थः । कुपित इति । मकरध्वजपदार्थस्य कन्दर्पस्य कीपः लिङ्गं न च मकरध्वजपदार्थस्य समुद्ररूपदेवस्य अपि कीपः लिङ्गम् एव तत्पदार्थस्य जलाशयविशेषस्य निधुवने कथावान् लिङ्गम् इति उभयत्र समानम् इति वाच्यम् ? विरङ्गिण्यां कुपितः इत्य-थात् एव पीतवर्णिणि कुपितः इत्यत्र समुद्र एव नियमनं बोध्यं दयितामुखम् इत्यत्र मुखे अपि अन्वयः सम्भवति एव तात्पर्यन्तु साम्मुख्ये एवेति भवत्यौचित्यं । एहहति ।

एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्रैरक्षिपत्रैः ।

एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ॥ इति संस्कृतम् ।

वाल्मीकायाः पद्याज्जातावस्थाप्रदर्शकाभिनयार्थकम् इदं वाच्यम्, प्रीषिते पत्नी

इत्यादौ अभिनयादयः । इत्थं संयोगादिभिः अर्थान्तराभि-
धायकत्वे निवारिते अपि अनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचित्
अर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र न अभिधा नियमनात् तस्याः । न च
लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावात् अपि तु अञ्जनं व्यञ्जनम् एव
व्यापारः । यथा—

सनप्रदर्शने दाडिमविलाद्याकारकः हस्ताभिनयः एतावत्पदार्थः, अक्षिपत्रैर्विशिष्टे-
त्यर्थः । अत्र पद्मदलाकारः हस्ताभिनयः एतावत्पदार्थः, अवस्थाप्रदर्शने मध्यचीणत्व-
नितम्बस्थूलत्वादिप्रदर्शकः हस्ताभिनयः एतावत्पदार्थः, दिवसप्रदर्शने अङ्गणना-
प्रदर्शकः हस्ताभिनयः एतावत्पदार्थः, एभिः अभिनयैः एतावत्पदस्य अर्थान्तरबीध-
प्रतिबन्धः । न च एतावत्पदं पुरीवर्त्तित्वेन एकेन एव रूपेण बीधकत्वात् कथम्
अनेकार्थम् अनेकव्यक्तिः बीधकत्वेन तथात्वे तु घटपदस्य अपि तथात्वा-
पत्तिः इति वाच्यम् ? पुरीवर्त्तित्वस्य एकस्य अभावात् तेन रूपेण बीधस्य अननुभवाच्च ।
वस्तुतः पुरीवर्त्तित्वा या या व्यक्तयस्तत्वेन तत्वेनैव तस्य बीधकत्वात् अनेकार्थतानपायात्
अभिनयादयः इत्यादिपदात् अभिनयविरहः अपि क्वचित् नियन्त्रकः इति दर्शितम् ।
यथा “प्रियेण पृच्छमानाया निस्पन्दत्वं तदुत्तरम्” इति अत्र परकालप्रत्युत्तरीभयार्थ-
कस्य उत्तरपदस्य प्रत्युत्तरे अर्थे नियन्त्रकः स्पन्दाभावः । अक्रवर्त्ती तु “इतः स
दैत्यः प्राप्तश्चीर्नेत एवाहति अयम्” इति । अत्र चेटापरियाहकम् आदिपदम् इति
आह, तत् न, चेटायाः अभिनयत्वात् एव । यत् क्वचिदिति । समभिव्याहारविशेषात्
अनुभवसाक्षिके स्थले इत्यर्थः । किञ्चित् अर्थान्तरप्रतिपादनतात्पर्यके स्थले इत्याहुः,
तत् न, “सरेऽती भुङ्क्ष्विप्रेदं सुरामोदकरोदनम्” इति सुहृदः वाक्यात् इतः सरे
सुराणाम् आमोदकरम् अदीदनं भुङ्क्ष्वेत्यथमर्थकादतात्पर्यविषयस्य वेतः सङ्घितं
मदिरागम्भकरम् अदीदनं भुङ्क्ष्वेत्यर्थस्य अपि बीधात् । नियमनादिति प्रतिबुद्ध-
त्वात् इत्यर्थः । अप्रतिबीधे प्रथमम् एव तद्बीधापत्तेः इति भावः । न च प्रथमार्थ-
बीधः द्वितीयार्थबीधे प्रथमम् अप्रतीतार्थबीधे उत्तेजकः अङ्गीक्रियताम् इति वाच्यम् ?
निष्कम्पप्रवर्त्तकात् शक्तिजन्यबीधात् तथा अप्रवर्त्तकस्य व्यञ्जनाधीनबीधस्य वैलम्ब-
स्थानुभवेन तत्र व्यञ्जनया एव बीधस्वीकारावश्यकत्वेन उत्तेजकत्वासम्भवात् ।

भद्रात्मनो दुराधिरोहतनोर्विशाल-
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥

तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः

तद्युक्तो व्यञ्जनाव्यापारयुक्तः ।

यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥२०॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति श्रोकाव्यप्रकाशे शब्दनिर्णयः नाम द्वितीयः उल्लासः ।

भद्रात्मन इति । यस्य राज्ञः करः हस्तः दानाम्बूनां वितरणजलानां सेकेन सततं सुभगः अभूत् । कौटुम्बस्य भद्रात्मनः, मङ्गलस्वरूपस्य दुरधिरोहोहा परैः अष्टव्या मनुः यस्य तादृशस्य विशाले महति वंशे कुले उन्नतिः उत्पत्तिः यस्य तादृशस्य तथाकृतः शिलीमुखाणां बाणानां संग्रहः सम्यक् मन्त्रपूर्वकं ग्रहणं येन तादृशस्य तथा अनुपप्लुता उपद्रवरहिता गतिः अवस्था यस्य तादृशस्य तथा परिषां शत्रूणां वारणस्य निवारणस्य । प्रकरणात् इत्यं राजनि अवगते व्यञ्जनया हस्तिरूपः अपि अर्थः प्रतीयते । यथा परवारणस्य प्रकृष्टहस्तिनः यस्य करः शुण्डादानाम्बुनः मद्जलस्य सेकेन सततं सुभगः अभूत् इति । अत्र पक्षे वारणः गजजातिविशेषः विशालवंशः उच्चवंशः तद्दुन्नतिः उच्चता यस्य अत एव दुरधिरोहतनीः शिलीमुखाः मद्जलानुभवमराः अनुपप्लुता गभीरा हस्तिप्रतीतौ स इव राजा इति उपमापि प्रतीयते इति उपमाध्वनिः इयं शब्दशक्तिमूला ॥ ० ॥

इति द्वितीयः उल्लासः ॥ २ ॥

तृतीयः उल्लासः ।



अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्

अर्थाः वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः । तेषां वाचकलाक्षणिकव्यञ्ज-
कानाम् ।

अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

कौटशी ? इति आह

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधिः ॥२१॥

प्रस्तावदेशकालादेवैशिष्यात् प्रतिभाजुषाम् ।

यौऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकूः ध्वनेः विकारः । प्रस्तावः प्रक-
रणम् । अर्थस्य वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मनः । क्रमेण उदाहरणानि ।

अइ पिउलं जलकुम्भं घेतूण समागदञ्चि सडि ! तुरिअं ।

समसेअसलिलणीसासणीसहा बीसमामि खणम् ॥

अर्थव्यञ्जकतोच्यते इति । सर्वेषां प्रायशः अर्थानाम् इत्यादिना अर्थानां
व्यञ्जकता उक्ता एव अतः अत्र यैः सहायैः व्यञ्जकता तद्विशिष्टा सा उच्यते इत्यर्थः ।
कौटशी इति । कौटशी तद्विशिष्टा इत्यर्थः । वक्तृत्वादि । कालादिपर्यन्तानां वैशि-
ष्यात् वैलक्षण्यात् प्रतिभाजुषाम् अन्यार्थधीहेतुः यः अर्थस्य व्यापारः सा व्यक्तिः
व्यञ्जना एव इत्यर्थः । वाक्यवाच्यान्यसन्निधेरित्यत्र समाहारद्वन्द्वे अपि नपुंसक-
कार्याभावः विरामभङ्गनादौ इति सूत्रनिर्देशसामर्थ्यात् अवसेयः । प्रतिपाद्य इति ।
उत्पादनीयप्रतिपत्तिकी जनः इत्यर्थः । न तु प्रतिपादनीयार्थः । क्रमेणेति । वक्तृ-
बोद्धव्यादिक्रमेण इत्यर्थः । न तु वाच्यादिक्रमेण वाच्यार्थस्य एव अत्र व्यञ्जकत्वस्य
दर्शयिष्यमाणत्वात् । अइ पिउलमित्यादि ।

अतिपृथक् जलकुम्भं गृहीत्वा समागतान्नि हे सडि ! तुरितम् ।

अत्र चौर्यरतगोपनं गम्यते ।

ओषिद्धं दोब्बल्लं चिन्ताअलसत्तणं सणीससिअं ।

मह मन्दभाङ्गणीए केरं सहि ! तुहबि अहह ! परिहवद्द ॥

अत्र दूत्याः तत्कामुकोपभोगः व्यज्यते ।

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां

वने व्याधैः साङ्घं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।

विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं

गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्याऽपि कुरुषु ॥

अमस्वेदसखिलनिःश्वासनिःसङ्गा विश्राम्यामि चणम् ॥ इति संस्कृतम् ।

जलाहरश्चवर्त्मनि उपनायकसम्भुक्तायाः तस्मिन्संवरणाय सख्याम् उक्तिः इयम् ।

अमायौ स्वेदसखिलनिःश्वासी ताभ्यां निःसङ्गा दुर्बला अपृष्टा प्राकरणिककथनात्

अत वक्तवैलक्षण्यम् । बीडव्यवैलक्षण्ये आह ओषिद्धमिति ।

औन्निरा दौर्बल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिःशसितम् ।

मम मन्दभागिन्याः कृते सखि ! त्वामपि अहह परिभवति ॥ इति संस्कृतम् ।

नायकोपभुक्तां दूतीं प्रति नायिकायाः सीङ्गुलीक्तिः इयम् । मम मन्दभागिन्याः

कृते औन्निरादिकं कर्तुं त्वाम् अपि परिभवति इति अन्वयः । उद्दिश्यासिद्ध्या मन्द-

भागित्वेन खनिन्दा स्वकार्योत्कण्ठया औन्निरादिकं मां परिभवतु मदर्थं समस्त-

रात्रिप्रार्थनया त्वाम् अपि इति अपिकारार्थः वाच्यार्थे मत्कार्यसिद्धेः एव तव चिन्ता

व्यङ्ग्यार्थे तु तद्भावनारूपा एव सा । अतः प्रतिकूलकर्तृत्वात् बीडव्यवैलक्षण्यं तथात्वं

अतथात्वं एवम् उक्तेः वैचित्र्याभावात् अवसियं, यद्वा व्यङ्ग्यार्थबीधीद्देश्यत्वात् एव

बीडव्यवैलक्षण्यम् । काकुवैलक्षण्ये आह तथाभूतामिति । न मथामीत्यादौ अपर-

मञ् व्यञ्जककाङ्क्षन्तरापेक्षया अनौचित्यव्यञ्जिकायाः अस्याः काकीः विलक्ष्यता

इति अवधेयम् । दुर्योधनेन सह सन्धिकरणविसुखं भीमं प्रति आर्थः कदाचित्

खिद्यते गुरुरिति । सहदेवस्य उक्तौ पुनः भीमस्य उक्तिः इयं पाञ्चालतनयां द्रौपदीं

वधाभूतां राजखलां सभामध्ये दुःशासनाकृष्टकेशाम् आकृष्यमाश्वस्त्राच्च वने द्वैतवने

वल्कलधरैः अस्त्राभिः व्याधैः साङ्घं सुचिरम् उषितञ्च अनुचितारम्भैः दूतस्पर्-

कारादिवेशैः निभृतं गुप्तं स्थितञ्च दृष्ट्वा अद्यापि अज्ञातवासे गते प्रत्यपकर्तुं क्षमता-

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्यः इति काका प्रकाशयते । न च वाच्यसिद्धाङ्गम् अत्र काकुः इति गुणीभूत-
व्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम्, प्रश्नमात्रेण अपि काकीः विश्रान्तेः ॥

तद्वा मद् गण्डत्यलणिमग्नां दिष्टिं ण णेसि अस्सत्तो ।

एहिं सस्सेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिष्टी ॥

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिविम्बितां पश्यतः ते दृष्टिः अन्या एव अभूत् चलितायां तु तस्याम् अन्या एव जाता इति अहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते इति व्यज्यते ।

काले अपि । अत्रेति तत्प्रीतिकरणाय प्राप्ततादृशदुःखे मयि अप्रीतिकारितया खेदभजनस्य अयोग्यता वस्तुतः अप्रीतिकारिषु कुरुषु तु योग्यता च काका सह-
कारीभूतया वाच्यार्थेन प्रकाशयते इत्यर्थः । ननु वाक्यार्थः अवगतः एव प्रकाशकः प्रकृतं च खेदभजनायोग्ये मयि खेदं भजति इति वाक्यार्थः प्रथमं प्रतीतः अपि अनपपन्नतया एव प्रतीतौ विश्राम्यति । अतः तद्व्यङ्ग्येन मयि न योग्यः इत्यादिना सहान्वयेन एवं मयि खेदं भजते इत्ययोग्यमिति । वाक्यार्थस्य सिद्धत्वात् इदं वाच्यसिद्धाङ्गाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणम् एव सम्भवति न काकुसङ्गतवाच्यार्थव्यङ्गी-
दाहरणं वाक्यार्थस्य शब्दात् अप्रमितत्वात् इति आशङ्कते न च वाच्यसिद्धाङ्गमिति काकुः ? काकुव्यङ्गं मयि न योग्यम् इत्यादिकं वाच्यसिद्धाङ्गं शब्दे वाच्यसिद्धिनिर्वा-
हकम्, समाधत्ते प्रश्नमात्रेण अपि इति । काकीः व्यङ्ग्येन प्रश्नमात्रेण अपि वाक्यार्थस्य विश्रान्तेः योग्यतया शब्दात् अवगतेः इत्यर्थः । तथाहि तत्प्रीतिकरणाय खिन्ने मयि अप्रीतिकरत्वेन खेदं कथं भजते ? इति काकुव्यङ्ग्यप्रश्नान्वयितया योग्ये वाक्यार्थे शब्दात् एव प्रतीते पुनः स्मृतया अस्मरणे अपि प्रश्नहारिकया एव अकाका सहकारीभूतया तेन वाच्यार्थेन मयि न योग्यः इत्यादिकं व्यज्यते इत्यर्थः । एवञ्च प्रश्नांशे गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् एव मयि न योग्यम् इत्यादिंशे तु काकुसङ्गतस्य तस्य तस्यैव वस्तु व्यङ्ग्यवस्तुध्वनिः इति बोध्यम् । वाक्यवैलक्षण्ये आह । तद्वा इति ।

भट्टिति आकृतस्फीरकविशेषणवस्त्वम् एव वाक्यस्य वैलक्षण्यम् ।

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं न नयस्यन्वव ।

इदानीं सा चैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥ इति संकृतम् ।

नायिकायाः कपोलप्रतिविम्बिताम् उपनायिकां दृष्टवन्तं नायकं प्रति तस्याम्

उद्देश्यं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायीं
 कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ।
 किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्त्वि ! ते वान्ति वाताः
 येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनीभूः ॥
 अत्र रतार्थं प्रविश इति व्यङ्ग्यम् ।
 शील्ले इ अणस्यमणा अत्ता मं घरभरन्धि सञ्चलन्धि ।
 खणमेत्तं जइ संज्माइ होइ ण व होइ बीसामी ॥

अवगतायां नायिकायाः उक्तिः इयम् । तदा उपनायिकासत्त्वकालिनिमग्ना रागात्
 चलात् इदानीं तदपगमकालिन सा नमत्कपोलनिमग्ना अवेति व्यञ्जते विलचक्षणे-
 तद्वाक्यसहकृतेन वाक्यार्थेन इति शेषः । उपनायिकासत्त्वासत्वयोः भटिति व्यञ्ज-
 काभ्यां तददानीन्पदाभ्यां विशिष्टत्वात् वाक्यस्य अत्र विलचक्ष्यम् । वाच्यवैलक्षण्ये
 उदाहरति ।

उद्देश्यमिति । प्रकर्षणविशेषणवस्त्रं वाच्यस्य वैलक्षण्यं तथाच स्ववैलचक्षणात्
 स्वस्य व्यञ्जकत्वम् इत्यर्थः । रतार्थं प्रार्थमानां नायिकां प्रति नायकस्य उक्तिः
 इयम् । नर्मदायाः अयम् उद्देशः प्रदेशः तस्य प्रकर्षकाणि विशेषणानि सरसित्यादीनि
 सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी अतिशायी अतिशयशीलः इत्यर्थः । कदलीनां सरसत्वीपादा-
 नात् अभ्रमपत्रैः अञ्जितालाभः तेन च सञ्चरताम् अदृश्याभ्यन्तरत्वं रत्युपयुक्तं
 गम्यते रमणीविभ्रमाङ्कुरप्रदर्शनात्तत्र अस्मि रमण्याः विभ्रमाङ्कुरः अत्र जायताम्
 इति भावः । प्रकर्षान्तरम् आह किञ्चेति । एतस्मिन् प्रदेशे सुरतसुहृदः सुरत-
 प्रवर्तकाः ते वाताः वान्ति येषाम् अग्रे कामिजनं प्रति धृताकण्डिककोपः मनीभूः
 सरति धावति । तथाच एभिः उद्दीपकैः अत्र रतम् उचितम् अतः अत्र रतार्थं
 प्रविश इति व्यङ्ग्यम् इति आह अवेति वाच्यवैलक्षण्यम् अत्र उद्दीपकविशेषणैः ॥
 अस्य सन्निधेः वैलचक्ष्ये आह ।

शील्ले इ इति । वाच्यार्थस्माज्जबीडुभिन्नस्य सान्निध्यम् अन्यसन्निधिः तस्य
 व्यङ्ग्यार्थबीधीद्देश्यत्वम् एव वैलचक्ष्यम् ।

मुदति अनन्यमनाः श्च्यूमां गृहभारे सकले ।

अणमातं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥ इति संस्कृतम् ।

अत्र सन्ध्यासङ्केतकालः इति तटस्थं प्रति कयाचित् द्योत्यते ।

सुण्ड समागमिस्सदि तुङ्ग पित्रो अञ्ज पहरमेत्तेण ।

एअमेअ कित्ति चिट्ठसिं ता सहि ! सज्जेसु करणिञ्जम् ॥

अत्र उपपत्तिं प्रति अभिसर्त्तुं प्रस्तुता न युक्तम् इति कया-
चित् निवार्यते ।

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।

नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदताऽयं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥

अत्र गृहकर्मदुःखीशारपरः वाच्यार्थः तद्गृहस्थिता जनाः तत्र बीडारः
तदन्योपनायकसान्निध्यात् तं सङ्केतकालत्वेन सन्ध्यायाः द्योतनं सामाजिकैः व्यञ्ज-
नया अवगम्यते उपनायकसान्निध्यलाभस्तु तद्भावे एतदुक्तैः वैचित्त्राभावात् एव ।
अत्रैति । तटस्थं वाच्यार्थबोधे उदासीनम् उपनायकं द्योत्यते इति । तथाच
तथा द्योतनम् एव सामाजिकानाम् अन्यसन्निधिगम्यम् इति भावः । व्यञ्जनया
उपनायकस्य सङ्केतकालबोधस्तु वक्तृवैलक्षण्यात् एव, अइपिहुलमित्यादिवत् । अत्र
वर्त्तो तु वक्तव्यस्य उपनायकस्य सान्निध्यात् तेन एव सङ्केतकालः व्यञ्जनया बुध्यते
इति आह । तत् न, अइपिहुलम् इत्यतः भेदानुपपत्तेः । प्रकरणवैलक्षण्ये
उदाहरति ।

सुब्ब इति । प्रकरणस्य व्यङ्ग्यार्थविषयत्वम् एव वैलक्षण्यम् ।

श्रूयते समागमिष्यति तत्र प्रियोऽय प्रहरमावेषेण ।

एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि ! सज्जय करणीयम् ॥ इति संस्कृतम् ।

सम्प्रक्रान्ताभिसारनिवर्त्तिकाया सख्याः उक्तिः इयम् । एवमेवेति । वाच्यार्थपक्षे
तत्परिचर्यापक्रमरहिता एव इत्यर्थः । व्यङ्ग्यार्थपक्षे तु अभिसारीपक्रमयुक्ता एव
इत्यर्थः । करणीयं रत्ननादिव्यापारीपयुक्तसामयीम् । वार्यते इति वारणं व्यज्यते
इत्यर्थः । प्रकरणात् अभिसारीपस्थिती एव तद्वारणव्यञ्जनाप्रकरणं तत्र सहायम् ।
देशवैलक्षण्ये उदाहरति ।

अन्यत्र यूयमिति । देशः विधेयकरणत्वेन निर्दिष्टस्थानं तेन उद्देशः अयम्
इत्यत्र वाच्यवैलक्षण्यम् एव न देशवैलक्षण्यं तत्र च किञ्चित्छिन् इति अर्थेन
अधिकरणत्वनिर्देशः न प्रकृतिविधेयक्रियायाः इति अवधेयम् । तादृशस्य देशस्य
च व्यङ्ग्यार्थोपयोगिधर्मवत्त्वया उक्तिवैलक्षण्यम् । बहुसखीपुष्पावचयाधिकरणदेशकत-

अत्र विविक्तः अयं देशः इति प्रच्छन्नकामुकः त्वया अभि-
सार्थ्यताम् इति आश्वस्तां प्रति कयाचित् निवेद्यते ।

गुरुअणपरवस पिअ ! किं

भणामि तुह मन्दभाङ्गी क्वु अहम् ।

अज्ज पवासं बजसि बज

सअं ज्जेब्ब जाणसि करणज्जम् ॥

सङ्केतायाः प्रहितागतां दूतीं दृष्ट्वा सखीप्रस्युक्तिः इयम् । अस्मि इति अहमर्थं अत्र
अहं कुसुमावचार्यं करोमि इत्यर्थः । एतदुक्तां व्यङ्ग्यरूपत्वनिरासाय आह नाह-
मिति । अत्र एव सर्वासां कुसुमावचर्य तु कुसुमानाम् अल्पत्वम् एव वाचकम् इति
उक्तं वः इति, बह्वचनम् अञ्जलिः इत्येकवचनं च सामर्थ्यसचकं प्रत्यं कम्
अञ्जलिकरणस्य अपि सामर्थ्यप्रयुक्तत्वात् । अत्रेति अभिसार्थ्यताम् आनीयतां आश्वस्तं
दूतीम् इति विशेषः । निवेद्यते इति । तथाच तन्निवेदनम् एव, सख्यपसारण-
धर्मविशिष्टदेशवैलक्षण्यात् सामाजिकव्यञ्जनागम्यम् इत्यर्थः न तु वाच्यदेशवैलक्षण्यम्
अत्र देशस्य अत्र उद्देशः अयम् इत्यत्र एव प्रकर्षकविशेषणवत्तया विधेयत्वेन
अनुक्तत्वात्, न अपि अन्यसन्निधिवैशिष्ट्यम् अन्यसन्निधेः अपि देशवैशिष्ट्ये एव न अपि
उपस्थापनात् दूतीसान्निध्योपस्थितिं विना एव वाच्यार्थस्य नायिकासौकुमार्यव्यञ्जनया
एव विचित्रत्वात् निवेद्यार्थस्तु ज्ञातप्रकरणया दूत्या तद्वैलक्षण्यात् एव प्रतीयते इति
बोध्यम् । कालवैलक्ष्ये आह ।

गुरु अणेति । कालः ऋतुः तस्य वैलक्षण्यं व्यङ्गीपयोगि स्वभावता वसन्तत्वादिः ।

गुरुजनपरवश प्रिय ! किं भणामि तव मन्दभाङ्गी खल्वहम् ।

अयं प्रवासं ब्रजसि ब्रज स्वयमेव ज्ञास्यसि करणीयम् ॥ इति संस्कृतम् ।

पित्राद्याज्ञया प्रवसितुम् उद्यतं नायकं प्रति नायिकाया उक्तिः इयम् ।

अद्य वसन्ते खानभीष्टीदमात् मन्दभाङ्गीति खनिन्दा गुरुजनपरवशत्वेन
अनिवर्तनीयता अतः निवर्तनचेष्टाम् अकृत्वा तस्मिन् एव करणीयपरिभावनभावा
दत्तः । अद्य इति किं भणामि द्विवे इत्यर्थः । तर्वात्विति गुरुजननिदेशम्
उल्लङ्घ्य अपि मृत्युहेतुक्रियातः जनैः निवर्तितव्यं तव तदकरणात् तु ज्ञास्यसि
इत्यर्थः । गतिम् अवस्थां व्यज्यते इति । मधुमासरूपकालस्य विरहिमारकत्वरूपवैल-

अत्र अद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदा अहं तावत् न भवामि तव तु व जानामि गतिम् इति व्यञ्जते । आदिग्रहणात् श्लेषादेः । तत्र चेष्टायाः यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तथा सौन्दर्यसारत्रिया
प्रीलास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।

आनीतं पुरतः शिरोऽंशुकमधः क्षिप्ते चले लीचने
वाचस्तञ्च निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दीर्लते ॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तधिषयः आकृतविशेषः ध्वन्यते ।
निराकाङ्क्षप्रतिपत्त्यै प्राप्तावसरतया च पुनःपुनः उद्गाह्यते ।

चक्ष्यात् नायकेनैव व्यञ्जनया भवगम्यते इत्यर्थः । समाजिकैः तु तदवगमः एव
तद्गादिवैलक्षण्यात् प्रतीयते इति बोध्यम् ।

८ द्वारोपान्तेत्यादि । नायिकायाः भावपरीचकस्य सस्युः सख्याम् उक्तिः इयम् ।
मयि द्वारोपान्ते निरन्तरे अत्यन्तसन्निहिते सति तथा नायिकया उरुयुगं प्रीलास्य
परस्परसमासक्तम् अन्वीन्यासङ्गं समासादितं प्रापितम् इत्यर्थः । तथा शिरो-
ऽंशुकं पुरतः आनीतं चले लीचने अधः क्षिप्ते वाचः तत् प्रसरणं वारितं दीर्लते
च सङ्कोचिते, तथा कौटुम्बिका सौन्दर्यसारा श्रीः यस्याः तादृश्या । समासक्तम्
इति भावे क्तः । दूरदृष्टे सन्निहितगमनेच्छया तादृशक्रिया न कृता अतः
अत्यन्तसन्निहिते एव इति भवः । अत्रेति लज्जाधीना चेष्टा कुलस्त्रीणां लज्जा-
ज्ञापनाय चेष्टा तु कुलटानाम् आकृतसूचिका एव आकृतं भवः प्रकृते च अशक्तस्य
एव उरुयुगस्य प्रीलासपूर्वकं तथा करणं लज्जीहीपनाय एव शिरास्थितम् एव
अंशुकं तस्य पुरतः आनयनं लज्जाज्ञापनाय तथा तस्य अदर्शनम् एव लज्जाकार्यं
अधःक्षेपणं तु तज्ज्ञापनाय वाक्प्रसरणनिवारणं तु चेष्टाविरह एव तेन अपि अत्र
आकृतव्यञ्जकं तथा दीर्लतयोः यथास्थानस्थापनम् एव लज्जाकार्यं तत्सङ्कोचनं
तु लज्जाज्ञापनाय एव इति अत्र आभिः चेष्टाभिः लज्जाम् अभिव्यज्य तद्वारा
आकृतविशेषः व्यञ्जते इति चक्रवर्ची । तत् न, तद्धेतीः एव तत्सिद्धेः तद्गमने
प्रमाणाभावात् लज्जायाः आकृतव्यञ्जकत्वाभावात् न हि सौतया कृता लज्जा रावणे,
सुधायाः वा कृता अश्वरे आकृतव्यञ्जिका ।

चेष्टादेरित्यादि पदान् क्वचित् चेष्टाविरहः अपि व्यञ्जकः इत्युक्तम् । यथा

वक्त्रादीनां मिथःसंयोगे द्विकादिभेदेन । अनेन क्रमेण लक्ष्य-
व्यङ्गयोश्च व्यञ्जकत्वम् उदाहार्यम् ।

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थः व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

एव्येति । न हि प्रमाणांतरवेद्यः अर्थः व्यञ्जकः ।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे अर्थनिर्णयः तृतीयः उक्तासः ॥३॥

“न ते मयि पदाक्षेपं दृष्टे दृष्टिनिवारणम् । अक्षुवाणः। चट्टकौ मे मौनमालम्बते अ
सा ॥” इत्यत्र पदाक्षेपादिवारणः । ननु वक्तृवैलक्षण्योदाहरणे वाङ्म्यादिः
बोद्धव्यवैलक्षण्योदाहरणे वक्त्रादिः अपि वलक्षण्यं सम्भवति तदस्फुर्थनुसारेण अने-
केषाम् उदाहरणं सम्भवति किं बहदाहरणैः ? इत्यतः आह निराकाङ्क्षप्रति-
पत्तये इति । एकैकस्य किमुदाहरणम् ? इत्याकाङ्क्षानिरासकप्रतिपत्तये स्फुटावभास-
मानम् एकैकम् आदाय पुनः पुनः उदाक्रियते इत्यर्थः । एवं वाच्यार्थस्य व्यञ्जकत्वे
सहायानां वक्त्रादीनां प्रत्येकम् उदाहरणं दर्शिते लक्ष्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः अपि तयोः
उदाहरणप्रदर्शने आकाङ्क्षिते वक्त्रादि त्विति । वैशिष्ट्येन एकैकम् उदाहरणं
पूर्वोक्तम् एव बोद्धव्यम् इति आह वक्त्रादीनामिति । द्विकादीति । भेदे सम्भवे मिलनम्
इत्यर्थः । आदिना त्रिचतुरादिपरिग्रहः । तत्र लक्ष्यार्थस्य व्यञ्जकत्वे साहेन्ती
सहि सुभमित्येव वक्तृबोद्धव्यवाक्यत्वितये वैलक्षण्यविशिष्टम् उदाहरणम् । व्यङ्गा-
र्थस्य व्यञ्जकत्वे तु उभयवैलक्षण्यविशिष्टम् एव उदाहरणं बोद्धव्यं प्रकरण-
वैशिष्ट्यवदिति । अत्र वाच्यार्थव्यञ्जकतोदाहरणानां द्विकादिसम्भेदसम्भवे अपि
निराकाङ्क्षप्रतिपत्तये इत्युक्तत्वात् तदीयद्विकादिभेदोदाहरणान्तरस्य अनाकाङ्क्षितत्वेन
असा एत्येत्यादि तदीयद्विकादिसम्भेदोदाहरणं यत् कश्चित् पुस्तके लिखितं तिष्ठति
तत् अयुक्तम् एव । अर्थां व्यञ्जनायां शब्दविशिष्टस्य अर्थस्य काव्यत्वम् इति हृदयात्
आह शब्दप्रमाणेति । सहकारिता विशेषणीभावः ।

इति तृतीयः उक्तासः ।

चतुर्थः उल्लासः ।



यद्यपि शब्दार्थयोः निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपम् अभिधानीयम्, तथापि धर्मिणि प्रदर्शिते, धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायते इति प्रथमं काव्यभेदान् आह ।

अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥२४॥

लक्षणांमूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सति एव अविवक्षितं वाच्यं

“यददीपो शब्दार्थौ” इति कारिकीकानुसारेण आह यद्यपीति । स्वरूपलक्ष्यं लक्षणञ्च अभिधानीयम् अभिधातुं योग्यम् । योग्यता च काव्यलक्षणीकक्रमे एव दर्शिते भेदप्रमर्दनेति शेषः । सामान्यतस्तु इदमुक्तममतिशयिनीत्यादिभिः दर्शितत्वात् एव । यद्यपि तथात्वेन प्रदर्शिते अपि हेयोपादेयता ज्ञायते एव तथापि धर्मिविशेषनिष्ठतया ज्ञायते इत्यर्थः । लक्षणांमूलैति वाच्या विवक्षायाः लक्षणां विनाभावात् गूढव्यङ्ग्या प्राधान्याभावे च ध्वनित्वासम्भवादर्थप्राप्तं सत्यन्तं पूरितं तत्र च गूढत्वे एव प्राधान्यम् इत्येतत्प्रतिपादनया एव गूढत्वमुक्तं न तु अगूढव्यावर्तनाय तथात्वे प्राधान्यस्य एव अभावेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्य बन्धमाणत्वात् ।

अविवक्षितं वाच्यमिति वाच्यतावच्छेदकरूपेण अविवक्षितम् इत्यर्थः । तेन अवच्छेदकान्तरेण वाच्ये विवक्षिते अपि अविवक्षितत्वम् उपपन्नम् । सम्भन्निरिति पुरणाभावे तादृशस्य ध्वनित्वेन पूर्वम् अप्राप्तत्वात् तत्र ध्वनी इति अनुवादासम्भवः स्यात् इत्यतः तत्पूर्वञ्च कृतम् अनुपयुज्यमानत्वात् इति वाच्यतावच्छेदकरूपेण ताव्यर्थानिर्वाहकत्वात् इत्यर्थः । अन्वयोपपत्तिस्तु तेन अपि रूपेण अस्ति एव इत्यतः अनुपपद्यमानत्वात् इति न उक्तम् । अर्थान्तरे अवच्छेदकान्तरज्ञाने परिष्कृतं विषयीकृतं प्रकृतावच्छेदकभिरूपेण उपस्थितम् इत्यर्थः । षड्विधलक्षणासु उपादानलक्षणांमूलध्वनिः अनेन उक्तः ।

यत्र स ध्वनौ इत्यनुवादात् ध्वनिः इति ज्ञेयः । तत्र च वाच्यं
क्वचिदनुपयुज्यमानत्वात् अर्थान्तरे परिणमितम् । यथा—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवांयोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति । क्वचिद-
नुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते ?

सुजनता प्रथिता भवता परम् ।

विदधदीदृशमेव सदा सखे !

सुखितमाम्स्व ततः शरदां शतम् ॥

त्वामस्मीत्यादि । अहम् इत्यर्थे अस्मि इति । अहं त्वां वच्मि वदामि इत्यर्थः ।
समवायः सभा । तत्रत्यात् अत्रेति उच्यमानार्थकधनमहिम्ना एव वच्मीत्यस्य एव
त्वाभे वचनत्वेन रूपेण तत्र न तात्पर्यं किन्तु उपदिशामि इति तस्य अर्थः । उपदेशस्य
च परप्रवर्तकवचनरूपत्वेन तेन एव रूपेण अत्र वाच्यं वचनम् उपस्थितम् इत्यर्थः ।
अत्र उपदिश्यमानार्थस्य अनुपेक्षणीयत्वं प्रयोजनं व्यञ्जं गूढं वचनादित्यादिपदान्
विहृत्पदं नियाहकविहृत्परम् अनुयाहकतत्सभायां यथा तथा स्थितिसम्भवात् । अत्र
परापमानदायित्वं प्रयोजनं गूढं व्यञ्जम् । तथा मतिपदम् उत्तममतिपरं निरूप-
नत्यास्थित्युपदेशायोगात् । अत्र च अपमानवारणं प्रयोजनं गूढं व्यञ्जं सर्वत्र अभेदः
एव शक्यलक्ष्यसम्बन्धः । अत्यन्तं वेति व्याचष्टे क्वचिदिति । अत्यन्तं तिरस्कृतं
रूपान्तरेण अपि न अन्वयप्रतियोगि इत्यर्थः । लक्ष्यलक्षणादिपञ्चविधलक्षणाभूल-
ध्वनिः अनेन उक्तः ।

उपकृतमित्यादि । प्रमाणांतरावगतापकारिणं प्रति सीङ्गुच्छोक्तिः इयम् । तत्रेति
समीचीनः । यत्रेति पाठे तु तत्रेति पूरणीयम् । परं सुखितम् इतिद्वयं क्रिया-
विशेषणम् । विपरीतेति उपकृतपदस्य अपकृते सुजनतापदस्य दुर्जनत्वे सुखितपदस्य
दुःखिते विपरीतलक्षणाया इत्यर्थः वैपरीत्यम् एव शक्यलक्ष्यसम्बन्धः पूर्वायाः कौटिल्यं
द्वितीये लक्ष्यार्थस्य कौटिल्यफलत्वं प्रयोजनं गूढं व्यञ्जम् इत्यं द्विविधम् अविचिता-
वाच्यं ध्वनिम् उक्त्वा विवचिताभ्यपरवाच्यध्वनिम् अनेकप्रभेदम् आह ।

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चित् वक्ति ।

विवक्षितञ्चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । एष च—

कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२५॥

अलक्ष्येति । न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः,
अपितु रसस्तैः इत्यस्ति क्रमः, स तु लाघवात् न लक्ष्यते । तत्र,
रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।

भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्य्यतया स्थितः ॥२६॥

विवक्षितञ्चान्येति व्यङ्ग्यनिष्ठमिति । व्यङ्ग्यं निष्ठा पर्याप्तियस्य तादृशं व्यङ्ग्यं यस्य
कोऽपि ध्वनिस्तादृश इत्यर्थः । स च रसभावादिध्वनिर्वक्ष्यते । तत्र हि वाच्यार्थस्य
रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य च परिचये ज्ञाने तदनु व्यवसायेन तयोः पौर्वापर्य्यं न गृह्यते
अत्यन्तचित्ताकर्षकत्वविषयत्वेन शीघ्रोपस्थित्या एकदोषत्तिकथमस्यानुभवसिद्धत्वादिति
भावः । परी ध्वनिः लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमपरिचयेव्यङ्ग्यज्ञानीव्यक्तिक्रम इत्यर्थः । वतु रस-
ध्वनौ वाच्यव्यङ्ग्यज्ञानयोः पौर्वापर्य्यसत्त्वं एव तदपरिचयी वक्तुं युज्यते ? तदेव तु
नास्ति, तथाहि सीताविषयकचिन्तादिमान् रामस्तद्विषयरतिमान्त्वाद्याकारकं
ज्ञानं तावद्रसः सर्वमतसिद्धः । स च सीतारूपविभावचिन्तादिरूपव्यभिचार्य्यनुभावा-
त्मकविषयविशिष्ट एव पानकरस इति वक्ष्यते । तथाच सीतादिचिन्तादिरूपवाच्यार्थ
एव व्यङ्ग्यार्थोऽपि रसत्वापन्न इत्यती वाच्यव्यङ्ग्यज्ञानमेकमेवेति कुतश्च क्रमः ? इति
भान्त्याशङ्कां निरस्यन्नाह न खल्विति । एवकारिण तन्मात्रता व्यावर्त्तता । अपित्विति
तैर्विभादिभिः प्रथमं शक्त्याप्रतीतैः पद्यान्निखित्वा रस इत्यर्थः इत्यतः क्रमोऽस्थेवे-
त्याह इत्यस्तीति । तदुक्तं दर्पणे “प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुवक्ष्यते । ततः संव-
लितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् । प्रपानकरसव्यायाच्चव्यंभाषी रसो भवेत् ॥” इति
अत्र अपरिचयेक्रमान् व्यङ्ग्यार्थान् दर्शयति ।

रसभावेति तदाभासति । तत्पदेन रसभावयोर्दबीरेव पराक्रमः । अक्रमः
अलक्षणीयसज्ञानोत्पत्तिक्रम इत्यर्थः । भावीदयः व्यभिचारिभावस्य प्रधानीभावेनी-
त्यन्तिः प्रधानोभावश्च निरकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यमित्यर्थे दर्शयिष्यते । एवं भावसन्ध्यादावपि

आदिग्रहणात् भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि । प्रधानतया यत्र स्थितौ रसादिः तत्र अलङ्कार्यः । यथा उदाहरिष्यते । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्र अङ्गभूतो रसादिः तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवद्येय ऊर्जस्त्रिसमाहितादयः अहङ्काराः । ते च गुणीभूतव्यङ्गाभिधाने उदाहरिष्यन्ते ।

तत्र रसस्वरूपयाह

कारणान्यथ कार्य्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चैन्नाद्यकाव्ययोः

॥ २७ ॥

प्राधान्यं बोध्यम् । विरुद्धयोः परम्पराप्रतिबन्धेन स्थितिः सन्धिः सबलत्वमुत्तरोत्तरेण बलीयसा पूर्वपूर्वस्य नाशः परार्द्धं व्याचष्टे प्रधानतयेति । रसप्रकर्षकालङ्कारसत्त्वे रसस्य अलङ्कार्यतानुपपत्त्या अलङ्कारयोग्यतेव विवक्षितेति सैव दर्शिताऽनेन प्रधानता च पराङ्गता यद्योदाहरिष्यति इति । शून्यं वासगृहमित्यादिना तद्बोध्यं पराङ्गत्वे तु तस्य रसाद्यलङ्कारत्वमित्याह अन्यत्र त्विति । वाक्यार्थे रसभावादिरूपे क्वचिद्भावादेरपि अङ्गित्वस्य दर्शयिष्यमाणत्वात् । एवञ्चापराङ्गे रसादेरक्रमत्वेऽपि तद्वतः काव्यस्य नासंलक्ष्यक्रमध्वनित्वमलङ्कार्यणैव तेन तद्यत्त्वमित्ये तत् प्रतिपादनायैव प्राधान्येन यच्चेत्युक्तमिति बोध्यम् । गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपराङ्गाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्ये वक्ष्यमाणे रसाङ्गत्वे रसवदलङ्कारः भावस्याङ्गत्वे प्रेयीऽलङ्कारः आभासस्याङ्गत्वे ऊर्जस्त्रालङ्कारः भावशान्यादेरङ्गत्वे समाहितालङ्कारः गुणीभूतव्यङ्गाभिधाने कृते सति उदाहरिष्यन्ते एते च रसवदाद्यलङ्कारा वक्ष्यन्त इत्यर्थः । रसस्वरूपं सलक्षणं तत्र विभावाद्यैर्व्यक्ती रत्यादिस्थाधिभावी रस इति रसलक्षणं कर्तुं विभावादिसंज्ञां याह्यति ।

कारणानीत्यादि । व्यभिचारेण इत्यनेन यद्यपि अन्यत्र सहकारिपदं कारणपरमेव तथापि अत्र श्रेयसात् स्वसहभावेनैव रत्यादिज्ञानजननात् सहकारिपदं वक्ष्यमाणनिर्वेदादित्वयस्त्रिंशत्सङ्गाकार्यविशेषपरमेव बोध्यम् । रत्यादेरित्यादिपदाच्च “रतिर्हामस्य शीकस्य क्रोधीत्साह्वौ भयं तथा । जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥” इति वक्ष्यमाणं स्थायिभावाष्टकं शान्तरसस्थाधिभावनिवंदस्य

विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः

॥ २८ ॥

उक्तं हि भरतेन “विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रस-
निष्पत्तिः” इति । एतत् विद्वत्कृते विभावैर्ललनोद्यानादिभि-
रालम्बनोद्दीपनकारणैः स्थायी रत्यादिको भावो जनितः ।

वक्ष्यमाणव्यभिचारिभावध्वनी स्थायिभावत्वापन्ना व्यभिचारिभावाश्च बीध्याः ।
तथाच रत्यादेरेकविधस्य स्थायिमः स्थायिभावपरिभाषितस्य यानि कारणानि
वक्ष्यमाणालम्बनीद्दीपनरूपकारणविशेषाणि कार्याणि निर्वेदादिष्वस्त्रिशङ्खानि
यानि च सहकारिणि निर्वेदादिष्वस्त्रिशङ्खद्रूपकार्यविशेषा लोके काव्यनाट्यभिन्न-
लोकव्यवहारे कारणादितयैव श्रूयन्ते इति शेषः । तानि नाट्यकाव्ययोश्चेत् प्रती-
यन्ते इति शेषः । तदा तानि कारणकार्यसहकारिण्यथासंख्यं विभावा अनु-
भावा व्यभिचारिणश्च कथ्यन्ते इत्यर्थः । तेन कारणानि विभावाः कार्याणि
अनुभावाः सहकारिणश्च व्यभिचारिणः कथ्यन्ते इत्यर्थः । व्यभिचारिणां
सञ्चारपरिभाषापि दीधोलासे व्यक्तीभविष्यति । इदानीं रसलक्षणमाह ।

व्यक्तः स तैरिति । स स्थायी भावो रत्यादिसैर्विभावाद्यैर्नाट्यकाव्यज्ञातैर्व्यक्तः
प्रकाशितः स रस स्मृत इत्यर्थः । प्रकाशनञ्च क्वचिन्मते व्यञ्जनरूपं क्वचिन्मते तु
साक्षात्काररूपमिति तच्चमते दर्शयिष्यते । भरतेन इति । भरतमुनिना नाट्यशास्त्रं
इत्यर्थः । तदीयग्रन्थान्तरीकृताकारिकाकथने च तस्य प्रकृतग्रन्थकृत्वाभावादग्रन्थकृतंति
नीकृतम् । संयोगात् मिलनात् तेन मिलितवयस्यैव व्यञ्जकत्वमुक्तम् । विद्वत्कृतं
भट्टलोल्लटप्रभृतयः इत्यन्वयः । विवरणञ्च विभावादिभिर्व्यक्तीकरणप्रकारस्यैव न
रसलक्षणस्येति बोध्यम् । व्यञ्ज्यव्यञ्जकयोः सम्बन्धाभावे व्यञ्जानानुपपत्त्या तयोः
सम्बन्धं दर्शयन् तैर्विभावादिभिः प्रतीयमानो रत्यादिः रस इत्याह ।

विभावैरिति । ललना आलम्बनकारणं नायकानुरागात्मनी रतेस्तामालम्ब्य
जातत्वात् नायिकारतौ तु नायक एवालम्बनं बीधः । उद्यानादिरुद्दीपनकारणं
जाताया रतिधारायास्तेभीक्षरीचरं वर्धनात् । जनिती भवतीति शेषः । तेन

अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः ।
व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः 'सहकारिभिरुपचितो मुख्यया
वृत्त्या रामादावनुकार्यै' तद्रूपतानुसन्धानात् नर्त्तकेऽपि प्रतीय-
मानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः ।

“राम एवायम् अयमेव रामः” इति “न रामोऽयम्” इत्यौ-

कारणत्वमेव विभावानां रतिव्यञ्जने सम्बन्ध इति दर्शितं सम्बन्धप्रदर्शने च जनना-
तीतत्वप्रदर्शानुपयोगात् भवतीति पूरितम् । तथाच जन्य इत्यर्थः कटाक्षभुजाक्षेपौ
नायकस्य नायकरत्यनुभावत्वेन प्रदर्शितत्वात् भजस्य तत्प्राप्तानुकूलक्षेपः कृत
इत्यत्रापि भवतीति शेषः । प्रतीति योग्यता नीत इति पाठान्तरं तथाप्येष एव
शेषः क्रियते इत्यर्थः । तेन रत्यादिः प्रतीतियोग्यतापादकः कार्यत्वरूपः सम्बन्धो-
ऽनुभावानां दर्शितः । निर्वेदादिभिरिति वक्ष्यमाणत्वयस्विंशता कार्यविशेषैः उप-
चितः क्रियते इति शेषः । शीघ्रप्रत्यायनमुपचयः । अत एवैतेषां कार्यत्वं ऽपि
अनुभावात् पार्थक्यं न चैवमेषां शीघ्रप्रत्यायकत्वम् । यदि अन्वयनरपेक्षं तत्कथं
मिलितानामिव बोधकता ? यदि तु अन्यसापेक्षं तदा सर्वेषामिव प्रत्यायकत्वे
कथमेषां शीघ्रप्रत्यायकत्वम् इति वाच्यम् ? एतन्मात्राणां प्रतीतीं शीघ्रमन्यान्यपि
ज्ञायन्ते । तन्मात्रप्रतीती तु त्रिलम्बेनान्येषां प्रतीत्या रसबोधविलम्ब इति भावात्
नाद्याभिप्रायेणाह मुख्यवेति वास्तव्येत्यर्थः । नर्त्तकेऽनुकारके इति शेषः । कार्यं
तु रामादाववेति बोध्यम् । प्रतीयमानो व्यज्यमानः । इत्यं सामाजिकाना
व्यञ्जनागम्यः रत्यादिः रस इत्युक्तम् । “रामः सीताविषयरतिमान्” इत्यादिस्तु तदा-
कारः ज्ञानसम्बन्धेन च सामाजिकवृत्तिलसित्यवधिभ्यम् । अत मते व्यञ्जनाधीन-
ज्ञानस्यास्वाद्यरूपत्वानुपपत्तिं दीषमवेत्य रत्यादिसाक्षात्कार एव आस्वादरूपरस इति
व्याचक्षाणस्य श्रीशङ्कुस्य मतमाह राम एवायमिति । अत्र मते विभावादिभिः
रत्याद्यनुमानं ततस्तदनुमानोद्बोधितया सामाजिकानां वासनारूपया प्रत्यासत्त्या
साक्षात्कारविषयो रत्यादिः रस इति निष्कर्षः । अत्र नाद्याभिप्रायेण पचभूत-
नटज्ञानाकारणानुराग एवायमिति चिदलिखिते तुरगे यथा—

आह्वार्थतुरगप्रतिपत्तिस्तादृश्यरामोऽयमिति ।

प्रतिपत्त्या दर्शितपरिशेषेणाह्वार्थज्ञानरूपया याज्ञे मटे पक्षे विभावादिशब्दव्यप-
दिश्येः कारणकार्यसहकारिभिर्हेतुभूतैरनुमीयमानोऽपि रत्यादिः सामाजिकानां

उत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति रामः स्याद्वा न वाऽयमिति
रामसदृशोऽयमिति च 'सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो
विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या
ग्राह्ये नटे —

सैयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः ।

मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लीचनगोचरङ्गता ॥

वासनया प्रत्याहृत्या चर्व्यमाणः साक्षात्क्रियमाणः रस इत्यन्वयः । तत्र रामत्वेन
नटयहस्य सम्यगादिज्ञानचतुष्टयवेलक्षण्येन आहार्यज्ञानरूपतां परिशेषयन् आह
सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणयेति । तत्र राम एव रामत्वेन बोधः
सम्यक् तदाकारमाह राम एवायमिति रामत्वायोगरहित इत्यर्थः । अयमेवेति
अस्थीन्याभावप्रतियोगिरामत्ववानित्यर्थः । एवं रामोऽयमित्यनवधारणात्मकस्यापि
सम्यक्ज्ञानीपलक्षणमिदं बोध्यम् । अरामे रामत्वेन भ्रमी मिथ्याज्ञानं तदा-
कारमाह ।

न रामोऽयमितीति । ईदृशे उत्तरकालिके बाधे भाविनि तत्पूर्वं रामोऽयमिती-
त्यर्थः । रामः स्याद्वा न वेति संशयः रामसदृशोऽयमिति सादृश्यप्रतीतिः आद्यः
प्रतीतिभ्यो विलक्षणया इत्यर्थः । विभावाद्यज्ञाने तैरनुमानासम्भवादाह नटेनैव
प्रकाशितैरिति काव्ये तु काव्येनैव स्वार्थत्वात् प्रकाशितैर्वास्तवराम एव सम्यक्-
ज्ञानगृहीतेऽनुमानमिति बोध्यम् । नटेनापि प्रकाशने उपायमाह शिञ्चेति ।
गुरुपदेशः शिञ्चा पौनःपुन्येन प्रवृत्त्या दृढतरसंस्कारोऽभ्यासः आभ्यां निवर्त्तितेन
निष्पादितेन स्वकार्यस्य अभिनयस्य प्रकटनेन प्रकाशनेन चेत्यर्थः । तत्रप्रकटने
अपि अभिनेयार्थज्ञापकस्य काव्यस्य अनुसन्धानं हेतुरिति तत्समुच्चयबोधकाशकारः ।
अनुसन्धेयं काव्यद्वयमाह ।

सैयमिति । देवादिति । आद्यं सम्भोगे द्वितीयं विप्रलम्भे । या अदर्शने
तत्तद्दुःखं सम्पादयति सैयं मम प्राणेश्वरी सीता मनसः सकाशात् लीचनगोचरं गता
पूर्वं मनोगोचर एवासीत् इदानीं लीचनस्यापि गोचर इत्यर्थः । गोचरमिति
भावप्रधानो निर्देशः गोचरमित्यर्थः । कीदृशी ? अङ्गेषु बल्लभ्येव सुधारसस्य कृटा
कषाहार्हाटः शोभनः पूरः समूहो यस्य तादृशस्य कर्पूरस्य दृशोः शलाकिका स्वल्प-
शलाका कृशाङ्गीत्वात् शलाकया च चञ्चलि कर्पूरदाने दृक्प्रीयनात् । दुष्प्रापविष-

देवादहमत्र तथा चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।

अविरलविलीलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलात् शिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्व-
कार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः
कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैः विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः
'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानोऽपि वस्तु-
सौन्दर्यबलात् रसनीयत्वेन अन्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायि-
त्वेत सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्वासन्नपि सामाजिकानां
वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्करः ।

येच्छा मनोरथसख विषयः सिद्धिरूपा शरीरिणी श्रीरिति रूपकवयम् । केचित्तु
मनसो मनोरथश्रीरित्यन्वयमाहुः तत्तु मनस इत्यस्य वैयर्थ्यात् न । रुचिरं मनसः
शरीरिणी मनसः सकाशात् प्राप्तशरीरित्यपरि ।

देवादिति । तथा सीतया अविरली विलीली जलदो यव तादृशी वर्षाकाल
इत्यर्थः इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलादित्यर्थः तत्तदर्थानुसन्धानेन तत्तत्प्रकाशनीचितो-
ऽभिनयस्तेन विभावादिप्रकाशनमिति भावः । ननु सीताभिन्नत्वेन ज्ञाते सीता-
वेशे नटे कथं सीतात्वेन ज्ञानं येन ततो रत्यनुमानम् ? इत्यत आह कृत्रिमैरपीति ।
यद्यपि कृत्रिमत्वज्ञानमनुभवसिद्धं दुरपलपमेवेति तथामभिमानासम्भव एव तथापि
नञ्च्यत्यासेन अतथाभिमन्यमानैरित्यर्थः कृत्रिमत्वज्ञानसत्त्वेऽप्याहार्यकृत्रिमत्वज्ञान-
सम्भवात् । सूत्रे संयोगादित्यस्य मिलनार्थकत्वेऽपि गम्यगमकभावरूपा व्याप्तिरपि
तदर्थ इत्यभिप्रायेणाह । संयोगादिति गम्यस्य रत्यादिरूपसाध्यस्य गमकभावात्
व्याप्तिरूपादित्यर्थः । अयं रामः सीताविषयरतिमान् सीतादिविभावादिमत्त्वादित्यनु-
मानं तद्विषयदिदृष्ट्यादिमत्त्वमत्र मतुवर्थः सम्बन्धः । नन्वेवं तत्रादिरप्यनुमितः साक्षा-
त्कारविषयः स्यात् ? इत्यत आह वस्तुसौन्दर्येति । अत एवाह अन्यानुमीयमानेति ।
बाधसिद्धसाधननिरासाय पक्षताघटकं संशयमाह स्थायित्वेनेति पक्षवृत्तित्वेनेत्यर्थः ।
तत्र नटे सामाजिके च वासनारूपप्रत्यासत्तेरिदमेव सामर्थ्यं यदसतोऽपि वस्तुनी
विषयीकरणमिच्छाया इवेति भावः । तथाच "रामः सीताविषयरतिमान्" इत्येवं-
विधः साक्षात्कारविषयी रत्यादिः रस इत्येतन्मतं अस्मिन् श्रीशङ्करमते वासनायाः

न ताटस्थेन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाद्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावा-
दिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी
सखीद्रे कप्रकाशानन्दमयसंविद्द्विआन्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते
इति भट्टनायकः ।

काव्यानुपाद्यत्वे कारणान्तरमेव कल्पनीयं तदुद्दीर्घार्थमनुमानकल्पनञ्च गौरवग्रस्त-
मत एतद्दीर्घार्थं परिहृत्य व्याचक्षाणस्य भट्टनायकस्य मतमाह ।

न ताटस्थेनेति । अत्र मते काव्यनाद्याज्ञापितैर्विभावार्थैः भावकत्वाख्य एकी
व्यापारी जन्यते । तेनैव व्यापारेण प्रत्यासन्नोक्तो रत्यादिः सामाजिकसाक्षात्कार-
विषयी रसः । स च “रामः सीताविषयरतिमान्” इत्येवमाकारमेव प्रथममेवोत्पद्यते
न तु पूर्वमतवत्तादृशानुमित्यन्तरमिति निष्कर्षः । भट्टलील्लटमते परकीयरत्यादेर्व्य-
ञ्जनेव तत्रापरकीयत्वज्ञानसामय्योसत्तात् । तथात्वग्रहे स्वाहृत्तिलज्ञानमध्यर्थसिद्धम् ।
मया तु स्वाहृत्तिले व्यञ्जनागम्यत्वञ्च नाङ्गीकार्यमित्याह न ताटस्थेनेति । नाभि-
व्यज्यते इति च । न स्वासम्बन्धित्वेन रसो रत्यादिः प्रतीयते इत्यर्थः । स्वासम्बन्धि-
त्वेनाप्रतीती स्वसम्बन्धित्वज्ञानपर्यवसानमपि निरस्यति नात्मगतत्वेनेति । काव्यात्
अज्ञातुरपि रामादेः सीतादो रत्युत्पत्तेः सिद्धत्वादाह नोत्पद्यते इति काव्यनाद्या-
भ्यामिति शेषः । अनुरागाद्यात्मनो रत्यादेः अनुत्पत्त्यभावात् । तथाच रत्यादेः
कौटुम्भावेन रसत्वमित्यत्रापि अपिलिति । काव्ये नाद्ये च जायमानेन भावकत्वा-
ख्यव्यापारेण भाव्यमानः सन्निधाप्यमानो रत्यादिर्भोगेन साक्षात्कारेण भुज्यते विषयी-
क्रियते इत्यर्थः । तथाच तादृशसाक्षात्कार एव विषयविशिष्टः रस इति भावः ।
रत्यादिः कौटुम्भः ? स्थायी काव्यनाद्यायोः प्राक्सिद्ध इत्यर्थः काव्यनाद्याभ्यां नोत्पद्यते
इत्युक्तस्यायमनुवादः । स च पूर्वोक्तविषयानिरासार्थं स्थायिपरिभाषित इति वा
भावकत्वव्यापारेण कौटुम्भेन ? अभिधातो द्वितीयेन यज्ञादिविधिवार्ये लिङ्गा,
यथा अभिधाख्य एकः प्रवर्त्तको व्यापारः पुरुषनिष्ठो जन्यते तथा काव्यनाद्याभ्या-
मपि सामाजिकानुष्ठो भावकत्वाख्यो व्यापारी जन्यते । अतस्तत् द्वितीयेन तत्तुल्य-
कक्षेण पुरुषनिष्ठत्वेन शब्दात् जायमानत्वेन च तुल्यकक्षता । तदुक्तं “लिङ्गोऽभिधा
सैव च शब्दभावनाभाव्या च तस्याः पुरुषः प्रवृत्तिः । सम्बन्धबोधः करणं तदीयं
प्रतीचना चाङ्गतयोपयुज्यते ॥” इति लिङ्गो जन्याभिधा इत्यर्थः । पुरुषप्रवृत्तिः

लौके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमाने अभ्यासपाटवतां काव्ये

तस्या भाव्या जग्या इत्यर्थः । पुनः कौटुम्बिकेन भावकत्वव्यापारेण ? विभावादिसाधारणीकरणात्मना रामादिसम्बन्धिना विभावादीनां सामाजिकसम्बन्धित्वरूपं राम-सामाजिकसाधारण्यं दर्शयता इत्यर्थः । काव्यनाट्याभ्यां विभावादिज्ञाने सति जायमानो भावकत्वव्यापारी रामादिर्यथा सीतादिस्तथा ममापीत्याह्वार्यज्ञानं सामाजिकानां जनयतीत्यर्थः । तदुक्तं दर्पणे “परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च । तद्वा-श्वार्दे विभावादेः परिच्छेदो न जायते ॥” इति । परस्येत्यादौ सर्वत्र परस्त्रैवेत्यादि-रर्थः । तेन सीतादावुभयसाधारण्यज्ञानं पर्यवस्यति । अत एव ममेवेति न ममे-वेति इत्यादिवकारगर्भेण सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनिवृत्तमाभावेन सीतादौ रामसा-माजिकयोः साधारण्यबोधमयोऽव्यभिचरव्यभिचरमते वक्ष्यति । मीमेन कौटुम्बिकः सत्वस्य सत्वगुणस्त्रीद्रेकेण गुणान्तरं विरोधायामभावेण या प्रकाशानन्दमयी स्वप्नप्रकाशानन्द-स्वरूपा संवित् ज्ञानं तस्या विश्रान्तिः सत्ताकृदभिहितभावत्वात् विश्रान्ता वृत्तमाजा संवि-दित्यर्थः । तत्सतत्त्वं न तत्स्वरूपेणैत्यर्थः । सतत्त्वस्वरूपयोः पर्यायः यथा “पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम्” इति विरोधालङ्कारोदाहरणे । अत्र मते पूर्वमते च रत्यादिसाक्षात्कारार्थं व्यापारान्तरकल्पनमप्रामाणिकमिति हृदयेन व्याचक्षाणस्य अभिनवगुणाचार्यस्य मतम् । स्वाभिमतमाह ।

लोक इति । अत्र “रामोऽहं सीताविषयरतिमान्” इत्याह्वार्यज्ञानं सामा-जिकानां प्रथमं व्यञ्जनयैव जायते । तत्र सीतादिविषयरामादिनिष्ठरत्यादिरारोपाधि-करणस्ववासनाख्यगुणविशेषविशिष्टज्ञानरूपं रत्यारोपांशं सविकल्पकं वासनात्वं इत्या-विषयकतया च वासनांशं निर्विकल्पकरूपं नृसिंहाकारं मुक्तिमति भवति मूलं रजतवदिति वत् । ततस्तत्समानाकार एव साक्षात्कारी रसो वासनांशं संयुक्तसम-वायेन रत्यादिरोपांशे तु व्यञ्जनाधीनोपभवेनेति निष्कर्षः ।

लोक इत्यादि । लोके संसारे प्रमदादिभिः रत्यादिकारणादिभिः स्थाय्यनो रत्यादेः अनुमाने अभ्यासपाटवतां सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितोऽर्थात् गुणविशेषः साधारण्येन रामादीनामिव सामाजिकानामपि सम्बन्धितारूपेण साधारण्येन प्रतीतैस्त्वेव रत्यादिकारणादिभिः सीतादिभिरलौकिकं परिभावादि-भावादिशब्दव्यपदेश्यैः स्थायिरत्यादिभिः व्यक्तः रामादिनिष्ठस्थायिरत्यादिरूपोऽभि-व्यक्तो व्यञ्जनया प्रतिपादित इत्यर्थः न तु वासनारूपगुणविशेषविशेषणमेव स्थायीति

नाय्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारव-
च्चात् अलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः ममैवैते शत्रोरैवैते
तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरैवैते न तटस्थस्यैवैते इति
सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन
प्रतीतैः अभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी
रत्यादिको नियतप्रमाद्वगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात्

बोधं तस्य स्थायित्वेनापरिभाषितत्वात् । अनेन सवासनायां रामादिरत्याद्यभेदा-
रोप उक्तः । तादृशः सन् प्रमादा सौतादिविषयरतिमान् रामोऽहमित्याकारिकया
वासनांश्च धर्म्यंश्च च प्रमया साधारण्येन रामादिरत्याद्यभेदेन गोचरीकृतः स न रस
इत्यन्वयः । स्ववासनायां व्यञ्जनया रत्याद्यभेदारोपमुक्त्वा अनेन तथैव साक्षात्कार-
रूप आरोप उक्तः रत्युपनयार्थं प्रथमं व्यञ्जनास्वीकारः । स च स्वस्मिन् रतिमद्रा-
मभेदारोपरूपविशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानरूप एवेत्यवधेयम् । तदुक्तं दर्पणे “व्यापारोऽस्ति
विभावादिनां साधारण्यैक्यतः । तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथीधिप्रवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥” इति । साधारण्यैक्यतः सामाजिके हनू-
मदादिनायकाभेदारोपरूपसाधारण्यकारकः । यस्य हनूमतः पाथीधिप्रवनादयः
आसन् तदभेदेन प्रमाता स्वात्मानं तस्य व्यापारस्य प्रभावेण प्रतिपद्यते इत्यर्थः ।
अत्र प्रमावेति कर्तृत्वजननिर्देशोऽपि भावप्रधानत्वात् प्रमापर एव न तु प्रमादपुरुषपरः
स्वाकार इवाभित्रीऽपीत्युक्त्या स्वाकारवादीकृतस्य विषयस्य गोचरीकारकज्ञानाभिन्नत्व-
दृष्टान्तत्वात् । तादृशसाक्षात्कारस्वीकारसाक्षादार्थमित्यवधेयम् । तादृशज्ञानस्य
प्रमालञ्च वासनात्वे हन्वाविशिष्टवासनांश्च धर्म्यंश्च च अत एव तादृशज्ञानस्य सवि-
कल्पनिर्विकल्पक्रीभयरूपत्वे दृसिंहाकारत्वस्यै व्यञ्जीकरिष्यति । तादृशी वासना
च न स्त्रीपुरुषाद्यनुरागाद्यनभिज्ञानां सामाजिकानामिति दर्शयन् तेषां विशेषणमुक्तं
लोक इति । कारणादिभिरत्यादिपदात् कार्यसङ्घकारिणोः परिग्रहः स्थाय्यनु-
माने रत्याद्यनुमाने । तदुक्तं दर्पणे “सवासनायां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुशाश्लसन्निभाः ॥” इति । कारणत्वादिपरिहारेण कार-
णादिशब्दव्यपदेश्यत्वपरिहारिणेत्यर्थः । विभावादीनां तादृशसंज्ञायां योगार्थमाह
विभावादीति । विशेषेण भावयति ज्ञापयति इति भावः । अनुभवं जनयति
इत्यनुभावः । विशेषेणाभितशारयति बोधयतीति व्यभिचारीति तथा चेद्विशयोगार्थे

तत्कालविगलितपरिमित-प्रमादभाववशोन्निषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्वा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकारे इव अन्नोऽपि गोचरीकृतः चर्ष्यमाण-तैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसम्यायेन चर्ष्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्

योगरूढान्येतानि पदानीत्यर्थः । एतत्प्रदर्शनञ्च स्वरूपकथनमात्रं न तु रसोत्पत्तौ संज्ञाया उपयोग इत्यर्थे बोध्यम् । साधारण्येन प्रतीतैरित्यस्य परिशेषेण सिद्धमाह इति सम्बन्धविशेषेति इत्युक्तरूपेऽ. सम्बन्धस्य विशेषेण स्वीकारपरिहारयोर्निर्णयनो दर्शितैवकाराण्येषूपभरस्यमध्यवसायादित्यर्थः । सम्बन्धस्य सीतादिविभावादौ रामादेः स्वस्य च बोध्यः । इतरव्यवच्छेदरूपनियमविषयकस्य स्वीयतादृशस्वीकारस्याकार-माह ममैवेति इति । एते विभावादयः भङ्गारे सीताद्याः हास्ये हसनीया दर्शयिष्यमाणपिण्डशर्मादयः कल्याणश्रित्यादर्शयिष्यमाणमृतनायिकादयः रौद्रे क्रोध-विषया दर्शयिष्यमाणार्जुनादयः वीरे जितत्या दर्शयिष्यमाणरावणादयः भयानके भीतिजनका दर्शयिष्यमाणदुःभन्तादयः वीभक्तशुश्रुता दर्शयिष्यमाणप्रेतादयः अद्भुते विस्मयविषया दर्शयिष्यमाणमहापुरुषादयः शान्तेऽवसानीयं स्वमेव दर्शयिष्य-माणशान्तपुरुषः एवं तदुद्देश्यकानुभवादयश्च । ईदृशस्य सामाजिकसम्बन्धविशेष-स्वीकारनियमनस्य अनध्यवसायादित्यर्थः । एवं यस्य यस्य नायकस्य रामादेः सीतादयो विभावादयस्तस्य तस्यापि स्वस्य इव तेषु सम्बन्धविशेषस्वीकारानध्यवसायं दर्शयति शरीरेवैते तटस्थस्यैव एते इति हिधा विभज्य उक्ताः । तथाहि रौद्रे यस्य नायकस्य अन्त्यामादेः क्रोधः स चालम्बनस्यार्जुनादेः शत्रुः वीरे यस्य नाय-कस्य इन्द्रजिदादेः जितुमुत्साहः स चालम्बनस्य रामादेः शत्रुः भयानकस्य मगार्देभयं स भयजनकस्य चालम्बनस्य दुःभन्तादेः शत्रुरिति रसवये त्रयो नायका चालम्बनस्य शत्रवः अन्यरसेषु च नायकालम्बनस्य शत्रुत्वोदासीनास्तस्य एवं शत्रुतटास्थाभ्यां सर्वे नायका उक्ताः । तस्य तस्य च एदंविशेषस्वीकारनियमानध्य-वसायादित्यर्थः । एवं तन्मात्वीयन्ताभावस्वीकाररूपस्य सम्बन्धविशेषनिवमपरि-हारस्याप्यनध्यवसायमाह न ममैवेति इति यन्मात्रस्य नेत्यर्थः । एवं शत्रुतटस्थयो-रपि बोध्यम् । इत्यननध्यवसाये सीतादौ रामादेः स्वस्य च सम्बन्धित्वरूपं साधा-

अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्त्रादमिव अनुभावयन् अलौ-
किकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः । स च न कार्यः विभा-
वादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवंप्रसङ्गात्, नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य
तस्यासम्भवात् । अपितु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः । कार-

रण्यं पर्यवस्यति तदाह साधारण्येन प्रतीतैरिति । अत्र स्वसम्बन्धितया सीतादि-
प्रमाता सामाजिकसद्गतत्वेन स्थितोऽपि साधारणस्य दर्शितरीत्या रामसामाजिकी-
भयसम्बन्धितया प्रतीतरूपसाधारणीपायस्य सीतादिविभावादेर्बलात्साधारण्येन
रामादिरत्याद्यभेदेन प्रमाता प्रमया गीचरीकृत इत्यर्थः । स्ववासनायां रत्याद्यभेदा-
रूपे इत्यादावपि स्वीयत्वं भाषते इत्यभिप्रायः । उक्तं च दर्पणे “साधारण्येन रत्यादि-
रपि तद्वत्प्रतीयते” इति न केवलं सीतादिरेव स्वसम्बन्धितारूपसाधारण्येन प्रतीयते
अपितु रत्यादिरूपतद्वदित्यर्थः प्रमाताकेन प्रमाता कीदृशेन तत्कारणं प्रतीत्यन्ति-
कालं विगलितं यः सामाजिकस्य परिमितप्रमादभावे रामादिरत्याद्यनाश्रयत्वेन
स्वयाहिताराहित्यं रामादिरत्याद्याश्रयत्वं नैव वासनायाह्वस्वरूपपरिच्छिन्नताश्रयत्वा-
रूपोऽपरिच्छिन्नताकी यस्य तादृशेन परिमितभावी हि ज्ञानस्य स्वयाहिताराहित्यं
रामादिरत्याद्याश्रयत्वं नैव स्वयाहितनिमित्तं यावत् । तदर्थेन तदधीनतया उन्मी-
यितो जाती विषयान्तरविषयतारूपेण वेदान्तरसम्यक्केषु शून्योऽपि परिमितभावी वासना-
त्वेनैव वासनायाह्वस्वरूपपरिच्छिन्नता शून्यकारणोऽपरिच्छिन्नता ये यस्य तादृशेन
परिमितभावी हि ज्ञानस्य तत्वेन तद्वत्विषयकतावासनया रामादिरत्यादित्वेन
यहं न तत्त्वगलनम् एतादृशरूपे सर्वसामाजिकानुभावं प्रमाणयन् प्रमातेत्यस्य
विशेषणान्तरमाह सकलन्ति । एकेन गृहीतव्यापरेणापि यहः संवादः साधारण्येन
रामादिनिष्ठरत्याद्यभेदेन रामादिरत्याद्यभेदेन अभिबन्धः वासनात्मकगुणविशेषः
कीदृशः ? आभन्नीऽपि प्रमादतोऽभिन्नीऽपि परिणामवादाभिप्रायेणैदमुक्ते वासना-
रत्याद्योरेव तादृशप्रमात्वेन परिणतत्वाङ्गीकारेण अभिनोऽङ्गीकारात् । तत्र स्वाकार-
णादे दृष्टान्तमाह स्वाकार इवेति ज्ञानरूपः आकारादप्यथा न तु ज्ञानाद्भिन्न इति
ब्रह्मन्तं चर्व्यमाणेति प्राणी रसता चर्वणा च साक्षात्कारः चर्वणादशयामेव रस
इत्यर्थः । एतादृशमात्कारश्च काव्ये शब्दस्य नास्तीति प्रत्यक्षस्य विभावादिज्ञानस्य
स्थितिपर्यन्तमेव तिष्ठतीत्याह विभावादीति विभावादिज्ञाने इत्यर्थः । एतच्च

कज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टम् ? इति चेत्, न क्वचित् दृष्टमिति
अलौकिकमिद्वेभूपणमेतत् न दूषणम् । चर्वणानिष्पत्त्या तस्य
निष्पत्तिरूपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिकप्रत्यक्षादि-
प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहित-
स्वात्ममात्रपर्यवमितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तर-
स्वसंवेदनगोचर इति प्रत्ययोऽप्यभिधीयतात् । तद्ग्राहकञ्च न

इथी तस्य कालं नाशऽनुभवत्तलात् स्वीकृते विभावादिज्ञानमपेक्षात्रुद्विवदने कक्षणस्थायी-
त्यङ्गीकृतं तादृशमात्राकारस्य स्वसंवेदनमात्रतायाः वदयमाणत्वेन सात्वतमित्यत्र
प्रत्यक्षरूपत्वसतः सकलतादृशविषयनिर्गच्छ एव रस इति स्थिते तत्र दृष्टान्तमात्र
पानकेति । भस्मिचकर्पूरादिमिश्रिता आभिचा पानकं तदीयरसस्य नानाद्वयरसकूपी
विभिन्न एकत्वाभिमानेन यथा चर्व्यते तथा नानाविषयनिर्गच्छस्य स्वस्य एकीभावेन
चर्व्यमाणेत्यर्थः । तदुक्तं दर्पणे "प्रतीयमानं प्रथमं प्रत्येकं हंतुं शक्यते । ततः
संबन्धितः सर्वा विभावादिः सचेतसाम् । प्रमाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ॥"
इति । अलौकिके तु चमत्कार आस्तादः । स च रसस्वरूप एवेत्यती यद्यपि
तस्य तत्कारित्वानुपपत्तिस्तथापि वासनारूपतादृशायां कारणत्वं रसतादृशायां
कार्यत्वं परिणामवादाश्रयणात् शीध्यम् । "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगादर-
सनिष्पत्तिः" इति भरतकारिकया विभावादीनां ज्ञानस्य रसं प्रति हंतुत्वम् । रसे च
तत्तत्तत्कालं पञ्चम्या प्राप्तम् । तर्हि तु कत्वञ्च तत्कार्यत्वं तत्ज्ञाप्यत्वं वा इयमपि अन्व-
विलक्षणमिति साधयितुं कार्यान्तरवैलक्षण्यात् विभावादिज्ञानकार्यत्वाभावमापा-
ततः साधयति स चेति । न कार्यो न विभावादिज्ञानकार्यः । ज्ञाननिष्ठाज्ञान-
कार्यता हि जनकज्ञाननाशक्षणस्थायिता व्याप्ताऽती विभावादिज्ञानकार्यत्वे विभा-
वादिज्ञानविनाशक्षणेऽपि रससम्भवस्य रसस्थितेः प्रसङ्गादित्यर्थः । इयोरैकदेव
नाशस्थानुभविकस्य विभावादिजीवितावधिरित्यनेन उक्तत्वात् । विभावादिपदञ्च
तज्ज्ञानपरम् । इत्यन्यसाधारणं विभावादिज्ञानकार्यत्वमापाततः स्वसंवेदन-
अन्यसाधारणं तज्ज्ञानस्य स्वसंवेदनमपि स्वसंवेदनमपि जाप्य इति । परेण साक्षात् ज्ञाप्य
रूपकार्यो हि स्वज्ञानात् पूर्वं स्थितो भवति आलोकादिज्ञाप्यघटादिवत् सिद्धस्य
स्वज्ञानात् पूर्वं स्थितस्त्यर्थः । स्वसंवेदनमात्रसिद्धो हि रत्यादिसाक्षात्कारात्मको

निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् । नापि सविकल्पकं चर्च्यमाणस्य अलौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । उभयाभावस्वरूपस्य च उभयात्मकत्वमपि पूर्ववत् लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः ।

रसः न तादृश इत्यर्थः । ननु तत्पूर्वमस्याधिगन्तव्यस्य कदा सत्ता ? इत्यादाह अपि-
त्विति । चर्चणीयः सन्नेव रस इति शेषः । तथाच तद्दृशापन्नस्यैव रसत्वे मतस्य
विभावादिज्ञानजन्यज्ञानान्तरेणाद्यद्वाप्रस विभावादिज्ञानज्ञाप्य इत्यर्थः । ननु रसस्य
विभावादिज्ञानजन्यत्वज्ञाप्यत्वाभावे साधिते विभावादिज्ञानेऽपि तद्धेतुत्वाभावः
साधितो भवति तथाच विभावानुभावेत्यादि भरतसूत्रात् कथं विभावादिज्ञानस्य
रसनिष्पादकत्वसुक्तम् ? इत्याशङ्कते कारकज्ञापकैति । अलौकिकैति अलौकिक-
सिद्धेर्लौकिकव्यवहार्यान्वपदार्थविलक्षणसिद्धेः । तथाच लोकादृष्टसाधारणकार्यता-
ज्ञाप्यतानिरासात् रसे विलक्षणकार्यत्वज्ञाप्यत्वयोः सिद्धेः विभावादिज्ञाने च
तद्धेतुत्वस्य विलक्षणस्य सिद्धेर्लौकिके अदृष्टत्वं भूषणमित्यर्थः । एवञ्च रसे विभा-
वादिज्ञानकार्यत्वज्ञाप्यत्वे विभावादिज्ञाने च तत्कारकत्वज्ञापकत्वे लोकादृष्ट-
साधारणे एव आपाततः खण्डिते वस्तुतस्तु तत्कार्यत्वज्ञाप्यत्वतत्कारकत्वज्ञापकत्वानि
लोकसिद्धान्त्येव तत्र तत्र सन्तीति हृदयेनाह चर्चणानिष्पत्त्येति । निष्पत्तिर्जन्यता
विभावादिज्ञाननाशच्छये रसस्य स्थित्यभावेऽपि विभावादिज्ञानोत्तरनिष्पन्नत्वय-
स्यान्वयव्यतिरेकयद्गुरूपत्वात्तत्तत्प्रत्ययतेत्यर्थः । उपचरितेति चर्च्यमाणरत्यादेरेव
रसत्वस्योक्तत्वात् रस्यंशे च विभावादिज्ञानजन्यत्वादुपचारः निष्पत्तेरित्युपचार-
हेतुरती निष्पत्त्या निष्पत्तिरिति अनन्वयस्य न प्रसङ्गः स्वज्ञानान् पूर्वमवस्थितत्वेऽपि
स्तेनैव स्वविषयीकरणरूपां ज्ञाप्यतामपि लोके दृष्टामिव साधयति लौकिकैति ।
लौकिकं यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणं चक्षुरादि तत्ताटस्थेन तन्नं रपेक्षेणार्थाद् योगधर्मादवबोध-
शाली यो मितपरिभाषितो योगी तस्य ध्यानरूपं यज्ज्ञानं तन्न वेद्यान्तरस्य परमात्म-
तरविषयस्य संस्पर्शेन रक्षितं स्वात्मनाचपर्यवसितस्य परमात्मादेतयादिहः परि-
मितेतरयोगिनः संवेदनं ज्ञानं ताभ्यां विलक्षणस्य लोकोत्तरस्य लौकिकज्ञानविल-
क्षणस्य स्वसंवेदनस्य स्वात्मकसंवेदनस्य स्वयमेव बोधर इति प्रत्येतव्योऽप्युच्यता-
मित्यर्थः । इदानीं तृसिंहाकाररूपस्य तस्य वासनांशे निर्विकल्पकत्वस्याप्यारोप-

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराङ्गुतरौद्राणाम्,
अश्रुपातादयः अनुभावाः शृङ्गारस्येव करुणभयानकयोः । चिन्ता-
दयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीरकरुणभयानकानामिति
पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः ।

रामायरोपांशे च सविकल्पकमस्त्विति हृदयन निर्विकल्पकान्तरवैलक्षण्यात्
निर्विकल्पकत्वाभावं सविकल्पकान्तरवैलक्षण्यात् सविकल्पत्वाभावज्ञापाततः साधयति
तदयान्तकमिति । यद्वाद्याङ्गकयोरिकत्वात्तदात्मकी यद्वा इत्यर्थः । विभावादि-
परामर्शति परामर्शी ज्ञानं प्रधानं जनकं यस्येति बहुलोहिष्ठा विभावादिज्ञानजन्यत्वा-
दित्यर्थः । ज्ञानाजन्यं हि अज्ञाननिर्विकल्पकं तद्विरुद्धत्वात् न निर्विकल्पकमित्यर्थः ।
अतोऽत्र रत्यादिबैशिष्यविषयत्वादिति हेतुः सम्भवन्नपि नोपातः स्वसंवेदनेति
स्वात्मकसंवेदनेन मित्वाद् यद्वात्वादित्यर्थः । यो हि ज्ञानयाहिंसविकल्पकीऽन-
व्यवसायात्मायाद्वा स्व व्यवसायस्य तद्विज्ञत्वमेव लीकदृष्टसाधारणं एतदयान्तकस्यैत-
यद्वाभिन्नत्वेन लीकदृष्टवैलक्षण्यस्यैतदयान्तकस्य न सविकल्पकमित्यर्थः । आंशिकोभय-
रूपत्वमिति हृदयमिदानीमादिष्कृवंते उभयेति उभयोर्निर्विकल्पकसविकल्पकदोष-
भावौ कुर्येते ज्ञायते यत् इति अधिकरणे चत्वा उभयाभावविशिष्टेत्यर्थः । अभावपटं
वा भिन्नपरं उभयभिन्नरूपस्त्वैत्यर्थः न तु विरोधमित्यत्रापि अवगमयतीत्यस्यान्वयः ।

भरतः के विभावानुभावव्यभिचारिणां इन्द्रवशात् साहित्यप्राप्ता परस्परसहि-
तानां रसनित्यादकत्वमिति सुनेरभिप्राये वीजमिदानीमाह ।

व्याघ्रादय इति । भयानकस्येव वीराङ्गुतरौद्राणां अपि व्याघ्रादयो विभावा
इत्यन्वये व्याघ्रादीनामेतत्तदुपसंख्यसाधारणं विभावत्वं विधेयं एवमुत्तरत्रयेऽप्यनुभावत्व-
व्यभिचारित्वे विधेये बोध्ये । वीरस्य तन्मारणीत्साहंन विधेयं जन्तुज्ञानात् विधेयं न
प्राणिहिंसकत्वज्ञानात् क्रोधेन च तस्य तत् हिभावत्वसिद्धेः वीरस्य योग्यविभावावनिर्जितं
चिन्ता तस्या वीरोत्साहव्यभिचारिभावत्वं बोध्यम् । पृथगनैकान्तिकत्वादिति
अनैकान्तिकत्वमन्वयकसाधारण्यं पृथक् प्रत्येकस्य अनेकभयानकादिरसहस्येषु
फलेषु जनकतासाधाराख्यात् परस्परप्रतिबन्धेनैकस्यापि फलम्यानुदयप्रसङ्गादित्यर्थः ।
मिलिता इति । तेन एवं विधाने ऐकान्तिकस्यैकस्य निर्देशसत्त्वेऽप्यव्यभिचार्य-
परमिलनाप्रतिनियतरसव्यञ्जकमिति भावः । ननु अनैकान्तिकेनाव्यभिचार्यपरा-
पेक्षा युक्तेव अन्यथा प्रतिनियतफलानुत्पत्तेः अव्यभिचारिणा तु अनैकान्तिकपरा-

वियदलिमलिनाम्बु गर्भमेघं,
मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः ।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का,
प्रणतिपरे दयिते प्रसीद सुग्धे ! ॥

इत्यादी

परिमृदितमृणालीम्नानमङ्गं, प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।

पेक्षरूपं मिलनं किमर्थं स्वीक्रियते एकैर्नैव प्रतिनियतरसव्यञ्जनसम्भवादिति चेन्न । अन्यव्यतिरेकमिहकारणकस्य तस्यापेक्षां विना अव्यभिचारिण एकस्मात् फलानु-
त्पत्तेः । नन्वेवं यत्रान्यतरस्यैव निर्देशो न मिलितानां तत्र कथं रसोत्पत्तिः ?
इत्यत आह ।

वियदलीत्यादि श्लोकत्रयं यद्यपीत्यादिना वक्ष्यमाणेन निर्दिष्टानां विभावाना-
मनुभावानामात्मुक्त्वादिव्यभिचारिणाञ्च यथासङ्गं श्लोकत्रये स्थितिरिति बोध्यम् ।
वियदलीत्यादि हे सुग्धे ! कार्याकार्यानिभिन्ने प्रसतिपरे दयिते सति एवं प्रसीद
तदैव तव गौरवरचा स्यात् स्वयं प्रसादे तु न गौरवरचा स्यादिति भावः । स्वयं-
प्रसादस्य हेतुन् दर्शयति वियदिति । अलिमलिनीऽम्बु गर्भा मेघो यत्र वियत्तादृशम्
अनेनीहीपकेनीङ्गमुखीस्यातुं न शक्यसीति सूचितं मधुकरा एव कीकिला सम्भव-
त्वात् तेषां कूजितैर्दिशां श्रीजातिति शेषः । अनेनीहीपकेन दिशः पश्यन्ती तिर्यक्-
सुखी स्यातुं न शक्यसीति सूचितम् अभिनवाङ्कुरा एव अङ्कस्थिताष्टङ्काः पाषाण-
दारणा यस्यां धरणिस्तादृशी पाषाणदारणत्वेन पाषाणतुल्यकठिनमानिनीजन-
हृदयस्यापि दारणत्वं सूचितम् अभिनवाङ्कुरस्यात्यन्तीहीपकत्वात् तेषां सुख्यपि
स्यातुं न शक्यसीति सूचितम् अत्र मानिनीनिष्ठरतेनायक आलम्बनं मेघादयो
नायकप्रणतिश्च उद्दीपनानीति विभावानानीय स्थितिः ।

परिमृदितेति । प्रकरणीपात्ताया मालत्या अङ्गं परिमृदिता प्राप्तमदी
मृणालीव म्लानं क्रियासु परिवारस्य सुखीजनस्य प्रार्थनाभिर्वह्नीभिरैकैव कथमपि
प्रवृत्तिरित्यर्थः । क्रियायामिति पाठे तु क्रियायामेकस्यां प्रवृत्तिरित्यर्थः । अभि-
नवति ऋदविशेषणम् अभिनवच्छिन्नेत्यर्थः तस्याधिकपाण्डुत्वान् अत एव सद्यः

कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥

इत्यादौ

कृतद्विरददन्तच्छेदगौरस्य निष्कलङ्कस्य चन्द्रस्यैव रमणीयः कपोलः अवाङ्मन्या-
दीनां मालतीनिष्ठरत्यनुभावानामिव स्थितिः । दूरादित्यादि निराकरणेन प्रसा-
दनाश्रित्या अपक्रान्तस्य नायकस्य पुनरागमने जातभावाया मानिन्याः चक्षुः क्रिया
वर्णनमिदं दूरादिति सप्तम्यर्थे पञ्चमी । तथाच जातागसि प्रियमि दूरं स्थितं चक्षु
कृतसुकमीसुक्यसूचकं सहस्रांप्रसारणरूपक्रियावदित्यर्थः । आगमने विलम्बासहिष्णुता
च श्रौत्सुक्यम् इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं काललेपासहिष्णुतेति तल्लक्षणात् आगत
सन्निहितोपस्थिते विवर्णितं किञ्चित् सङ्कीर्णतम् । तच्च निराकरणजत्रोडया
स्फारितं निराकरणाधीनतर्हिसुखसम्भावनापगमेन हृषात् चाटुं विनैवार्थं पूर्व-
कीपाविर्भावादरुणम् अज्ञिता आकृष्टिता भूलता चाटुं दिनैव उत्तरोत्तरप्रवृत्त्या
अमयया सा च अमर्षरूपव्यभिचारिभावात्मनः कीपात् भिन्नः “मिन्दलेपापमानदि
रमपीडमिनिविष्टता” इत्यमर्षस्य अमयात्यगर्थाद्दोषनानामौ इत्यादसहिष्णुतित्यमयायात्र
नक्षत्रभेदात् वसनयहणरूपाया नायकादिरेवाव असहिष्णुता बोध्या । व्यतिकरः
समूहः ईक्षणपदमत्र गोलकपरं चक्षुः पदं तजःपरम् अत्यक्षणीक्षणधीर्भेदः पूर्णं
क्षणादिति पाठल्लनुपपत्तिरहित एव वाग्यान्वुपार्णता च कीपीतरप्रसादान् तथैवानु-
भवसिद्धत्वात् । प्रसादश्च व्यभिचारिभावमध्ये हर्षत्वेन गच्छितोऽवधेयः । पूर्वोक्त-
श्लोकव्ययं यथाक्रमं विभावानुभाववत् श्लोके च तत्तत्क्रियायां दर्शितान् व्यभि-
चारिभावान् केवलान् दर्शयति यद्यपीत्यादि । केवलानान् इति असमभ्नागमित्यर्थः ।
तेन विषदलीत्यादौ नायिकाप्रसादस्य कीपत्यागदपत्तेरनुभावस्य हर्षरूपत्वे तु
व्यभिचारिभावस्य स्थितावपि दूरादुत्सुकतामित्यादौ च नायिकारतैर्व्यभिचारिणा-
मिवालम्बनस्य प्रेशसस्तदागमनसंश्लेषादीनामुद्दोषनानाञ्च स्थितावपि केवलत्वं न च
त्रीडादीनामपि व्यज्ञत्वात् । कथं शब्दावाच्यत्वेऽपि स्थितिरव्यथा व्यज्ञस्यापि
स्थितत्वे सर्वत्रैव वितयासम्भवेन केवलत्वव्याघातादिति वाच्यम् ? विवर्णितत्वादीना-
मनन्यप्रयोजनत्वेन अटिति द्रोडादिप्रत्यायकत्वात् त्रीडादीनामनुदत्त्वेन वाच्याय-
मानत्वात् वाच्यत्वैव्यभिप्रायात् असाधारणत्वादिति विषदगोत्यादौ प्रसादप्रार्थनया
दूरादुत्सुकमित्यादौ तु शब्देनैव मानिनीत्वलागे परिचयितेत्यादौ च प्रकरणा-

दूरादुत्सुकमागते विवलितं, सम्भाषिणि स्फारितं,
संश्लिष्यत्यरुणं, गृहीतवसने किञ्चाञ्चित्भ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वास्याम्बुपूर्णक्षणं
चक्षुर्जातमहो ! प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥
इत्यादौ च

यद्यपि विभावानामनुभावानामीत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासू-
याप्रसादानाञ्च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाप्येत-
षामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिक-
त्वमिति । तद्विशेषानाह

द्विरद्विणीत्वलाभे तत्तद्विभावादीनां शङ्कारमात्रीयत्वनिर्णयादसाधारण्यम् अन्यतम-
दर्थेति हयत्वम् अकिञ्चित्करम् अनुपात्तापराक्षेकत्व इत्यर्थः । आक्षेपश्चात्र व्यञ्जना ।
तथाहि विद्यदलीत्यादौ प्रसीदित्यनेन कोपत्यागहर्षयोरनुभावव्यभिचारिणीरिक्तस्य
वाच्यत्वमन्यस्य तद्विश्लमिति वितथसत्वम् । परिच्छदितेत्यादौ चाङ्गस्त्रान्यायन्यस्य
कष्टप्रवृत्त्या आलम्बनस्य कपीलपाण्डुत्वेन चिन्तायाश्च व्यभिचारिभावानां व्यञ्जना-
चिन्तयैव चिन्त्यस्य माधवस्यालम्बनस्य व्यञ्जनवितथसत्वम् ।

दूरादित्यादौ तु व्यञ्जं हर्षव्यञ्जमङ्गदानादिकमनुभावः प्रेषान् तत्प्रवृत्त्यादयश्च
विभावादय इति वितथं सत्वम् । अत्र व्यभिचारिभावविभावयोरिव विवलितत्वा-
दीनामनुभावानामपि शब्दीपात्तत्वादेव समस्तस्थितौ कथमाक्षेप इति केचित्
दूषयन्ति तत्र । विवलितत्वादीनां व्रीडादरेवानुभावत्वात् न तु रतेरिति दीर्घान्नामे
स्वयमेव प्रकाशयिष्यमाणत्वात् तद्विशेषान् रसविशेषान् शङ्कारहास्येत्यादि नाद्ययस्य
कारिकत्वात् नाद्य इत्युक्तं काव्येऽपि इत्यपि बोध्यम् । एषां लक्षणाणि विभावा-
दयश्चोक्ताः ।

अन्यत्र तत्र शङ्कारस्य यथा ।

शङ्गं हि मन्मथीर्द्धे हस्तदागमनहेतुकः ।

उत्तमप्रकृतिप्रार्थो रसः शङ्कार इष्यते ॥

परीदा वर्जयित्वा तु वेश्वाद्याननुरागिणीम् ।

आलम्बनं नायिका स्युर्दक्षिणायाश्च नायकाः ॥

शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः ।

बीभत्साद्भुतसञ्ज्ञौ चैत्यष्टौ नाय्ये रसाः स्मृताः॥२६॥

अन्धचन्दनरोलम्बकताद्युद्दीपनं मतम् ।

अव्चिपेकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ।

त्यक्तीग्रमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः ।

स्थायिभावी रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदेवतः ॥ इति ।

तदागमनहेतुक इत्यत्र बहुव्रीहिन्या मन्मदिद्रेडप्रान्तिजन्य इत्यर्थः । वीर-
रागादीनां शृङ्गाररसानुद्दीपनात् । वैश्यापनीदादयः रसाभासस्य आलम्बनामीति
बीध्यम् । नायिकांनिपरतेरालम्बनाभ्याश्च दक्षिणायामेति । दाक्षिणा धर्म-
आदिपदात् बालहृदयेगममर्थेति बीध्याः । रोलम्बा भमराः औश्यादित्यागः
सन्धोगशृङ्गार एव विप्रलम्बे तु ता अपि व्यभिचारिणी बीध्या । इध्या नायिकया
औश्यासम्भवात् जुगुप्सा चात्र स्वावमाननरूपी निर्वेदस्तस्यैव व्यभिचारिभावत्वेन
प्राप्तत्वात् सन्धोगशृङ्गारे तथ्योगात् यथा शृङ्गारे क्रोधस्यैव अन्धरयस्थायिभावस्याप्यन्व-
रसे व्यभिचारिभावत्वेन बीभत्सस्थायिभावस्य जुगुप्साया अपि अन्वरसे व्यभिचारि-
भावत्वाङ्गीकारेण शृङ्गारे तस्य त्यागः ।

हास्यस्य यथा । विकृताकारवाग्चेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।

हासो हास्यस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ॥

विल्लताकारवाक्चेष्टं यदालोक्य हृसीम्वरः ।

तदत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टीद्दीपनं मतम् ॥

अगुभावीऽक्षिसङ्गीचवचनखरितादयः ।

निद्रालस्याऽवहिन्याद्या अत्र स्युव्यभिचारिणः ॥ इति ।

करुणस्य यथा । इष्टनाशादनिष्टानेः करुणास्थो रसो भवेत् ।

धीरैः कपीतवर्णोऽयं कथिती यमदैवतः ॥

शीकोऽव स्थायिभावः स्याच्छीच्यमालम्बनं मतम् ।

तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥

अनुभावा देवनिन्दाभूपातक्रन्दनादयः ।

द्वैवर्ण्योऽहासनिश्वासस्तम्भप्रसपनानि च ॥

निर्वेदमीहीऽपस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।

विषादजङ्गतीन्मादचिन्ताया व्यभिचारिणः ॥ इति ।

रौद्रस्य यथा । रौद्रः क्रोधः स्यायिभावः रक्तो रुद्राधिदैवतः ।

आलम्बनमरिस्तव तच्च ष्टीहीपनं मतम् ॥

सुष्टिप्रहारपतनविकृतच्छेदावदारणैथैव ।

संयामसम्भ्रमाद्यैरस्थीहीतिर्भवेत् प्रौढा ॥

भूविभङ्गीष्ठनिर्देशबाहुस्फीटनतर्जनम् ।

आत्मावदानकथनमायुधीत्क्षेपणानि च ॥

अनुभावान्नाथान्नेपक्रूरसन्दर्शनादयः ।

उग्रताविगरीमाञ्चस्वेदवेपथवी मदः ॥

माहामर्षादयश्चाव भावाः स्युर्व्यभिचारिणः ॥ इति ।

धीरस्य यथा । उत्तमप्रकृतिर्वीर उन्माहस्यायिभावकः ।

महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समदाहृतः ॥

आलम्बनविभावाश्च विजितव्यादयो मताः ।

विजितव्यादिषेष्टाद्यास्तवीहीपनरूपिणः ॥

अनुभावान् तव स्यः सहायान्वेषणादयः ।

सञ्चारिणान् धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करीमाञ्चाः ॥

म च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्हति । रीमाञ्चस्य व्यभिचारिभावत्वा-
भावेऽपि तन्निदानहर्षपरमव रीमाञ्चपदं बोध्यम् ।

म चेति ।

दानवोगी धर्मवीरी युद्धवीरी दयावीरयेति चतुर्धा इत्यर्थः दानादिषु चतुर्ष्वप्यु-
त्साहासम्भवात् ।

भयानकस्य यथा । भयानको भयस्यायिभावः कालाधिदैवतः ।

स्वीनीचप्रकृतिः कृणी मतस्तत्त्वविशारदैः ॥

यस्मादुत्पद्यते भीतिमदलालम्बनं मतम् ।

चेष्टा घोरतणालस्य तदवीहीपनं पुनः ॥

अनुभावोऽव वैवर्ण्यगङ्गदस्वरभाषणम् ।

पुलकस्वेदरीमाञ्चकम्पदिक्रमेक्षणादयः ॥

जगुप्साविगसम्भीहसन्नासग्लानिदीनताः ।

तत्र शृङ्गारस्य द्वी भेदी, सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्र आद्यः
परस्परालोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वात् अप-
रिच्छेद्य एक एव गण्यते । यथा

शङ्कापञ्चारसंभान्ति मत्वाद्या व्यभिचारिणः ॥ इति ।

पुलकहेतुत्वादत्र पुलकीऽश्रूद्गमः तेन रामाञ्चस्य पृथगपादानम् ।

बीभक्षस्य यथा । जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभक्षः कथ्यते रसः ।

नीलवर्णी महाकालदैवतीऽयमुदाहृतः ॥

दुर्गेश्चमांसपिशितमेदांस्त्यालम्बनं मत्तम् ।

तत्रैव क्लमिपातादिदृष्टौपनर्दाहृदम् ॥

निष्ठीवलास्यबलजनितमङ्गीचनादयः ।

अनुभासः च मतास्तत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥

सीङ्घोऽपस्मार आर्वगी व्याधिश्च मरणादयः ॥ इति :

तत्र स्युर्व्यभिचारिण इति यथादन्वितम् ।

अद्भुतस्य यथा । अद्भुती विस्मयस्थायिभावी मरुर्वदैवतः ।

पीतवर्णी बन्तुलीलातिशमाल कर्तुं मत्तम् ॥

गुणानां तस्य महिमा भवेत्तद्दीपनं पुनः ।

सम्भः स्त्रीदोऽथ रीमाञ्चगद्गदस्वरसंभमाः ॥

तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्त्तिताः ।

वितर्कत्रियसम्भान्तिहर्षादा व्यभिचारिणः ॥ इति ।

सम्भोगो विप्रलम्भयेति तत्र दर्शये ।

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेधेति विलासिनौ ।

यथानुरक्तावर्णान्धं स सम्भोग उदाहृतः ॥ इति ।

सम्भोगलक्षणं तच्च नायिकानाद्यकथीदेकसाचदर्शनाद्याभिव्यङ्गी सम्भोगेऽव्याप्तं
तथा रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टं सजुपैति विप्रलम्भोऽसाविति विप्रलम्भलक्षणञ्च तर्वाक्तं
तदर्था मानिन्या विप्रलम्भेऽव्याप्तततोऽन्यदेव लक्षणमाहुः । यथा—

सम्भोगः सुखसञ्चिन्ना विप्रलम्भस्तु दुःखयुक् ।

रतिसखीः प्रकर्षः श्यादाचक्षयात् सुखदुःखयोः ॥ इति ।

अनन्तभेदत्वादित्यनन्तभेदकात्वादित्यर्थः ।

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्मिद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्यक्षीं
सञ्जानन्मुखी प्रियेय हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

तथा

त्वं मुग्धाक्षि ! विनैव कञ्चुलिकया धक्से मनोहारिणीं
सख्यौमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्दीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितमुखो नेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥

शून्यमित्यादि । सञ्जानन्मुखी नायिका क्रमिक्या निर्दिष्टक्रियाधारायाः कर्त्री
प्रियचुम्बनस्य कर्मबोध्या । नखमुखीत्यत्र जाता इति अध्याहारादासीक्यस्य तद-
पेक्षया पूर्वकालता बोध्या सञ्जत इति सञ्जति पचाद्यच्प्रत्ययान्तं तदपेक्षयैवा-
सीक्येत्यत्र पूर्वकालतेति चक्रवर्णौ च च कदाचित् पत्युर्जागरणे भ्रष्टिति संवरणार्थं
त्रय्यौत्याने किञ्चित्त्वं जागरणवारणाय शनैस्त्वं मिद्राभिश्चये सुचिरं निर्वर्ण्य विश्रब्धं
पतिनिश्चयेन धृताश्वासं प्रौढत्वं व्यावर्तते बालेति तेन सख्योपपत्तिः प्रियेच्छेति निद्रायां
चुम्बनाद्वगतप्रियभावेनेत्यर्थः । अत एव हर्षात् हसतेति अनुरागलनिश्चयाच्चिर-
चुम्बनं नबोदात्वे तु चुम्बनादुद्देगः स्वात् चुम्बनस्य पत्युरधमर्षत्वेन सङ्घट्टिकतत्परि-
शोधनाय चिरचुम्बनमिति चक्रवर्णौ । अत्र हयीरेव परस्परालम्बनिके रतौ
सामाजिकेन स्ववासनायामारोपिते रसः हयीरेव निर्दिष्टः क्रिया स्वस्वरतेरनुभावाः
ता एव च परस्पररतेरुद्दोषानि शून्यवासगृहम् हयीरेव उद्दीपनं वाच्या सञ्जा
नाधिकारते व्यभिचारिभावः नायकरतेस्तु हास्यस्यैव हर्ष इति नायिकारतिप्रयोज्य-
भावकरताबुदाहृत्य नायक इति प्रयोज्य नायिकारताबुदाहरति ।

त्वं मुग्धाक्षीति । सखीजनसाहित्येन शयनागारं प्रविश्य शय्योपान्तनिविष्टायां
नायिकार्यां नायकनायिकासखीजनत्रयकृत्ववर्णनमिदं मुग्धाक्षीति । सौख्य-
साभाव तेन विनैवेत्यायुक्तिपुष्टिः कञ्चुलिकासन विधानपुष्टकं सखीं शोभां
बोटिकायन्यः सखीं आलीजनस्य नायिकैव तस्या सनपिधानन्यस्यज्ञेन हर्षात्
सकृतत्वं नेत्रोत्सवः ईदमोद्देगसिद्ध्या आलीजनस्यानन्दः सखीकवचनं नशाकार्य-

अपरस्तु अभिलाषविरहेर्थाप्रवासशापहेतुक इति पञ्च-
विधः । क्रमेण उदाहरणम्

प्रेमाद्राः प्रणयसृष्टः परिचंयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्लेषा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य वाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणात्
आशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥

शौरवकथनं नायिकाया लज्जामञ्जनवारणाय तथा करणं शनैर्निर्याणञ्च सहसा
निर्याणात् स्वक्रीडाप्रयोज्यनिर्याणजाने लज्जादवात् । अत्रापि हयोरेव रतिञ्चे
सामाजिके दर्शितरीत्या रसीर्वात्तः एतादृशीं क्रीडीकास्पर्शीं नायकरतेरनुभावी
नेवीत्ववन्तु नायिकारतेः परस्पररत्यनुभावा एत परस्पररत्युद्दीपनानि इदृशीं क्री-
नेवीत्वव्यङ्गां हर्षां दर्शयिष्येभिचारिणी । अपरस्त्विति । अस्यैतादृशपक्षीपाधिभिः
संकलनासम्भवादानव्याभाव इति हृदयम् । अत्र हेतुपदं ज्ञापकहेतुपरं न च
विभावानुभावव्याभिचारिण एव ज्ञापकोऽभिलाषादीनां कथं ज्ञापकत्वमिति वाच्यम्
अभिलाषस्य तत्रातीच्छाऽपस्य नायकानुपगमने उत्कण्ठारूपस्य विरहस्य पत्युरपचार-
प्रयुक्तसानुरागहेषरूपाया ईर्ष्यायाश्च अनुभावत्वेन ज्ञापकत्वात् भाविनी वर्त्तमानस्य वा
प्रियवैदेश्यरूपप्रवासस्य प्रियाप्राप्तिप्रतिबन्धकस्य शापस्य च उद्दीपनविभावत्वेन ज्ञाप-
कहेतुत्वात् रतिकालीनदुःखीद्दीपकत्वेनैव उद्दीपकत्वं रतिस्तु अनुरागः स च अभि-
लाषस्य हेतुभूता इष्टसाधनत्वेनातिशयज्ञानधारैव । तत्राभिलाषहेतुकमाह ।

प्रेमाद्रा इति । प्रसन्नानि माधवस्य पूर्वानुभूतरूपायां मालतीदृक्चेष्टायामिय-
माशंसा । मुग्धदृशो मालत्यास्तास्ताः पूर्वमनुभूताश्लेषा अर्थादृक्चेष्टा मयि भवेयुः ।
मुग्धदृक्त्वोपादानं दृक्चेष्टालाभार्यैव । क्रीदृशो दृक्चेष्टाः ? प्रेम्णाऽनुरागेण आद्राः
स्निग्धाः प्रेमभूचकस्वरूपविशेषवत्य इत्यर्थः । प्रणयो बन्धुता इत्युत्प्रेम्णाऽनुरागेण
परिचयीऽनेकवारदर्शनं तस्मात् य उद्गाढी रागस्तस्मादुदयी यासां तादृश्यः न तु
बहुप्रीङ्गिणा उद्गाढरागोदयजानका इत्यर्थः । तदा चेष्टाया एव हेतुत्वत्वाभि परि-
चयस्य हेतुत्वकथनानुपपत्तेः । निसर्गमधुराः स्वभावसुन्दराः चेष्टाः मयि भवेयुः ।
आशंसापरिकल्पितास्वः अन्तःकरणस्य आनन्दव्याप्ती लभः लीनता क्षणात् आनन्दम-
ग्नता भवतीत्यर्थः किमुत दृष्टासु इत्यर्थः । क्रीदृशो लयः ? वाह्यकरणानां चक्षुरा-
दीनां व्यापारप्रतिबन्धकः । अत्र माधवनिष्ठरतेर्मुग्धदृक्मालती आलम्बनं तदीयदृक्

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा, नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
 यो मां नेच्छति, नागतश्च हृह हा ! कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।
 इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
 बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥
 एषा विरहोत्कण्ठिता ।
 सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
 नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलिनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।

चेष्टाः पूर्वदृष्टाः उद्दीपनानि तादृशचेष्टाशंसाव्यञ्जनि मालतीप्राप्ताभिलाषिण अनु-
 भावेन व्यञ्जा मालव्याम् इष्टसाधनता ज्ञानधाराहृदानुरागात्मिका रतिः सामाजिकैः
 स्ववासनायामारीप्यमाणा विप्रलम्भ इत्यादिरीत्या उत्तरीत्तरेषु उदाहरणेषु बोध्यम् ।
 विरहहेतुकमाह ।

अन्यवेति । कृतसङ्केतस्य नायकस्य रात्रौ अनागमने तर्कयन्त्या नायिकाया
 वर्णनमिदम् । का कथा ? नैवेयं कथेत्यर्थः । मन्दिरक्तसुहृदाक्यादन्यत्र गमनमपि
 न सम्भाव्यमित्याह नाप्यस्येति । नेच्छति हेष्टि इत्यमनागमनहेत्वभावाऽपि फलं न
 दृश्यते इत्यतः खिद्यामि विस्मिता च भवामीत्यर्थः । अनागत इत्यादि प्रक्रम
 इत्यन्तं खिद्यामीति बहुकल्पनया यत्नाचित्ता गृह्याभ्यन्तरे बाला निशि निद्रां नाप्नोति
 इत्यन्वयः । कीदृशी ? निष्पन्नपार्श्ववर्त्तनसमूहा । स्वान्तं चिन्तम् । निशान्तं गृहम् ।

एषेति ।

प्रिया कृत्वा तु सङ्केतं यस्या नायाति सन्निधिम् ।

सा मनोभवदुःखात्ता विरहोत्कण्ठिता मता ॥ इति ।

तल्लक्ष्यं तादृशोत्कण्ठा च उक्तानेककल्पनया निद्राविरहश्च च व्यञ्जा नायिका-
 निष्ठरनेः अनुभावलेन व्यञ्जिकेति तद्देतुकत्वम् । विप्रलम्भस्य ईर्ष्याहेतुकमाह स्या
 पत्युरिति ।

सापराधे पत्यौ कीपरीतिम् अजानव्या नायिकायाः क्रियां त्रुवाषायाः
 सख्या उक्तिरियम् । प्रथमापराधीऽन्यनायिकासङ्गरूपापराधस्य प्रथमज्ञानम्
 अपराधप्राथम्यस्य निश्चयासम्भवात् सविभ्रामा या अङ्गवलिनाऽङ्गभङ्गिः या
 च वक्रोक्तिः तयोः सूचनं प्रकाशनं न जानाति इत्यर्थः अज्ञाने च सखीकर्तृ कीपदेशाः

स्वच्छैरच्छुः कपोलमूत्रगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
 बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥
 प्रस्थानं वलयेः कृतं, प्रियमखैरसैरजस्रं गतं,
 धृत्या न क्षणमामितं, व्यधमितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
 यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिताः
 गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ? ॥

भावी हेतुकः तदज्ञाने किं कर्मात् प्रत्यवाह स्वच्छैरिति । स्वच्छत्वादिविशिष्टैः
 अश्रुभिः ज्ञापकैः केवलं रोदिति एव इति ज्ञापने इत्यर्थः । अश्रुविमीचनरूपे रोपणे
 कर्मभूतानामश्रुणां चक्रवर्तिव्याख्यातकरणत्वानुपपत्त्या तृतीयायाः ज्ञापकनाथ-
 त्वात् तन्मीचने तर्कशश्रुस्य अर्थत एव सिद्धत्वेन विशेषणं तृतीयाया अपि अनुपपत्तेः
 केवलपदात् कोपनूचकक्रियान्तरव्यवच्छेद एवकारान् रोदनायोग्यव्यवच्छेदे सतन-
 रोदनलाभः कोपात् चक्षुषि अन्ननदानविरहात् अश्रुणां स्वच्छता चिन्तया पाण्डुत्वात्
 कोपेन स्वच्छता नैर्मल्लं रोदनेऽपि लज्जया परदर्शनशङ्कया नेत्रोत्पलपर्यस्तता
 अत्र नाधिकारनेरनुभाव उपनायिकायाम् ईर्ष्याज्ञापकी हेतुः । प्रवासहेतुकम् आह ।

प्रस्थानमिति । भाविनि पतिप्रवासे ज्ञाते नायिकाया जीवितं प्रति उक्तिरियम् ।
 उ भो जीवित ! प्रियतमे प्रीषिते त्वया अवश्यं गन्तव्यम् अतो यातुं निश्चितचेतसि
 प्रियतमे सति तव सर्वे सुहृदः समं सहैव प्रस्थिताः त्वयापि गन्तव्ये सति प्रिय-
 सुहृद्गर्गः किं त्यज्यते ? तस्माद्दित्येनैव गम्यतामिति भावः । निश्चितेति मत्वर्थत्वात्
 कर्त्तरि क्तः । सुहृदां प्रस्थानं दर्शयति प्रस्थानमिति । बहुदिनव्यापकैतदात्तया काश्चां-
 हस्रयानि भट्टानीत्यर्थः । एकशरीरसम्भित्वाच्च । प्रियसुहृत्वम् एव मसादीना-
 नपि अस्मिन् पुनः प्रियसखत्वीपादानमधिकसौहार्दं ज्ञापनार्थं तच्च प्रियेण अपमानि-
 ताया जीवितव्यागीयमे रोदनमेतदश्रुदर्शनेन आर्द्रेण प्रियेण चाटुकरणे जीवित-
 रक्षणा सरचाकारित्वेन उपपद्यते एकहृदयवासित्वाद्दिकसौहार्दमिति तु चक्रवर्ती
 तत्र । असाक्षां चक्षुष्येव दर्शनात् हृदयवासे प्रमाणाभावात् धृतरपि तथात्वाच्च ।
 चित्तेन तु पुर एव भन्तुं व्यवसितं प्रस्थितन्तु समानमेवेत्यर्थः । अतः समं
 प्रस्थानस्य चित्तेऽपि न अनुपपत्तिः अत्र उद्दीपकी ज्ञायमानपतिप्रवासी नायिका-
 रतिव्यञ्जक इति अस्मिन् ज्ञापकी हेतुः । ज्ञापहेतुकमाह ।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
 आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
 अस्मैस्तावन्मुहुरपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
 क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥
 हास्यादीनां क्रमेण उदाहरणम् ।

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वैश्या
 मन्त्रान्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।
 तारस्वरं प्रथितयत्कमदात् प्रहारं
 हाहा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥

त्वामालिख्येति । मेघद्वारा स्वनायिकां प्रति भर्तृशापप्रतिरुद्धतत्पार्श्वगमनस्य
 यक्षस्य उक्तिरियम् । प्रणयकुपितां त्वां शिलायां धातुरागैरालिख्य तव चरण-
 पतितमात्मानं कर्तुं यावदिच्छामि तावदुपचितैर्वाप्यैः मे मम दृष्टिः मुहुरालुप्यते
 अतः क्रूरः कृतान्तो देवं तस्मिन् कालेऽपि नौ अवयोः सङ्गमं न सहते इति अन्वयः ।
 कुपिताया रक्तत्वाद्धातुरागैः लिखनम् श्रीज्वलार्थं शिलायां लिखनं चरणपातश्च
 इयमपीच्छाविषय एव लेखोऽपि न निष्यद्यते इति भावः । लेखनिष्पत्तौ चरण-
 पातांशः एव इच्छाविषय इति केचित् चरणपातोऽपि लेखरूपस्य आत्मन एव इत्यपरे ।
 कृतान्तो यमसिद्धान्तैवाकुञ्चलकर्मस्विति कोषः । अवालुप्यत इत्यन्तेन निरा-
 काङ्क्षवाक्येन रसव्यञ्जन एव रसस्याप्यङ्गिसाकाङ्क्षत्वेन अङ्गत्वात् यथा उदाहरिथ-
 माणे माने कोपपराङ्मुखीत्यादौ यदि च निराकाङ्क्षवाक्यत्वेन अमृयाया अपि
 अङ्गित्वमनुभवेनावगाह्येते तदा अङ्गाङ्गिभावापन्नानुयारससङ्करध्वनिः अपि अत्र
 रसस्याङ्गत्वेन रसध्वनितया उदाहृतमिति बोध्यम् । अत्र यच्चरते शापकी हेतुः
 भर्तृशापः शापाङ्गतिप्रतिबन्धे अनुरागवृद्धौ यच्च शापादेवं कथयतीति जानतामेव
 सामाजिकानां शापवर्षनीयतदीयरतिज्ञानात् शापाज्ञाने तु प्रवासहेतुकमेव इदम् ।
 अत्र श्रीकवाक्यं चरणपातादिकञ्चानुभावः नायिका आलम्बनं तत्कीप उद्दीपनं
 कृतान्तोऽमृया व्यभिचारिभावः यच्चरतिः स्थायिभावः, तज्ज्ञे सामाजिके रसीत्यपि ।
 हास्यरसमुदाहरति ।

आकुञ्चेति । हतोऽहमित्यन्तं विष्णुशर्मणः रोदनकालीनीत्याकारः इति

हा मातस्वरिताऽसि कुत्र ! किमिदं ! हा देवताः ! काशिषः ?
धिक् ! प्राणान् पतितोऽग्निः, हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।

इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिरः
चित्रस्थानपि रोदयन्ति, शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकं

मनुजपशुभिर्निर्मर्त्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।

नरकरिपुणा साङ्गं तेषां सभीमकिरीटिनाम्

अयमहमसृङ्घ्मेदीमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥

श्रुवाणो रोदिति अश्रूणि भीचयतीत्यर्थः । प्रतिपदं प्रत्यवगवरूपं प्रतिस्थानं मन्वा-
म्भसां प्रषतैः पवित्ते मृद्नु इत्यर्थः । शुक्लं लाला । अत्र एतत् वक्तृवृत्तिरूपमनौयत्
ज्ञानरूपी हासः स्याद्यिभावः रोदितोत्युक्तिरेवं तद्गङ्गा वदनस्मेरतादित्य अनुभावात्
तद्गङ्गा चपलता अवहृत्या च व्यभिचारिभावां विष्णुशर्मा आलम्बनं तद्गङ्गादत्तम्
उद्धीपनम् । हासञ्च सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

करुण सुदाहरति हा मातरिति । मदालसायां दह्यमानायां पीरस्त्रीरुदित
वर्णनमिदम् । पौराङ्गनानामित्यं गिरः चित्रस्थानपि रोदयन्ति भित्तीरपि शतधा
कुर्वन्ति इत्यन्वयः । गिरः कीदृश्यः ? घर्घरामध्यरुद्धाः करुणाश्च ता इति कर्मधारयः ।
बहुरोदने तु स्वरभङ्गाद् घर्घराः श्रमात् मध्यरुद्धाः करुणाः कातथ्येऽचिका न त
करुणरसप्रतिपादिका इत्यर्थः । रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वदीपत्वापत्तेः किमाकारमाह

हा मातरित्यादि । त्वरितासि कुत्र त्वरया गतासि इदृशदुःखे अपि अनश्वरेषु
स्वप्राणेषु शीघ्रनश्वरेषु मृतायां प्राणेषु च धिक् प्राणानिति निन्दा दृग्दाहे आका-
रानुपलब्ध्या श्लोकाधिक्यसूचनाय तदुपादानं रुदतीनां दुःखविशेषरूपः श्लोकः
स्याद्यिभावः रुदितं तदनुभावः घर्घररुदितमचितः शमी दैव्यादिकञ्च व्यभिचारि-
भावः मृता आलम्बनं तद्गङ्गाहादिरुद्धीपनम् । श्लोकञ्च सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

रौद्र सुदाहरति कृतमित्यादि । स्वयंमृतद्रीणशिरश्चेदक्रुद्धस्य अश्वत्थामः उक्ति-
रियम् । इदं स्वयं मृतम् अतः पितृशिरश्चेदरूपं गुरुपातकं यैर्भवद्भिरुद्धतायुधैरपि
मर्यादाशून्यैः अतएव मनुजपशुभिः कृतम् अनुमतं दृष्टं वा नरकरिपुणा कृष्णेन
साङ्गं तेषामसृङ्घ्मेदीमांसैः दिशां बलिमयमहङ्करोमि इत्यन्वयः । दिशां दिग्भव-

क्षुद्राः संचासमेते विजहित हरयः ! क्षुद्रशक्रभकुम्भा
 युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।
 सौमित्रे ! तिष्ठ ! पात्रं त्वमसिं नहि रूपां, नन्वहं मेघनादः,
 किञ्चिद्भूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥
 ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
 पञ्चाङ्गेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसां पूर्वकायम् ।

भूतानामित्यर्थः । नरकासुररिपुत्वोपादानं तन्नाम्ना पापाधिकत्वमूचनाय तेन मत्-
 क्रीत्रेण पापकारिणः पापारिवां सर्व एव नङ्गन्तीति सूचितम् । अयमहमेतत्क्षणवर्त्ता
 एव अहं करोमि इत्यर्थः । अत्र अश्वत्याम्नः क्रीधः स्थायिभावः उक्ततर्जनमनुभावः
 नर्जनव्यङ्गो गर्वा व्यभिचारिभावः अर्जनादयः आलम्बनानि गरुपातककरण-
 मुद्दीपनं क्रीधञ्जे सामाजिके रसोत्पत्तिः । नच अत्र कथं न वीररस इति वाच्यम् ?
 मनुजपशुत्वादिनिन्दया क्रीधस्यैव अनुभावत्वेन तथा तस्यैव व्यङ्गनाम्नीत्साहस्य
 केतव्यगुणप्रसंशया एव तदनुभावत्वात् अतोऽत्र विभावव्यभिचारिणीः अनैकान्ति-
 कत्वेऽपि असाधारणानुभावमिलनात् रौद्ररसाभिव्यक्तिरिति दर्शितमेव यत्र मिलिता
 निर्दिष्टा इत्यनेन । वीररसमुदाहरति क्षुद्रा इति ।

हे एते दृश्यमानाः क्षुद्रा हरयः ! सन्नासं विजहित यती भिन्नशक्रभकुम्भा
 अमी सायका निष्पतन्ती मञ्चापात् निर्गन्तुं युष्मद्देहेषु युष्मद्देहविषये परं केवलं
 लज्जां दधति न तु पाताभिसुख्यं पौरुषं वा युष्मद्देहेषु निष्पतन्त इति तु नान्वयः
 निष्पतनपदस्य पूर्वदेशत्रिभाजकत्वेन देहरूपीतरदेशसंयोगार्थकत्वाभावात् निरुप-
 सर्गपतनपदस्यैव तथार्थत्वात् सौमित्रे इति मातृसम्बन्धकीर्तनम् अवीरत्वख्यापनाय
 अहं मेघनाद एतन्नाम्ना प्रसिद्धो वीर इत्यर्थः । रामन्तु किञ्चिदन्वेषयामि भूभङ्गत्या-
 दिकं तत्र हेतुगर्भविशेषणं सोऽपि न सामर्थ्येन अन्वेषणपात्रमिति भावः । किञ्चिद्
 भूभङ्गेति तु नान्वयः तदपेक्षया दर्शितान्वये एव गर्वाधिक्यान् अत्र जितव्यस्य रामस्य
 भूभङ्गेत्यादि विशेषणं व्यङ्ग्या प्रशंसा उत्साहस्यैवानुभाव इति वीर एव रसः । रामम्
 आलम्बनं तद्गुणो जलधिनियमनमुद्दीपनं वानराद्युपेक्षया किञ्चिद्भामान्वेषणे
 न च व्यञ्जितो गर्वा व्यभिचारी इन्द्रजिनिष्ठः उत्साहः स्थायिभावः । तज्जे सामा-
 जिके रसोत्पत्तिः ।

भयानकमुदाहरति ग्रीवेति । मृगङ्गनाय धावितरथं दुःखानं प्रविष्टगावस्थां

शष्यै रर्हावलीढैः अमविद्वृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥
उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममंथं पृथूंत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिकृष्टपिण्डाद्यवयवसुलभान्यग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्गात्
अङ्गस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

दर्शयतः सारथेकीर्णरियम् । प्राक्कः शिर्षां सृग् उदग्रप्लुतत्वाद्विद्वेत् फान्तवत् विद्यति
बहुतरं प्रयाति उर्व्यां मांसात्तत् पश्य इत्यर्थः । सृग्ः कीर्णः अनुपतति पश्चादागत
स्यन्दने यौनामङ्गीण अभिरासं यथा स्यात्तथा भृङ्गदन्तदृष्टिरित्यन्वयः । तथा मयसा
महता पशार्द्धेन पूर्वकायं शरपतनमथात् प्रविष्टः कुञ्चिताङ्ग इत्यर्थः । न च स्थायि-
भावस्य भयस्य शब्दवाच्यत्वं रमत्वानुपपत्तिः स्वशब्दवाच्यतादोषयेति वाच्यम् ? शरप-
तनपरिजिह्वीषाया एव अत्र भयपदार्थत्वात् अत्र सृगनिष्ठं भयं स्थायिभावः राजा
आलम्बनं शरपतनसुद्धीपनं सत्वा सृगक्रिया अनुभावाः शब्दश्रवणं व्यभिचारि भयर्जं
सामाजिकं रसीत्यतिः ।

बीभत्समुदाहरति उत्कृत्यति । रमशाने शवं भुञ्जानं प्रेतं दृष्ट्वा साधवर्णिक-
रियम् । अयं प्रेतरङ्कः प्रेषु दग्धिः अङ्गस्थात् क्रीडम्यात् करङ्गात् सतशरीरात्
अस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यम् अव्यग्रं यथा स्यात्तथा अत्ति स्थपुटं यत्तिः क्रव्यं मांसं
क्रमशो भक्षणादव्यग्रत्वं तमेव क्रमसाहं प्रथमं कृत्तिं चमं उत्कृत्योत्कृत्य अत्ति
इत्यन्वयः । अथानन्तरम् अंसस्फिकृष्टपिण्डाद्यवयवेषु सुलभानि पृथुना उत्सर्पेन
उत्फुल्लतया भूयांसि बहुलानि मांसानि जग्ध्वा भक्षयित्वा अत्ति इत्यर्थः अंसी
भुञ्जसूलं स्फिकृत् नितम्बः पिण्डपदस्य त्रिषु सम्बन्धः स्थपुटगतक्रव्यस्यापि अनुपेक्षणा-
दात्तता दरिद्रता च आकृत्य अपरी नश्यतीति भीत्या पर्यस्तनेत्रता स्थपुटगतक्रव्या-
कर्षणाय दशनप्रकटनम् अत्र साधवान्ता जुगप्सा स्थायिभावः भुञ्जमानश्व
आलम्बनं तस्य पूतिगन्ध उद्धीपनं साधवस्य एवमुक्तिरेव अनुभावः एतदुक्तिव्यञ्ज
आवशी व्यभिचारी जुगप्सा ज्ञातरि सामाजिके रसीत्यतिः ।

चित्रं ! महानेष वतावतारः,
 क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः ।
 लोकोत्तरं धैर्यं महो ! प्रभावः
 काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

एषां स्थायिभावानाह

अइ, तमुदाहरति चित्रमिति । प्रकृतं महापुरुषं दृष्ट्वा कस्यचिदुक्तिरियम् । वत हर्षे अर्थादनुभूयमानमिदमवतारमहत्वादिकं चित्रं विलक्षणमित्यर्थः । न तु विस्मयी-
 ऽत्र चित्रपदार्थः तदा स्थायिभावस्य तस्य स्वशब्दवाच्यत्वदोषापत्तेः अव्यङ्ग्यत्वे रसीदा-
 हरणतानुपपत्तेय एषा कान्तिः क्व ? अपि तु न कापि इत्यर्थः । लोकोत्तरं लोकादृष्ट-
 विलक्षणं तथा प्रभावीऽपि विलक्षण इत्याह अहो इति न तु आश्चर्य्ये अहो इति
 तद्दोषस्तादवस्थापत्तेः सर्गः सृष्टिः अत एतद्वक्तृविस्मयः स्थायिभावः एतदुक्तिरेवानु-
 भावः महापुरुष आलम्बनं तस्य कान्त्यादिकमुद्दीपनं वत पदार्थो हर्षव्यभिचारी
 विस्मयज्ञे सामाजिके रसोत्पत्तिः । रतिर्हासश्चेति उक्तलक्षणरसानां यथा सङ्गा-
 मन्ते स्थायिभावा इत्यर्थः । रत्यादीनां लक्षणमुक्तं साहित्यदर्पणे ।

रतिर्मनीऽनुकृतिऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।
 वाग्वेश्वैकताच्च तीविकाशी हास उच्यते ॥
 दृष्टनाशादिभिश्चेतीवैकव्यं शोकशब्दभाक् ।
 काव्यारम्भेषु मंत्रम् उच्यतेऽहः परिकीर्तितः ॥
 प्रतिकूलेषु तेषां प्रबोधः क्रोधसञ्चितः ।
 रौद्रशक्त्या तु जनितं वैकव्यं मनसो भयम् ॥
 दोषचक्षादिभिर्गर्हा जुगुप्सोति निबध्यते ।
 विविधेषु पदार्थेषु लोकासीमातिवर्तिषु ।
 विस्तारयेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ॥

प्रवणायितमुत्कट आवेशः स च दृष्टसाधनत्वेन ज्ञानधारारूपीऽनुराग एव
 न तु इच्छाविशेषः अभिलाषस्यापि तादृशेच्छारूपत्वेन रतेरभिलाषज्ञाप्यत्वस्य उक्त-
 स्यान्नपपन्नः यत्तु वक्ष्यमाणरमाभासोदाहरणे अत्र अनेककामुकविषयमभिलाषं
 व्यनक्तौति वक्ष्यते तत्र अभिलाषपदेन न रतिरुक्ता किन्तु रतिव्यञ्जकमभिलाषं

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयश्चैव स्थयिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥३०

स्यष्टम् ।

व्यभिचारिणो हि एते—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।

आलस्यञ्चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृतिधूर्तिः ३१

व्रीडा चपलता हर्ष आविगो जडता तथा ।

गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ३२

व्यनक्तौति तस्यार्थः । चैतीविकाश उपहसनीयत्वज्ञानं हास्यरूपमुखविकाशहेतुः । नाशादिभिः इति आदिपदात् रोगादिना शोच्यावस्थापरिग्रहः । वैक्लव्यं दुःखम् । संरम्भः सहर्षप्रवृत्तिः । तैत्थस्य अपचिकीर्षायाः प्रबोध उल्कटत्वम् । रौद्र शक्त्येति रौद्रः क्रुहस्तस्य शक्त्या क्रोधरूपया वैक्लव्यमव भाविदुःखे उल्कटी इषः तस्य च परक्रोधजन्यभाविदुःखविषयत्वात् परक्रोधजन्यत्वं न तु परक्रोधजं दुःखमेव वैक्लव्यं परक्रोधाद्भाविनी दुःखस्य अनुत्पत्तिदशायामपि भीतिदर्शनात् एवञ्च भाविदुःखद्वेषरूपस्य अस्य वक्ष्यमाणव्यभिचारिभावात् तासात् भेदः मनः क्षीमात्मकदुःख- विशेषरूपत्वात्तस्य शरपतनभयादित्यत्र तु शरपतनपरिजिह्वैव भयपदार्थो व्याख्यातः । विस्तारथेतस इति दृष्टहेतुभ्योऽसम्भाव्यत्वज्ञानं चैतीविस्तारः । एते स्थायिभावास्तत्त्ववासनायामारोप्यी रस इति प्रकृत्यर्थः । समाख्यातास्तु नामत इति समाख्याता नामैव सङ्क्षेपेण व्याख्याताः एषां लक्षणं तु अन्यव अन्वेष्टव्यमिति भावः । एषां लक्षणानि तु उक्तानि साहित्यदर्पणे तत्र निर्वेदस्य यथा—

तत्त्वज्ञानापदीर्षादि निर्वेदः स्वावभाननम् ।

दैन्याचिन्ताशुनिःश्वासवैवर्ण्याक्लृप्तितादिकृत् ॥ इति ।

स्वानेयथा ।

रत्यायासमनस्तापच्युत्पिपासादिसम्भवा ।

स्वानिर्निष्पाणताकम्पकायानुस्महितादिकृत् ॥ इति ।

सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्यमयोग्यता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥३३॥

- शङ्काया यथा । परक्राव्यात्मदीपाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य चिन्तनम् ।
वैवर्ष्यकम्पयैस्वयंपाश्चालोकास्यशेषकृत् ॥ इति ॥
- अमूयाया यथा । अमूयाऽन्यगुणर्हीनामौडत्यादसहिष्णुता ।
दीपेक्षणभूविभेदावज्ञाकीर्षेङ्गितादिकृत् ॥ इति ॥
- मदस्य यथा । सम्बोहानन्दसम्भेदी मदी मथीपयोगतः ।
अमुना चीत्तमः श्रुति मथी हसति गायति ॥
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रीदिति ।
सम्भेदः सम्मेलनम् ।
- र्षमस्य यथा । खिदी रत्यध्वगत्यादिः श्वासनिद्रादिकृच्छमः । इति ।
- आलस्यस्य यथा । आलस्यं श्रमगर्भाद्यैः जाड्यं जृम्भामितादिकृत् । इति ।
- दैन्यस्य यथा । दार्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् । इति ।
- चिन्ताया यथा । ध्यानं चिन्ताहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् । इति ।
- मोहस्य यथा । मोहो विचिन्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः ।
घूर्णनागावपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ इति ॥
विचिन्तता विचेतनत्वम् ।
- अतर्था । सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः भूसमुद्रमनादिकृत् ।
अृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ इति ॥
- धृतरथा । ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णसङ्ग्रहता धृतिः ।
सौहित्यवचनोक्ताससङ्घासप्रतिभादिकृत् ॥ इति ॥
ज्ञानमव धृती इष्टसाधनताज्ञानं तत्त्वज्ञानं वा ।
- व्रीडाया यथा । सङ्कीचश्चेतसो व्रीडा वैवर्ष्याधीमुखत्वकृत् । इति ।
चेतसः सङ्कीचस्तेन प्रकृतकार्ये निष्कम्पप्रवृत्त्यजनम् ।
- चपलताया यथा । मात्सर्यद्वेषरागादि शपक्कं लनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनपादुष्यस्रच्छन्दाशरणादयः ॥ इति ॥

वासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

त्रयस्त्रिंशद्दमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ३४

हर्षस्य यथा । मनःप्रसार्दा हर्षः स्यादिष्टावाप्तिःस्नवादिभिः । इति ।

आवेगस्य यथा । आवेगः सम्भ्रमी राजगजवर्षादिसम्भवः । इति ।

सम्भ्रमी महत्त्वेन अनवर्जयत्वेन वा ज्ञानं गजवर्षयोः अपि अपकारकारित्व-
ज्ञानात् तादृशं ज्ञानमिति बोध्यम् ।

जड़ताया यथा । अप्रतिपत्तिर्जड़ता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।

अनिमिषनयनार्वालो कनकगोष्मावाद्यस्तव ॥ इति ।

अप्रतिपत्तिरव कतथ्यावमूढता अतीत्य ज्ञानभावजननात्मकविविचितारूपात्
मीहात् भेदः ।

गर्वस्य यथा । गर्वो मदः प्रभावशीलित्यामतकुलजन्मभिः ।

अवज्ञा सर्वालासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥ इति ।

अवज्ञा परस्मिन् ।

विषादस्य यथा । उपायाभावजन्मातु विषादः सत्त्वसंचयः ।

निःश्रामोच्छ्वासकृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ इति ॥

निष्प्राणताऽनौजस्यसत्त्वसङ्गयाणां वयाणामपि बलहानित्वरूपेऽपि तत्तदुक्त-
कारणविशेषाधीनत्वं न ग्लानिदैव्यविषादानां भेदः ।

अौत्सुक्यस्य यथा । इष्टानवाप्ते रौत्सुक्यं कालक्षेपामहिष्णुता ।

चित्ततापत्वरस्केददौर्वनिःश्रसितादिकृत् ॥ इति ॥

निद्राया यथा । चेतः समीलनं निद्रा श्मक्लसमदादिजा ।

जृम्भाक्षिमीलनीच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम् ॥ इति ॥

अपस्मारस्य यथा । मनः क्षेपस्वपस्मारी यद्वाद्यावेशनादिजः ।

भूपातकम्पप्रस्वेदफेनलालादिकारणम् । इति ।

अपस्मारीन्मादयी व्याधित्वेऽपि विप्रलम्भशङ्करि एतावैव व्याधी लम्भिचारिणां
अन्यत्रु व्यध्यन्तरमपीति ज्ञापनार्थं विश्वीपादानम् ।

सुप्तस्य यथा । सुप्तं निद्रायमाणस्य विषयानुभवश्च यः ।

कीपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥

निर्वेदस्य अमङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽपि उपादनं
व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थम् । तेन
निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

विबोधस्य यथा । निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधशेतनागमः ।

जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलीककृत ॥ इति ॥

अमर्षस्य यथा । निन्दाक्षेपापमानादे रमर्षोऽभिनिविष्टता ।

नेवरागशिरःकम्पभ्रूभङ्गीचर्जनादिकृत ॥ इति ॥

अभिनिविष्टता तन्निर्यातनोपायभावना तेनोत्कटापचिकीर्षारूपात् क्रीधरूप-
स्थाधिभावात् भेदः ।

अवहित्यस्य यथा । अवहित्यन्तु लज्जाद्यैर्हर्षाद्याकारगोपनम् । इति ।

अप्रताया यथा । अधिक्षेपापमानादे श्चित्तचण्डलमुयतेति ।

चण्डलं साहङ्कारतदसहित्णुत्वं तेन उत्कटापचिकीर्षारूपात् क्रीधान्निन्दादि-
निर्यातनोपायभावनारूपात् अमर्षाच्च भेदः ।

मतेर्यथा । नीतिशास्त्रानुसृत्यादेरर्थं निर्धारणं मतिः ।

स्मरता धृतिसर्नोर्षी बहुमानश्च तद्गवा ॥ इति ॥

व्याप्नेर्यथा । व्याधिर्जरादिवाताद्यैर्भ्रूसीच्छीत्कम्पनादिकृत । इति ।

उन्मादस्य यथा । चित्तस्य भ्रम उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।

अस्थानहासरुदितगीतशोकभयादिकृत ॥ इति ॥

मरणस्य यथा । शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत । इति ।

इदन्तु मरणस्यैव लक्षणं व्यभिचारिभावत्वन्तु मरणस्य किन्तु चित्ताकाङ्क्षितस्य
जातप्रायस्य वा मरणस्यैव तदुक्तं

रसविच्छेदहेतुत्वात् मरणं नैव वर्ण्यते ।

जातप्रायन्तु तहाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथेति ।

वासस्य यथा । निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासकम्पादिकारकः ॥ इति ।

वासो मनःचोभः सोऽपि दुःखविशेष एव भयन्तु भाविदुःखविशेष एवेति भेदः ।

चित्तकंस्य यथा ।

तर्को विचारं सन्देहात् भ्रूश्रिरोऽङ्गुलिमर्त्तकः । इति ।

यथा । अहौ वा हारे वा, कुसुमशयने वा दृषदि वा,
मणौ वा लोद्रे वा, बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
दृणे वा स्त्रेणे वा, मम संमदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्ये ऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥

एषां कस्यचित् क्वचित् रसे व्यभिचारिभावत्वं योग्यतया स्वयमूद्यम् । अमङ्गल-
प्रायत्वादिति स्थावमानमस्य अमङ्गलत्वं नासंसारिण इत्यतः प्रायत्वादित्युक्तं स्थायि-
त्वाभिधानार्थमिति स्थायिभावसन्निहितपाठादितिभावः ।

शान्तीऽपीति तस्य लक्षणं विभाषादशश्रीक्ता दर्पणे यथा

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिमेतः ।

कन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदेवत इति ॥

अत्र शमस्थायिभावत्वं मतान्तर एव ग्रन्थक्रमतेतु निर्वेदस्थायिभावकत्वमेवोक्तं
शमलक्षणान्तु शमीनिरीहावस्थाया मान्मविश्रान्तिजं सुखम् इति दर्पणकारेण युक्तं
तत्र शमस्थायिभावकत्वपक्षे आलम्बनमाह ।

अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनिःसारता तथा ।

परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनं मुच्यत इति ॥

निर्वेदस्थायिभावकत्वपक्षे तु स्थावमानरूपस्य निर्वेदस्य स्वमेवालम्बनम् उभयपक्ष
एव उद्दीपनानि आह ।

पुण्याग्रसहरिचेततीर्थारण्यवनादयः ।

महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्थीद्दीपनरूपिण इति ॥

अनुभाव व्यभिचारिणस्त्वाह

रोमाञ्चाद्याशानुभावास्तथास्युर्व्यभिचारिणः ।

निर्वेदस्मरणमतिभूतदयादयः इति ॥

अत्र निर्वेदस्य व्यभिचारिभावत्वेन उक्तिः शमस्थायिभावकत्वपक्षे बोध्यम् ।
हृषादीनां तु उभयपक्ष एव भूतदया च दैन्यविशेष एव परदुःखेन परोपचिकीर्षया वा
स्वदुःखेन स्तनौजस्यस्य दयात्वेन दैन्यलक्षणाक्रान्तेः ।

अहौ वेति । अहं हारादिषु एकं रागाहंमपरं हेषाहं तद्वय एव समदृशस्तुल्य-
दृष्टे मम पुण्ये क्वचिदरण्ये शिव शिव शिव इति प्रलपती दिवसाः कदा यान्ति कदा
यास्यन्तीत्यर्थः कदा यान्त्विति क्वचित् सुगमात्मक एव पाठः । स्त्रेणं स्त्रीसमूहः

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्चितः ॥३५॥

भावः प्रोक्तः

आदिशब्दात् मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया । कान्ताविषया
तु व्यक्ता शृङ्गारः । उदाहरणम्

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ! ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।

अप्युपात्तममृतं भवद्भुभेदवृत्ति यदि, मे न रोचते ॥

अत्र सर्वत्रैव अनास्थामूचकेन रागद्वेषराहित्येन शिवजपे प्रलापत्वारीपेण चालन
सन्मत्तत्वसूचनात् स्वावमाननरूपस्य निर्वेदस्यैव प्रतीतिर्नतु शिवविषयो भावः
अनास्थया तत्प्रतीते रापाततः प्रतिबोधान्पार्थन्तिकौतु तत्प्रतीतिरस्त्वैव अत्र समा-
दृष्टिरिय सुक्तिरेव चानुभावः अवमाननीयं स्वमेवावालम्बनं पुण्यापुण्य सुद्वीपनम्
एवभावेन दिवसगमनाशंसया सूचितं हर्षरागद्वेषराहित्यमूचितप्रवृत्तिविरहलभ्यम्
अनौजस्यरूपं दैन्यञ्च व्यभिचारिभावः निर्वेदञ्च सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

रसभावतदाभासेति क्रमप्राप्तं रसनिरूपणान्तरं भावमाह ।

रतिर्देवादीति । रतिरुक्तलक्षणैव देवविषयत्वं भक्तिरूपा पुत्रादिविषयत्वं
श्लेह्रूपेत्यादि बोध्यम् सर्वत्रैव मनसः प्रवणायितत्वसम्भवात् व्यभिचारी च न
सर्वव्याध्यादेरतथात्वात् किन्तु असूयाहर्षादयो यथासम्भवं बोध्याः अञ्चितः स्वात-
न्त्र्येण व्यञ्चित इत्यर्थः स्वातन्त्र्यञ्च निराकाङ्क्षवाक्यव्यञ्जत्वं साकाङ्क्षवाक्यव्यञ्जत्वे
तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यञ्जमपरं रसादिकं प्रति तस्य व्यभिचारिभावत्वमेव अत्रापि
विभावानुभावव्यभिचारिण एव वाक्याधीभूता व्यञ्जका बोध्याः । पुत्रादीत्यादि शब्दा-
दनुरागपात्राखिला एव बोध्याः । कान्ताविषयेति कान्तविषयापीति बोध्यं कान्त-
कान्तावपि नायकनायिकारूपावैव बोध्यौ तेन परस्त्रीपरपुरुषविषयरतेः
शृङ्गाराभासस्यापि शृङ्गारत्वेनैव परिग्रहः । देवविषयरतिमुदाहरति कण्ठ-
कोणेति । कोण एकदेशः ङ ईश ! कालकूटमपि मे महामृतं यतस्तव कण्ठकोणकूट-
विनिविष्टम् एवमुपात्त सुपस्थित ममृतमपि न रोचते यदि भवद्भुभेदवृत्ति भवति
भेदपदमव भिन्नपरं भवद्भुषो भेदो यत्रेति बहुव्रीह्यां वृत्तिपदं समानाधिकरण-
परं वा अत्र वक्तृरतिर्देवी महेश्च चालम्बनं तदीशत्व सुद्वीपनं विषेऽनृतत्वज्ञानमनुभावः

हरत्यघं सम्प्रति, हेतुरेष्यतः

शुभस्य, पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।

शरीरभाजां भवदीयदर्शनं

व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥

एवमन्यदपि उदाहृत्यम् । व्यभिचारी यथा

तदीयेशत्वज्ञानात्तद्विषयचिन्ताः व्यभिचारभावः रतिश्च सामाजिके भावीत्यप्तिः ।
मुनिविषयां रति सुदाहरति ।

हरत्यघमिति । स्वगृहागतं नारदं दृष्ट्वा श्रीकृष्णस्योक्तिरियम् । भवदीयदर्शनं
कृतं कालत्रितयेऽपि भूतभाविवर्त्तमानकालेषु शरीरभाजां योग्यताम् अभौष्टवत्तां
व्यनक्ति अनुमापयति तत्र वर्त्तमानकालं तद्वत्ताव्यञ्जनमाह ।

हरत्यघमिति । पापक्षयस्याभौष्टत्वात् योग्यतां पुण्यवत्तामिति चक्रवर्त्तीव्याख्या-
नन्तु न युक्तं पापक्षयस्य पुण्यरूपत्वाभावात् भाविकाले योग्यताव्यञ्जनमाह हेतु-
रिति । ऐष्यतः आगमिष्यतः अतीतकाले योग्यताव्यञ्जनमाह पूर्वाचरितैरिति ।
उभयत्र सुखं पुण्यम् । अत्र मुनिविषयायाः श्रीकृष्णस्य रतेः मुनिरालम्बनं दर्शनेन
योग्यताव्यञ्जनमुद्दीपनं श्रीकृष्णस्वैयमुक्तिरेवानुभावः तद्वद्भ्रूो हर्षश्च व्यभिचारी
मुनिविषयश्रीकृष्णरतिश्च सामाजिके भावीत्यप्तिः ।

एवमन्यदपीति । अत्र गुरुविषयरतौ यथा कुलगुरुं वशिष्ठं प्रति
दिलोपस्वीकृतः ।

तव मन्दकृतो मन्वैर्दूरात् संयमितारिभिः ।

प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टवन्त्यभिदः शराः ॥ इति ।

मृपविषयरतौ यथा । अहो महीयो भूपाल ! भुवनत्रितयीदरम् ।

माति मातुरशक्योऽपि यश्रीराश्रियं देव ते ॥ इति ।

मुत्रविषयरतौ यथा ।

यदाह धात्रा प्रथमीदितं वची ययौ तदीयानवबलस्य चाकृत्स्निम् ।

अभूश्च नवः प्रक्षिपातश्चिन्त्या पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ इति ।

पितृमातृविमातृविषयरतौ यथा ।

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
 मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।
 नो यावत्परिरुध्य चाटुशतकराखासयामि प्रियां
 भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥

जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे ।

मातृभिक्षिन्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥

इति रामस्वीकृतिः ।

भातृविषयरतौ यथा ।

देशं देशे कलत्राणि देशं देशं च बान्धवाः ।

तन्तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहीदरः ॥ इति ।

कन्याविषयरतौ यथा ।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्रसिक्तेषु या ।

ना दत्ते प्रियमण्डनापि भवतां क्लेशेन या पल्लवम् ॥

आद्ये वः कुसुमप्रदत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः ।

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ इति ।

सुहृद्विषयरतौ यथा ।

मम दुःखे सुखे रक्षसि नर्मणि तुल्यधर्मा मर्मान्तिकेऽपि किल कर्मणि शर्मदायी ।

धर्मेऽप्यवैषि रुचिरं चलितो न धर्मे त्वं मे सुखे ! जगति कौऽस्ति तत्र द्वितीयः ॥

उदासीनविषयरतौ यथा ।

यः पृथते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्थज्ञानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन ।

सौजन्यमानजनिरुजितमूर्जितानां सीऽयं दृशीः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥ इति ।

व्यभिचारौ तु निराकाङ्क्षवाक्येनाञ्जितौ व्यभिचारौ यथेत्यर्थः । साकाङ्क्ष-
 वाक्येनाञ्जितत्वे तु प्राधान्याभावाद्भवत्वमिति बोध्यम् ।

जाने इति । सख्यौ स्वप्रहसं कथयत उक्तिरियं जाने अरामीत्यर्थः । मां
 पाणिना मा संस्पृशेति रीदनाकारः यद्वा मां मा संस्पृशेति पाणिनैव कृत्वा इति शेषः
 तदा चीत्तरम् अकृत्यैव पाणिना निषिद्ध इत्यर्थः शठेन खलीन अत्रेति यद्यपि अत्र
 विप्रलम्भ एव रसीऽस्ति तथापि आन्धासयामि इत्यन्तस्य तद्दृक्कस्य यावत् तावत्
 प्रवेशेन साकाङ्क्षत्वात् तद्दृक्कस्य विप्रलम्भस्य न स्वातन्त्र्यमिति निराकाङ्क्षवाक्यव्यञ्जा-

अत्र विधिं प्रति असूया

तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च । तत्र रसाभासो यथा
स्तुमः कं ? वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे,
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे ? यं सृगयसे ।
सुलग्ने को जातः ? शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्,
तपःश्रीः कस्यैषा ? मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥

यामसूयायां तस्याङ्गत्वमेव त्वासान्निभ्य इत्युक्त्वा नृप्यत इत्यस्तेन निराकाङ्क्षवाक्येनैव
तद्वाङ्मनेति तस्याङ्गत्वैवेत्युक्तमेव अतएवीकृतमन्यव ।

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृता सिद्धिरनयोः रसभावयोः ॥ इति ।

न चैवं रसस्थामूयाङ्गत्वे वक्ष्यमाणस्यायं स रसनोत्कर्षोत्थादरिव कैलास इत्यादे-
रिव वाऽपराङ्गाख्यगुणीभूतव्यशात्वापत्तिरिति वाच्यम् अङ्गिपुष्टिकारकाङ्गसुग्वेनैव
चमत्कारित्वे तथात्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् अत्र तु रसस्थायि रसस्य पुष्टिकारिकाऽङ्ग-
न्येवामूया तथैव रसस्य चमत्कारिण विप्रलम्भ एव पर्यवसानादिति भेदात् त्वाभा-
लिख्येत्यादी तु रसचमत्कारिकाप्यतथा माङ्गं नाङ्गिनः पश्चात् प्रतीयमानत्वे
विशेषणत्वाभावान्नापि रसभावध्वन्योरत्र वक्ष्यमाणीऽनुयाञ्चानुयाहकरूपसङ्करः
रसस्य निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वाभावेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वान् एवं भावाभावेऽपि
बोध्यम् । तदाभासा इत्यत्र तत्पदेन रसभावयोर्द्वयोरपि परामर्शाद्रसाभासा
भावाभासाश्चेति व्याख्याताः । अनौचित्येति रसलक्षणे यद्वयदालम्बनं वर्जितं
तत्तदालम्बनविषयतया प्रवर्तिता इत्यर्थः । तत्र शृङ्गारलक्षणे दक्षिणाद्याश्च नायका
इत्यनेनाश्रय्याङ्गका दक्षिणवर्जनादनेकोपनायकरूपाः । अधर्म्यनायकविषयरतावुदा-
हरति ।

स्तुमः कमिति । हे वामाक्षि ! सुन्दरमयने ! यं पुरुषं विना न क्षणमपि रमसे न
दृश्यसि तं कं स्तुमः स्तुतियोग्यः कोऽसौ कथ्यतमित्यर्थः ईदृशसुन्दर्यास्तव अनुराग-
पात्रस्य स्तुत्यत्वमेवेति भावः । तथा यं पुरुषं सृगयसेऽन्विष्यसि स कोऽर्थाञ्जन्मान्दरे
रणरूपयज्ञसम्मुखे प्राणान् विलेभे इत्युक्तवान् विपूर्वी लभित्वागे तत्पुण्यफलमेव

अत्र अनेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः 'स्तुमः' इत्याद्यनु-
गतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

भावाभासो यथा

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी

सस्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमास्या ।

तत्र अन्वेषणमिति भावः । तथाहि हे शशिमुखि ! यं पुरुषं त्वं वलादालिङ्गसि स कः
मुलघ्ने जातः तथा हे मदमनगरि ! यन्तु ध्यायसि कस्य एषा तपःश्रीः तद्देयत्वं
तपस्यैव भवतीत्यर्थः । अत्र मदमनगरीति रूपकं नगरवदनेकपुरुषाग्रयाद्यन्त-
रत्वन्नाभाय ।

अत्रेति । स्तुम इत्यादि वाक्यचतुष्टयेऽनुगतं सम्बन्धं सदा रमणमार्गणालिङ्गन-
ध्यानरूपव्यापारोपादानं कर्तृ तस्याऽनेककामुकविषयमभिलाषं व्यनक्तीत्यन्वयः ।
अभिलाषव्यञ्जने च तद्धेतुकी विप्रलम्बीऽप्याभासरूपी व्यज्यत इति भावः । इष्टसाधन-
त्वज्ञानरूपानुरागत्मिकाया रतेः परीक्षालम्बनिकाया विप्रलम्बत्वेन इच्छात्मकेन
तत्कार्येणाभिलाषेण तद्गञ्जना न तु अभिलाष एव रतिभ्रमः कार्यः अभिलाषादि-
पञ्चकर्तृत्वमेव तस्या इत्युक्तत्वात् । ननु ईदृशबहुव्यापारस्य स्त्रीकनायकेऽपि
सम्भवात् कथमनेककामुकविषयत्वलाभ इति चक्रवर्त्सा वर्त्तमानानिर्देशाद्व्यापा-
राणां वर्त्तमानैककालतालाभे तद्गशादेवानेककामुकविषयतालाभ इति अप्राप्ता-
प्राप्तविषययोः अन्वेषणालिङ्गनयोरेकदा एकपुरुषेऽसम्भवादिति तन्न । द्वष्टः स्वपिति
गच्छतीत्यादिषु विरुद्धक्रिययोः क्रमिक्योरपि स्थूलकालमादाय वर्त्तमानप्रयोगदर्शना-
देकपुरुषेऽपि तत्सम्भवात् एकपुरुषालिङ्गनकाले परपुरुषान्वेषणपरिचारकव्यापारानु-
पलम्बेन वक्तृतत्कथनासम्भवाच्च । उच्यते । यमालिङ्गसौत्युक्ता यं ध्यायसौत्युक्ती
तु शक्तेनालिङ्गनकर्मभूतपुरुषस्य ध्याने व्यावर्त्तनात् यत् पदचतुष्टयोपादानात्
च अनेककामुकलाभः कामुकस्यैकत्वे एक यत्पदेनेव तन्नाभात् तु शब्दव्यवच्छेद-
कर्मभावाच्च ।

भावाभासो यथेति । भावोऽत्र व्यभिचारि भावः तस्य च शृङ्गारीयत्वे शृङ्गार-
वर्जितं यदाखम्बनं तद्विषयत्व एवानीचित्यम् अतः शृङ्गारे परोदां वर्जयित्वा तु
वेष्टाद्याननुरागिणीमित्थनेनानुरागिणीवर्जनात् । तद्विषये चिन्तारूपव्यभिचारिभावे
उदाहरति ।

तत् किं करोमि ? कथमत्र तनोमि मैत्रीं ?

तत्स्वीकृतव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽपि उदाहार्थ्याः ।

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः सवलता तथा ॥३५॥

क्रमेण उदाहरणम्

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनयुगप्रसृष्टमुद्राङ्कितम्

किं वक्षश्चरणान्तव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ? ।

राकेति । राका पूर्णिमा स्मरं हसत्प्रायं यत् यौवनं तेन तरङ्गितस्तरङ्गव-
दुत्तरीत्तरजायमानी विभ्रमौ यत्र तादृशमाम्यं यस्या ज्ञात विग्रहः । एवं पूर्वाङ्गे
सा एतादृशी सुन्दरीत्युक्त्वा तत्राभ्युपायं चिन्तयति तत् किं करोमीति अत्रेति
अस्यामित्यर्थः तत् स्वीकृतौति तत्कतं का या अस्मद्विषया स्वीकृतित्तया यो व्यति-
करस्तया सह सम्पर्कस्तत्र क इव अभ्युपायः इव शब्दः सम्भावनायां क उपायः सम्भा-
व्यते इत्यर्थः न नु तस्यां मम स्वीकृतिरित्यर्थः तस्याः सिद्धत्वेन तदुपायस्य अचिन्त-
नीयत्वात् । अत्रेति अकृतस्वीकाराया एव स्वीकारोपायश्चिन्त्यते इत्यतीऽकृत-
स्वीकारत्वेन तस्या अननुरागित्वलाभे निराकाङ्क्षावाक्यव्यञ्ज्या तद्विषयचिन्ता
अनुचिता आभास इत्यर्थः, एवमन्येऽपीति ।

गमारुहन्ति गामिव सामिण अवर्द्धिदं ण आणामि ।

याश्चरिआणं पइणी हरेमि जा ह्ठीमि सा ह्ठामि ॥

इत्यत्र परनायकाहरणाधीनी गर्वरूपव्यभिचारिभावोऽप्याभासः । तथा स्तुमः
कं वामाक्षीत्यादौ परदारिकनायकविषया स्तुतिलभ्या वक्त्रूरतिरप्याभासः इत्या-
द्युल्लामित्यर्थः ।

रसाभावेति कारिकीकृतक्रमप्राप्तान् भावशान्त्यादीनाह भावस्येति । व्यभि-
चारिभावस्येत्यर्थः शान्तिर्नाश उदय उत्पत्तिः सन्धिर्विरुद्धयोः सत् प्रतिपक्षितत्वं
सवलता पूर्वपूर्वभावनाशनरूपा वलवत्ता श्वलतेति तालव्यशक्कारपाठस्तु प्रामा-
दिकः । भावशान्तिमुदाहरति ।

तस्या इति । सख्यौ खनायिकाकीपतच्छान्तिवृत्तं कथयतः सख्युक्तिरियम् ।
सन्धुक्तीपनायिकासनरागाङ्कितवक्षसं प्रणमन्तं नायकं प्रति कुपिताया नायिकाया

इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्यं सहसा तत् सम्प्रमाष्टुं मया
संश्लिष्टा रभसेन, तस्सु खवशात् तन्व्याऽपि तद् विस्मृतम् ॥

अत्र कोपस्य

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यःकोपपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधौरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणम्
मा भूत् सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥

अत्र औत्सुक्यस्य ।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः ।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामौलयन्
आनन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रूणद्गन्धतः ॥

उक्तिः प्रथमाज्ञं तव प्रशेष आलिङ्गनं मुद्राङ्गिच्छिङ्ग इतच्प्रत्ययेन तद्युक्तमित्यर्थः ।
इति तथा उक्ते तन्मुद्राङ्गित्वं सम्प्रमाष्टुं दूरीकर्तुं क्व इत्युदीर्यं मया सहसा
बलात्कारात् सा आश्लिष्टा इत्यर्थः । तद्द्विस्मृतं मुद्राङ्गित्वं विस्मृतमित्यर्थः ।
कोपस्येति शान्तिरित्यनुषङ्गः कोपहेतीमुद्राङ्गित्वस्य विस्मरणात् पूर्वजातकोपस्य
शान्तिर्निराकाङ्क्षाक्यव्यङ्गा इति अङ्गिनीत्यर्थः प्रधानीभूतयापि तथा सम्भीगरूप-
रसस्याङ्गस्य प्रकर्षनान्ना परङ्गतेत्यवधेयम् । भावीदयमुदाहरति ।

एकस्मिन्निति । शयने शय्यायां विपक्षरमणी सपत्नी सुप्त इव चाटुकरण-
व्यापाररहिते माम्प्रदित्यर्थः । अमन्देति क्रियाविशेषणं क्रमश एवान्वयात् स्पष्टार्थ-
मन्यत् औत्सुक्यस्योदय इत्यनुषङ्गः । न च पूर्वकोपस्य सत्वे सन्धिरिव नाशे तु
सवल्लतैवेति वाच्यं पूर्वकोपनाशसत्वयोरेकस्यापि प्रत्यायकाभावेन तदभावात् न
च विरुद्धस्य औत्सुक्यस्योदय एव कोपनाशप्रत्यायक इति वाच्यम् औत्सुक्यस्य
कोपविरोधित्वाभावात् कोपसत्वेऽपि चाटुकरणार्थमौत्सुक्योदयसम्भवात् । सन्धि-
मुदाहरति ।

उत्सिक्तस्येति । भावनोपनीतवैदेहीपरिरम्भस्य रामस्य परशुरामाभ्यागने स्वयं
परामर्शोऽयं तपःपराक्रमयोर्निधेरान्ध्रस्य अर्थात् परशुरामस्य अभ्यागनात्

अत्र आवेगहर्षयोः ।

काकार्यं, शशलक्षणः क्व च कुलं ? भूयोऽपि दृश्येत सा ?
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो ! कोपेऽपि कान्तं सुखम् ।
किं वक्ष्यन्थपकल्मषाः कृतधियः ? स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ? ॥

सत्सङ्गप्रियता च वीररसोत्फालश्च एकत एकदेशे मां कर्षत इति । अन्यतश्च
एष अन्भुयमानो भावनीपनीती वा देदेहीपरिरक्षां मां क्वञ्चि आवृणोतीत्यर्थः ;
उत्सिक्तस्य तपः पराक्रमद्वय एव उद्भूतस्य इत्यर्थः तपसा सत्सङ्गप्रियता परा
क्रमेण च वीररभसोत्फालवीरस्य रभसो बलात्कारसर्वोत्फाल उत्कृष्टा आनन्दी
आनन्दजनकः हरिचन्दनमुत्कृष्टचन्दनत्रिंशः सिग्धः गृहणीयः ।

अवेति । आवेगः सम्भ्रमः अनवज्ञयत्वज्ञानरूपः स च तपः पराक्रमनिष्ठित्व-
ज्ञानव्यङ्गः हर्षः परिरक्षाकर्तृकारणव्यङ्गः तयोः परस्परविरुद्धयोः सम्भिरित्यनुषङ्गः ।
सवलतामुदाहरति ।

काकार्यमिति । सर्वशीविरहादुन्मत्तस्य पुरुवरस उक्तिरियं तद्विरहेण
समूर्षायां जातायामाह । केत्यादिकुलमित्यन्तम् अकार्यमरणरूपं चन्द्रकुले इद-
मनुचितमित्येवं रूपविचारान्ना वितर्कोऽत्र व्यङ्ग्यः । भूयोऽपि दृश्येत सा इत्ये-
तदव्यङ्ग्येन दर्शनार्थमुत्कृष्टारूपेण श्रुतसुकोन तन्नाशः तदनुरागनिवृत्त्यनुरागवितर्कस्य
तद्दर्शनीत्कृष्टया नाशौचित्यात् श्रुतमधीतवेद साद्दर्शन उत्कृष्टादोषः एवेत्यर्थः
निर्धारणरूपया श्रुतमित्यन्तव्यङ्ग्यया मत्या तन्नाशः । अहो इत्यादि सुखमित्यन्त-
व्यङ्ग्येन भूयोऽनुभूतकोपकालीनसुखकान्तिस्मरणेन तन्नाशः तदुत्कृष्टाप्रतिकूलाया
मत्यास्तदुत्कृष्टानुकूलिन स्मरणेन नाशौचित्यात् किमित्यादि कृतधिय इत्यन्तव्यङ्ग्यया
अनर्थचिन्तारूपया शङ्कया तत्कान्तिस्मरणरूपस्यानर्थहेतीर्नाशः अनर्थहेतुत्वेन
ज्ञातस्य हेतुत्वेनाचिन्त्यत्वात् स्वप्नेऽपि सा दुर्लभेत्येतदव्यङ्ग्येन अनौजस्यरूपेण दैन्येन
तदनुरागसूचनेन तदनुरागप्रतिकूलाया उक्तानर्थचिन्ताया नाशः । चेतः स्वास्थ्य-
मुपैहीत्ये तदव्यङ्ग्यया तदनुरामप्रतिकूलया धृत्या तदनुरागसूचकस्य दैन्यस्य नाशः
कः खल्वित्यादि व्यङ्ग्यया तद्ज्ञानरूपया चिन्तया तदनुरागप्रतिकूलाया धृतेर्नाश
इति तदाह ।

अत्र वितर्कौत्सु क्यमतिस्मरणशङ्कादेन्यधृतिचिन्तानां सवलता

भावस्थितिस्तु उक्ता च उदाहृता च

मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ॥

ते भावशान्त्यादयः, अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्त-
धृत्यवत् ।

अनुस्नानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥३६॥

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ स्त्रिधा सकथितो ध्वनिः ।

अचौत्सुक्येति । अत्र च प्राथमिकं वितर्कं विहाय सर्वेषां बलवत्ता निरा-
काङ्क्ष प्रत्येकवाक्यव्यङ्ग्यतया प्रधानीभूतापि साङ्गस्य विप्रलम्बस्य प्रकर्षिकेति नाप-
राङ्गत्वमित्यवधायकम् । ननु भावस्थितेरपि सम्भवात्तदुदाहरणं कुतो न दत्त-
मित्याह ।

भावस्थितिःस्त्विति । स्थितीभाव इत्यर्थः उक्तेति भावीक्तिरेव तदुक्तिः जाने
कीपेत्यादि भाषीदाहरणमेव तदुदाहरणमित्यर्थः । ननु व्यभिचारिभावा रस-
स्यैवाङ्गिनी व्यञ्जिका इत्युक्तं रसनिरूपणे प्रकृतीदाहरणेषु च सर्वेषु एव रसी-
ऽस्तीति ।

मुख्यस्य वक्ष्यैवाङ्गित्वं सूचितं मित्यत आह 'मुख्ये रसेऽपीति । मुख्ये पार्थ-
न्विकास्वादपाते रसे सत्यपि ते भावादयः कदाचन साकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यरसवत्
काव्यीयनिराकाङ्क्षव्यङ्ग्यत्वदशायामित्यर्थः । भावशान्त्यादय इति भावश्च शान्त्या-
दयश्चेति हृदयशात् भावतन्त्रशान्त्यादय इत्यर्थः । अन्यथा अस्मिन्नुत्तरे भावपरि-
हारापत्तेः अप्रधानस्यापि भावादेः कदाचनाङ्गित्वं दृष्टान्तमाह । विवाहप्रवृत्तेति
विवाहदिने राजाऽप्यनुगम्यमानो भूत्वा एव यथा कर्मस्थङ्गी तथा रसेमानुगम्यमानो
भावादिरेवाङ्गीत्यर्थः । इत्यं कौऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इत्यस्य प्रपञ्चं मुदाहृत्य लक्ष्य-
व्यङ्ग्यक्रमः परः इत्यस्य प्रपञ्चं मुदाहर्तुमारभते ।

अनुस्नानः प्रतिध्वनिः शब्दयद्दानन्तरं प्रतिशब्दयद्दे यथा शब्दयद्दानन्तरमाद्य-
त्वरूपः क्रमः संलक्ष्य सदाभं तनुष्यं यथा स्यात्तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितेर्व्यङ्ग्य-
प्रतीतिर्यस्य स ध्वनिस्त्रिधा कथितः । त्रिभालमेव दर्शयति ।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः, अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप-
व्यङ्ग्यः, उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः । तत्र
अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दात् यत्रावभासते ॥३०॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

वस्त्वेव इति अनलङ्करणवस्तुमात्रम् । आद्यो यथा

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं

देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन ।

शब्देति । शक्तिः सामर्थ्यं ज्ञेयार्थकं मयूह्यपदमत्र ज्ञेयव्यङ्गापरं तथाच
शब्दार्थोभयसामर्थ्ये ज्ञेयव्यङ्गा इत्यर्थः । अनुस्वानपदार्थं मनुरणनपदेन चित्र-
खानः काव्यस्य विधात्वं व्याचष्टे । शब्दशक्तिमूलंति मूलपदं ज्ञेयार्थकं तथाच
शब्दसामर्थ्यं ज्ञेयानुष्वनितुल्यव्यङ्गा इत्यर्थः । एतमर्थसामर्थ्योभयसामर्थ्यं ज्ञेय-
तयाऽपरद्वयं व्याख्येयम् । तितयमिदं बहुव्रीहिणा ध्वनिकाव्यविशेषणं ज्ञेयम् ।
शब्दसामर्थ्यञ्च अनेकार्थस्य शब्दस्य इत्यादिना यत्र शक्येऽपि द्वितीयार्थे शाब्दी
व्यञ्जना प्राग्दर्शिता तत्रैव बोध्यं शब्दस्यान्वयव्यतिरेकानुविधानेन तत्र तस्य
प्राधान्यात् अर्थसामर्थ्यञ्च एकमात्रार्थकशब्दार्थेन यत्र वक्तृबोद्धव्यत्वाद्युक्तं वक्त्रादि-
साहचर्यादपराधी व्यज्यते तत्रैव बोध्यम् । तदार्थस्यैव प्राधान्यसंज्ञितत्वात् उभय-
सामर्थ्यञ्च यतानेकार्थकशब्देन एकार्थशब्देन च एकस्यैव व्यङ्ग्यस्य उपस्थापनं
तत्रैव बोध्यम् ।

अलङ्कारोऽथिति । प्रधानत्वेनेत्यस्य उभयत्वान्वयः । तेन शब्दात् प्रधानत्वेन तथा
वाच्यार्थापेक्षया च प्रधानत्वेन भासते इत्यर्थः तथाच व्यञ्जकत्वे शब्दस्य प्राधान्यं
व्यङ्ग्यस्य ध्वनित्वनिर्वाहकं वाच्यार्थापेक्षया प्राधान्यञ्चोक्तम् । अनलङ्करणमिति अल-
ङ्करणभिन्नमित्यर्थः अन्लङ्कारमिति प्रामादिकः पाठः नञ्त्तत्पुरुषे उत्तरपदेनाल-
ङ्कारपदेन लिङ्गपरित्यागासम्भवात् । शब्दशक्तिव्यञ्जकमलङ्कारमाह ।

उल्लास्येति । येन देवेन राज्ञा कालकरवालं कृष्णखड्गं यमस्वरूपं खड्गं वा
महाम्बुवाहमिव उल्लास्य रिपूणां सकल एव प्रतापः रक्षे धराजलैर्निर्वापितः करवालं
महाम्बुवाहमिवेति धारा खड्गधारा जलमिवेति च पुरुषव्याघ्रादिसमासः न तु

निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां

धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥

अत्र वाक्यस्य असंवेदार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्गीदिति प्राकरणाप्राकरणाकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्र उपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

करवालमेव महाम्बुवाहं धारयैव जलैरिति च प्रतापेऽग्निरूपे मेघजेन जलेन प्रताप-
निर्वापणासम्भवात् । कौटुम्भः प्रतापः ? विजति ज्वलती दीप्तः देवेन कौटुम्भेन
जरठं कठिनमूर्जितमूर्जस्वलं गर्जितं यस्य तादृशेन । इत्यं राजपरे वाच्यार्थे
ज्ञाते समभिव्याहारविशेषवलादनेकार्थं देवादिपदानां सामर्थ्यात् मेघसुल्लास्याग्नि-
निर्वाहक इन्द्रेऽपि व्यञ्जनया प्रतीयते तद्वारा राजनि इन्द्रीपमालङ्कारव्यङ्ग्यः तथाहि
पालकरं कृष्णरश्मिं बालमहाम्बुवाहं नवीनमहामेघसुल्लास्य देवेन इन्द्रेण रिपूणां
प्रतापः प्रकृष्टस्तापी यस्य सीऽग्निराग्नेयमस्त्रं धाराजलैः निर्वापितः इन्द्रस्य जरठी-
र्जितगर्जितश्च मेघद्वारा एवमिन्द्रेऽवगते तत्तुच्छी राजते इन्द्रीपमाप्यवगम्यते अन्यथा
प्रकृता सम्बन्धेन्द्र प्रत्यायकशब्दप्रयोगोऽनुपयुक्तः स्यात् तत्र च वक्तृस्तात्पर्यमेव
प्रमाणमित्यभिप्रेत्य तत्र वक्तृतात्पर्यसत्त्वादेव नानिष्टापत्तिरित्याह ।

अत्र ति । असम्बन्धस्य इन्द्ररूपार्थस्याभिधायकत्वं व्यञ्जकत्वं प्रसक्तं मा स्यादि-
त्यतस्तदुपमायां वक्तृतात्पर्यसत्त्वान्नृपतिरूपप्राकरणाकशक्ररूपाप्राकरणाकयोरुप-
मानोपमेयभाव उपमाकल्पनीयो व्यङ्ग्य इत्यर्थः । नन्ववमलङ्कारव्यञ्जना कथमुदा-
हृत्येत्यत्र आह इत्यत्र उपमालङ्कार इति हेतोरत्र श्लोके उपमालङ्कारो व्यङ्ग्य इत्यर्थः ।
अनेनोपमाया अलङ्कारत्वमेव दर्शितमित्यती न पौनरुक्त्यम् अत्र उपमालङ्कारबोधो
वक्तुरनेनानिष्टप्रसञ्जनतर्केण जायत इत्येव यत्प्रकृता प्रदर्शितमिति भवेत् व्यञ्जनया
बोधो तर्कस्यानुपयोगं दृष्ट्वा कल्पनीय इत्यत्र अनुमेय इत्यर्थं व्याचष्टे चक्रवर्ती । तदैवी-
पमाव्यङ्ग्य इत्यस्य पौनरुक्त्याभावश्च स्यादिति तत्र । उपमायां वक्तृतात्पर्यप्रमाणत-
यैव अनिष्टापत्तितर्कस्य यत्प्रकृता प्रदर्शितत्वादन्वया उपमानोपमेयभावस्योपमाल-
ङ्काराभिन्नत्वे नैकस्यैवानुमेयताव्यङ्ग्यतयोरनुक्तिसम्भवापत्तेः उपमानोपमेयभावस्य
उपमाभिन्नत्वाङ्गीकारेऽपि अनुमानानन्तरं शब्दबोधी नास्ति कथमनुस्मानभिन्नतया
नृपमाया व्यङ्ग्यत्वमिति शब्दशक्तिमूलव्यङ्ग्यत्वा । विरोधालङ्कारमाह ।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्भिर्भो मधुरलीलः ।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥

अत्र एकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षदः । प्रभो ! ।

अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

निरूपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

अत्र व्यतिरेकः । अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन
अलङ्कारता ।

तिग्मेति । हे विभो ! भवान् विभाति तिग्मी रुचिरश्च प्रतापो यस्य तादृशः-
तथा विधुराणां शत्रूणां निशाकृत् कालरात्रिकृत् तथा मधुरा लीला यस्य तादृशः
तथा मत्या मानतत्त्वे प्रमाणतत्त्वे वृत्तिर्यस्य तादृशः तथा प्रतिपदं पदेपदे पक्षाणां
स्वगणानां अग्रणी पदं स्थानम् ।

अत्रेति । एकपदमत्र समासपदं द्विपदत्वे त भङ्गेन विभक्त्यन्ततया
द्विपदत्वे ज्ञात इति शेषः तथाच द्विपदत्वज्ञानसाहचर्यात् तदर्थयोर्विरोधोऽखण्डैक-
पदेनैव व्यञ्ज इत्यर्थः तथाहि तिग्मरुचिः सूर्योऽप्रताप इत्येवं विधुशब्दो निशाकरी
भाशून्यश्च इत्येवं मतिः अतलव्यवसायीत्येवं प्रतिपत्पक्षत्वादिभूतेष्वेवञ्च विरोध
आपाततो व्यञ्जनया आभासते । पदाभङ्गेनापि विरोधाभासमाह ।

अमित इति । हे प्रभो ! त्वमसताम् अहितोऽसि कौटशः साधुयशोभिः सहितः
तथा समित् युद्धं ततः प्राप्तैरुत्कर्षैरमितः अपरिच्छिन्नः अतएव हर्षदः । अत्रापीति
मितशून्यत्वमितसहितत्वयोः हितसहितत्वहितशून्यत्वयोर्विरोधो व्यञ्ज इत्यर्थः
शब्दशक्तिमूलं व्यतिरेकालङ्कारमाह निरूपादानेति । तस्मै प्रसिद्धाय शूलिने नमः
कौटशाय नानाकारं जगत् अभित्तौ भित्ताद्याश्रयनिरपेक्षं समवायिकारणरूपो-
पादानसम्भवनिरपेक्षञ्च तन्मते चन्द्रकलया श्लाघ्याय च भूतलाद्याश्रयपरमाखाद्यु-
पादानसापेक्षत्वेऽपि तन्निरपेक्षत्वारीपरूपेयं सतिः ।

अत्रेति । शिल्पचारी-वीधककलाशब्दालेख्यवीधकचित्रशब्दयोः सामर्थ्या-

वस्तुमात्रं यथा

पंथिञ्च ! ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।

उत्थञ्चपञ्चोहरं पेक्खिञ्च उण जइ वससि ता वससु ॥

अत्र यदि उपभोगक्षमोऽसि तदा आस्वेति व्यज्यते ।

शनिरशनिञ्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम् ।

यत्र प्रसीदसि पुनः, स भाव्युदारोऽनुदारश्च ॥

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते ।

इरितालाद्युपादानसापेक्षभिन्नधिकरणकालिष्यालिष्यकचिदकाराद्वैलक्ष्यरूपो व्यतिरेकालङ्कारो व्यञ्ज इत्यर्थः । ननु अलङ्काराणां हारादिवदङ्गं प्रकर्षकत्वं वक्ष्यते व्यञ्जत्वे तु तस्यैवास्वादपातत्वेनाङ्गित्वादलङ्कार्यस्यैव तस्यालङ्कारतयैव नास्ति कथमलङ्कारो व्यञ्जः इत्युच्यते इत्यत आह अलङ्कार्यस्यापीति । अमणः सञ्चासौ तद्वाशयां ब्राह्मणत्वाभावेऽपि यथा दशानुरीयत्राङ्गण्यात् ब्राह्मणश्रमण इत्युच्यते तथा वाच्यतादशयानेधामलङ्कारत्वाद्वाङ्गत्वेऽपि अलङ्कार उच्यते इत्यर्थः । शब्दशक्तिमूल वस्तुमात्रमाह वस्तुभावमिति ।

पान्य ! नाव सत्थरमत्थि मनाक् प्रसत्थरत्थले यामे ।

उत्ततपथोधरं प्रेत्थ यदि वससि तइस ॥ इति संस्कृतम् ।

निवासाथिनं पथिकं प्रति स्वयं दूतिकाया उक्तिरियं सत्थरं श्यनीयं कटं मनागल्पमपि प्रसत्थर एव वयं स्वपिम इति दर्शयति प्रसत्थरत्थल इति । पथोधरं मेघम् । सत्थरादिनिवाससामग्री नास्त्येव मेघीव्रतिदर्शनात् गतिप्रतिरोधमाशङ्क्य यद्विद्विषि तत्तिष्ठ इति वाच्यार्थाभिप्रायः । शास्त्रशब्दस्यापि प्राकृतं सत्थरमिति । सत्थरमिति पाठान्तरे अतः प्राकृतानेकार्थसत्थरपदस्य सानार्थकपथोधरपदस्य च प्रसत्थरस्य नायिकाजनं लाति गृह्णाति इति व्युत्पत्त्या प्रसत्थरत्थलशब्दश्च च सामर्थ्याद्वाङ्गवस्ताह ।

अचेति । परदारगमननिषेधकशास्त्रमत्र नास्तीति प्रसत्थर एव रतिनिवांही भविष्यतीति भावः ।

अर्थशक्त्यद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः ॥३८॥
 प्रौढोक्तिमावात् सिद्धो वा कवेः तेनोन्मितस्य वा ।
 वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत्३६
 वस्त्वलङ्कारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः ।

अर्थशक्त्यद्भेदमाह ।

अर्थशक्तौति । अर्थशक्त्यद्भवोऽप्यर्थो इति शेषः । तदार्थो व्यञ्जक इत्यर्थः
 अर्थशक्त्यद्भवेऽपीति पाठान्तु सुगम एव व्यञ्जकः सीऽप्यस्त्रिविध इत्याह सम्भवीति ।
 अर्थेन्तु वाच्यो लक्ष्यो व्यञ्जोर्वैत्येन न नियमः कवेः प्रौढोक्तिमात्रत्वात् कविना उन्मितस्य
 निबन्धस्य वक्तुः प्रौढोक्तिमात्राद्वा सिद्ध इत्यर्थः । प्रौढोक्तिः प्रतिभया वैचित्र्यावहा
 अलीकोक्तिः भावपदात् प्रमाणांतरव्यवच्छेदः तेन अलीक एवेत्यर्थः । विविधस्य तस्य
 वस्त्वलङ्काररूपताभेदात् षड्भिधत्वमाह ।

वस्तुवेति । षड्भिधस्य व्यञ्जकस्य वस्त्वलङ्काररूपदिहिद्व्यङ्गवशात् द्वादशविधा
 व्यञ्जा इत्याह व्यनक्ति यदित्यादि । व्यङ्गवशादेव ध्वनित्वमती व्यञ्जासङ्गायैव
 ध्वनिसङ्गामाह तेनायमिति । अयमर्थशक्त्यद्भेदको ध्वनिः । स्वतःसम्भवि पदार्थे
 व्याचष्टे तवेति । अपि तु इत्यर्थे यावदिति वद्विरिति शब्दात् वहिःप्रमाणेनापीत्यर्थः ।
 ओचित्येनापि प्रकृतविशेष्यस्य तत्सजातीयविशेष्यान्तरस्य वा उक्तविशेषणवत्तया
 गृहीतत्वमौचित्येन सम्भावना साजात्यञ्च प्रकृतविवक्षितसाजात्यसादृश्यात्मना
 प्रकृतविशेष्यनिष्ठधर्मैव तेनाधरी ज्ञानकमलदलमिति वक्ष्यमाणस्य रूपकस्य न
 स्वतःसम्भवित्वव्याघातः आरुण्यरूपाधरसादृश्यरूपधर्मण सजातीयस्य कमलदलस्यैव
 ज्ञानकमलदलत्वरूपविशेषणवैशिष्ट्यगृह्यात् । ध्वलकोतिवर्णनादौ तु प्रकृत-
 विशेष्यकौर्त्तौ धावच्छेदो नात्येव अतस्तद्विशिष्टत्वेन गृहीतः पटादिर्न तु कौर्त्ति-
 सजातीयः विवक्षितेन धावच्छेदेन कौर्त्त्यहत्तिना साजात्याभावादिति तत्र प्रौढोक्तिरेव ।
 तथा धर्मिण्यमलान्नः स्मर इति वक्ष्यमाणं रूपकमपि न स्वतःसम्भविधन्निष्ठ-
 निष्ठस्यामलरूपसादृश्येन सजातीयत्वस्य स्मरणेनापि प्रमाणेन अयदादतस्तत्र न
 प्रौढोक्तिसिद्धोदाहरणत्वव्याघातः । एवमेव वक्ष्यमाणीदाहरणेषु विचार्य एवञ्च स्वतः-
 सम्भवित्वस्त्वलङ्कारधीर्वस्त्वलङ्काररूपाश्लारी व्यञ्जाः । एवं प्रौढोक्तिद्वयात् सिद्धार्थयो-

स्वतः सन्धवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्दहिरपि
 औचित्येन सन्भाव्यमानः । कविना प्रतिभामात्रेण वहिरस-
 न्नपि निर्मितः कविनिबद्धेन वा वक्तृति द्विविधोऽपर इति
 त्रिविधः वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः तस्य वस्तु
 वालङ्कारो वा व्यञ्ज्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ।

क्रमेण उदाहरणम् ।

अलससिरोमणि धुत्ताणं अग्निमो पुत्ति ! धनसमिद्धिमञ्चो ।

इदि भणिएण णआङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यञ्ज्यते ।

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि

विअम्भचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण

सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥

रपि चत्वारश्चत्वार इति । एवं क्रमेण उदाहर्तुमाह क्रमेणेति । तत्र स्वतःसन्धवि वस्तु
 व्यञ्ज्यं वस्तु आह अलसेति ।

अलससिरोमणिधुत्तानामग्निमः पुत्ति ! धनसमिद्धिमयः ।

इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥ इति संस्कृतम् ।

स्वयंवरार्थिन्यां कुमार्थ्यां धात्र्या वरप्ररीचनीत्तरियं पूर्वार्द्धार्थस्य व्यञ्जनया
 कुमारौ बीध्यं वस्तु आह ।

अत्रेति । पूर्वार्द्धार्थस्य तु अलसत्वेनाप्रवासिरूपी धूर्त्तत्वेन रतिविदग्धरूपी
 धनसमिद्धिमयत्वेन अदरिद्ररूपस्य व्यञ्ज्यभूतोऽर्थस्तादृशी वर एव प्रकृतविशेष्योऽन्वी वा
 तत्सदृश चाप्रवासित्वादिविशेषणवत्तया गृहीत इति स्वतःसन्धवित्वं तेन वस्तुना
 च ममैवेत्यादि वस्तु व्यञ्ज्यत इत्यर्थः । ईदृशं स्वतःसन्धवित्वमयेऽपि विचार्यम् ।
 स्वतःसन्धवि वस्तु व्यञ्ज्यमलङ्कारमाह ।

धन्यासीति । रात्रिदृशालापिनीषु सखीषु मध्ये रतिकाले वाचकथास्त्रापिनी
 काचित् सखीं प्रति अतादृश्याः सख्याः सील्लण्ठीत्तरियं विअम्भचाटुकमुपकथाया-

अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः ।

दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूट-

संक्रान्तनिघ्नघनशीर्णितशीर्णशीचिः ।

वीरैर्व्यलोकिते युधि कोपकषायकान्तिः

कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥

अत्र उपमालङ्कारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात् करिष्यते इति वस्तु ।

गाढकान्तदशनक्षतस्थथामङ्कटादरिषधूजनस्य यः ।

मदीपलसुद्धिरूपेणाश्रासेन नायकप्रीतिजनकोपकथा रतान्तरेषु रतमध्येषु बहुषु न तु रतारम्भमात्रे न वा एतमध्ये एव स्वात्कपेकघनेन तु सर्वाः श्रावयितुं सस्य इति बहुवचनसम्बोधनं सामाजिकैः उपहसनीयत्वञ्च वीध्यं व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह ।

अत्रेति । व्यतिरेक इति उपमानभूतोक्तनायिकापेक्षया साधिव्यरूप इत्यर्थः अत्र चण्डीदासः अधन्मत्स्यधीदृणां वक्तृतात्पर्यग्रहदशायामेव अधन्यत्वसिद्धौ तस्यां धन्यात्वग्रहीषाधात् न जायत इत्यतीव त्वमधन्येति व्यतिरेकांशी लक्षणागम्य एव अहन्तु धन्येत्यर्थः एव व्यञ्जनागम्य स्तथा च व्यतिरेकालङ्कारैकदेश एव अत्र व्यङ्ग्य इत्याह तत्र । प्राक्तात्पर्यग्रहं आहार्यं धन्यत्वज्ञानस्य पश्चात् तात्पर्यग्रहं तु अनाहार्यधन्यत्वज्ञानस्य सम्भवेन सर्वांश्च व्यतिरेकालङ्कारस्यैव व्यङ्ग्यत्वात् ।

स्वतः सम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यां वस्वाह ।

दर्पान्धेति । यस्य राज्ञः करे कृपाणः खड्गः कालीकटाक्ष इव युधि संयाम् वीरैर्व्यलोकिते कौटुम्भः कृपाणः दर्पान्धी यो वैराणां गन्धगजोऽन्यगजवासक-मदगन्धी गजस्तस्य कुम्भस्थलरूपस्य कपाटस्य कूटेऽयमभागे या संक्रान्तिः अर्धात् खड्गस्यैव पतनं तथा निघ्नं समुत्थं यहनशीर्णितं तेन शीर्णशीचिः कालीकटाक्षः कौटुम्भः कोपेन कषाया कान्तिर्यस्य तादृशः ।

अत्रेति । उभयोरिव शीर्णत्वबोधनात् कटाक्षीपमा दृष्टचरैरेवेति यथोक्त-लक्षणस्वतःसम्भविनी एव उपमा । सकलति कालीकटाक्षस्य रिपुघातकत्वात् तन्मुखे खड्गेऽपि तत्प्रतीतेः । स्वतः सम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह ।

श्रीष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशनं युधि रूपा निजाधरम् ॥

अत्र विरोधालङ्कारेण अधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति तुल्ययोगिता मम क्षत्याऽपि अन्यस्य क्षति-
निवर्ततामिति तद्वृद्धिरुत्प्रेक्ष्यते इति उत्प्रेक्षा वा । एषु
उदाहरणेषु स्वतःसम्भवौ व्यञ्जकः ।

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः

श्रुत्वा कीर्त्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम् ।

स्रस्तापाङ्गाः सरसविसिनीकाण्डसञ्जातशङ्का

दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति ॥

गाढेति । यो राजा युधि रूपा निजाधरं निर्दशनं अरिबधूजनस्य श्रीष्ठरूपाणि
विद्रुमदलानि प्रवालपताणि गाढकान्तदशनचतव्यथारूपात् सङ्घटादमोचयत् कीर्त्तयेन
स्वाधरदंशनात् तत्पतिमारणे सति तस्य पतिकर्तृकाधरदशनं न जायत इत्यर्थः
प्रवालस्य पताभावेऽपि तस्य वृक्षाकारत्वासम्भाविते पतरूपणम् ।

अत्रेति । विरोधोऽत्र आपातात् एव भासमानो विरोधाभासः अधरदंशकत्वा-
धरव्यधाभीचकत्वयोर्दंश्यमानाधरभेदेन वस्तुतो विरोधाभावात् तस्य स्वतः सम्भवि-
त्वन्तु स्पष्टमेव समकालमेवेति निर्दशनिति वर्त्तमाननिर्देशसाचिव्यादिति भावः ।
तुल्ययोगितेति न च नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगितेति तन्नक्षणेन नियतानां
प्रकृतसकलानामेव वा एकविशेषणवैशिष्ट्यमित्यर्थस्य एककालवृत्त्योरधरदंशनशत्रु-
व्यापादनयोः असम्भवात् कथमत्र तुल्ययोगितालङ्कार इति वाच्यम् ? तुल्ये एककालं
योगितेति व्युत्पत्त्यनुसारेण द्वितीयसमुच्चयालङ्कारस्यैव अत्र उक्तत्वात् तद्वद्व्यति सत्व-
न्योन्ययुगपद्यागुणक्रिया इति अन्यः स तु समुच्चय इति तदर्थः अत्र च व्यापादन-
दंशनक्रिययोर्युगपत्ता । व्यञ्जालङ्कारान्तरमप्याह मम क्षत्यापीति बुद्धिरुत्प्रेक्ष्यते इति
वृद्धशशुङ्गेव स्वाधरं दशतीत्यर्थः । कविप्रौढीक्तिसिद्धार्थव्यङ्ग्यचतुष्के उदाहर्त्तव्ये
तादृश वस्तु व्यङ्ग्यं वस्तु आह ।

कैलासस्येति । कैलासस्य मुख्यशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिर्विशिष्टीकृत्य विबुध-
रमणीभिर्गीयमानां यदीयां कीर्त्तिं श्रुत्वा श्रवणरूपे पुलिने नदीतीथीत्यतप्रदेशे

अत्र वस्तुना येषमप्यर्थाभिगमो नास्ति तेषामप्येवमादि-
बुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्तिरिति वस्तु ध्वन्यते ।

केसेसु बलामोडिश्च तेणं समरम्भि जश्चसिरो गहिश्चा ।

जह कन्दराहिं बिहुरा तस्स दिढं कंठश्चिन्मि संठविश्चा ॥

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधु-
रान् कण्ठे गृह्णन्ति इति उत्प्रेक्षा एकत्र संग्रामे विजयदर्श-
नात्तस्य अरयः प्रपलाय्य गुह्यासु तिष्ठन्तीति काव्यहेतुरलङ्कारः
न प्रपलाय्य गतास्तच्चैरिणोऽपि तु ततः पराभवं सम्भाव्य तान्
कन्दरा न त्यजन्ति इति अपङ्कतिश्च ।

सस्त्रापाङ्गा दिङ्घातङ्गाः हस्तमर्थात् श्ववणपुनिन एव आवर्त्तयन्ति भ्रमयन्ति कुत
इत्यवाह सरसविसिनीकाण्डतया सञ्जातशङ्का यतः सरसविसिनीकाण्डस्य धाक-
खेन धवलया कीर्त्या तथा शङ्का उत्पद्यते इति भावः । हस्तावर्त्तनञ्च भ्रमणार्थं
गृहीतुं सस्त्रापाङ्गत्वेन चाक्षुषशङ्का दर्शिता श्ववणेन भावस्त्रायहात् श्ववणशङ्कानुप-
पत्तेः सुच्छंना रागपर्याप्तिः तृतीया च विशेषणम् ।

अत्रेति । वस्तुना कीर्तिदर्शनादुक्तशङ्कया हस्तिहस्तावर्त्तनरूपेण हस्तिनि तत्-
सदृशे तथादर्शनात् कविप्रौढीक्तैवं सिद्धेन इत्यर्थः । कविप्रौढीक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्य-
मलङ्कार माह केसेस्मिति ।

केशेषु बलात्कृत्य तेन समरे जयश्रीर्गृहीता ।

यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिता ॥ इति संस्कृतम् ।

तस्य विधुराः शत्रवः कन्दराभिः स्वकण्ठे यथा संस्थापितास्तथा केशेषु बलात्-
कृत्य जयश्रीक्षेन समरे गृहीता इति अन्वयः । तेन जिताः शत्रवः प्रपलाय्य गुह्यासु
तिष्ठन्तीति वक्तव्यं जयश्रियस्त्रेण केशग्रहणरूपः कन्दराभिश्च स्वकण्ठे तदरिस्थापन-
रूपो वाक्यार्थः स्वतोऽसम्भवौ प्रौढीक्त्या कविना साधितः । तत्राङ्ग माह । अत्रेति
केशग्रहणं कामभावेन चुम्बनार्थमभ्याभप्रायात् एकस्यास्तादृशवृत्तान्तेन अन्यानामपि
कामीद्दीप्तिर्भवतीति भावः हृदयेनाह ।

केशग्रहणीद्दीपितेति । केशग्रहणस्य कामभावहेतुकत्वमृचकाभावात् अत्र

गाढालिङ्गणरहसुञ्जन्मि दद्वए लहु समोसरइ ।
 माणस्सिणोणं माणो पीलणभीअव्व हिअआहि ॥
 अत्र उत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भत इति वस्तु ।
 जां ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहवइविणिबेसा ।
 दावेदि भुअणमण्डलमस्यं विअ जअइ सा वाणी ॥
 अत्र उत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणम् नवं नवं जगत् अजल-

अपरितुष्यन्नाह एकत्र संग्राम इति काव्यहेतुहेतुलङ्कारे इति विजयदर्शनस्य पलायन-
 हेतुत्वात् ।

अत्रापि । जयत्रियः केशयहणस्य कन्दराभिः कण्ठे अरिस्थापनस्य च अनुपयो-
 गादपरितुष्यन्नाह न प्रपलाय्येति । अत्र स्वपराभवसम्भावनायां जयत्रियः केशयहण-
 सुपयुज्यते एव इत्यत्रैव निर्भरः एवञ्च अपङ्कतिश्च इति चकारो वार्थ एव बोध्यः ।
 तर्थाचाव व्यङ्ग्यालङ्कारशङ्करः इति चक्रवर्त्युक्तमसङ्गतं बोध्यम् । कविप्रौढीक्तिसिद्धा-
 लङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तु आह । गाढालिङ्गनेति ।

गाढालिङ्गनरभसीद्यते दयिते लघुं समपसरति ।

मनस्मिनीनां मानः पीडनभिद्येव हृदयात् ॥ संस्कृतम् ।

रभसी बलात्कारः अत्र पीडनभयं मानस्य मानसदृशज्ञानान्तरस्य वा नास्तीति
 स्वतोऽसम्भवितादुत्प्रेक्षायाः प्रौढीक्या सिद्धः प्रत्यालिङ्गनादौति मानभंशे तस्यावश्य-
 भावात् । कविप्रौढीक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं मलङ्कारमाह । जां ठेरमिति ।

या वृद्धमिव हसन्ती कविवदनाम्बुसहवइविनिवेश ।

दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥ इति संस्कृतम् ।

ठेरं वृद्धं ब्रह्माणमर्थात् सृष्ट्यन्यथात्वप्रदर्शनात् सृष्टिकारिणी ब्रह्मण एव उपहसनीय-
 त्वांचित्यात् । वाणी चाव कवित्वरूपा न देवता कविवदने तस्या वासाभावात् ।
 अजलजाले त्वेव पाठः न तु अजलजासनेति तेन पद्मविषयस्थितया पद्मसामान्या-
 सनस्य ब्रह्मणीऽसनमुचितमिति लाभाय वदनेऽम्बु रुरूपणम् ।

अत्रेति । उत्प्रेक्षया हाससृष्ट्यन्यथात्वदर्शनसम्भावनारूपद्विविधया अचेतनायां
 कवित्वरूपवाण्यां तददृशाचेतनान्तरे वा हासस्य सृष्ट्यन्यथात्वदर्शनस्य च दर्शनात्
 स्वतोऽसम्भवित्या कविप्रौढीक्तिसिद्धया ।

चमत्कारैकेति । हासीत्प्रेक्षया चमत्कारित्वेन हसनीयं विधिकार्यमपेक्ष्य

जाञ्जासनस्था निर्मिमीत इति व्यतिरेकः । एषु कविप्रौढीक्ति-
मात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

जे लङ्गागिरिमेहलासु खलिआ संभोगखिखोरई-
फारुफुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्वत्तर्ण ।

ते एण्हिं मलयानिला विरहिणीणीसाससम्पकिणो
जात्रा भक्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुखपुसा विअ ॥

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्चर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति
वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

स्वकार्यचमत्कारित्वलाभः भुवनान्यत्वप्रदर्शनीत्प्रेक्षया च नवनवत्वस्य लाभः ।
अजलजाञ्जासनस्था इति हासोपपादकं स्वैलक्ष्यं सुखाब्जस्य अजलजाञ्जलात् ।
कविनिबद्धवक्तृप्रौढीक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु आह ।

ये लङ्गागिरिमेखलाभिखलितताः सन्भोगखिन्नोरगी-

स्फारोत् फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।

ते इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पकिणो

जाता भटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुख्यपूर्णा इव ॥ संस्कृतम् ।

कपूर्वमन्त्र्या उक्तिरियम् । लङ्गागिरिमेखलाभिखलितताः । सुवैलस्य मेख-
लातीऽभिखलितता मलयमागत्य ये वाता मलयानिलाः सन्भोगखिन्नानां सुरगीणां
स्फारया उत्फुल्लफणावल्या यत्कवलनं तस्मिन् सति दरिद्रत्वं चोषणं प्राप्ता स्तं
इदानीं विरहिणीनामस्वादशोनां निःश्वाससम्पकिणः सन्तः शिशुत्वेऽपि चोषणत्वे
ऽपि तारुख्यस्य पूर्णा इव सन्तः बहलाः पुष्टा जाता इत्यर्थः । आहारो द्विगुणः स्त्रीणा-
मित्यत आहारैर्द्विगुणस्य सन्भोगखिन्नत्वेन फणाबाहुषेन च ततोऽप्यधिकस्य लाभान्
तादृश्याहारात् अतिचोषणत्वलाभाय सन्भोगीत्यादिकम् ।

अत्र सर्पाहारेण चोषणत्वस्य निःश्वासेन पुष्टत्वस्य च मलयानिले तन्मदशवाय-
न्करेवा अदर्शनात् स्वतोऽसम्भवित्वात् कविनिबद्धनायिकाप्रौढीक्तेः असिद्धीऽयमर्थो
व्यञ्जक इति । कविनिबद्धवक्तृप्रौढीक्तिसिद्धवस्तु व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह ।

सहि ! विरइऊण माणस्य मज्झ धीरत्तणेण आस्सासम् ।
 पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥
 अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने 'प्रसन्नेति विभावना प्रियदर्श-
 नस्य सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्यत्प्रेक्षा वेति ।
 उल्लोलकरअरअणकवणह्णिं तुह लोअणेसु मह दिस्सम् ।
 रत्तंसुअं.पसाओ कोबेण पुणो इमे ण अक्कमिअे ॥

सहोति । सखि । विरचये मानस्य मम धीरत्वेनाश्रासम् ।

प्रियदर्शनविशङ्कलक्षणे सहसति तेनापसृतम् । इति संस्कृतम् ।

प्रियदर्शनाद् भ्रष्टमानायाः सख्या मुक्तिरियं मम मानस्य स्थाने धीरत्वेन आश्रासं
 विरचये कृत्वा प्रियदर्शनादिशङ्कले व्याकुले क्षणे तेन धीरत्वेन सहसा अपसृतमिति
 इत्यन्वयः । इति कारोऽत्र वाक्यसमाप्तिमात्रे ।

अत्रेति । अचेतनस्य धैर्यस्य स्थाने धीरत्वेनाश्रासं विरचये कृत्वा प्रिय-
 दर्शनादिशङ्कलैतत्सदृशाचेतनान्तरस्य वा आश्रासदानपलायनयोः असम्भवात् स्वती-
 ऽष्टस्वविना कविनिबद्धनायिकाप्रौढीक्तिसिद्धेन तेन वस्तुना इत्यर्थः । कविनिबद्ध-
 वक्तु प्रौढीक्तिसिद्दालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तु आह ।

अज्ञीलेति । आद्राद्रं करजरदनक्षतैस्तव लीचनयोर्मम दत्तः ।

रक्तांशुकप्रसादः कीपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ॥ इति संस्कृतम् ।

नायकाङ्गे उपनायिकानखदन्तक्षतदर्शनात् कीपारुणनयनायाः चक्षुरारुण्य-
 हेतुप्रश्नकरं नायकं प्रत्युक्तिरियम् । तव इति अत्र अङ्गे इति शेषः । तथाच तवाङ्गे
 आद्राद्रं करजरदनक्षतैर्मम लीचनयोः रक्तांशुकं प्रसादी दत्त इत्यन्वयः । इत्युत्तरा-
 लङ्कारिणेति इत्यस्य प्रश्नस्य यदत्तरं लीचनयोः क्षतेन रक्तांशुकप्रसाददानरूपः
 प्रकृतवाक्यार्थोऽचेतनेन क्षतेन प्रसाददानासम्भवात् कविनिबद्धाया नायिकायाः
 प्रौढीक्तेरसिद्धीऽलङ्काररूपक्षेपेन इत्यर्थः उत्तरश्रुतिमावतः प्रश्नस्य उत्तरनयनं यत्रेति
 वक्ष्यमाणीत्तरालङ्कारलक्षणात्क्रान्तत्वात् । न केवलमिति मम अप्रौढ्यत्पादनाय
 त्वया यानि क्षतानि असङ्गीपितानि प्रसाददानात्तैरेव मम प्रीतिरूपादितेति पथ्यव-
 क्षितार्थः । न च प्रसाददानं वाच्यमेव तत् कथं व्यङ्ग्यतया दर्शितमिति वाच्यं चक्षुषि

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि ? इति उत्तरालङ्कारेण न केवलमार्द्रं नखक्षतानि गोपयसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

महिलासहस्रभरिण तुह हिअए सुहय ! सा अमाअन्ती ।

अणुदिणमणस्रअम्मा अङ्गं तणुं अवि तणुएइ ॥

अत्र हेत्वलङ्कारेण तनोस्तनूकरखेऽपि तव हृदये न वर्तते इति विशेषोक्तिः । एषु कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः । एवं द्वादश भेदाः ।

प्रसाददानस्य वाच्यत्वेऽपि चक्षुष्याः प्रसादपात्रत्वस्य व्यङ्ग्यत्वादेव कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कार व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह महिति ।

महिलासहस्रभरिण तव हृदये सुभग ! सा अमान्ती ।

दिवसमनन्यकमां अङ्गं तन्वपि तनयति ॥ इति संस्कृतम् ।

महिलासहस्रेण भरिते पूरिते अमान्ती अवकाशमलभमाना दिवसं व्याप्य तनयतीति तनू करोति तनु शब्दात् तत्करोत्यर्थे कारितम् । अथ हृदयेऽवकाशाभाभीऽङ्गतनूकरणे हेतुरलङ्कारः स च शरीरिण्याः परमनसि वासलाभासम्भवात् तस्यां तत्कटश्यां वा असम्भवीति कविनिबद्धतृतीप्रौढोक्त्या सिद्धः न वर्तते इति तनयतीति वर्तमाननिर्देशबलादप्युप्यवृत्तिलाभः । विशेषीक्तिरिति विशेषीक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावच इति तल्लक्षणं फलावचः फलाभावीक्तिः । एक इति शब्दशक्तिव्यङ्ग्यस्यार्थशक्तिव्यङ्ग्यस्य च प्रपञ्चितत्वात् तदुभयव्यङ्ग्यप्रपञ्चस्य तत्प्रपञ्चनैव गतार्थत्वादिति भावः । अतन्द्रेति रात्रिवर्णनमत्र प्रकान्तं तथा च श्यामारात्रिरिति वाच्यार्थः अतन्द्रचन्द्रोऽनलसेन्दुः तारका नक्षत्राणि तरखा यस्या इति विग्रहः ।

अत्र नायिका तदुपमा च रात्री व्यङ्ग्या तत्र नायिकाव्यञ्जने समुद्दीपितमन्त्रयेत्येकार्थकशब्दार्थस्य अथा सामर्थ्यं तथा अनेकार्थानां श्यामातरलचन्द्रशब्दानामपि सामर्थ्यं तथाहि शीतकाले भवेदुष्णायीषं च सुखशीतला । सर्वावयवशीभावाद्या श्यामा परिकीर्त्तिता इति परिभाषया श्यामाशब्दस्य नायिकैव द्वितीयार्थः तस्या विशेषणव्यञ्ज चन्द्रतरलशब्दयोः कर्पूरहारहारमध्यमी रूपौ द्वितीयार्थौ

शब्दार्थीभयभूरेकः

वथा । अतन्द्रचन्द्राभरणा, समुद्दीपितमन्मथा ।

तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥

अत्रोपमा व्यङ्गा ।

भेदा अष्टादशाऽस्य तत् ॥ ४० ॥

अस्येति ध्वनेः ।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह
रसादीनामनन्तत्वात् भेद एकोहि गण्यते ।

अनन्यकपूर्वाभरणा तारकातुल्यहारमध्यगा इत्यर्थात् समुद्दीपितमन्मथेत्यत्र पुरः-
स्थापितमन्मथेति करणे तादृशार्थस्य कविप्रौढीक्तिसिद्धत्वेन भेदसम्भवेऽपि गतार्थ-
त्वात् प्रपञ्चानादरेणैव एक इत्युक्तमवधातव्यं चक्रवर्त्ती तु एतादृशमद्दर्शितप्रपञ्च-
सम्भवानवधानादेक इत्यत्रालङ्कारमात्रस्यैव सम्भवं वीजं व्याचष्टे । ननु निरुपादानस-
म्भवमित्यादावपि अनेकार्थयोः कलाशब्दचित्तशब्दयोः इव वा तादृशनिरुपादानेत्यादि
शब्दार्थानामपि सामर्थ्याच्चित्रकरतद्वातिरेकयोर्व्यङ्ग्यत्वेन तत्र अपि उभयशक्ति-
व्यङ्गत्वस्यैव प्रशक्तिरिति चेन्न । एकस्मिन् व्यङ्ग्ये परस्परनिरपेक्षैकैकस्य व्यङ्गकत्व-
सम्भव एव उभयशक्त्युत्पत्त्यान्न तु परस्परसापेक्षस्य भवति हि निरुपादानेत्यादि
शब्दार्थानां चित्रकलाशब्दसापेक्ष्यैव चित्रकरव्यङ्गकत्वं न स्वतन्त्रयोक्तौ सर्वतो
वैलक्षण्यस्यैव प्राप्तेन तु चित्रकरान् प्रकृते तु अतन्द्रेत्यादि निरपेक्ष्यैव मन्यथीद्वैप-
कतया नायिकाव्यञ्जनसम्भव एव इत्यवधातव्यम् ।

भेदा अष्टादशेति । अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ताररुक्तवाच्यौ द्वौ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-
ध्वनिरिकः शब्दशक्त्युद्भवौ द्वौ अर्थशक्त्युद्भवा वादृश उभयशक्त्युद्भव एकः इति अष्टादश
भेदाः । परस्परदर्शनादिजलकेखान्ताः अनुभावाः सर्वत्रैव परस्परैक्यस्यान्वयः सूर्यास्त-
मथेत्यादि उद्दीपनानि वर्णनञ्च नायिकया नायकं प्रति नायकेन च नायिकां प्रति
कथनं न तु कविना वर्णनं नायकनायिकाभ्यां तस्याज्ञातत्वे तदीयरत्युद्दीपनत्वासम्भ-
वान् भेदा इति भेदका इत्यर्थः । दंशकार्त्तिति तयोः स्वर्गीयत्वमर्त्यत्वादित्वे स्वर्ग-

अनन्तत्वादिति तथाहि नव रसाः तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्बश्च, सम्भोगस्याऽपि परस्परालोकनालिङ्गनपरिचुम्बनादिकुसुमोच्चयजलकेलिसूर्यास्तमयचन्द्रोदयषडृतुवर्णनादयो बहवो भेदाः, विप्रलम्बस्याभिलाषादय उक्ताः, तयो-
रपि विभानुभावव्यभिचारिवैचित्र्यं, तत्रापि नायकयोः उत्त-
ममध्यमाधमप्रकृतित्वम्, तत्रापि देशकालावस्थादिभेदा इति
एकस्यैव रसस्यानन्त्यं का गणना तु अन्येषाम् । असंलक्ष्यक्र-
मत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य गद्गादिध्वनिभेद एक एव गण्यते ।

वाक्ये हुत्थः

हुत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

पदेऽप्यन्ये ।

अपिशब्दाद्वाक्येऽपि । एकावयवस्थितेन भूषणेन कामि-
नीव पदद्योत्येन व्यङ्गेन वाक्यव्यङ्गा भारती भासते ।

तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेण उदाहरणानि ।

मर्त्यादिदेशः वसन्तादिकालीयत्वं वसन्तादिः कालः वाक्यवयःसन्धियौवनाद्या
अवस्था वाक्य इति वाक्य एवेत्यर्थः । व्यङ्ग्यत्वं सप्तम्यर्थः वाक्यमात्रव्यङ्ग्य इत्यर्थः ।
अनेकार्थकैकार्थकशब्दाभ्यामेकव्यञ्जने व्यञ्जकयोर्वाक्यत्वस्यैव नियतत्वादिति भावः ।
पदेऽपीति पदे व्यङ्ग्या अपीत्यर्थः । यद्यपि हुत्थसदन्ये सप्तदश च व्यङ्गरूपा एव न
ध्वनिकाव्यरूपास्तथापि तत्परिभाषयैव तद्वतः काव्यस्यापि तथा परिभाषेत्यवधेयम् ।

अपि शब्दादिति । उक्तसमुच्चयपरीऽपिशब्द इत्यर्थः । पदव्यङ्ग्यानां सप्त-
दशानां महावाक्यव्यङ्गीपकारकत्वमित्याह एकावयवेति । भारती अत्र महावाक्य-
व्यङ्ग्यार्थरूपं काव्यं काव्यस्य शब्दार्थोभयात्मकत्वात्तस्य महावाक्यव्यङ्ग्यस्य उपकारकत्वं
पदद्योत्योऽर्थस्थेत्युक्तं पदद्योत्येन इत्यनेन पदस्य क्वचिद् व्यङ्गान्तरद्योतनात् क्वचित्
च महावाक्यव्यङ्ग्यनिष्ठप्रकर्षद्योतनात् तदुपकारकार्थप्रकाशकतेति तत्तदुदाहरणे दर्श-
यिष्यामः । एकावयवस्य भूषणं नासिकास्थमौक्तिकादिपदं प्रकाश्यत इति महावाक्य-

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रव शत्रवस्तथा ।

अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥ [१]

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्वनियन्त्रणत्वस्त्रे ह्यपा-
चत्वादिसंक्रमितवाच्याः ।

खलबवहारा दीसन्ति दारुणा जह्वि तह्वि धीराणम् ।

हिंश्रन्नवन्नस्त्रबहुमत्रा ण हु बवसात्रा विमुञ्चन्ति ॥ [२]

अत्र विमुञ्चन्तीति ।

व्यङ्ग्योपकारकाणां व्यङ्ग्यानामुक्तसप्तदशानां पदप्रकाशयत्व इत्यर्थः । पदप्रकाशयत्व इति क्वचित् पाठस्तदा च पदात्प्रकाशी धेषामिति बहुव्रीहिः पदत्वञ्च वाक्यभिरन्वयमेव विवक्षितं वाक्यञ्च क्रिया वा कारकान्वितेति कीर्षीकलक्षणमेव विवक्षितं तेन उपसर्ग-
विश्लेषाया नञर्थान्विबाया वा आश्वस्तिकक्रियायाः समासाभावेऽपि पदत्वमेव अतो विमुञ्चन्ति इत्यस्या न चलतीत्यस्याश्च क्रियाया वक्ष्यमाणं पदत्वमुपपन्नं क्रमेण इति लक्षणादयमूलध्वनिक्रमेणेत्यर्थः । यस्य मित्राणीति तदपकारे धेषोऽनुकम्पा तथाच हेत्यापकारको जनोऽनुकम्प्यः स्त्रे ह्यपावन्तु द्वितीयानुकम्प्य पदार्थः स्त्रे ह्य उपकार्य-
त्वेन सदैव ज्ञानमती भेदः । अत्र नियन्त्रणत्वं निःश्रेयणं यन्त्रणं पीडनं श्रेयां तत्त्व आश्वस्तादयो लक्ष्याः आश्वस्तादिकञ्च लक्ष्यतावच्छेदकमर्थान्तरं तेन रूपेण प्रतीयमानमिन्द्रादिरूपवाच्यार्था इत्यर्थः । एकैकवाच्यस्यैकैकमित्रादि लाक्षणिक-
पदानामत्र उपश्लोक्यपुरुषस्य मित्रादानुचितव्यवहारित्वं व्यङ्ग्यं तच्च महावाक्य-
व्यङ्ग्यस्य तद्विषयभावस्य उपकारकमिति पदव्यङ्गेन वाक्यव्यङ्ग्यवत् काव्यशीभो
बोध्या यद्यपि त्वामस्त्रीत्यादावपि व्यञ्जकानां वच्मनीत्याद्येकैकपदानामिकैकवाक्य एव
स्थितिरिति तथापि न वाक्यप्रकाशयतासम्भवस्तथापि तत्र वच्मोति क्रियायाः कर्म-
भावेनैव विदुषामित्यादेरुक्तत्वात् कारकान्वितक्रियारूपवाक्यमेव तत्र व्यञ्जकम् अत्र
तु यस्य स इत्यनधीर्यत्तदीर्विशेष्यविशेषणभावमात्रं न कारकान्वितक्रियारूपवाक्यत्व-
मिति पदमेव व्यञ्जकम् । अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यं लाक्षणिकव्यङ्ग्यम् । महावाक्य-
व्यङ्ग्योपकारकमाह खलव्यवहारिति ।

खलव्यवहारा इत्यन्ते दारुणा यद्यपि तथापि धीराणाम् ।

हृदयवयस्यबहुमता न हि व्यवसाया वा विमुञ्चन्ति ॥ इति संस्कृतम् ।

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।

तदा सुधास्यदमभूदधुना तु ज्वरी महान् ॥

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरां अर्थाः प्रकाश्यन्ते ।

यथा वा

मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते ?

मानं धत्स्व, धृतिं बधान. ऋजतां दूरे कुरु, प्रेयसि ।

कृतसङ्केतनायकानागमनीत्वविहितं त्रीयं इत्यप्रति नायिकाया आश्वासनीतिरि-
रियं न विमुह्यन्तीति न विपरीता भवन्तीत्यर्थः ।

खिल एव विपरीतभावकारी मम प्रियस्तु धीरो न तथेति वाक्यार्थः । अत्र ति
विमीहस्य प्राचिधर्मस्य व्यवहारे बाधात् विपरीते लान्घणिके विमुह्यन्तीति पद-
मत्यन्तिरस्कृतं वाच्यं तच्च उक्तरीत्या पदमेव तदाज्ञञ्च धीर स्वप्रियमहत्वं
महावाक्यव्यङ्ग्यं गृह्यारस्थीपकारके बीध्यं वाक्यप्रकाशे तु उपकृतं बहु यत्वेत्यादि
यदुदाहृतं तत्रैकवाक्यस्थितत्वाद्गोचकसकललाक्षिकपदानां वाक्यमेव तत्र व्यञ्ज-
कम् । असंलक्ष्यक्रमपदव्यङ्ग्यं महावाक्यव्यङ्गीपकारकमाह ।

लावण्यं तदिति । अत्र तदादिपदैरिति एकैकवाक्यस्थितैः इति शेषः । न च
सर्वेषां वाक्यानां तदा सुधास्यदमभूदित्यतान्वाद्यादेकवाक्यतेति वाच्यं तदन्वयमन-
पेक्ष्यादि लावण्यं तदित्यस्यैव क्रियानन्वितस्य व्यञ्जकत्वात् । अनुभवैकेति प्रकाश्यन्ते
अर्थवैवेति शेषः बुद्धिस्यत्वेन तदादिपदशक्तेः तद्गोच्यं अत्र महावाक्यव्यङ्ग्यविप्र-
लम्भीपकारकसन्निधः प्रकर्षः पूर्वानुभूतसुखहेतुज्ञाने विप्रलम्भातिशयात् । स च
प्रकर्षोऽसंलक्ष्यक्रमवृत्तित्वादसंलक्ष्यक्रम एवेति प्रकृतीदाहरणता केचित् तु अनुभवै-
केति व्यङ्ग्यार्थप्रदर्शनमेव कृतं घटत्वादिरूपेणैव तदादिपदशक्तेरनुभवैकगोचरत्वादिना
व्यङ्ग्यत्वादेवेत्याहुः तत्र । अनुभवैकगोचरत्वादिरूपव्यङ्ग्यार्थस्य वस्तुरूपत्वेन असंलक्ष्य-
क्रमव्यङ्ग्यीदाहरणतानुपपत्तेः अती विप्रलम्भप्रकर्ष एवात्र व्यङ्ग्यः । विप्रलम्भीप-
कारकप्रकर्षव्यञ्जकवदमुदाहृत्य सभोगीपकारकप्रकर्षव्यञ्जकं पदमुदाहर्तुमाह यथा
वेति । पत्यावचक्रभावां सखीं वक्रभावकरणाद्यमुत्तेजयन्त्याः सख्या उक्तिरियं सख्या
एवं प्रबोधिता नायिका तां सखीं गीर्षैः शंस इत्यादिरूपं प्रतिवचः प्रत्युत्तरं
भौतानना सती आहृत्यर्थः । प्रतिबोधनीयमर्थमाह ।

सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भौतानना,

नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोथति ॥ [३]

अत्र भौताननेति एतेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते । भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकं न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते ।

रुधिरविसरप्रसाधितकरालकरवालरुचिरभुजपरिघः ।

भटिति भ्रुकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभाति नृपभीमः ॥ [४]

सुग्धे इत्यादि । सुग्धे ! उपदेशग्रहणम् । सुग्धतया वक्रभावानभिज्ञतयाऽखिलो भूतवर्त्तमानभावरूपः आरम्भवशात् भाविकालस्यापि तथात्वज्ञानं धत्स्व गृह्याण वधान निगङ्गताङ्गुष प्रियरतावुत्कण्ठिता माभूरित्यर्थः ऋजुतामवक्रभावं प्रति वच इत्यस्य मानं धत्स्वेत्यादि वाक्यं प्रति नीचैः शंसेत्याहृति वार्थः ।

अवेति । नाकियायाः सम्भोगप्रद्वारोऽत्र महावाक्यव्यङ्ग्यस्तत्प्रकर्षश्च भौताननेत्यस्य व्यङ्ग्यः तदप्रीतिजनकवाक्यश्रवणात् भयेन अनुरागात्मकरतेरतिशयलाभात् भौताननत्वानुपादाने तु तदुक्तेः प्रतारणरूपताप्यवगम्यत इति भावः । युक्ततागम्यत इति अनुरागातिशयादेव तदप्रीतिजनकवाक्यनिषेधस्य युक्ततेत्यर्थः शून्यं वासगृहमित्यादौ तु न तादृशं किमपि पदमिति तत्र वाक्यप्रकाश्यतेव । न अधिकं वैचित्र्यमिति पदप्रकाश्यस्य रसानां प्रकर्षस्य यथा वैचित्र्यमास्वादजनकत्वं भावादीनां प्रकर्षस्य तथात्वेऽपि तथैवास्वादजनकत्वं न ततोऽधिकमित्यर्थः । चक्रवर्ती तु अमृतस्य कणापि यथा आस्वाद्या तथा पदप्रकाश्यतया अस्वीयानपि रसकण आस्वाद्य इति तत्र वैचित्र्यमस्यैव मधुतुल्यानां भावादीनान्तु कणा नास्वाद्येति तत्र वैचित्र्यभाव एव दर्शितो न अधिकमित्यनेन इत्याह । तत्र व्यञ्जकस्याल्पत्वेन व्यञ्जस्य अल्पत्वाभावात् न हि महाप्रदीपव्यङ्ग्यात् घटादल्पप्रदीपव्यङ्ग्यो घटोऽल्पः तथा कान्तादेरादिरूपविषयभावभेदो रसभावयोरिति तयोरास्वाद्यतायां न्यूनाधिक्याभावात् रसभावयोर्महावाक्यभावव्यङ्ग्ययोः प्रकर्षस्यैव पदव्यङ्ग्यत्वेन तथैवामृतमधुदृष्टान्तीचित्येन रसभावयोस्तदृष्टान्तान्तीचित्याच्चेति अवधत्तव्यम् । महावाक्यव्यङ्ग्योपकारकं पदप्रकाश्यं शब्दशक्तिमूलमलङ्कारमाह ।

रुधिरिति । विसरः रक्षणं प्रसाधितः कृतमण्डनः करालो भीषणः करवालः

खड्गः परिघो मुद्गरः विटङ्कितः उच्चनीचीकृतः पट्टः स्फारदेशः भीमी भीषणीयः ।

अत्र भौषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

भुक्तिमुक्तिद्वयान्तसमादेशनत्परः ।

कस्य नानन्दनिश्चन्दं विदधाति सदागमः ॥ [५]

काचित् सङ्केतदायिनमेवं मुख्यया हृत्त्या शंसति ।

सायं स्नानमुपासितं, मलयजेनाङ्गं समालेपितम्

यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विश्रब्धमन्दा गतिः ।

अत्रेति । भीमपदशक्तिमहिम्ना भीमसेनोपमा व्यञ्जा इत्याह भौषणीयस्येति ।

उपमा चात्र महावाक्यव्यङ्ग्यराजविषयभावोपकारिका भीमसेनोपमया राज्ञः प्रकधात् उक्तास्येत्यादीं तु कालकरवाल्मप्रतापादेव शब्दानामनेकीषामिव प्रत्येकं पदत्वेऽपि वैशिष्ट्यादिव्यञ्जकत्वेन एकवाक्यतापन्नत्वादेकवाक्यस्थत्वाच्च वाक्यमेव व्यञ्जकं शब्दशक्तिमूलं पदप्रकाश्यं महावाक्यव्यङ्ग्योपकारकं वस्तु आह भुक्तीति । अनान्तरसन्निधौ सङ्केतदायिनि उपनायके उपस्थिते स्वहर्षे पुराणादिशास्त्रप्रशंसा-व्याजेन सूचयन्त्याः उक्तिरियं सदागमः पुराणादि सञ्चास्त्रं कस्य जनस्य आनन्द-निश्चन्दं हर्षाविर्भावं न करोति कीदृशः भुक्तिः स्वर्गभोगी मुक्तिरपवर्गः तत्कृत-एकान्ते समादेशनं तत्त्वज्ञानं तत्परस्तज्जनक इति वाक्यार्थस्तु सत्पुरुषस्य गमनम् ।

भुक्तिमुक्ती सुरतोपभोगगृहकर्मपरित्यागौ एकान्तसमादेशनं रहस्योपदेशः स च वस्तुरूपमहावाक्यव्यङ्ग्योपनायकविषयरसाभासप्रकर्षकः न चैवमेकीषाक्य-स्थानामनेकपदानामव व्यञ्जकत्वेन वाक्यप्रकाश्यतेवेति वाच्यं सदागमपदमाव-स्यैवानेकार्थत्वं भुक्तिमुक्त्यादिपदानां तु एकेनैव रूपेण वाक्यव्यङ्ग्यविशेषबोधकत्वेन नानेकार्थकत्वमतः सदागम इत्यद्वैव शब्दशक्तिमूलत्वात् वाक्यमेव न तु एकवाक्य-स्थत्वेनैकवाक्यत्वं व्यङ्ग्यभेदे एकवाक्यस्थत्वेऽपि पदत्वस्यैव तदप्राप्तिसहायुःखेत्यादी-अभ्युपगमव्यत्वात् तथा मिलनं विना एकैकस्य एकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वेऽपि पदत्व-मेव लावण्यं तदसावित्यत्र बोध्यं तत्रैकेनैव विप्रलम्भप्रकर्षद्योतनात् । अत्रेति मुख्यया उद्देश्यबोधनिर्वाहकत्वेन प्रधानोभूतया व्यञ्जनयैत्यर्थः । अमुख्ययैत्यपि कचि-त्पाठः सुगम एव । स्वतः सन्धिविस्तुव्यङ्ग्यं पदप्रकाश्यं वस्तु महावाक्यव्यङ्ग्योप-कारकमाह ।

सायमिति । उपनायकेन पथि उपभुक्तां ज्ञातागतां सखीमुपसङ्गन्त्याः उक्ति-

आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥ [६]

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया स्नाताऽसीति वस्तु
अधुनापदद्योत्यं व्यञ्जते ।

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।

तच्चिन्ताविपुलाङ्गादक्षीणपुण्यचया तथा ॥

रियम् । तव सौकुमार्यमाश्चर्यं येन सौकुमार्येण अभितः सर्वतः एव क्लान्तासि यतः
ते तव नेत्रद्वन्द्वं मीलनव्यतिकरेण बहुवारनिमीलनेन रहितं यथा स्यात् तथा नासितुं
स्यात् न शक्नोति क्लान्तेः सौकुमार्यमावाधीनत्वं साधयितुं वर्त्मशमाधीनत्वं निर-
स्यति सायमिति मलयजेनेति च एतद्दृश्येन वर्त्मशमनाशात् सायमत्र सायाङ्गस्त्रि-
सृङ्गर्त्तकस्तवातपाधीनाया अपि क्लान्तेः सम्भवादाह यातीऽसीति द्रुतगत्यापि
क्लान्तिसम्भवात् आह विशब्धेति भयादिरहिता मन्दा शनैः विशब्धमत्रागति रित्यपि
पाठः ।

अचेति । महावाक्यार्थरूपपस्तुनः स्वतःसम्भविनी इयं व्यञ्जम् । अधुना-
पदद्योत्यं कृतपरपुरुषेत्यादिकं वस्तु तदधीन उपहासश्च । तत्र उपहासश्चोपकारकं
कृतपरपुरुषेत्यादिकं तस्याधुनापदद्योत्यता च दिनान्तरे एवं क्लान्त्यभावेनाधुना तथा-
त्वेन हेतुविशेषपूचनात् । अलसशिरीमणीत्यादौ तु अलस इत्यादिर्धनसम्बन्धीत्यादेश्च
व्यञ्जकस्य पदत्वे ऽपि भूतानामयिम इत्यस्य वाक्यत्वात् स्वव्यञ्जहारामिलित्वा ममैवेत्या-
द्ये कव्यङ्गव्यञ्जकत्वादेकवाक्यत्वेन च वाक्यप्रकाशयता । स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्गं
पदप्रकाश्यमलङ्कारं महावाक्यव्यङ्ग्योपकारकमाह । पद्यद्वयेन जगत्सृष्टिं जग-
ज्जनकं क्लृप्तं चिन्तयन्ती अन्था गोपकन्यका निरुक्त्वास्तथा प्रतिबद्धप्राणदायुतया
सुक्तिं गता क्लृप्तवियोगरूता सुक्ता बभूवेत्यर्थः पापपुण्योभयक्षयादेव सुक्तिरित्यत-
स्तस्याः समस्तपापक्षयमुपपादयति ।

तदप्राप्तीति । तदप्राप्तिदुःखस्यात्युत्कटत्वेन समस्तपातकफलमेव तदिति
तद्गोगाक्षेप समस्ततन्नाश इत्यर्थः समस्तपुण्यक्षयमुपपादयति तच्चिन्ति । तादृशाङ्गा-
दस्य उत्कटत्वात् समस्तपुण्यफलमेवासाविति तद्गोगेनैव समस्ततन्नाश इत्यर्थः अङ्ग-
चिन्तनं विना न सुक्तिरित्यत आह चिन्तयन्तीति ।

चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।

निरुच्छासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥ [७]

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि विधौ-
गदुःखचिन्तनाह्लादाभ्यामनुभूतानीति उक्तम्, एवञ्च अशेषचय-
पदद्योत्ये अतिशयोक्ती ॥

क्षणदाऽसावक्षणदा, वनमवनं, व्यसनमव्यसनम् ।

वत वीर ! तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥ [८]

अवेति । अत्र समस्तपापपुण्यक्षयात् मुक्तिप्राप्तिरूपी वाक्यार्थः स्वतःसम्भवि वस्तु
तद्गङ्गायै महावाक्यव्यङ्ग्यगोपी विप्रलम्भोपकारिकावतिशयोक्त्यलङ्कारौ पदद्वयद्योत्या-
वाह ।

जन्मसहस्रैरिति । अतिशयोक्ती इति समस्तदुष्कृतफलानां तदप्राप्तिदुःखतया
समस्तसुकृतफलानां तच्चिन्ताह्लादतया चाध्यासस्य व्यङ्ग्यत्वादतिशयोक्तिद्वयं व्यङ्ग्य-
मित्यर्थः तद्व्यति निगोर्थाध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् । विज्ञेयातिशयोक्तिः
सेति प्रकृतस्यात्र समस्तपापफलानां समस्तपुण्यफलानाञ्च अप्रकृततदप्राप्तिदुःखेन
तच्चिन्ताह्लादेन च स्वाभेदेन अध्यासात् निगरेणञ्च स्वाचकशब्देनानुपादानं तच्चात्र
पापपुण्यफलानामनुपात्तत्वात् तेषां प्रकृतत्वञ्च प्रकृतमुक्त्युपयोगित्वात् । तथोरशेष-
चयपदप्रकाश्यत्वन्तु तन्महिम्नैवाध्यासविषयफलानां सामस्यलाभात् अशेषचय-
पदथोरैकवाक्यस्थलेऽपि स्वव्यङ्ग्यत्वात् तद्वारा अपरैकव्यञ्जकत्वाभावाच्च पदत्वमेव
धन्यासीत्यादौ तु न किमपि पदं तादृशमिति वाक्यमेव व्यञ्जकम् । स्वतः सम्भव्य-
लङ्कारव्यङ्ग्यं पदप्रकाश्यं महावाक्यव्यङ्ग्योपकारकं वस्तु आह ।

क्षणदेति । अक्षणदा अनुवत्सवदा अवनं रचकं शत्रूणां पलायनस्थानत्वात्
व्यसनं धूतन्त्यादि अव्यसनमविसीर्षं दुःखदशायां तद्विस्तारात् यद्वा अरिभिर्व्यसनं
क्षेपणं तादृशं व्यसनमापदित्यर्थः त्वदादिष्टा वत द्विषन्तः शिरसाक्षिप्ता निःसारिता
इत्यर्थः अथच अक्षणदा अरात्रिः अवन मनरण्यम् अव्यसनं व्यसनभिन्नमिति ।

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन विधिरपि
त्वामनुवर्त्तत इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु ।

तुह वल्लहस्य गोसन्धि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।

इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महीसन्मुहम् ॥ [६]

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य सुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं,
येन ज्ञानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम् । एषु
स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः ।

शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनया चणदादीनां चणदात्वादिपराङ्मुखत्वे विरुद्धे वते-
त्यादिना अर्थान्तरन्यासमाह पराङ्मुखे त्वयीति । स चार्थान्तरन्यासी दृष्टचरत्वात्
स्वतः सम्भव्ये तद्वद्गुणसर्वपदद्योत्यं वस्तु महावाक्यव्यङ्गीपकारकमाह ।

अत्र शब्दशक्तीति विरोधाङ्गेन विरोधनिर्वाच्येन महावाक्यव्यङ्गीऽत्र राज-
विषयभावः । विधिरपीत्यादिकं वस्तु तदुपकारकं सर्वपदद्योत्यमिति सर्वत्वेन
विधेरपि प्राप्तेः न च तस्य सर्वपदवाच्यत्वेन कथं व्यङ्ग्यत्वमिति वाच्यं वैरेषु पराङ्-
मुखत्वान्वये तस्य वाच्यत्वेऽपि तस्य तदनुवर्त्तनस्य विधित्वेन रूपेण तस्य च व्यङ्ग्यत्वा-
देव । दर्पान्धगन्धगजेत्यादी न किमपि पदं तादृशं व्यञ्जकमिति । तत्र वाक्यमेव
व्यञ्जकं न च कालीकटाक्ष इवेति इवशब्देन मित्यसमस्तं पदमेव तत्र तादृशं
व्यञ्जकमिति वाच्यं कीपकषायकान्तिविशेषेण साचिव्यादेव तत्र दर्शितव्यञ्जकत्वेन
वाक्यत्वात् । स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यं पदद्योत्यमलङ्कारं महावाक्यव्यङ्गीपका-
रकमाह ।

तुह वल्लहस्येति । तव वल्लहस्य गोशे आसीदधरो ज्ञानं कमलदलम् ।

इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसन्मुख मिति ॥ संस्कृतम् ।

गौः श्रितेऽवेति गोशं प्रभातं नववधू नवयौवना बधू र्वल्लभाधरे ज्ञानकमलदल-
रूपेण रात्रिवृत्तातिचुम्बनप्रकाशनाल्लज्जया बध्वा मुखनमनं तेन च रूपकेण
चुम्बनहेतुकमधरे ज्ञानत्व मित्येवं रूपी हेत्वलङ्कारो व्यञ्ज्यत इति आह ।

अवेति । रूपकबोधकस्य च समासपदत्वमिति रूपकद्वारेव तस्य प्रकाशकता
गाढकान्तदशनक्षतेत्यादी तु नेदृशं किमपि पदं किन्तु वाक्यमेव व्यञ्जकं व्यङ्ग्यं
हेत्वलङ्कारोऽधरज्ञानत्वहेत्वितिचुम्बनरूपी महावाक्यात्मकपूर्वाहं व्यङ्ग्यवसधूम्भी-

राइसु चन्द्रधवलासु ललित्रमाप्फालिजण जो चावं ।

एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विअभन्तो ॥ [१०]

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चि-
दपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशा-
अतिवाह्यते इति भुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाशयते ।

निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गी

दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले ।

गस्य उपकारकः स्पष्ट एव अस्य रूपकस्य चाधरस्य सदृशं कमलदन्तं सादृश्यघटक-
शीणत्वस्य दृष्टित्वात् स्वतःसम्भवित्वमित्युक्तमेव प्राक् । कविप्रौढीक्तिसिद्धवस्तु-
व्यङ्ग्यं पदप्रकाश्यं वस्तु महावाक्यव्यङ्गीपकारमाह ।

राईखिति ! रात्रिषु चन्द्रधवला सुललितमास्ताञ्च यथापम् ।

एकच्छत्वमेव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणम् इति ॥ संस्कृतम् ।

य इत्यस्य प्रकरणलभ्यः कामी विशेष्यः भुवनराज्यं भुवनराजत्वम् । अत्र अनङ्गी
राजकर्तृत्वस्य राज्यकर्त्तरि तत्सादृश्यस्य च बाधादिदं वाक्यार्थरूपं कविप्रौढीक्येव
सिद्धं तस्य व्यङ्ग्यं माह ।

येषां कामिनामिति तेभ्यो न कश्चिदित्यत्र तेभ्योऽपेत इत्यपार्थे पञ्चमी निर्धारणे
तु तदनुपपत्तेः पराङ्मुख इत्यन्तमेकं व्यङ्ग्यं स्वतोऽसम्भविन सस्यापि व्यङ्ग्यान्तरमाह
जाग्रद्भिरिति । ईदृशञ्च व्यङ्ग्यं महावाक्यव्यङ्ग्यस्य नवयुवतिभावशङ्कारस्य उपकारकं
तस्य भुवनराज्यपदद्योत्यता भुवनत्वेन समस्तलीकाधारत्वाद् यूनां साकल्यलाभात्
राज्यपदेन च तेषां स्ववशतालाभेन अपराङ्मुखत्वलाभात् पदद्वयसमासे नचैक-
पदत्वात् । कैलासस्थित्यादौ तु नेदृशं किञ्चित्पदम् । एकच्छत्तं विअ इत्यत्र एकच्छत्व-
मिवेति संस्कृतम् आह चक्रवर्त्ती तत्र ।

तदा उत्प्रेञ्चालङ्कारस्यैव व्यञ्जकतापत्ते नंतु वस्तुनः । कवि प्रौढीक्तिसिद्धवस्तु
व्यङ्ग्यं पदद्योत्यमलङ्कारं महावाक्य व्यङ्गीपकारक माह ।

निशितेति । अराले कुटिले अयांतु यौवनरूपे वयसि सति सुदृशी दृशि स्वबल-
मनङ्गीऽर्पयति कुत इत्यत्राह निशितेति । अस्या दृगेव मम निशितः शर इति व्यङ्ग्यं

दिशि निपतति यत्र सा च, तत्र

व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥ [११]

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्ती-
ति व्यतिकरपदद्वयोत्थो विरोधः ।

वारिञ्जन्तीषु उषो सन्दाबकअस्थिण ह्यिअण्ण ।

यण्णहरबअस्मए ण विमुद्धजाइ ण चलइ से हारो ॥ [१२]

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्प-
मान एवास्ते इति ण चलइपदद्वयोत्थं वस्तु ।

इत्यर्थः । सा च प्राग्वला दृक् यत्र दिशि निपतति तत्र अर्थाद् यूनामवस्थायतिकरं
परस्परमिलनमेत्य समुन्मिलयन्ति जायन्ते अवस्थांश्च कामिनां दश दशरूपाः
नाथ यथा ।

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता क्रमताऽरुचिः ।

अधृतिश्चाप्यनालम्बन्सन्मयीन्मादमूर्च्छनाः ॥

स्वतिथेति क्रमात् त्रिंशद् दशा स्वरदशा इह ।

एतासु च ज्ञानसाध्यानां तापारुच्यधृतीनाम् अनालम्बनीन्मादमूर्च्छनाभिरज्ञान-
रूपाभिः सह युगपत्ताऽभवेन मिलनीन्मेषस्य कविप्रौढीक्तौव सिद्धिः युगपत् परस्पर-
विरुद्धाश्च ता इत्यती युगपत्तासां विरीधी व्यङ्गमिव्याह ।

अत्र वस्तुनेति । व्यतिकरपदद्वयत्वता च तद्वशादेव युगपत्ताभानात् अस्थे
व्यङ्ग्यस्य च महावाक्यव्यङ्ग्यसंनस्तपुरुषविप्रलम्भोपकारकत्वम् । केशेषु बलामोडिष
इत्यादौ तु नेदृशं किमपि पदं व्यञ्जकमिति वाक्यमेव व्यञ्जकम् । कविप्रौढीक्ति-
सिद्धान्तलङ्कारव्यङ्ग्यपदद्वयोत्थं वस्तु महावाक्यव्यङ्ग्योपकारमाह वारिञ्जन्त इति ।

वार्यमाणीऽपि पुनः सन्नापकदर्शितेन हृदयेन ।

सनभरवयस्यतया विशुद्धजातिर्न चक्षति तस्या हारः ॥ इति संस्कृतम् ।

पुनरित्यत्र वीक्षार्थी बीध्यस्तथाच सन्नापकदर्शितेन हृदयेन पुनः पुनर्वार्यमाणी-
ऽपि तस्या हारः सनभरवयस्यतया हेतुना न चक्षति नापगच्छति वयस्यं व्यञ्जा
नापगच्छतीत्यर्थः । अत्र हेतुगर्भविशेषत्वम् ।

विशुद्धजातिरिति । मुक्ताजातेरत्यन्तशुभलरूपे विशुद्धत्वे ब्राह्मणत्वादिगुण-

सो सुवसामलाङ्गो धर्मिणो कलिलललिअणिअदेहो ।

तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसङ्गरे जअइ ॥ [१३]

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्ध-
योः प्राप्तः, यथा रतिविरतावपि अनिवृत्ताभिलाषः कामुको-
ऽभूत् इति खंधपदयोत्या विभावना । एषु कविप्रौढोक्तिमात्र-
निष्पन्नशरीरः ।

विशुद्धत्वाध्यासात्तस्य अचलनं हेतुता वस्तुतोऽसम्भवितीति कविप्रौढोक्तौव सिद्धा
तद्ग्रन्थमाह अवेति कम्पमान एवेति वारणात् स्थैर्याभावेनानपगमात् हृदयत्यागा-
भावाच्च । कम्पनैयत्यां न चलतोत्यस्य पदत्वञ्च चलतीति क्रियाया अकारकौभत्-
नञर्थान्विताया वाक्यभिन्नत्वेन पदत्वस्यैवाभ्युपगमस्य प्रागुक्तत्वात्तस्याः कर्तृकारका-
न्वयसत्वेऽपि तदन्वयवशनाव्यञ्जकत्वात् नञर्थान्वयिनेव व्यञ्जकत्वात् तद्दृश्यव्यङ्ग्यस्य च
महावाक्यव्यङ्ग्यनायिकाविप्रलम्बोपकारकत्वं ह्यारकम्पन विप्रलम्बप्रकर्षकबोधोत् ।
गाढालिङ्गनेत्यादौ न किमपि पदमीदृशं व्यञ्जकमिति वाक्यमेव तत्र व्यञ्जकम् ।
कविप्रौढोक्तिमिदालङ्कारव्यङ्ग्यं पदयोत्यमलङ्कारं महावाक्यव्यङ्ग्योपकारकमाह
सो सुद्धेति ।

सशुद्धी श्यामलाङ्गी धर्मिणः कलिलललितनिजदेहः ।

तस्याः स्कन्धादलं गृहीत्वा स्वरः सुरतसङ्गरे जयति ॥ इति संस्कृतम् ।

सुरतीक्ष्णं नायिकाया स्कन्धपतितश्लथबन्धकेशदर्शनादुद्धीममदनस्य नायकस्य पुनः
सुरतवर्णनमिदम् । धर्मिणः सयतकेशपाश एव सुप्रसिद्धः शुद्धः श्यामलाङ्ग स्वरः
तस्या नायिकायाः स्कन्धादलं गृहीत्वा सुरतसङ्गरे जयति सुरतः प्रवर्त्तकतारुपोत्कर्ष-
वान् भवति इत्यर्थः कीदृशः कलितशुद्धश्यामलरूपललितनिजदेह इत्यर्थः ।

अवेति । श्यामतनुत्वं कामे कृतीऽप्यप्राप्तत्वेन बाधात्तद्रूपणस्य स्वतीऽसम्भवित्वात्
कविप्रौढोक्त्या सिद्धिः तद्ग्रन्थालङ्कारमाह रतिविरतावपीति । रत्यनुत्तरकालस्याभि-
लाषहेतोरभावेऽपि अभिलाषरूपफलव्यक्तात्मिका विभावनैत्यर्थः तस्य अलङ्कारस्य
स्कन्धपदयोत्यतायुक्तिमाह मुहुराकर्षणेनेति स्कन्धप्राप्तिमहिम्नैव रत्यनुत्तरत्वलाभा-
दभिलाषीत्यादाच्च स्कन्धवाचकपदं द्योतकमित्यर्थः स च विभावनालङ्कारो महा-
वाक्यव्यङ्ग्यनायकशङ्कारप्रकर्षकः । अकालेऽप्यभिलाषेण शङ्कारातिशयलाभात् ।

एवपुस्त्रिभामिअङ्गसु सुहृत्र ! को तंसि भणसु सच्चं ।

का सोहृगसमग्गा पओसरअणिव्व तुह अज्ज ॥ [१४]

अत्र वस्तुना मयि इव अन्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं न तत इति एवेत्यादिपओसेत्यादिप्रदद्योत्यं वस्तु व्यज्यते । सच्चि ! एवण्हुवणसमरम्मि अङ्गवालीसह्णीए निविडाए ।

वा ठेरमित्यादौ तु न ईदृशं किमपि पदमिति तत्र वाक्यमेव व्यञ्जकं कविनिबद्धवक्तृ-
प्रौढीक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्गं पद्यद्योत्यं वस्तु महावाक्यव्यङ्गप्रकर्षकमाह । एवेति ।

नवपूर्णमासगाङ्गस्य सुभग ! कस्त्वमसि ? भण सत्यम् ।

का सौभाग्यसमया प्रदीषरजनीव तवाद्य ॥ इति संस्कृतम् ।

उपनायिकाग्रहजिगमिषुं स्वनायकमुपहसन्त्या उक्तिरियम् । नवीनपूर्णमा-
'चन्द्रस्य त्वं कीऽसि ? किं सम्बन्धसि ? त्वय्यपि तद्गमंक्षणिकरागित्वीपलभेरिति
भावः । तथा तव सौभाग्यं तदीयसुभगत्वं समयं समस्तं यस्यां का नायिका अद्य
तादृशी तव सुभगेत्यर्थः चन्द्रस्य प्रदीषरजनीव अत्र चन्द्रस्य कीऽसिति प्रश्नवाक्ये पुनत्व-
भाटत्वरूपः सम्बन्धः पद्यार्थी विवक्षितः तदीयधर्मवत्तया उपहासे सम्बन्धप्रश्नं न तद-
निर्वाहात् तथाच पूर्णमाचन्द्रविष्वस्य अप्राणिनस्तत्पदशाप्राण्यन्तरस्य वा तादृशसम्ब-
न्धाप्रसिद्धा प्रश्नस्य मनीऽप्रसिद्धा मनीहरत्वरूपसुभगत्वस्य चाप्रसिद्धा स्वतीऽसन्धवेन
कविनिबद्धाया नायिकायाः प्रौढीक्यैव सिद्धिः तद्वाक्यद्वयस्य पदद्वयव्यङ्ग्यद्वयमाह ।

मयि इवेति । न तत इति च नवत्वेन प्रथमानुरागित्वलाभः प्रदीषरजन्युपमया च
तदुत्तररागराहित्यलाभः रागस्य च अनुरागलौहित्यरूपतया नायकचन्द्रयोर्भेदे अपि
एकशब्दवाच्यतयाऽभेदाध्यासादित्यं प्रतीतिः यद्यप्येतद्व्यङ्गक उपमाङ्कार एव न
वस्तु न वा स्वतीऽसन्धवी तथापि न वेत्यादि दलेनाप्येतद्व्यङ्गनात्तथात्वं न च इव-
शब्दार्थान्वयेनैव प्रदीषपदस्य व्यञ्जकत्वेन वाक्यव्यङ्गतैवेति वाच्यम् इवशब्देन सह
नित्यसमासात् समासपदत्वात् । जे लङ्गागिरिमेहलीत्यादौ तु न ईदृशं किमपि पद-
मिति वाक्यमेव तत्र व्यञ्जकम् उक्तव्यङ्ग्यद्वयञ्च महावाक्यव्यङ्ग्योपहासप्रकर्षकमिति
बोध्यम् । कविनिबद्धवक्तृ प्रौढीक्तिसिद्धवस्तु व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह ।

सच्चि एवण्हुवणेत्यादि ।

सच्छि । नव निधुवनसमरेऽङ्गपालीसख्या निविडया ।

हारो निवारित्रीच्छिञ्च उच्चिञ्चमाणी तदा क्वं रमितं ॥ [१५

अत्र वस्तुना हारच्छेदादनन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्
कथय कौटुगिति व्यतिरेकः क्वं पदंगम्यः ।

प्रविसन्ती घरद्वारं विवलिञ्चवञ्चना बिलोद्गुण पङ्क ।

स्वन्वे घेतूण घटं हाहा णट्टोत्ति रुञ्चसि सञ्चि ! किञ्चि ? ॥

अत्र हेत्वलङ्कारेण सङ्केतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र
गन्तुं इच्छसि, तदा अपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किञ्चि-
पदद्योत्यम् । यथावा

हारो निवारित्रीच्छिञ्च उच्चिञ्चमाणीततः कथं रमितम् ॥ इति संस्कृतम् ॥

निविडया अत्यल्पपद्यासन्नया आलिङ्गनार्थकाङ्क्षपालीरूपया सख्या हारञ्चिञ्चत्वा
उच्चिञ्चमाणी गलितद्विचिर्माञ्चिकः सन्निवारित्रीऽपसारितस्तती निरुद्धापसारणांतु
कौटुगं परस्परं रमितं कौटुगे रतिः कारितेत्यर्थः ।

अत्र ज्ञानसाध्यहस्तादिकरणकहारच्छेदिकायाः सख्याः अचेतनाया मङ्गपाल्यां
रूपणं ज्ञानादिरूपस्तद्धर्मवत्यात्मकसादृशाभावात् स्वतीऽसम्भवि तदसम्भावञ्च तत्क-
र्तृकहारच्छेदानन्तररतिवैलक्षण्यप्रतीऽपि स्वतीऽसम्भवौति कविनिवञ्चायाः सख्याः
प्रौढीत्यैव सिद्धः तद्व्यङ्ग्यमलङ्कारं कथं पदव्यङ्ग्यमाह ।

अचेति । साधारणरतिस्वरूपीपमानती वैलक्षण्यरूपीऽत्र व्यतिरेकालङ्कारः
क्वं पदादिशेषतीऽज्ञायमानत्वे लाभाद्वैलक्षण्यस्य तद्व्यङ्ग्यता तदुभयशङ्कारस्य महा-
वाक्यव्यङ्ग्यस्य उपकारकत्वं तस्य च स्फुटमेव । स हि विरह जणेत्यादौ तु न
तादृशं किमपि पदमिति तत्र वाक्यमेव व्यञ्जकम् । कविनिवञ्चप्रौढीक्तिसिद्धा-
लङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तुपदद्योत्यं महावाक्यव्यङ्गीपवारकमाह । प्रविसन्तीति ।

प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विधीक्य पुनः पन्थानम् ।

स्वन्वे गृहीत्वा घटं हाहा नष्ट इति रीदिषि सञ्चि ! किमिति ॥ इति संस्कृतम् ।

नष्ट इत्यखाद्य घट इति शेषः किमिति रीदिषि निश्चेतुकमेव रीदिषि त्वत्प्रयत्नं
विना घटभङ्ग एव रीदनहेतुः स एव नास्ति निरर्थकमेव रीदिषीत्यर्थः ।

अचति । घटनाशो रीदनहेतुः स च स्वतीऽसम्भवौ उपस्थितनायकसन्निधि-
विगमिषाया एव रीदनहेतुत्वेन घटनाशे तदसम्भवादिति सख्याः प्रौढीत्यैव

बिहलंखलं तुमं सहि ! दिदृ० ण घटेण तरलतरदिडिं ।

दुवारप्फंसमिसेण अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विभिस्सो ॥ [१६]

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बद्धिपूर्वं व्याकुलया त्वया घटः स्योडित इति मया चिन्तितम् तत्किमिति नाश्वसिषि ? तत्समोहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनि कटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजनेत्यपङ्क्त्या वस्तु ।

जोह्लाइ महुरसेण अ विदस्सतारुस्सउत्सुअभणा सा ।

तत्किञ्चिः तद्वाङ्गं वस्तु आह सङ्केतनिकेतनमिति । तच्च महावाक्यव्यञ्जस्य नायिकाविषयस्य सखीनिष्ठभावस्य उपकारकम् । किमिति पदव्यात्यता च तस्य रीदनवैयर्थ्यबोधकैर्न तेन समीहितसाधनानुमतिलाभात् । ननु तस्य रीदनहेतुत्वाभावेऽपि तत्सदृशं घटभङ्गान्तरे तद्धेतुत्वं दृष्टमेवेत्यतः स्वतः सम्भावित्वमेव कथमन्यथा अधरे स्नानकमलदलरूपणस्य प्रागुक्तं स्वतः सम्भावित्वमित्यत उदाहरणान्तरमाह यथा वेति ।

विशङ्कलां त्वां सखि । दृष्ट्वा घटेन तरलतरदृष्टिम् ।

द्वारस्पर्शमिषेणात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्न इति ॥ संस्कृतम् ।

विशङ्कलां व्याकुलां तरलतरदृष्टिं त्वामित्यन्वयः । विभिन्न इति अन्तर्भूतकारितार्थं विभेदित इत्यर्थः । आत्मनीगुरुत्वं तत्र हेतुः वाच्यस्य पतनस्य हेतां गुरुत्वे स्वनाशनापि नायिकानुकूलरूपपरीपकारकारित्वरूपं गुरुजलत्वं व्यञ्जम् । अत्रेति भेदहेतीः द्वारस्पर्शनस्यापङ्क्तेन विशङ्कलत्वदर्शने तद्धेतुत्वारीपरूपयाऽपङ्क्त्या इत्यर्थः अचेतनस्य घटस्य दर्शनबाधादपङ्क्त्यमानद्वारस्पर्शमिथ्यात्वाच्च तस्याः स्वतोऽसम्भावित्वं नदीगमनायेत्यन्त मपङ्कतिव्रीजकथनं नन्वपङ्कतिशरैरं चेति तमित्यन्तमपङ्कतिज्ञानकथनम् । तत्किमित्यादिकान्तु व्यञ्जवन्तुकथनं तस्य मखीपदद्योत्यता च तादृशीपदेशस्य सखिक्त्यत्वात् तादृशीपदेशस्य महावाक्यव्यञ्जनायिकासम्भोगानुकूलत्वं स्फुटमेव । उल्लोङ्गकर अर अर्थव्यादौ तु नेदृशं किमपि पदव्यञ्जकम् । कविनिवङ्गवक्त्रुप्रीदीप्तिमिडालङ्कारव्यञ्जं महावाक्यव्यङ्गीपकारकमलङ्कारं पदद्योत्यमाह ।

जोह्ला इति । ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुणीन्सुकमनाः सा ।

बुद्धावि णश्रीदेञ्च परबह्व अहह ! हरद तुह हिअअं ॥ [१७]

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परबधूं त्वमस्मानुज्जित्वाऽभिल-
षसोति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परबह्वपद-
प्रकाश्यः । एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ।
वाक्यप्रकाशे तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थाभयशक्त्युद्भवस्तु पद-
प्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४१ ॥

यथा गृध्रगोमायुं संवादाटी

वृद्धावि नवीदे न परबधूं रहह ! हरति तव हृदयम् ॥ इति संस्कृतम् ।

गलितयौवननीपनाशिका रिरमयिषं पतिमुपहमन्या उक्तिरियम् । वृद्धापि गः
तारुण्याभावेऽपि ज्योतिष्यया मधुरमेन च दत्ततारुण्या कामीत्कण्ठितमना सप्त
हृदयं हरति अत्र हेतुः परबधूरिति परबधूर्त्वं तारुण्यादिकं त्वयानापेक्ष्यते इत्यर्थः ।

अवेति । काव्यलिङ्गं हेल्लङ्कारः परबध्वाः त्वच्चित्तहरणार्थपदार्थत्वात् स
चीपहासायमेव चित्तहरणहेतुतया तथाक्ता न तु वास्तवः कुरूपया परबध्वा चित्त-
हरणाभावादिति प्रौढोक्त्यैव तद्भेदतामिद्विः त्वदीयं चरितमित्यादिकं व्यङ्ग्या-
क्षेपालङ्कारकथनम् ।

निषेधो वक्तृमिष्टस्य यो विशेषाभिधिक्षया ।

वच्यनाण उक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

इति तल्लक्षणम् अभिलषतीत्यन्तु तदुपकारकथनं परबधूत्व-
मावादेव अभिलाषाच्च चरितकथनाशक्यत्वरूपाक्षेपलाभात्तस्य परबधूपदप्रकाश्यता
तस्य च महावाक्यव्यङ्गीपहासीपकारकत्वं स्फुटमेव अयुक्तकारित्वेन अनिर्वचनीय-
चरितस्य उपहास्यत्वात् । महिला सदृशेत्यादी न तादृशं किमपि पदं व्यञ्जक-
मिति तत्र वाक्यमेव व्यञ्जकम् । पञ्चत्रिंशदिति पदवाक्यप्रकाश्यत्वेन सप्तदश-
हैगुण्ये चतुस्त्रिंशत् उभयशक्त्युत्पत्तौ वाक्यमात्रप्रकाश्य इत्येक इति पञ्चत्रिंशत् ।
प्रबन्धेऽपि न केवलं पदवाक्ययोरेपि तु प्रबन्धेऽपीत्यर्थः । प्रबन्धस्यात्र एकवाक्यतापन्न-
मनेकवाक्य मिति हासरूपं तदप्रतिमहादः खित्यादि पद्यद्वयन्तु नानेकवाक्यमिति
नासी प्रबन्ध इत्यवधातव्यम् । अर्थशक्तिभूः स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यवस्त्वादिरूपः हाद-
शविधः । तत्र स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यं प्रबन्धप्रकाश्यं वस्त्वाच्च ।

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्गुले ।
 कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥
 न चेह जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः ।
 प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः, प्राणिनां गतिरीदृशी ॥
 इति दिवाप्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ।
 आदित्योऽयं स्थितो मूढाः ! स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
 बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
 अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
 गृध्रवाक्यात् कथं मूढाः ! त्यजध्वमविशङ्किताः ॥ .

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठश्च
 वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते । अन्ये तु एकादशभेदा ग्रन्थ-
 विस्तरभयाद्बोदाहृताः, स्वयं तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः । अपि-
 शब्दात् पदवाक्ययोः ।

अलमित्यादि । श्मशाने त्यक्तमृतवालकान् तद्वन्धून् स्वगृहगमनाय त्वरयती
 गृध्रस्त्रीकौ प्रथमपद्यद्वयरूपः प्रबन्धः कालधर्मं कालस्य यमस्य धर्मं मारणरूपं दिवा
 प्रभवत इति दिवाभक्षणप्रसङ्गेरित्यर्थः पुरुषविसर्जनपरमिति शिशुं त्यक्त्वा यूयं
 गच्छतेति यत्पुरुषाणां विसर्जनरूपं वस्तु तद्गृह्णकोऽयं पद्यद्वयरूपगृध्रवचनरूप-
 प्रबन्ध इत्यर्थः । तत्प्रबन्धार्थश्च स्वतःसम्भविवस्तुरूपी व्यञ्जकः । गोमायीरुक्ती पद्य-
 हयात्मकप्रबन्धं व्यञ्जकमाह ।

• आदित्योऽमित्यादि । आदित्यसत्त्वाद् युष्माकं श्मशानस्थितावन्धकारभयं नास्तीति
 भावः । स्नेहकरणं स्थितेरेव तत्फलमाह जीवेदपीति । बहुविघ्न इत्यनेन विघ्न-
 वन्मुहूर्त्तमृतस्य विघ्नग्रन्थमुहूर्त्तान्तरे जीवनसम्भावना तत्सम्भावनायां हेतुमाह
 असुमिति । कनकवर्णाभमित्यनेन वर्णविपर्ययाभावात् जीवनसम्भावना अप्राप्त-
 यौवनमित्यनेन यौवनाधीनस्य मरणहेतोरपचारस्याभावाज्जीवनसम्भावना मूढा इत्यत्र
 बाला इति कश्चित्पाठः शिशुबुद्धय इत्यर्थः ।

विजृम्भमाणस्य भक्षणसमर्थस्य जनव्यावर्त्तनं बालकवन्धजनानां व्यावर्त्तनं गृह-

पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।

तत्र प्रकृत्या यथा ।

रङ्गकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।

रुद्धस्स तौतिअणअणं पव्वईपरिचुंविअं जअइ ॥

अत्र जयतीति न तु शोभत इत्यादि समानेऽपि हि स्थग-
नव्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापाररूपेणास्य पिधानमिति तदे-
वोक्तृष्टम् । यथा या

गमनती निवर्तने तद्विहं तत्र निष्ठा पर्याप्तिरर्थेति विग्रहेण तद्व्याज्जकमित्यर्थः ।
तद्रूपं वस्तु च गोमाधुवाक्यरूपप्रबन्धार्थेन स्वतःसम्भाववस्तुना व्यञ्जित इत्यर्थः ।
अन्वेत्विति । स्वतःसम्भाववस्तु व्यञ्जालङ्कारादय इत्यर्थः । प्रबन्धेऽपीत्यपिशब्दस्य उक्त-
समुच्चयपरतामाह अपिशब्दादिति । पदैकेति पदैकदेशः प्रकृतिप्रत्ययीपसर्गरूपः ।
रसादयोऽसंलक्ष्यक्रमत्वेन कथिताः प्रकृत्यादंरपि व्यञ्जा इत्यर्थः । रङ्ग केलीति ।

रतिकेलिहृतनिवसनाकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।

रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ इति संस्कृतम् ।

नर्त्रीकृतया पार्वत्या करद्वयेन महेशस्य नयनयुगले पिहिते चुम्बनेन पिहितस्य
ललाटेनैवस्य वर्णनमिदम् । रतिकेली हृतं निवसनं परिधानवस्त्रं यस्यास्तादृश्या
अर्थात् पार्वत्या करकिसलयार्थां रुद्धं नयनयुगलं यस्य तादृशस्य पार्वत्या परिचुम्बितं
तृतीयनयनं जयति उत्कर्षभागित्यर्थः शङ्कारानुभावेन चुम्बनेन पिहितत्वात्
शङ्कारोत्कर्षव्यञ्जकत्वादुत्कर्षः । णिअसणेत्यत्र प्राकृतीकौ यदा हृतनिवसनं
यतस्तादृशाभ्यां पार्वतीकरकिसलयार्थां रुद्धेत्यर्थः नितम्बादाकृष्यमाणं वस्त्रं
कराभ्यां धृतं ततोऽप्याकृष्टमित्यर्थः । यदा हृतं निवसनं येन तादृशासी पार्वत्याः
करकिसलयेन निरुद्धं नयनयुगलं चेति कर्मधारयः । उत्कर्षं घटयति अन्वेति ।
जयतीत्यनेन जिघातुरूपप्रकृतेर्मयननिष्ठीत्कर्षवाचकता दर्शिता । शङ्कारोत्कर्षः
व्यञ्ज इत्यवधातव्यं शभधातोऽन्तु न ईदृशी व्यञ्जकता कान्यर्थकत्वात् तस्य इत्याह
नत्विति । समाने करद्वयपिहितवस्तुद्वयसमाने लोकोत्तरेण शङ्कारानुभावेन तदेव
तृतीयनयनमेव उत्कृष्टं व्यञ्जभूतशङ्कारोत्कर्षव्यञ्जकरूपेण जिघातुवाच्येनीत्कर्षेण
विशिष्टमित्यर्थः । धातुप्रकृतेः व्यञ्जकत्वमुदाहृत्य नाम प्रकृतेस्तदाह ।

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया,
 द्वित्राख्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः ।
 तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
 धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥
 अत्र पदानीति न तु द्वाराणोति । तिङ्सुपोर्यथा ।
 पथि पथि शुकचञ्चूचारुमाभाऽङ्गराणां,
 दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
 नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा,
 पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥

यथेति । पादानतः सोऽयं प्रेयान् कान्तया सशपथमपाकृत उन्मनाः स न
 यार्कधासभवनात् द्वित्राख्येव पदानि न याति तावत् धावित्वैव कृतप्रणामं यथा स्या-
 क्षथा कान्तया धृत इत्यन्वयः । प्रत्युतेत्यपाकरणवैपरीत्ये कथमेव कृतमित्यत्राह अहो
 प्रेम्ण इति गतिर्व्यवसायः । धावनक्रियाविशेषणमाह पाणिसम्पुटेति । पाणिसम्पुटस्थो
 गलन्नीवीनिबन्धो यत्र धावने तादृशं धावित्वैत्यर्थः न तु पाणिसम्पुटे गलनं गलत
 एव पाणिसम्पुटधृतत्वात् गलदित्यत्र लसदिति पाठान्तरं तदा नौवीनिबन्धस्य
 गलितत्वमूह्यम् अहो इति तादृशगतिर्वैचित्र्यविषयविश्वस्य प्रेम्णो गतिः स्वभावः ।

अत्रति । अत्यगमनस्यैव अत्र श्रीत्सुक्यरूपव्यभिचारिभावव्यञ्जकत्वात् पदानी-
 त्यत्र बहुवचनमव्यञ्जकमतः प्रकृतः पदस्यैव व्यञ्जकत्वं दूरगमने तु न तद्व्यञ्जनेत्याह
 नन्विति । प्रत्ययव्यञ्जकत्वमाह ।

तिङ् सुपोरिति । पथि पथि अङ्गराणामाभा शुकचञ्चूनामिव चारुरिति षष्ठी-
 समासः अङ्गुराश्च पङ्गवाङ्गरास्तेषामेव तादृशाभवात् वीरुधां लतानां लासकी
 नर्तकः नरि नरौति नृशब्दस्य रूपं द्राक् भ्रष्टाति चर्चा प्रसङ्गः किरणस्येति क्वचित्प
 इत्यस्य युटि करणमेव भवति न केवलं ज्जणादिप्रत्ययान्तस्तु रश्मिवाचक एव
 किरणशब्दः अतोऽत्र किरणं किरतिक्रिबन्तात् किरणशब्दात् तत्करणमित्यर्थे नाम
 कारितं ततो भावयुटि रूपमिदम् । तिङ्गा सुपा चिति किरतीति साध्यत्वं तिङ्गी
 वाच्यं निवृत्तेत्यत्र प्रथमाविभक्तिरूपस्य सुपः सिद्धत्वं वाच्यम् एवं कृतप्रत्ययस्य चाती-
 तत्वं वाच्यमेव योऽन्यत इत्यत्र तु उच्यत इत्यर्थः तथाच सायककिरणमाननिवृत्त्योः

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्व', निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वं तिङा सुपा च तत्रापि क्तप्रत्ययेनातीतत्व' द्योत्यते । यथा वा

लिखन्नास्ते भूमिं वह्निरवनतः प्राणदयितः,

निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।

परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकैः

तवावस्था चेयं, विसृज कठिने ! मानमधुना ॥

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति, तथा आस्त इति न तु आसीदिति, अपि तु प्रमादपर्यन्तमास्त इति, भूमिति न तु भूमाविति, न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सु-
बविभक्तौनां व्यङ्ग्यम् ।

कारणकार्ययोः पौर्वापर्यविपर्यये आहाय्येतया अवगते माननिवृत्तेरतिशीघ्रोत्पन्नत्व' तद्दशान्मानिनोऽङ्गारस्योत्कटवच्च व्यञ्जनया प्रतीयत इत्यभिप्रायः अतस्तद्व्यञ्जनात् अत्र तिङ् सुप् क्तप्रत्ययानां रसादिव्यञ्जकता बोध्या । प्रपञ्चयति यथा वेति । बहु-
दिनव्यापकमानां मानिनो' प्रति सख्या उक्तिरियम् ।

प्राणदयितः प्राणतुण्डो दयितः अवनतः सन् भूमिं लिखन् वह्निरास्ते इत्यन्वयः उच्छूनमुत्फुल्ल अवस्था अभ्यासान्मानो बहुदिनव्यापकः अत्र सकर्त्तव्यकारकस्थ-
प्रत्ययानां मीहरूपव्यभिचारिभावव्यञ्जकत्वं दर्शयति ।

अवेति लिखन्निति । सन् तिङा लिखन् वैशिष्ट्यमात्रेण स्थितिप्रतीत्या बुद्धि-
पूर्वकलिखनाभावरूपी मीही व्यञ्जः प्रयत्नवाचकाख्यातप्रत्ययनिर्देशे तु प्रयत्ननिदान-
भूता बुद्धिरपि प्रतीयेत अती लिखतीति नीक्तमित्याह ।

लिखतीति । आस्त इत्यत्र वर्त्तमानया मीह्व्यञ्जकावस्थया स्थितवर्त्तमानत्व-
लाभात् वर्त्तमानमीही व्यञ्ज इत्याह अपिलिति । एवञ्च आस्त इत्यत्र तिङा व्यञ्जं
दर्शिते तथा आस्त इति पुनर्लिखनं न त्वास्मित इति प्रत्युदाहरणप्रदर्शनार्थेति बोध्यम् ।
निर्देशे मूढता व्यञ्जकावस्थया स्थिते रतीतत्वप्राप्ताविदानीं मूढता न प्रतीयेतति
भावः । भूमिमितीति । भूमिः कर्मत्वोक्ती लक्ष्यरूपं कर्म न प्रतीयेत येन लक्ष्यविषय-

गामरुहं हि गामे वसामि ण अरट्ठिइं ण जाणामि ।
 णा अरिअणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥
 अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः ।

रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीदिति कालस्य, एषा हि
 भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः ।
 वचनस्य यथा

ताणं गुरुग्गहणाणं ताणं उक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स ।
 ताणं भण्णिअणं सुन्दर ! एरिसिअं जाअमवसाणं ॥

ज्ञानपूर्वकता प्रतीयेत अती लेश्व्यज्ञानमूढता तद्गङ्गा प्रत्युदाहरति न तु भूमा-
 वृतीति । तदाहि सकर्मकलिखधातीलेश्व्यं कर्म प्रतीयेत ततश्च लेश्व्यविषयज्ञानमूढता
 अ प्रतीयते इति भावः । न च भूमिमिति करणेऽपि भूमिविषयज्ञानं प्रतीयेत एव अतः
 कथं मूढतेति वाच्यम् उन्मीलितेन चक्षुषा भूमिविषयज्ञानजननेऽपि लेश्व्यलिखन-
 ज्ञानराहित्यरूपस्यैव मीहस्यात्र व्यज्ञत्वात् तदाह न बुद्धिपूर्वकमिति । सम्बन्धस्येति
 सम्बन्धार्थकविभक्तैरित्यर्थः सम्बन्धस्य पदैकदेशत्वाभावात् ।

यामरुहाम्भियामि वसामि नगरस्थितिं न जानामि ।

नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥ इति संस्कृतम् ।

कलहि नागरिकस्त्रीरूपहसत्या ग्राम्यस्त्रिया उक्तिरियम् । ग्रामरुहा ग्रामभवा
 नागरिकाणामित्यनादरं षष्ठी तस्याशानादरः सम्बन्धार्थः तथाच नागरिकाः
 अनादृत्य तासां पतीन् रत्यर्थं हरामीत्यर्थः तत्पतिभिस्तदनादरणस्य ग्राम्यस्त्रीप्रयु-
 क्तात् साऽप्यादर्वीत्यती हरणादनधीरेककठं कता ।

अवेति । अनादरबीधनद्वारा गर्वरूपकव्यभिचारिभावीऽत्र षष्ठ्या व्यञ्ज इत्यर्थः ।
 चक्रवर्त्तीतु अनादर एव व्यञ्ज इत्याह तत्र । अनादरे षष्ठ्यानुशासनात् तदाच्यात्वादेव
 अनादरस्य वन्मरूपत्वेन रसादिवाभावात् च । आसीदिति सम्प्रति त्वमधः कवलित-
 चणात्र भविष्यतीति भावः । कालस्येति कालार्थकविभक्तैरित्यर्थः अत्रापि गर्वी
 व्यङ्ग्यः । वचनस्येति एकत्वादिवचनस्येत्यर्थः ।

तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः ।

तासां भणितानां सुन्दर ! इदं जातमवसानम् ॥ इति संस्कृतम् ।

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं, प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते ।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुंचे ! चेतः ! प्रमुच्य स्थिर
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ? ।
किं मन्ये विहरिष्यसे ? वत हतां मुञ्चान्तराशामिमाम्
एषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ ॥
अत्र प्रहासः । पूर्वनिपातस्य यथा
येषां दीर्बलमेव, दुर्बलतया ते सम्मताः, तैरपि
प्रायः केवलनीतिरीतिशरणं कास्यं किमुर्वीश्वरैः ।

कृतावज्ञं नायकं प्रति नायिकायाः प्रीतिभक्तं नमिति ।

अवेति । गुणबाहुल्यप्राप्तये तदयङ्गणं बहुवचनम् अन्तरा अविच्छेदेन प्रेम्णं
एकवचनं द्योत्यत इति उच्यते इत्यर्थः । तदुक्तिद्वारा च अनुरागरूपरत्यतिशयो व्यङ्ग्यं
इत्यर्थः । पुरुषव्यत्ययस्येति व्यत्ययितमध्यमोत्तमपुरुषयोरित्यर्थः ।

रेरे इति साक्षेपसम्बोधने चञ्चलनयनायाम् अञ्चितागमिता रुचिर्येन रेरे चेतः ।
एणनयनां नारीमवलोक्य स्थिरप्रेमाणमात्मनी धैर्यरूपं महिमानं विमुच्य किं
नृत्यसि ? नर्सकवज्ज्वलं कथं भवसि ? नृत्यहेतुं तदभिधानं पृच्छति किं मन्ये इति ।
किं मन्यसे इत्यर्थः । मन्यमानमर्थमाह विहरिष्यसे इति विहरिष्यामीत्यर्थः । अनया मह
विहरिष्यामीति किं मन्यसे इत्यर्थः अत्राभ्युपगमं निवारयति वत हतामिति । हतां
दुष्टाम् अन्तराशामिमां मुञ्च कथं मीच्यामीत्यत्राह ।

एषेति एषा आशा त्वया संसारवारांनिधौ कण्ठतले शिला कृता अनया शिलया
मीच्यामीति भावः । शान्तपुरुषस्यीक्तिरियम् ।

अवेति । परिहासे मन्योपपदै मन्यन्तरुत्तम एकवचनेति सूत्रेण उत्तममध्यम-
पुरुषद्वये विधीयमाने परिहासे गम्यमान एव इत्यर्थेन अत्र परिहासी व्यङ्ग्य इत्यर्थः
न तु वाच्यः पुरुषद्वयान्तपदयोर्वाक्यत्वे नियमे न परिहासस्य परस्परसापेक्षतवाच्य-
त्वासम्भवात् वाच्येन शक्तिं वा लक्षणीति नियमात् । तथाच व्यङ्ग्यप्रहासद्वार
शान्तरसप्रकर्षो व्यङ्ग्य इत्यर्थः । पूर्वनिपातस्येति पूर्वनिपातितसमासपदैकदेशस्य
इत्यर्थः । पूर्वनिपातितपदस्येत्यर्थः ।

ये क्ष्माशक्र ! पुनः पराक्रमनयस्त्रीकारकान्तक्रमाः,
ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते । विभक्तिविशेषस्य
यथा

प्रधनाध्वनि वीर ! धनुर्ध्वनिभृति विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।

दिवसेन तु नरप ! भवानयुद्ध विधिसिद्धसाधुवादपदम् ॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गे तृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

भूयोभूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं

दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभौतुङ्गवातायनस्था ।

दीर्घलभवेत्यत्र एवकारात् नीतिबलव्यवच्छेदः ते दुर्बलतया सन्नता ज्ञाता इत्यर्थः ।
नोतिमात्रवलानामपि बलवत्त्वं खण्डयति तैरपीति । तैः बुद्धिस्थैः किं कार्यं किम-
पिकर्तुं न शक्यत इत्यर्थः । क्ष्माशक्र ! हे पृथिवीन्द्र ! ये पुनरित्यन्वयः पराक्रमी
दीर्घः नथी नीतिः कान्तक्रमाः कमनीयव्यवसायाः ते भवादृशाः भवत्प्रधर्माणः परं
केवलं पवित्रा स्त्रिजगति द्वित्रा द्विधा त्रिधा नैव स्युः कदाचिदेकः स्यादिति भावः ।
अत्रेति । यद्वाचिर्तं इथी रित्यनेन पूर्वनिर्णीतपदस्य स्वार्थेऽर्चितत्वबोधक-
त्वात् ततश्च पराक्रमे राजविषयभावप्रकर्षो व्यङ्ग्य इत्यर्थः । विभक्तिविशेषस्य अपवर्ग-
विहिततृतीयायाः ।

हे वीर ! धनुर्ध्वनिभृति धनुष्टङ्कारयुक्ते प्रधनाध्वनि युद्धपथे तव विधुरैः शत्रुभिः
दिवसं व्याप्य अयोधि हे नरप ! भवान्तु विधिसिद्धस्य युद्धविधायकविधिसिद्धस्य
साधुवादस्य पदं यथा स्यात् तदा दिवसेन अयुद्ध दिवसवत्तियुद्धक्रियाफलसिद्धौ
सत्समाप्तिमानित्यर्थः । युद्धफलज्ञात जय एव न तु पराजयः । विधिसिद्धेत्यादि विशे-
षणात् एष स च अपवर्गे तृतीयेति सूत्रेण विहिता । अर्थ इत्याह अत्रेति फलसिद्धौ
क्रियासमाप्तिः अपवर्गलक्षणं द्योतयतीति वक्तव्यम् । सूत्रानुष्ठितार्थस्य वाच्यत्वात्
तदुक्तिद्वारा च राजविषयभावप्रकर्षं सूत्राङ्ग इत्यर्थः ।

भूयो भूय इति लवङ्गिकया कथितमिति मालतीमाधवे चूर्णकैनान्वयः । भवन
वल्लवी भवनीपरिभवनं तस्य तुङ्गवातायनम् उच्चगवाक्षसक स्थिता मालती-

साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यत्
गाढोत्कण्ठाललितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥

अत्र अनुकम्पावृत्तेः करूपतद्धितस्य ।

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः

पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।

विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापञ्च कुरुते ॥

अत्र प्रशब्दस्य उपसर्गस्य ।

कृतञ्च गर्वाभिसृष्टं मनस्त्वया

किमन्यदेव निहताश्च नो द्विषः ।

तन्निकटया नगरीरथ्यया नगरीमध्यराजपथेन भ्रमी भ्रम्यः पथेदन्तं माधवं दृष्ट्वा
दृष्ट्वा ललितलुलितैः अत्यन्तकौमलैः अङ्गकैर्विशिष्टा ताम्यतीत्यर्थः । साक्षादित्यव्ययं
कामरत्नीर्हयोरपि विश्रंषणं प्रत्यक्षं नवं कामं प्रत्यक्षा रतिः इवेत्यर्थः ।

अवेति । तथाच तान्यथाग्यैरनुकम्पनीये रङ्गे रित्यर्थे तान्यथीग्याङ्गतात्या
विप्रलम्भप्रकर्षो व्यङ्ग्य इत्यर्थः कप्रत्ययस्य तद्धितत्वं पाणिनिमतेर्वाध्यन् उपसर्ग-
रूपस्य पदैकदेशस्य रसादिव्यञ्जकत्वमाह परिच्छेदेति । माधवस्य मकरन्दे स्वावस्था-
निर्दिशन्मिदम् । मम कोऽपि विकारोऽन्तमानसं जडयति तापञ्च कुरुते । विकार
विश्रंषणान्वाह ।

परिच्छेदेति । इत्यस्या ज्ञानं परिच्छेदः अस्मिन् जन्मनि पुनरनुभवपथम्
इत्यन्वयः पुनः शब्दीऽत्र व्यवच्छेदारथः तथा चास्मिन् जन्मनि तु इत्यर्थः तेन जन्मा-
न्तरे कदाचित् तथा स्यादित्यर्थः । आहस्तिवाचीत्वात् पुनः शब्दः प्राग्जन्मनि
पुनर्जन्मत्वस्य प्रागनुभवे पुनरनुभवत्वस्य वा सम्भवात् विवेकस्य इतरभेदविचारस्य
प्रध्वंसान्निःशेषाभावादुपचितेन महामोहेन विवेकविपरीतज्ञानेन गहनो व्याप्तः
प्रपूर्वो ध्वंसः प्रकर्षं द्योतयन् माधवस्य विप्रलम्भप्रकर्षं व्यनक्तौत्यर्थः ।

कृतञ्चेति । राशि मन्निवाक्यमिदं सर्वोऽत्र क्रोधहंतुभृती विवक्षितं तथाच

तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्

न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥

अत्र तुल्ययोगिताद्योतकस्य च इति निपातस्य ।

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्

अस्मद्भाग्यविपर्ययात् यदि परं देवो न जानाति तम् ।

वन्दौ वेध यशांसि गायति भरुत् यस्यैकबाणाहति-

श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥

अत्रामाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनामप्रातिपदिकव-
चनानां न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदिति अस्य सर्वाच्चे-

किमन्यदुत्तरमेवं सति एव नोऽस्माकं द्विषो निहताः अबन्धक्रीधत्वादिति भावः । अत्र
दृष्टान्तालङ्कारमाह तमांसौति । मौलितां मौलिस्थताम् ।

अत्रेति । तुल्ययोगिता सा च द्वितीयसमुच्चयालङ्काररूपा सत्त्वत्या युगपद्या
गुण क्रियति तल्लक्षणं नत्वत् तुल्ययोगिताऽसंलक्ष्योऽलङ्कारनियतानां सकृद्धर्मः सा
पुन स्तुत्ययोगितेति तल्लक्षणेन नियतानां प्रकृतानामप्रकृतानामेव वा एकधर्मान्वय
एव तदलङ्कारबोधनात् तदद्योतकस्य वाचकस्य कारणकार्ययोः गर्वशुभ्रघातयोः
एककार्यताया आहार्यबोधने शीघ्रशब्दघातव्यञ्जनात् राजविषयभावप्रकर्षो
व्यङ्ग्य इत्यर्थः । च शब्दस्य अन्वयत्वेऽपि पदीत्तरनिपातनियमान्निपातत्वं पदैकदेश-
त्वञ्च । एकत्रैव प्रत्ययप्रकृतीनां व्यञ्जकत्वं सुदाहरति रामोऽसाविति ।

रावणं प्रति विभीषणस्य वाक्यभिदं असौ बुद्धिस्थः पुरः प्रायोव्यञ्जनाच्च
पुरः प्राय इत्यर्थः रामो रामनाम्ना ख्यातः देवो भवान् पुन र्यद्वि तं न
जानाति तदा अस्मद्भाग्यविपर्ययादेवेत्यर्थः यस्य रामस्य यशांसि वन्दौ स्तुतिपाठक
इव मरुहायुः सप्तभिः स्वरैर्गायति कीदृशैः स्वरैः एकवाणस्य आहतिः यत्र तादृशा
ये श्रेणीभूता विशालास्ताला येषां विवरैः उद्गीर्णैः रामैकबाणभिन्नसप्ततालसप्त-
विवरप्रविष्टवायुफूलकारानेव निषादर्यभगान्कारादिसप्तस्वरकरणकयशोगान्तत्वे नाध्य-
स्येद मुक्तम् ।

अत्रेति । असावित्यनेन पुरः प्रायत्वस्य तदैकवचनेन च सहायनिरपेक्षमेव

पिणः भाग्यविपर्ययादिति अन्यथासम्पत्तिमुखेन न तु अभाव-
मुखेन अभिधानस्य ।

तरुणिमनि कलयति कलामंनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।

अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ।

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य, तरुण-
त्व इति धनुषः समीप इति मौली लपतीति त्वादिभिस्तुल्ये
एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित् स्वरूपस्यविशेषो यश्चमत्कारका-
री,—स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति । एवमन्येषामपि बोध-
व्यम् ।

तत्पौरुषस्य भुवनपदेन वामप्रसिद्धाधिकरणदेशविस्तारस्य तदीयबहुवचनै-
तद्बाहुल्यस्य गुणपदेन पित्रादिपौरुषनिरपेक्षस्वगणाधीनपौरुषस्य तदीयबहुवचनेन
च तद्बाहुल्यस्य बोधनात् वासरूपव्यभिचारिभावस्तद्बाहुल्य इत्यर्थः । यद्यपि एकेनैव
तद्बाहुल्यसम्भवेऽन्यवैयर्थ्यं तथापि बहुभिः प्रकृतं तद्बाहुल्यं बोध्यम् । नत्वदिति
त्वद्भाग्यविपर्ययान्मद्भाग्यविपर्ययादिति न कृतमित्यर्थः । तथा करणे एकैकस्य
भाग्यविपर्ययलाभः स्यात् अस्मादिति करणे तु बहुवचनान्तसमास एव तथा रूप-
मित्येतदाह अपि तु इति । अस्मात् भाग्यादित्यकृत्वा अस्माद्भाग्यविपर्ययादिति
करणव्यञ्जकत्वमाह भाग्येति । अभाग्यनिर्देशेऽपि भाग्यभावात् शुभं न जायेत अनि-
ष्टन्तु कृतः स्यात् विपर्ययत्वेनोपादाने तु भाग्यस्यैव दुरदृष्टरूपान्यथासम्पत्त्या
अनिष्टोत्पत्तिः प्रतीयते इति भावः । तथा चास्यापि वासव्यञ्जकत्वं निवेत्युक्तम् ।
विदग्धप्रयोज्यसंस्कृतविशेषस्वरूपैकदेशस्यापि व्यञ्जकत्वं माह ।

तरुणिमनीति । तस्याः तरुणिमनि तारुण्ये कर्त्तरि कलां रसचतुरीं कलयति
जगयति सति भ्रुवोरग्रे च कर्त्तरि अनुमदनधनुर्मदनधनुषः समीपे कलां पठति
सति इयञ्चकितहरिणचलनयना सकलललनामौलिमिधिवसति सर्वाङ्गेन
अधिका भवतीत्यर्थः ।

अत्रेति । तरुणिमनीत्यत्र इमनिच् अनुमदनधनुरित्यत्राव्ययीभावः । मौलीमधि-
वसतीत्यत्र वसत्याधारभूती मौलिः कर्मभूतः । स्वरूपस्येति एष स्वरूपविशेषः वाद-

वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते ।
अपिशब्दात् प्रबन्धेषु नाटकादिषु । एवं रसादीनां पूर्व-
गणितभेदाभ्यां सह षड्भेदाः ।

भेदास्तदेकपञ्चाशत्

व्याख्याताः ।

तेषां चान्योन्ययोजनम् ॥ ४२ ॥

व्युत्पन्नैरेव प्रयोज्यः तथाच तत्प्रयुक्तत्वज्ञानादेव रसप्रकर्षबोध इति भावः । संस्कृत-
मात्रज्ञसामान्यप्रयोज्यस्तु तरुणत्वे इत्यादिना शृङ्गारीत्कर्षव्यञ्जक इत्याह तरुणत्वे
इत्यादित्वादिभिरिति भावविहितत्वे प्रत्यये इमनिजीस्तुल्यं वाचकत्वम् एवमपरयोः
हर्थोरपि । अस्ति कश्चिद्विशेष इति गाढव्युत्पन्नप्रयोज्यत्वं हि सविशेषः तदवच्छेदक-
धर्मस्य च चमत्कारात्मकफलाधीनानुभावेकगम्यत्वेन विशिष्य वक्तुमशक्यत्वात्
कश्चिदित्युक्तम् । अक्रवर्त्ती तु इमनिजादीनां कीमलवर्णघटितत्वमेवेति व्याचष्टे
तन्न, तदा वर्णव्यञ्जकत्वीदाहरणत्वस्यैवापातात् तस्य वक्ष्यमाणत्वादेव ।

अपिशब्दादिति ।

वर्णेषु अपि इति अपिशब्दादित्यर्थः । कुलकान्तकमहावाक्यरूपप्रबन्धव्यञ्जस्य अर्थ-
शक्त्युद्भवे पूर्वदर्शितत्वात् तद्वाचवर्त्तनायाह नाटकादिषु इति । आदिशब्दान्नाटिकारूप-
कादीनां दशविधानामेवाभिनेयार्थानां परिग्रहः । शकुन्तलादि नाटकं रत्नावल्यादि
नाटिका वा महावाक्येन शृङ्गारस्य हि व्यञ्जकम् । एव सुत्तररामचरितम्
करुणस्येति । गणितभेदाभ्यां सहिति । असंलक्ष्यक्रमस्य रसादिरूपत्वेन तस्य
पदवाक्यप्रकाशस्वरूपगणितभेदाभ्यां सहित्यर्थः । एवञ्च प्रभेदत्रयस्य पूर्वगणित-
पञ्चविंशद्भेदगणनप्रविष्टत्वात् तत्परिहारेण पदैकदेशध्वनौ अन्यं नाटकादिप्रबन्ध-
व्यञ्जरूपं प्रभेदचतुष्टयमेव रसादीनां मपरं गणनीयम् । तथाच पूर्वगणिताः पञ्चविं-
शत्कुलकात्मकमहावाक्यव्यञ्जा अर्थशक्त्युद्भवा द्वादशभेदा रसादीनाञ्च पदैकदेशादि-
व्यञ्जं प्रभेदचतुष्टयमिति एकपञ्चाशद्भेदा ध्वनयः इत्याह भेदाः तदेकेति । एवं
ग्रहानेकपञ्चाशत्भेदेन गणयित्वा तेषामेकझीकमिलने बाहुल्यमाह तेषाञ्चेति ।
यीजनं मिलनं तदेव कीन प्रकारेण इत्यत्राह ।

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति, यावत्तेषां स्वप्र-
भेदैरेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वे नानुप्राद्यानुप्राहकतयैकव्यञ्ज-
कानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सङ्करेण परस्परनिरपेक्षरूपयैक-
प्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणैः ।

वेदखाब्धिवियञ्चन्द्राः (१०४०४)

शुद्धभेदैः सह

शरेषु युगखिन्दवः ॥४३॥ (१०४५५)

सङ्करेणेति । त्रिरूपं सङ्करं व्याचष्टे संशयास्पदत्वेनेति । उभयथापि सम्भवात्
किमिदं वा ध्वनिप्रभेदमिति संशयास्पदत्वं प्रकृतमानत्वमनुयाह्यत्वं प्रकर्षकत्वं-
मनुयाहकत्वम् उभयस्य एकेन व्यञ्जनेन व्यञ्जत्वमेकव्यञ्जकानुप्रवेशः ।

वेदिति । अङ्गानां वामतः क्रम इति रीत्याऽयं निर्देशः तथाच चतुरधिक-
चतुः शताधिकमेकमयुतं परस्परयोगघटिता ध्वनयः इत्यर्थः । व्यञ्जसङ्क्राहहि-
षशदेव तद्वतां ध्वनिकाव्यानामपि सङ्क्राहङ्केः न च एकपञ्चाशत्तुर्गुणैः चत-
रधिकद्विशतमेव भवति तत्कथं वेदखाब्धीत्यादि रङ्ग इति वाच्यम् ? एकपञ्चाशता
सह एकैकस्यैव चतुर्गुणैः एकैकस्यैव चतुरधिकद्विशतरूपत्वेन एकपञ्चाशतामेव चत-
रधिकद्विशतगुणैः वेदेत्याद्यङ्गलाभः स्यात् न चैकस्य परैः पञ्चाशता सह संशयास्पद-
त्वादि चातुर्विध्यं घटत एव खेन सह स्वस्य तदसम्भवादेकपञ्चाशता सह चातुर्विध्यं
कथमुपपद्यतामिति वाच्यं स्वसजातीयव्यक्तीनाम् अनेकत्वेन सजातीययोः तत्सम्भ-
वात् अवेदमवधेयम् उत्सर्गतः प्राप्तत्वादेव यन्वृत्ता इयं गणना क्रता निपुणावधाने
तु इदं श्यमेव तथाहि लक्षणासूत्राभिधाध्वनीनाम् एकव्यञ्जकानुप्रवेशो न सम्भवत्येव
व्यञ्जकस्यैकपदस्य लाक्षणिकवाचकलीभयाभावात् तथा शब्दार्थोभयभुवः पदैकदेश-
प्रकाशैः पदप्रकाशैर्वा सह एकव्यञ्जकानुप्रवेश एव न सम्भवति व्यञ्जकद्वयस्य तत्र
वाक्यत्वनियमात् किञ्च एकस्य एकपञ्चाशता सह चातुर्विध्यं गणनीयमन्तु तदुत्तरस्य
तु पञ्चाशतैव चातुर्विध्यं गणनीयं स्वपूर्वेषु चातुर्विध्यस्य तु पूर्वचातुर्विध्यगणना-

तत्र दिश्यावम् उदाह्रियते

खणपाहुणिष्ठा देवर ! जात्राए सुहृत् । किंपि दे भणिष्ठा ।

रुम्भइ पडोहरबलहीघरन्नि अणुणिज्जउ बराई ॥

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणेऽर्थान्तरे सङ्गमितः किमनु-
रणन्यायेनोपभोगे एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जकः ? इति सन्देहः ।

प्रविष्टत्वात् तत्र पुनर्गणनीय एव तदुत्तरस्य ऊनपञ्चाशत्तैव सह चातुर्विध्यं गणनीयं
स्वपूर्वद्वयेन सह चातुर्विध्यद्वयस्य पूर्वगणनाप्रविष्टत्वादित्येव रीत्या चरमस्यैव स्वेन
सह चातुर्विध्यं गणनीयं तथाच वेदेत्याद्यङ्गान्नवशताधिकवचनः सहस्रं ज्ञासनीयं
तथाच ५५०४ वेदाकाश शरीषव एवाङ्गा भवन्ति दर्शयिष्यते च स्वयमेव रीतिर्विरी-
धालङ्कार गणने जाति अतुर्भिर्जात्याद्यैः विरुद्धातु गुणैस्त्रिभिः । क्रिया हाभ्यामथ
द्रव्यं द्रव्यं चैवेति ते दश । इत्यनेन अन्यथा तत्रापि षोडशविधत्वस्यैवापत्तेर्न दशविध-
त्वस्येति । इत्यं मिलितानां सङ्ख्याप्रदर्शनं कृते तत्र शुद्धैकशचाश्रयः प्रवेशेन
सङ्ख्यामाह शब्दभेदैः सहेति । युगानि चत्वारि ।

खण पाहुणि ष्ठा इति ।

खण प्राणुणिका देवर ! जायया सुभग ! किमपि ते भणिता ।

रीदिति पश्चाद् भागवलभोग्हेऽनुनीयतां वराकौ ॥ इति संस्कृतम् ॥

देवरं प्रति भाटपत्रा अक्तिरियम् ।

खण उत्सवः तत्र प्राणुणिकाऽतिथिरुत्सवमिलितेत्यर्थः पश्चादर्थे परोद्भूत इति
देशी । तथाच हे देवर ! उत्सवमिलिता काचित् तव जायया किमपि भणिता
गदिता पश्चाद्भलभोग्हे रीदिति सा वराकौ दुःखिता त्वयाऽनुनीयतामिति
सपरिहासीक्तिः ।

अत्रेति । उपभुज्यतामिति प्रतीतिस्तावन्नवत्येव परन्तु प्रीतिजनकक्रियात्मकस्य
अनुनयस्य विशेषे उपभोगेऽनुनयपदं लक्षण्या किं तत् क्रीडापसारणपूर्वकत्वं तद्व्याप्तं
किं वाऽनुनीयतामिति पदादनुनयत्वेनैव अभिधयाऽनुनयोपस्थितौ उपभुज्यतामिति
तद्व्याप्तमिति संख्यादर्शान्तरसंक्रमितवाच्यलक्षणासूलध्वनिना सह स्वतःसम्बन्ध-
शक्त्युद्भवस्तु व्यञ्जकस्तुनः पदप्रकाशस्य संख्यास्यदत्वरूपसङ्करध्वनिरित्यर्थः । व्यङ्ग्यीः

स्निग्धश्यामलकान्तिलिमवियतो वैश्वलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हादेवि । धीरा भव ॥

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवा-
च्ययोः संसृष्टिः । ताभ्यां सह रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवा-
च्यस्य अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन रानपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवे-
शेन च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यसध्वन्योः भङ्गरः । एवमन्यदापि
उदाहार्यम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थः उल्लासः ।

संशयास्पदत्वे न तदतः काव्यस्यैव तन्नामकत्वं बोध्यमित्युक्तमेव । द्विविध-
सङ्करस्य संसृष्टिरूपैकविधस्य च एकमुदाहरणमाह ।

स्निग्धश्यामलति । वर्षासु सीताविरहिणी रामस्योक्तिरियम् । स्निग्धया
श्यामलया च कान्त्या लिप्तं वियत् यैः तादृशः प्रचलत्वालाकाश्च घना जाता इति शेषः ।
तथा वाताः शीकरिणीऽम्बुकाणयुक्ता जाता इति शेषः । तथा पयोदसुहृदां मयूराणाम्
आनन्दजन्याः केकाः शब्दाः कला गभीरा इत्यर्थः । केकापदीपादानादेव मयूरशब्द-
प्राप्तावपि पयोदसुहृदामित्यस्य उपादानमानन्दसम्बन्धित्वेनैवेति केचित् । वस्तुतस्तु
केका वाणी मयूरस्यैत्यनेन मयूरवाण्याम् एव केकाशब्दः तत्र शब्दान्तरे तादृशप्रयोगा
भावानुसन्धानसाचिव्यात् मयूरशब्दीपस्थितिरिति ब्रूमः । यद्वा मयूरादिसमभिव्याहार-
सत्त्वे स्वार्थैकदेशे शब्दमात्रे केकादिशब्दा निरूढलाक्षणिका इति ब्रूमः । एते
उद्द्वेषकाः कामं यथेष्टं सन्तु मां हन्तुं न समर्था इति भावः । ननु त्वामिहे हनिष्य
न्तीत्यत्राह कठोरेति । रामोऽस्मि दुःखसहिष्णुरस्मि अतः सर्वमेतदुद्द्वेषककृतं प्रहारं
सहे । दुःखसहिष्णुत्वमेव कथमित्यत्राह कठोरेति । सर्वं सहे इति वस्तुमती सम्बोधन-
मिति ऋजुबुद्धयः । अकठोरहृदया वैदेही तु कथं भविष्यति किं प्रकारा
भविष्यतीत्यर्थः । अत्रेति द्रवद्रव्यकरणव्याप्तेरेव क्षेपपदार्थत्वेन कान्त्या व्याप्तौ
लक्षणेव तथा चैतस्यैव सुहृत् हृदयग्रन्थस्य पयोदस्य तु उद्याने नर्तितत्वेन रूपेण

पञ्चमः उल्लासः ।



एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह
अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धाङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाचिप्तममुन्दरम् ॥१॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

लक्षणेव अनयोर्विरहीद्वीपकत्वं सामाजिकञ्चैवं व्यङ्ग्यं भेषकान्या वियद्वापनस्य
मयूरनृत्यस्य च विरहदुःखीद्वीपकत्वात् तयोः परस्परनिरपेक्षत्वरूपा संसृष्टिरित्यर्थः ।
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यधीरित्यत्र तन्मूलव्यङ्ग्यधीरित्यर्थः । ताभ्यां सहेति रामपदेन
दुःखसहिष्णुत्वेन रूपेण रामस्वीपस्थानादर्थान्तरसंक्रमितवाच्यलक्षणा तद्वाङ्मय
दुःखेऽप्यभियमाणत्वेन रामस्य स्वावधीरणं तत्प्रयोजनं गूढरूपं व्यङ्ग्यम् । तस्य च
ताभ्यां तत्पदद्वयव्यङ्ग्याभ्यां विरहदुःखीद्वीपकत्वं व्यक्तिभ्यां सहानुयाह्यानुयाहक-
भावेनेत्यर्थः रामस्य स्वावधीरणमनुयाह्यं विरहदुःखीद्वीपकत्वं इयमनुयाहकमित्यर्थः
इमे विरहदुःखीद्वीपके इति रामेण ज्ञाते तथापि स्वामरणात् स्वावधीरणातिशयात्
रामपदेति दुःखसहिष्णुत्वलाक्षणिकरामपदेन तत् स्वावधीरणमिव तदीयविप्र-
लम्बीऽपि दुःखसहिष्णुत्वबोधनकारा व्यज्यत इत्येकस्मिन् रामपदे व्यङ्ग्यत्वेन तत्
हयानुप्रवेश इत्यर्थः अर्थान्तरसंक्रमितेति वाच्यपदं तद्वाङ्मयपरम् अत्र रसध्वनिपदञ्च
ध्वन्यमानरसपरम् अत्र बोध्यम् ।

काव्यप्रकाशादर्शं चतुर्थः प्रतिविम्बः ।

एवं ध्वनाविति ध्वनिसामान्यलक्षणानन्तरं गुणीभूतव्यङ्ग्यसामान्यलक्षणस्य
कृतत्वात् तत् प्रभेदकथनेऽपि तथैव क्रम इति दर्शितमनेन ।

अगूढमित्यादि सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यचेति इयं तथाच व्यङ्ग्यमित्यस्य
वचनव्यत्ययेनैव द्विवचनान्तद्वयेऽन्वयः प्राधान्यवाच्यार्थापेक्षया बोध्यम् । एवं व्यङ्ग्या-

कामिनौकुचकलशवत् गूढं चमत्करोति अगूढन्तु स्फुटत-
या वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव । अगूढं यथा

यस्यासुहृत्कृततिरस्त्रतिरेत्य तप्त-
सूचिव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।

काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ? ॥

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।

उन्निद्रकोकंनदरेणुपिशङ्गिताङ्गाः

गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदौर्घिकासु ।

एके उक्ते तदशत् काव्यस्याप्यष्टभेदत्वमित्याह एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्येति भिदा भेदः ।
व्यङ्ग्यस्य अगूढत्वे कथं गुणीभूतत्वमित्याह ।

कामिनौति । तथा च गूढत्वे ध्वनितमेवेत्युक्तम् । तत्र लक्षणाभूलव्यङ्ग्यस्य
अगूढत्वे दर्शयितव्ये अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यलक्षणाभूलव्यङ्ग्यस्य अगूढत्वं दर्शयति ।

यस्या सुहृदिति । शत्रुसेवया जीवती राज्ञः सुहृदं प्रत्युक्तिरियम् । असुहृदा
कृतातिरस्त्रतिवार्त्तारूपा एव यस्य मम कर्णौ तप्तसूचीनामिव बेधव्यतिकरेण
बेधसमूहेन युनक्ति रिपुतिरस्कारवार्त्तापि यस्य दुःश्रवैत्यर्थः सोऽपि अहं काञ्चीगुण-
ग्रथनभाजनमखि रिपोः काञ्चीगुणं यद्युमीत्यर्थः अतः सम्प्रति जीवन्नेव न भवामि
किमात्मनी हितचेष्टामावहामि करोमीत्यर्थः । चक्रवर्ती तु शरणागतसप्तशलाकाया
स्वकर्णौ विध्यतीति पाश्चात्यव्यवहारानुसारेणोक्तिरियं तथाच नयैव कृतातिरस्त्रतिर्यस्य
मनाऽसुहृत्तप्तसूचीनां बेधव्यतिकरेण स्वकर्णौ युनक्ति इति तच्च तादृशव्यवहारस्य
वैरूप्यदुष्टत्वादुपेक्षितम् ।

अवेति । कथयतीऽजीवनस्य बाधितत्वात् जीवनपदस्य प्रकृतजीवने लक्षणा
सृतप्रायत्वञ्च नञ् समभिव्याहारात् तद्व्यङ्ग्यम् । तच्च विदग्धाविदग्धसकलप्रतीय-
मानत्वात् वाच्यायमानत्वेनागूढमित्यर्थः । अत्यन्ततिरस्त्रतवाच्यलक्षणाभूलमगूढं
तदुदाहरति ।

एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि विम्बम् ॥

अत्र चुम्बनस्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य
अत्रासौत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगास्ति ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥ (१)
अत्र केनापि अत्र इति अर्थशक्तिभूलानुरणनरूपस्य ।
तस्यापि अत्र इति युक्तः पाठः ।

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थीभूतस्य) अङ्गं रसादि
अनुरणनरूपं वा ।

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नोवोविस्रंसनः करः ॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

केलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक-

व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।

स्यर्द्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः

कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥

अत्र भावस्य रसः ।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्बोधयः,

तानेतानपि विभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः ।

उन्निद्रेति । मानिनीं प्रति कामिनः प्रातःकालवर्षणमिदम् । कोकनदं रक्त-
पद्मम् एतच्च रवेर्विम्बं चकास्तीत्यन्वयः । उदयाचलचुम्बि उदयाचलस्पर्शीत्यर्थः ।

भावस्य अङ्गं भावमाह ।

अत्युच्च इति । अर्थात् हे राजन् ! गिरिसमुद्रचरणाश्रय्येण यावन्मुहुर्मुहुर्भव

प्राचर्येण मुञ्चुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुवः,
 तावद् विभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजी वाचस्तती मुद्रिताः ॥
 अत्र भूविषयी रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।
 वन्दीकृत्य नृप ! द्विषां नृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसाम्,
 श्लिथन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
 अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽखौचित्यवारानिधे !
 विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥
 अत्र भावस्य रसाभांसभावाभासौ प्रथमद्वितीयार्धयोस्वी ।

इति स्तुतिं प्रस्तौमि करीमि तावदिमां भुवं विभ्रतव भुजः स्मृतः ततो भवतोऽशक्य
 स्तुतिकत्वात् वाचो मुद्रिताः आरोप्यत्वाभावात् तदगुणानामिति भावः । यद्यपि
 भुजेन पृथिव्या वस्तुतो धरणं नास्ति तथापि धरणपोषणार्थकश्चिष्टभूमहिम्ना पोषण
 एव धारणाध्यासादिदमुक्तम् । भुवः स्तुतिरीतिमाह अत्युक्ता इति । अत्युक्तत्वस्फार-
 लाभ्यां प्रथमं गिर्यम्भीध्याः स्तुतिं कृत्वाह तानेनानिति । तानेनान् गिर्यम्भीधीन्
 किमप्यत्यमपि न ज्ञान्नासि एतदन्तां स्तुतिं कृत्वा तां नमस्यति तुभ्यमिति एवञ्च
 स्तुतिमित्यव सनमस्कारामिति बीध्यम् । अवेति रत्याख्य इत्यनेन भूविषयवृषादिरूप-
 व्यभिचारिभावशङ्का वारिता एवं राजविषयेत्यत्रापि । रतभावधीराभासद्वयाङ्गकं
 भावमाह वन्दीकृत्येति । हे नृप ! तव सैनिकाः सैन्यास्तव द्विषां नृगदृशी वन्दीकृत्य
 ताः पश्यतः प्रेयसोऽनाहत्य ता एव श्लिथन्तीत्यादि क्रिया अतुष्टयम् । लान्ति गृह्णन्ति
 पश्यतामित्यनादरे षष्ठी तैः प्रत्यर्थिभिस्तु त्वं तथापि स्तूयसे स्तुत्याकारमाह अस्माक-
 मिति । हे औचित्यस्य वारानिधे ! समुद्र ! तत्तस्मात् दुष्कृतैर्निपतितोऽपि सुकृतैरिति
 अनौचित्यकारणेऽपि औचित्य समुद्रं विपञ्जननेऽपि विपदी यास्ता इति भीत्या
 उक्तम् ।

अवेति । प्रात्यर्थिकतस्तु भा राजविषयो वक्तृभावी निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यतया
 अङ्गी तदङ्गे च परनायिकालिङ्गनादि व्यङ्ग्यः पूर्वार्धयोस्वी रसाभासो वैरिविषय-
 स्तुतिव्यङ्ग्यो वैरिभावैव भावाभासश्च द्वितीयार्धयोत्य इत्यर्थः । शब्दनायिका-
 विदुष्यनेन शब्दस्तुत्या राज औत्कर्षात्तथीरङ्गता । भावशान्त्यङ्गकं भावमाह

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।

ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां

कर्तुं सुहृन्निरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।

अन्याभिधायि तव नाम विभो ! गृहीतं

केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥

अत्र त्वासोदयः ।

असोढा तत्कालीकृतसदसहभावस्य तपसः,

कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।

प्रमोदं वी दिश्यात् कपटवटुवेशापनयने

त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥

अविरलिति । ददृशे ज्ञातः मदीर्गवः तवेक्षणे तत्कर्मकदर्शने सतीत्यर्थः ।

अचेति । शत्रुमददर्शनात् यः शत्रुविषयी वक्तुर्भावस्तस्य तन्मदनाशदर्शनात् प्रशमी राजविषयवक्तृभावस्याङ्गमित्यर्थः । वैरिविषयभावप्रशमेन राजविषयभाव-प्रकर्षणात् । अक्रवर्त्ती तु वैरिणां मद्रूपव्यभिचारिभावस्यैव प्रशम इत्याह तन्न । अगूढमपरस्येत्यादिना व्यङ्ग्यस्यैव अङ्गतामोघनात् अद्रव्यस्य मदस्य गमनवाधेन तत्प्रश-मस्य तल्लज्यत्वेनैव व्यङ्ग्यत्वाभावेन अपराङ्गत्वाभावात् । भावीदयस्य भावाङ्गत्वमाह ।

साकमिति । हे विभो ! कुरङ्गकदृशा सुहृन्निरपि साकं मधुपानलीलां कर्तुं तव वैरिणि प्रवृत्ते सति केनाऽप्यन्यजनार्थकं तव नाम गृहीतं कर्त्तव्यं तेषां विषमां व्याकुलामवस्थामकरोदित्यर्थः ।

अचेति । त्वन्नामस्यृतिप्रयीज्यशत्रुदासेन त्वविषयभावप्रकर्षणात् उदयस्य मधु-पानप्रवृत्तिदशीत्तरमुत्पत्तिः । भावसन्धेर्भावाङ्गत्वमाह ।

असोदिति । पार्वतीतपोभङ्गार्थं ब्राह्मणवटुवेशेन उपस्थितस्य महेशस्य वर्चन-मिदम् । स्मरहरी वः प्रमोदं दिश्यात् कौदृशः कपटवटुवेशापनयने त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदेव अभियुक्तः सन्धः । त्वराहृद्बुं प्रथमपादेनाह असोदिति । तत्काली सल्लसन्

अत्र आवेगधैर्ययोः सन्धिः ।

पश्येत् कश्चित् चल चपल रे ! का त्वराऽहं कुमारी,
हस्तालम्बं वितर, हहहा व्युत्क्रमः कासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृद्ध ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तंः
कन्या कश्चित् फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैर्न्यविबोधैस्तु कथानां शब-
लता । एते च रसवदाद्यलङ्काराः यद्यपि भावोदयभावसन्धि-
भावशबलत्वानि न अलङ्कारतद । उक्ताणि तथापि कश्चित् ब्रूया-

असहभावो दुःसहत्वं यस्य तादृशस्य तपसीऽमीदा सहनासमर्थः तपीवद्धः स्व रूप-
मदर्शयित्वा स्यात् मशक्त इत्यर्थः । शैथिल्यवृत्तं द्वितीयपादेनाह कथानामिति ।
विश्रम्भी विश्वासः स्वीयकथाविषये शैलदुहितुविश्वासेषु इत्यर्थः ।

अत्रेति । न अत्र आवेगः सम्भ्रमी राजगजवर्षादिसम्भव इति कृतलक्षणः आवेगः
किन्तु उत्कण्ठाधीना अनवस्थारूपा चपलतैव व्यभिचारिभाव आवेगपदार्थः चापल्य-
न्वनवस्थितिरिति तल्लक्षणात्तस्य धैर्यस्य च विरीधिनीरपि परस्परबाधनेन सतीः
निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यमहेशविषयभावाङ्गत्वमिति सन्धेः अङ्गता च तादृशीभयवैशि-
ष्ट्येन तद्विषयभावप्रकर्षस्यानुभविक्त्वात् । भावशबलताया भावाङ्गत्वमाह ।

पश्येदिति । किञ्चिदुद्भिन्न यौवनायाः प्रकृतनृपविरोधिवनगतनृपकन्यायाः
फलाद्याहरणे परपुरुषाक्रान्ताया उक्तिवर्णनमिदम् । कश्चिदित्यन्ते तस्या अनर्थचि-
न्तनरूपा शङ्का रे इत्यन्ते सहिष्णुतारूपा अमृया का त्वरा इत्यत्र अनुत्कण्ठा पर्यवसन्ना
सम्पूर्णमृष्टतारूपा धृतिस्तु तदुभयबाधिका शबला कुमारीत्यन्ते कुमार्थकार्यत्व-
स्मृतिधैर्यम्भाधिका शबला वितरत्यन्वित तद्विषयभावीहीघात् खेदरूप-श्रमस्तद्बाधकः
शबलः हहहैत्यत्र च श्रमाधीन मनोजस्यरूपं जयं व्युत्क्रम इत्यत्र तु अकार्यत्वावधार-
णात्मनिरूपी विरोध सद्दुभयबाधकः शबलः यासीत्यन्ते च कालजेपासहिष्णुता-
रूप मौस्तु क्यं तद्बाधकं शबलं बीध्यम् । असौति त्वमित्यर्थेऽव्ययम् ।

अत्रेति । ईदृश्याः शबलतायाः प्रकृतराजप्रयौग्यशत्रुवनगमनमूलत्वेन
प्रकृतराजविषयभावप्रकर्षणादङ्गता । ते च गुणीभूता व्यङ्गाभिधान इत्याद्युक्तं
दर्शयति एते चेति । रसस्याङ्गत्वे रसवान् भावस्याङ्गत्वे प्रेयान् आभासस्याङ्गत्वे

दित्येवमुक्तम् । यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणी-
भूतव्यङ्गयोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति
तथापि प्राधान्येन व्यपदेशां भवन्तीति क्वचित् केनचिद्व्यवहारः ।

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगदृष्ट्यान्धितधिया,

वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदशु प्रलपितम् ।

क्षतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना

मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥

ऊर्जस्वी भावशान्त्यादौनामङ्गत्वे समाहितोऽलङ्कार इत्यर्थः उक्तानि इति अपरै रिति-
शेषः । ननु अयं स रसनीत्कर्षीत्यादिषु अङ्गिनं रसादिकमादाय कथं न रसादिध्वनि-
व्यवहारः कथं वा जाने कोपपराङ्मुखीत्यादौ अङ्गं रसमादाय न अपराङ्गव्यव-
हारः तत्रानुयाह्यानुयाहकतापन्न सङ्करध्वनेरैक्यापत्तिरेवात्र सङ्करः संसृष्टिस्तु ध्वनि-
गुणीभूतव्यङ्गयोः समस्तप्रभेदैरेव सहेति बोध्यम् । यद्यपि शून्यं वासगृहमिन्त्यादिका-
मेव असङ्कोर्षविषयीऽस्ति तथापि प्रायशः स नास्ति कश्चित् विषय इत्यर्थः । स्वप्रभेदा-
दिभिः इत्यादि पदात् गुणालङ्कारवञ्चिकाव्यप्रभेदैः सहापि ऐक्यापत्तिरूपः
सङ्कर आशङ्कितः समाधत्ते तथापीति । प्रधानेन चमत्कारवशात् प्रधानेन न तु निरा-
काङ्कवाक्यव्यङ्ग्यतया प्रधाने जाने कोपेत्यादौ निराकाङ्कवाक्यव्यङ्ग्यतया अङ्गिनि
चमत्कारित्वेन च प्रधान मसृष्टैवेति तथैव ध्वनिव्यवहारः । अयं स रसनेत्यादौ तु
प्राकरणीकतया प्रधान मङ्गिनमपि करुणमपेत्य चमत्कारितया प्रधानेन शङ्कारे-
णैव अङ्गेन अपराङ्गव्यवहार इति विनिगमनेत्युक्तं चमत्कारश्चानुभवसिद्ध वैचित्र्या-
दित्यवधेयं स्वतन्त्रसंसृष्टित्वे तु ध्वनित्वप्रयोजकव्यङ्ग्यस्यैव गुणीभूतव्यङ्ग्यता
चित्रिता प्रयोजकौ व्यङ्ग्यालङ्कारावपेत्य चमत्काराधिक्यात् ध्वनिव्यवहार एवेति
बोध्यम् । वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गेऽनुरणनरूपे उदाहर्त्तव्ये तस्यैव शब्दशक्त्यर्थशक्त्यत्व-
भेदात् क्रमप्राप्तं शब्दशक्त्युत्पन्नमलङ्कार मादौ उदाहरति ।

जगस्थान इति दरिद्रस्थीक्रियम् । मया रामत्वं रामाभिन्नत्वमाप्तमिति रूपकं
कुशलवसुता तु नाधिगता कुशलं दरिद्रापनायकं वसु यस्य तथात्वं न प्राप्तं रामिण्य
तु कुशलवो सुतो यस्यास्तादृशी माता अधिगतैवेति कुशलवसुतापदश्लेषात् तु शब्दार्थः

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेय-
भावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंभुलाङ्गीम्

अभोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।

एतां प्रसादयति पश्य शनेः प्रभाते

तन्वङ्गि । पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥

रामत्वप्राप्तिहेतुमेकशब्दवाच्यत्व' साधर्म्यमाह जगन्मय इति । कनककण्ठस्य दृष्टवा-
ऽश्वितधिया भान्तं तथा वै सम्बन्धने हे देहोति वचः प्रतिपदं स्थाने स्थाने प्रापं
कातर्यादुदयु यथा स्यात्तथा प्रलपितं तथा अलमत्यर्थं भर्तुरीश्वरस्य परिपाटीषु
परिष्वर्यानिमित्तं का घटना न कृता मया तद्वत् रामेण अपि लङ्काभर्तुरावणस्य वद-
नानां परिष्वर्यां पङ्क्तौ परिष्वर्यानिमित्तं वा इषुघटना वाणसन्धानं कृता ।

अत्रेति । रूपकस्थोपमानोपमेयभावमूलकत्वेन एकशब्दवाच्यत्वरूपसादृश्य-
घटित उपमानोपमेयभाव उपमा इवादिशब्दाभावाद्वाङ्मयः । स च वाक्यस्य कुशलवसु-
ताऽप्राप्तिरूपस्य उपमानीभूतरामव्यतिरेकालङ्कारस्य प्रकर्षतयाऽङ्गतां वक्ता नीत
इत्यर्थः । तद्व्यति उपमानायदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः इति । अन्यस्थोपमेयस्य
व्यतिरेक आधिक्यं द्रविद्रस्य दुःखाधिक्यरूपं नचैवं व्यतिरेकालङ्कारशरीरघटिकैव
उपमा कथं तत्प्रकर्षिकेति वाच्यं बहुविशेषणलभ्यात् सादृश्यात् प्रतीताया उपमायाः
प्रकृतत्वेन तथा व्यतिरेकालङ्कारस्य निर्वाहणात् प्रकर्षणाच्च यत्र तु नोपमायास्तादृश्यः
प्रकर्षस्तत्र व्यङ्ग्या अपि उपमया व्यतिरेकालङ्कारस्य निर्वाहमात्रं न तु प्रकर्षणमिति ।
तत्र नापराङ्गत्वं यथा नियतिकृतनियमरहितमित्यत्र एव यत्र उपमाया वाच्यत्व'
तत्रापि तस्या व्यतिरेकाङ्गत्वाभावात्नापराङ्गता यथा ।

असिमात्रसहायस्य प्रभृतादिपराभवे ।

अन्यतु जगन्मयेव न अयोऽस्य महाघृतेः ॥ इत्यर्थः ।

अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यमप्रस्तुतप्रसंसालङ्कारं वाक्यार्थोभूतवस्तुनीऽङ्ग-
माह ।

आगत्येति । प्रातर्मानिनीं प्रति नायकस्थोक्तिरियम् । हे तन्वङ्गि ! पश्य
क्वचिदपि हीपान्तरे क्षपितत्रियामः गमितरात्रिः सहस्ररश्मिः सम्प्रति प्रभाते

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपणेनैव स्थितः । [२]

वाच्यसिद्धयङ्गं यथा

अभिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसङ्गं कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

आगत्य अन्धीजिनीं पादेन रश्मिना द्वारभूतेन पतनेन शनैः प्रसादयति विकासरूपां प्रसादवतीं करोति कौटुशीं वियोगिन व्याकुलाङ्गीं अङ्गमत्र पुष्पमेव एतत्प्रदर्शनञ्च न मानिन्यामुपश्रुक्तमतोऽस्य नायकनायिकावृत्तान्तप्रदर्शने तात्वर्थ्यां तथैवावगम्यते भवति हि नायकीऽपि क्वचिदपि नायिकान्तरगृहे चपितराविः प्रभाते आगत्य विधीभ्याकुलाङ्गीं नायिकां पादयोः पतनेन प्रसादयति तथाच नायिकान्तरस्यापि नायिकान्तरं प्रति इयं रीतिरिति मयि क्रीडन्त्यज्यतामिति भावः । ईदृशी नायकनायिकावृत्तान्ती रविकमलिनीवृत्तान्तेऽभेदेन, रीपित इत्याह ।

अत्रेति । नायिकेत्येकशेषी नायिकाया नायकवृत्तान्त इत्यर्थः वस्तुरूप इति नञ् प्रज्ञेपादलङ्काररूप इति वा वाच्यसिद्धयङ्गतारूपत्वनिराकरणायाञ्च निरपेक्षेति । व्यङ्गानिरपेक्षमसंसुग्धप्रतीतेत्यर्थः वाच्यसिद्धयङ्गत्वे तु वाच्यार्थसंसुग्धप्रतीती वाधावतारे सति व्यङ्गान्वयनैवासंसुग्धप्रतीत इत्यर्थे दर्शयिष्यते तादृशे रविकमलिनीवृत्तान्तेऽध्यारोपणैव नायकनायिकावृत्तान्तः स्थित इत्यर्थः । रविकमलिनीवृत्तान्तः एव नायकनायिकावृत्तान्त इत्येव मध्यारोपः । तथाच व्यङ्गभूततदारोपवशात् वाक्यार्थीभूतरविकमलिनीवृत्तान्तस्य प्रकर्षाद्भवति उक्तव्यङ्गस्य तदङ्गतेति । वाच्यसिद्धीति प्रथमं जनितान्वयबीधस्य वाक्यस्यार्थे पश्चादनुपपत्त्यवतारे तादृशानुपपत्तिनिरासकं यत्तस्यैव व्यङ्गं तद्वाच्यसिद्धयङ्गं तादृशव्यङ्गवत् काव्यमपि तन्नामकम् ।

अभिमित्यादि । जलदभुजगजं विषं जलं प्रसङ्गं बलात्कारेण वियोगिनीनां अभ्याद्यष्टकं करोतीत्यन्वयः । मेघजलस्थोद्दीपकत्वात् पीरुषं विषमसु, चेत्यमरकीवात् जलधारा जलदे भुजगजम्यत्वाभावेऽपि जलदे तदभिन्नत्वबीधे सति जलदजन्मत्वं तत्रास्तीत्यतः कथमनुपपत्त्यवतार इति वाच्यम् । अन्वयानुधीगिषु रूप्यमाद्यप्रतियोगिभिः

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिस्तु ।

यथा वा

गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेनं भवतः किं तस्मिन् रूपेण दृश्यते ?

किं त्वेवं विजनस्थयो हतजनः सम्भावयत्यन्यथा ।

इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्

आश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥

अत्र अच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य ।

एतच्चैकत्र एकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयो-

र्भेदः । [३]

कस्यैवान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । अतएव सौभाग्यं वितनीतु वक्रशशिनी ज्योत्-
स्नेव हासद्युतिरित्यत्र हासद्युतेः शशिनन्वयाद्रूपकासम्भवात् उपमासमासनिव
स्वीकरिष्यत्यर्थः । ननु विद्वान्मानसहंसेत्यादौ तु प्रकृतरूपणीपायस्याप्रकृतरूपणस्य
परम्परितरूपत्वं वक्ष्यते तत्कथमत्र भुजगरूपणीपायस्य हालाहलरूपणस्य गुणीभूत-
व्यङ्ग्यत्वमिति चेन्न अत्र हालाहलरूपणस्यापि प्रकृतत्वाद्वाङ्मत्वाच्च । अत्र तु द्वयो-
र्वाच्यत्वादेव । गच्छामीति गोपीमाश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुं हरिर्वः पातु
गोपीं कौटुशीं इत्यामन्त्रणस्य पूर्वाङ्कूपामन्त्रणविशिष्टवाक्यस्य भङ्गात् व्यङ्ग्यार्थेन
सूचिती यो वृथावस्थानखेदस्तेनालसाम् । आमन्त्रणवाच्यवाक्यार्थस्तु ।

हे अच्युत ! कृष्ण ! अहं गच्छामि भवती दर्शनेन किं तस्मिन् रूपेण दृश्यते नैवेत्यर्थः ।
किन्तु स्वीयगार्हस्थ्योपयुक्तचेष्टयैवेत्यर्थः प्रत्युत विजनस्थयोरेवमन्यथा मनःपथाविषय-
मपि चेष्टितं हतजनी दुर्जनः सम्भावयति तद्वाक्ये व्यङ्ग्यार्थस्तु हे अच्युत ! महर्शनेन
धैर्यादच्युती भवती दर्शनेन किं तस्मिन् रूपेण दृश्यते नैवेत्यर्थः अपि तु सम्भोगिनैव यदि तथा
न करोषि तदा गच्छामि उद्देश्यामिद्वौ स्थितिः प्रत्युत दुर्जनानां परिवादसम्भावना-
जानिकैव विदग्धजनानां तथा सम्भावना तु न दुःखत्रनिकेत्येवं रूपः ।

अत्रेति । इत्यामन्त्रणं भङ्गिं सूचितेत्यादि वाक्यार्थः प्रथममामन्त्रणरतिवाक्ये
भङ्गीसम्भावनयैव प्रतीतः पश्चात् भङ्गप्रदर्शनात् बाधावत्ता बाधसिद्धस्य तस्य बाध-
निरासकमनुसन्धीयमानमामन्त्रणवाक्यव्यङ्ग्यं पराङ्गवाक्यवाच्यसिद्धिस्तदित्यर्थः ।

अस्फुटं यथा

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता ।

नादृष्टेन न दृष्टेन भवतां लभ्यते सुखम् ॥

अत्र अदृष्टो यथा न भवति, वियोगभयञ्च यथा न उत्प-
द्यते, तथा कुर्या इति क्लिष्टम् । [४] सन्दिग्धप्राधान्यं यथा

उदाहरणद्वयदर्शनबीजमाह एतच्चेति । गतत्वेन सम्बन्धित्वेन वाच्यव्यङ्ग्योरिति
शेषः । पूर्वं च कविरूपवक्तृवाक्यव्यङ्गेन कविरूपवक्तृवाक्यवाच्यस्यैव सिद्धिः । परत्र
कविरूपवक्तृवाक्यवाच्यस्य गोपीरूपवक्तृवाक्यव्यङ्गेन सिद्धिरित्यर्थः । अपरा-
ङ्गस्य परप्रकर्षतयाऽस्वातन्त्र्याद्गुणीभूतत्वं वाच्यसिद्धयङ्गे तु वाच्यसाधकत्वेनैव
अस्वातन्त्र्याद्गुणीभूतत्वम् ।

अस्फुटमिति । विदग्धानामपि क्लृप्तगम्यमस्फुटं तत्र च प्रीढालङ्कारसत्त्वे
स्फुटप्रतीयमानार्थरहितत्वात् गुणालङ्कारयुक्तत्वाच्च चित्रत्वमेव पूर्वोक्तं बोध्यं प्रीढा-
लङ्काराभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति विषयविभागः ।

अदृष्ट इति । भवता करणभूतेन । अवेति उभययैव सुखाजनकत्वात् सुखजनक
एव न त्वमित्येव सर्वैः प्रतीयते । दर्शितं व्यङ्ग्यन्तु प्रविधानक्लृप्तेषु विदग्धैरपि
प्रतीयते इत्यभिप्रायः । क्लिष्टं चिष्टं श्लिष्टमिति पुस्तकभेदेन पाठाः । सर्व एव विद-
ग्धानामपि क्लेशगम्यार्थकाः क्लिष्टत्वादेव गुणीभूतत्वं व्यङ्ग्यस्य । सन्दिग्धेति । उक्ताटे
चमत्कारे जातेऽपि किमसौ वाच्ये न किं वा व्यङ्गेन जनित इति सन्दिग्धत्वतत्त्वम् ।
हरस्त्विति । वसन्तप्रवृत्तावन्येषां चेष्टायां वर्णितायां हरस्य चेष्टावर्णनमिदं हरः पुन-
रित्यर्थः । चन्द्रीदयस्यारम्भे प्राथमिके चन्द्रीदये ।

अचेति । प्रधानसम्भीगरूपशृङ्गारव्यञ्जनवशात् उक्तचमत्कारि तत्र
योगिनी हरस्य धैर्यपरिहृत्तेः । किञ्चित्त्वं किं दिदृशामावेशे उमासुखालोकनमात्र-
पर्याप्तिकं किंवा चुम्बनेच्छयैव तत्कृतमिति निश्चेतुमशक्यत्वात् चुम्बनेच्छारूपं
व्यङ्ग्यम् सन्दिग्धम् ।

अत एव शृङ्गारव्यञ्जकरूपे प्राधान्ये सन्देह इत्यर्थः । व्यञ्जकस्य तस्यै-
वानिश्चयादिति भावः । नचैवं निश्चितं वाच्यमेतादृशं प्रधानमस्त्विति वाच्यं
तदेव किं चुम्बनेच्छामुत्पाद्यैव वा शृङ्गारं स्वयमेव वा व्यञ्जयामासेति सन्देहानप-
गमात् ।

हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यंश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमामुखे विम्बुरुलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं, किंवा विलो-
चनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः । [५]

तुल्यप्राधान्यं यथा

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।

जामदग्न्यस्तथा मित्रम्, अन्यथा दुर्मनायते ॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामपि रक्षसां क्षणात्
क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् । [६]

काकाक्षिप्तं यथा

मथ्रामि कौरवशतं समरे न कोपात्, ?

दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्यु, रस्तुः ? ।

सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु, ?

सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पण्डिन ॥

अत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यरूपातिशयित्वसंशयाद्गुणीभूतत्वम् । तुल्येति वाच्य-
व्यङ्ग्ययोर्द्वयोरपि चमत्कारजनकत्वरूपप्राधान्यग्रहणीत्वं तत्त्वम् अतएव च व्यङ्ग्य-
स्यातिशयित्वाद्गुणीभूतत्वम् ।

ब्राह्मणेति । दिग्विजये परशुरामजिगमिषुं रावणं प्रति तन्मन्त्रिवाक्यमिदं
वाच्यार्थपक्षे तथा मित्रं ब्राह्मणरूपं मित्रं ब्राह्मणत्वं मित्रत्वञ्च द्वयमप्यनतिक्रमहेतुः
अन्वयाऽतिक्रमे दुर्मनायते शापहेतुर्दुर्मनस्यवान् स्यात् । व्यङ्ग्यार्थमाह ।

अत्रेति । सखीं प्राधान्यमिति वासं जनयित्वाऽकार्यंती निवर्त्तनीय-
मिति हि नीतिवासजनकत्वेनैव अत्र चमत्कारः । वासस्तु उक्तव्यञ्जेनैव मित्र-
ब्राह्मणातिक्रमेणापीति प्राधान्यग्रहणतुल्यता । काकाक्षिप्तमिति । वाच्यपदार्थाप-
स्थितिकाले ध्वनिविशेषरूपया काकापि अन्वयप्रतियोगितया उपस्थापितं व्यङ्ग्यं
काकाक्षिप्तम् ।

मथ्रामीति । राजा कृष्णं प्रस्थाप्य दुर्योधनेन सह पण्डिन सन्धिभीक्ष्ण इति

अत्र मथाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् । [७]

असुन्दरं यथा

वाणीरकुं जोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।

घरकम्मबाबडाए बहूए सीअन्ति अङ्गाइं ॥

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिन्नतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम् । [८]

सहदेवीक्यानन्तरं क्रुडस्य भीमसेनस्योक्तिरियम् । मथामीत्यादौ सर्वत्र भविष्यत्सामीप्ये वर्तमानः न मथिष्यामीत्यर्थः । उरस्ती वक्षःस्थलात् सृयोधनेति दुर्योधनस्यैव नामान्तरं भवतामेव नृपतिः युधिष्ठिरः न तु मम अनभीष्टसन्धिचिकीर्षुत्वात् ।

अवेति । प्रतिपञ्जातकौरवशतवधादेर्भीमस्योक्तौ न मथामीति निषेधमात्रपरत्वं नञि न प्रतीयते इत्यतीऽपरनञर्थव्यञ्जिका शिरश्चालनसहोत्पन्नकाररत्र प्रतीयते । तथाच वाच्यव्यङ्ग्यभूतयोर्नञर्थयोर्नृपस्थितौ न न मथिष्यामि इत्येवार्थः प्रतीयते तदाह मथाम्येवेतीति अर्थोऽगव्यवच्छेदकस्यैवकारस्य नञ् द्वयार्थकत्वात् तेन विवरणं कृतं मथाम्येवेत्यादीत्यत्र मथाम्येवेत्यादेरेकदेशे एकनञर्थो व्यङ्ग्यः अपरनञर्थस्य वाच्यत्वादेव । सहभाव एकदीपस्थितिः शाब्दो । एवञ्च शाब्दो आर्थो काकुमावद्वसिथेति विधा व्यञ्जना उक्ता । कटाक्षादिक्रियावृत्तिरपि वक्ष्यते । काक्वाक्षिप्रस्य वाच्यसहभावेनीपस्थित्या शाब्दबोधजनकत्वेन वाच्यायमानत्वात् न वाच्यातिशयित्वमती गुणीभूतत्वम् ।

असुन्दरमिति । वाच्यार्थसाहित्यं विना चमत्काराजनकं व्यङ्ग्यमसुन्दरमतो वाच्यन्यूनचमत्कारित्वाद् गुणीभू यामतरुणमित्यादेरेव तदुदाहरणस्य सौलभ्येऽपि प्रपञ्चार्थमन्यदाह । वाणीरेति ।

वाणीर कुञ्जीड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।

गृहकर्मव्यापृतायाः वध्वाः सीदन्यङ्गानि ॥ इति संस्कृतम् ।

वाणीरं लताविशेषः शकुनयः पक्षिणः नायकस्य सङ्केतस्थलताद्गृहकुञ्जप्रवेशात्तेषां कोलाहलः ।

अवेति । प्रविष्ट इत्यन्तमीकदेशकोर्णनपरं स प्रविष्ट इत्यत्र न गतेति पर्यन्तं

एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥२॥

यथायोगमिति 'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा । ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां कार्यवृत्तेस्तदाश्रयात्' इति ध्वनिकारो-
क्तादिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूत-
व्यङ्गत्वम् ।

सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ।

व्यङ्गमेतत् पद्यश्रीतृभिः सामाजिकैः प्रतीयत तस्य च चमत्कारिव्यङ्गवशात् अस्तु
वाच्यार्थी विप्रलम्भमानुभाव इत्युक्तव्यज्ञानिरपेक्ष्य एव विप्रलम्भव्यञ्जक इत्यधिक-
चमत्कारी शकनिकीलाहलप्रयोगेन सङ्केतस्थेन नायकप्रवेशज्ञानादेवात्राङ्गाव-
सादः प्रतीतस्तस्य अनन्यहेतुकत्वात् ।

एषामिति । उक्तगुणीभूतव्यङ्गप्रभेदानामित्यर्थः । पूर्ववदिति व्यङ्गस्यऽगुह-
त्वादित्वाऽर्थान्तरसङ्गमितवाच्यार्थकपञ्चाशद्विधा इत्यर्थः । तथा चैतदष्टकस्य एक-
पञ्चाशद्गुणेन ४०८ वस्त्राकाशाभ्योऽङ्गाः एतदङ्गार्दकभाक्कथ्यमाणमाह ।

यथायोगमिति । आकथ्यमाणं दर्शयति व्यज्यन्ते इति । वस्तुमात्रेणेति मात्र-
पदादुभयशक्त्युत्पत्त्यस्य गुणीभूतत्वरूप्यतीति दर्शितम् । अर्थालङ्कारस्य वस्तुमात्र-
व्यङ्गत्वे गुणीभूतत्वं नास्त्येव किं वीजमिति चेदालङ्काररूपवैचित्र्यवतीऽगुह-
त्वादिना गुणीभावेऽप्यलङ्कारत्वरूपवैचित्र्यवशात् गुणीभावात् । न चैवमलङ्कारेण
शब्दशक्त्या गुणीभावसम्भवात् । एवं शान्दव्यञ्जनायामपि शब्दश्लेषत्वे नियमेन
श्लेषालङ्कारच्छायाविशिष्टस्य तस्यार्थोऽपि वैचित्र्ये लब्धे व्यङ्ग्यालङ्कारस्य तदपेक्षया
अभिप्रेयित्वाभावात् एवमुभयशक्त्युत्पत्त्योऽपि श्लेषशब्दावश्यभावात् तत्रापि इयं
युक्तिः । इदानीं न तेषां पञ्चाशद्गुणित्वाष्टप्रभेदानां स्वप्रभेदैः ध्वनिप्रभेदैः योग-
माह ।

सालङ्कारैरिति । तैः स्वीयप्रभेदैर्ध्वनेः प्रभेदैश्चेत्यर्थः । तैरेवान्तरङ्कारैरिति न
च सालङ्कारैरित्युक्तौ कथमलङ्कारैरित्यर्थलाभ इति वाच्यं तैः परस्परं योग इत्युक्त्यै-
वापराभूतरसवदायलङ्कारैरन्यप्रभेदैश्च योग इत्यर्थलाभात् सम्भावितार्थप्रदर्शनरूप-
त्वादेव तस्य व्याख्यानस्य अलङ्कारयुक्तैश्चैवेति बोध्यम् । एवञ्च सालङ्कारत्व-

सालङ्कारैरिति तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः, तदुक्तं
ध्वनिक्रता

‘स गुणोभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।

सङ्करसंस्मृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा ॥’ इति ।

अन्योन्ययोगादेवं स्यात् भेदसङ्ख्याऽतिभूयसी ॥३॥

‘एवम्’ अनेन प्रकारेण अवाप्सरभेदगणनेनातिप्रभूततरा
गणना, तथाहि शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामामन्थं, का
गणना तु सर्वेषाम् । सङ्कलनेन पुनः अस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः,
व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्, तथाहि किञ्चिद्वाच्यतां सहते, किञ्चित्
तु अन्यथा, तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति, अवि-
चित्रं वस्तुमात्रं, विचित्रं तु अलङ्काररूपं (यद्यपि प्राधान्येन
तदलङ्कार्यं, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते) ; रसादि-

निरलङ्कारत्वाभ्यां अन्यप्रभेदबाहुल्यमिति दर्शितम् । सगुणोभूत इति स ध्वनिगुणो-
भूतव्यङ्ग्यैः स्वैः प्रभेदैश्चेत्यवयवः । सङ्कलने पुनरिति व्यङ्ग्यस्य न्यूनसमाधिकचम-
त्कारानादरे व्यङ्ग्यवत् काव्यमात्रमेव ध्वनिः तत्रापि एकपञ्चाशत्प्रभेदानादरे
त्रय एव भेदा इत्यर्थः । भेदत्रयं दर्शयितुमाह व्यङ्ग्यस्येति । विभक्तविभागेन त्रिरूपतां
दर्शयितुमादौ त्रिरूपतामाह किञ्चिद्वाच्यतामिति । यदेव वस्तु यत्र वा अलङ्कारी वा
व्यङ्ग्यः स एव तदर्थकशब्दीपादानेन वाच्यत्वेऽपि काव्यतां नातिक्रमते इत्यर्थः ।
रसादेस्तु वाच्यताऽसहत्वमये स्वयमेव दर्शयिष्यते । ननु अलङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वे स्वयमेव
प्रकृष्टस्य तस्य परप्रकर्षकत्वाभावात् अलङ्काररूपत्वमेव नास्ति तत्कथं व्यङ्ग्यस्याल-
ङ्काररूपत्वमुच्यते इत्याशङ्कते यद्यपीति । अव्यङ्गावस्थामादाय तस्य अलङ्कारतेत्वेवं
समाधत्ते तथापीति । श्रमणः सत्र्यासी तस्यासत्र्यासावस्थामादाय ब्राह्मणत्ववदित्यर्थः ।
वाच्यताऽसहत्वं दर्शयति रसादीति । तत्प्रयोगेऽपीति तथा च तत्प्रयोगे तस्य रसत्वमेव
व्याहृत्य इति भावः । अतएव रसादिः स्वशब्दवाच्यत्वादीवीपेक्ष्यते व्यङ्ग्य एवे-
त्येवकारात् वाच्यतामात्रनिरासः व्यञ्जनानन्तरं साक्षात् कार्यत्वस्य सिद्धान्तितत्वात्

लक्षणस्वर्यः स्वप्नेऽपि न वाच्यः, स हि रसादिशब्देन शृङ्गारा-
दिशब्देन वा अभिधीयेत । न, च अभिधीयते, तत्प्रयोगेऽपि
विभावाद्यप्रयोगे तस्य अप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्र-
योगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधान-
हारेणैव प्रतीयत इति निश्चीयते, तेनासौ व्यङ्ग्य एव, मुख्यार्थ-
बाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः ।

अर्थान्तरसङ्गमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं
विना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम् । शब्दशक्ति-
मूले तु अभिधाया नियन्त्रणेन अनभिधेयस्य अर्थान्तरस्य, तेन
सहोपमादेः अलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् । अर्थशक्ति-
मूलेऽपि, विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां
पदार्थानामाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रा-
पदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का
वार्त्ता व्यङ्ग्यस्य अभिधेयतायाम् ।

ननु तर्हि लक्षणीय एव स्यात् इत्यवाह मुख्यार्थेति । तस्यापरपदार्थेऽन्वयाभावादपि
लक्षणीयत्वासम्भव इत्यपि बोध्यम् । ननु एवमस्तु रसादिव्यङ्गनागम्यत्वमेव लक्षणा-
मूलव्यङ्ग्यं वस्तुनस्तु व्यङ्ग्यत्वं न ह्यमः तत्र लक्षणाया एव सम्भवात् । तथाच कथं
व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वमित्यत आह अर्थान्तरेति । एवमपि अनवस्था स्यादित्यादिना एव
तत्रोत्तरमित्यर्थः । इत्यं वस्तुलङ्काररूपव्यङ्ग्यार्थानां मुख्यार्थबाधाद्यभावादियुक्त्या
लक्षणीयत्वं निवारिते तेषामभिधेयता स्यादित्येवाशङ्का सम्भवति तत्रोत्तरमाह
शब्दशक्तीति । निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वमिति अभिधानियन्त्रणात् नाभिधेयत्वं मुख्यार्थ-
बाधाद्यभावाच्च न शक्यत्वमतो निर्विवादव्यङ्ग्यत्वं लक्षणांमूलव्यङ्ग्यस्याभिधेयता
तु आपाततो नाशङ्कता अर्थशक्तिमूलव्यङ्ग्यस्याभिधेयताशङ्कायां दास्यमानोत्तरैव
तन्निरास इत्यभिप्रायात् । ननु शक्तिलक्षणात्तरानुपस्थापितो न शब्दबोधविषय
इत्येवं व्याप्ता व्यङ्ग्यत्वाभिमतस्यार्थशक्तिमूलस्य मुख्यार्थबाधाद्यभावेन अलक्षणीय-
त्वेऽपि अभिधेयतयैव स्यात् न तु तत्राङ्गमाधिकव्यङ्ग्यरूपा इतिः कल्पनीया ।

येऽप्याहुः,

‘शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।

श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वम् अनुमानेन चेष्टया ॥

अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं इयात्मिकाम् ।

अर्थापत्त्याऽवबुध्येत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥’

इति प्रतिपादितदिशा ‘देवदत्त ! गामानय’

इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशाद्देशान्तरं साम्रादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति ‘अनेनन अस्माद्वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्नः’ इति तच्चेष्टयाऽनुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोः अर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते ; परतः ‘चैत्र ! गामानय, देवदत्त ! अश्वमानय, देवदत्त ! गां नय’ इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थम्

शक्तिग्राहकस्तद्बोधार्थं वृद्धप्रयोग एकास्त्वित्यतस्तस्या व्याप्तेर्व्यभिचारं पदार्थसंसर्ग एवाह अर्थशक्तिमूलोऽपीति । विशेषे शक्तिग्रहकालदृष्टव्यक्तिविशेषे कर्तुमस्माभिवक्तं न युज्यते आनन्त्यव्यभिचाराभ्यामिति शेषः । सामान्यरूपाणां सामान्यलक्षणया सामान्यरूपेणोपस्थितानां परस्परसंसर्गं भासमानतया स्वीकृतं इति शेषः । यत्र मतेऽपदार्थोऽपि संसर्गो वाक्यार्थो वाक्यमात्रप्रतिपाद्यः स्वीक्रियते इति शेषः का वार्त्तेति संसर्ग एव व्याप्तेर्व्यभिचारमाह येऽप्याहुरिति । येऽप्यन्विता अभिधानवादिन इति सुदूरोक्तान्वयः । वाक्यस्थितानामेव पदानां परस्परान्वितैः पदार्थैः सहान्वितानामेव अन्वयविशिष्टानामेव सङ्घेतशक्तिर्गृह्यतेऽन्वयांशेऽपि शक्तिर्गृह्यत इत्यर्थ इति येऽप्यन्विताभिधानवादिन आहुरित्यर्थः । पदानां केवलानामप्रयोगित्वं किन्तु वाक्यस्थितानामिवेति प्रदर्शनं वाक्यशास्त्रसंसर्गे पदानां शक्तिरिति प्रतिपादनार्थं तथा च वाक्यश्रुत्यर्थं वा पदस्य शक्तिग्रह इति सिद्धे वाक्यश्रवणात् । यथा शक्तिग्रहसं प्रकारं प्राचीनीक्तकारिकाभिः प्रदर्शयति शब्दवृद्धेति । गामानयेत्यादिः शब्दः तदाकार्यं व्युत्पन्नः श्रोता वृद्धः वक्तृदर्शनमपि बालकस्य शक्तिग्राह उपयुज्यत इति अनेन वृद्धाविति व्याचष्टे चक्रवर्त्ती तु तत्र । गृह्णाभ्यन्तरतिवक्तृकादपि वाक्यात् श्रोतुः प्रवृत्तिदर्शनेन बालकस्य शक्तिग्रहात् अभिधेया गवानयनादयः प्रत्यक्षेण

अवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्य-
मेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानाम् अन्वितैः
पदार्थैः अन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था
वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्, यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्य-
मानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानीति निश्ची-
यन्त इति पदार्थान्तरमात्रेण अन्वितः पदार्थः सङ्केतगोचरः,
तथापि सामान्यावच्छेदादितो विशेषरूप एव असौ प्रतिपद्यते,

इन्द्रियेण पश्यति ज्ञानाति चेतया अनुमानेन अनुमितकरणेन ज्ञानमान-
लिङ्गकरणतावादिमतमिदम् . अन्यथानुपपत्त्या एतद्वाक्यस्यैतदर्थं सम्बन्धं विना
एतद्वाक्यादस्यैतदर्थः प्रतिपत्तिः अनुपपन्नेत्यन्यथानुपपत्त्या बोधेत् बाल इति
शेषः । बुधिरत्र भौवादिकः इयान्मिका वाक्यद्वयं तदर्थधीरात्मा यस्याः तादृशीं
ईश्वरेच्छामिकायाः शक्तेर्विषयतासम्बन्धेन वाक्यादर्थयोर्दत्तेः बोधकतया वाक्यस्य
बोध्यतया चार्थस्य तद्विषयत्वात् । चक्रवर्ती तु वाक्ये आश्रयतयार्थं च विषयतया शक्ति-
स्थितिरित्यर्थः तन्न । ईश्वरेच्छाया ईश्वरमावाश्रयत्वात् । अर्थापत्त्या इति प्रथमं
वाक्ये शक्तौ गृह्यतायामपि वाक्यस्थितपदानामेव वाक्यार्थप्रविष्टतत्त्वपदार्थस्य
व्यतिरेकदर्शनात् पदानामेव पदार्थ एवावापीवापरूपयाऽर्थापत्त्या सम्बन्धं शक्ति-
भवबुद्धान्ते बालका इति शेषः । बुधिरत्र देवादिकः पूर्वत्र बालकत्वज्ञानाश्रयादि-
कत्वमिदं व्यक्त्याश्रयत्वाद्बुद्धत्वम् । विप्रमाणकमुक्तप्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूप-
प्रमाणवयं बोध्यम् । इति प्रतिपादितं इति यन् प्राचीनैः प्रतिपादितं तद्विश-
तद्रीत्या सङ्केतो गृह्यते इति दूरेण अन्वयः । तामेव कारिकीकरीतिं व्याचष्टे देवद-
त्तिति । उत्तमवृद्धौ वाक्यप्रयोक्ता मध्यमवृद्धः शीवा तथैव बालकापेक्षया व्युत्पन्नत्वमेव
वृद्धत्वं अनुमायेत्यन्ता प्रथमकारिकाव्याख्या व्युत्पद्यत इत्यन्ता द्वितीयकारिका
प्रथमार्थव्याख्या परत * इत्याद्यवधारयति इत्यन्ता अर्थापत्त्येत्याद्यर्थव्याख्या तत्र
प्रथमगृहीतशक्तिकाखण्डवाक्यस्थपदानां विभज्य प्रयोगदर्शनाद्वाक्यगृह्यतां शक्तिं
विभज्य वाक्यस्थपदेष्वेव वाक्यार्थप्रविष्टपदार्थशक्तियद्गोऽर्थः । विशिष्टा एव इति
विशिष्टेषु पदार्थत्वं विधेयमत्र बोध्यं तेन वैशिष्ट्यांशेऽपि पदार्थत्वं बोध्यं तत्र च
वाक्यार्थ एवार्थः इत्याह वाक्यार्थ इति न तु पदार्थानाम् । वैशिष्ट्यमित्यत्र वाक्य-

व्यतिसक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वात् इति अन्विताभिधान-
वादिनः । तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः सङ्केतवि-
षय इति अतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य
एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरे अर्थान्तरभूतस्य निःशेष-
च्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्था-
न्तरमात्रेण अन्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वितविशेषस्त्ववाच्य
एव इति उभयनयेऽपि अपदार्थ एव वाक्यार्थः ।

सैवायं इत्येकारं पूरयित्वा व्याख्येयं तेन पदार्थोऽपीति सिद्धयति । ननुत्तमहदप्रयुक्त-
वाक्यस्थपदव्यक्तिविशेषे बालकस्य शक्यनुभवेऽपि तत्समानानुपूर्वीति पदव्यक्त्यन्तरं
कथं तस्य शक्तिस्वरूपं तवाननुभूतत्वादित्याशङ्कां पदाभेदाङ्गीकारेण समाधाय
गृहीतशक्तिकगवादिव्यक्तिभिन्नगवादिव्यक्तौ शक्तिस्वरूपानुपपत्तिं यद्यपि इत्यादि-
गोचर इत्यन्तेनोद्भावयति अथ च निश्चीयन्त इतीत्यनन्तरं पदभेदनिबन्धन-
दोषपरीहारेऽपि इति पूरणीयं पदार्थव्यक्तिभेदनिबन्धनानुपपत्तिमाशङ्कते पदा-
र्थान्तरमाचरेति । पदार्थान्तरं शक्तियद्कालदृष्टगोव्यक्तिमात्रपदात्तदानौ-
नदृष्टगोव्यक्तेः सङ्केतागोचरायाः स्युत्पन्नपत्तिरुक्ता । समाधत्ते तथापीति । सामान्यं
शक्तियद्प्रकारभूतो धर्मस्तदवच्छेदादित स्तद्विशिष्टोऽसावगृहीतशक्तिका गो-
व्यक्तिः प्रतिपद्यते शक्त्या स्मरिताऽप्यनुभूयत इत्यर्थः । एवञ्च शक्तियदस्य शक्य
स्वरूपस्य च स्वप्रकारीभूतधर्माश्रयानुभवं प्रत्येव जनकत्वं न तु स्वविषयानुभवं
प्रत्येवेति सिद्धान्तितं प्रतिपद्यत इत्यन्तानुभवं प्रमाणयति व्यतिसक्तानामिति
शक्यस्वरूपप्रकारीभूतधर्मव्यतिसक्तानामशक्यव्यक्तौनामपि तथाभूतत्वात् शक्यस्वरूप-
कान्दानुभवविषयत्वस्यानुभूतत्वादित्यर्थः । एवञ्च गवानयनमनुभवामौत्यनुभव एव अत्र
प्रमाणमित्युक्तमीतावता इति । येऽप्यन्विताभिधानवादिन आहुक्षोषामपि मते इत्यन्वयः ।
सामान्यविशेषरूपो गोत्वादिसामान्याक्रान्तविशेषः शक्तियद्कालदृष्टगोव्यक्तिविशेष-
स्तद्रूप इत्यर्थः । अतिविशेषभूतोऽगृहीतसङ्केतापूर्वगोव्यक्तिविशेषः वाक्यान्तर्गत-
द्वितीयवाक्यार्थोभूतवाक्यान्तरगत इति क्वचित् समीचीनः पाठः । असङ्केतितत्वाद
वाच्य एव तादृशः पदार्थो यथावन्विताभिधानमते प्रतिपद्यते अनुभूयते तत्र मते-

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते' इति । तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वात् न कारकत्वम् ; ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथम् ? 'ज्ञातत्वं' च सङ्केतेन एव, स च अन्वितमात्रे, एवञ्च निमित्तस्य नियतत्वं यावन्न निश्चितं, तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिः एव कथम् ? इति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते' इति अविचारिताभिधानम् ।

ऽर्थान्तरभूतस्य उपात्तपदार्थतावच्छेदकसामान्येन अवच्छेदादिभ्यस्य विध्यादिसदन्तिक-गमननिषेधविपरीतस्य तदन्तिकगमनविधेरुपदिपादान्यत्रापि व्यञ्जान्तरस्य दूरं चक्षां दूरपराहृती वाच्यताप्रसङ्ग इत्यर्थः । एवमुभयनय एवापूर्वगवान्वितकर्मत्वानयनादि-कस्यावाच्यत्वमुपसंख्यत्य दृशंषन् शक्तिलक्षणात्परानुपसंस्थापितेऽप्यनुभूयमाने द्वितीयवाक्यप्रयुक्तगोव्यक्तिविशेषीयसंसर्गे 'उक्तव्याप्तेर्व्यभिचारमाह अनन्वित इति । पदार्थानां शक्तिग्रहकालदृष्टगवानयादिव्यक्तिः अन्वितविशेषी द्वितीयवाक्यार्थीभूत-गवानयनादिः वाक्यार्थः सम्बन्धः संसर्गः ।

ननु शब्दनिमित्तिका व्यञ्जबुद्धिनैमित्तिकी तद्विषयतया व्यञ्जमपि नैमित्तिकत्वे नीपचर्यते तादृशनैमित्तिकानुसारेण निमित्ततया कल्पमानः शब्दी वाचक एव सिद्धप्रतीतिवादिनोऽभिप्रायं विविच्य दूषयति यदप्युच्यते इति । प्रकाशकत्वादिति प्रकाशभावत्वादित्यर्थः । तेन धूमस्य जनके प्रकाशके वज्रौ न व्यभिचारः । नचैवं मात्रपदलभ्यस्य कारकत्वाभावस्य ह्येतीः साध्याविशेष इति वाच्यम् । कारकान्वय-व्यतिरेकाभावस्यैवात्र मात्रपदलभ्यस्य हेतुत्वादतथात्वात् तथाच तादृशान्वयव्यतिरेक-राहित्ये सति प्रकाशकत्वादित्यर्थः । ज्ञापकत्वं इति नये ज्ञातस्य शब्दस्य ज्ञापकत्वं तेनापि नीच्यते श्रौतगृहीतशब्दस्यैव व्यञ्जत्वाभिमतार्थज्ञापकत्वमिति तेनाऽप्युक्ते-रिति वाच्यम् । ईदृशज्ञातस्य ज्ञापकत्वे विवादभावेनैव तदर्थसम्बन्धित्वेनाज्ञात-स्येति तदर्थान् । ननु तदर्थसम्बन्धित्वेन ज्ञातस्यैव ज्ञापकत्वं तेन स्वीकार्यमित्यत आह ज्ञातत्वञ्चेति तदर्थसम्बन्धित्वेन ज्ञातत्वञ्चेत्यर्थः । सङ्केतेनैवेति तदर्थसम्बन्धित्व-याहकक्षीषादिनैवेत्यर्थः । ननु तथाच्छब्दात्तदर्थग्रहणैव्ये तदर्थसम्बन्धित्वयाहकक्षी-

ये त्वभिदधति, 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च विधिरेव अत्र वाच्य इति । तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचो युक्तेर्देवानां प्रियाः, तथाहि 'भूतभव्यसमुच्चारेण भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेन अन्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात्साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति, ततश्चादग्ध-दहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते, यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात् सिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं हवनस्य अन्यतः सिद्धे

ऽप्यस्तीत्यङ्गीकार्यमित्यत आह सचेति । स च तदर्थसम्बन्धितायाहकारूपः सङ्केत उपस्थितपदार्थान्तरान्वितपदार्थभावे न तु तदन्तिकं न गतासीत्युपस्थितपदार्थानन्वयिनि तदन्तिकमेव गतासीत्यादिरित्यर्थः । एवञ्च नैमित्तिकानुसारेणेत्यादिना व्यङ्ग्ये या शक्तिरापादिता सा शक्तियाहकाभावात् सन्भवतीति साधयित्वा तदङ्गुरविचारितार्थवक्तृत्वमाह एवञ्चेति । यावन्न गृह्योतमिति तद्ग्राहककोषाद्यभावादिति बोध्यं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव इति तदर्थसम्बन्धित्वाग्रहे तदर्थस्योपस्थितेरेवाभावादित्यर्थः । ननु प्रथमतदन्तिकागमनबोधसदन्तरं तदन्तिकगमनबोध इत्युभयोरविवाद एक एव च शब्दसदुभयार्थबोधकः । तत्र च इषुणा यथा एकेनैव वेगेन भेद्यत्वेन धनुर्हरप्रति-संहितं लक्ष्यं तदुत्तरन्तु तदप्रतिसंहितञ्च लक्ष्यं भिद्यते तथा एकयैव शक्या शक्यत्वेन वीजृञ्जातोऽर्थः तदुत्तरञ्च तथात्वेन तदज्ञातोऽपि व्यञ्जत्वविवादाध्यासितोऽर्थोऽपि बीजृग्रत इति तदर्थे शक्तियाहकाभावेऽपि नोक्तदोष इत्यतो नैमित्तिकानुसारेणेत्यादिमतं दूषितमेव । नापि व्यङ्ग्यता विवादाध्यासितार्थस्य शक्या बोध्यत्वे प्रमाणाभाव आशङ्कनीयोऽभियुक्तोक्तेरेव तत्र प्रमाणत्वादित्ये तदाह ।

येत्वभिदधतीति प्रथमभेदलक्ष्ये दीर्घः पञ्चाङ्गलक्ष्ये च दीर्घतर एकत्र वेगः व्यङ्ग्यता विवादाध्यासितार्थस्य शक्यत्वेऽभियुक्तोक्तिं प्रमाणयति यत्पर इति । यदोषक इत्यर्थः शब्दार्थः शब्दवाच्यः विधिरेवावेति त्रिःशेषेत्यादौ तदन्तिकगमनबोधः वाच्य एवेत्यर्थः । अभियुक्तवाक्यात्तदभिमतसिद्धिरेव न भवतीत्यभिप्रायेण तदाक्यालम्बिन

‘दध्ना जुहोति’ इत्यादौ दद्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम् ; क्वचित् उभयविधिः, क्वचिन्निविधिरपि यथा रक्तं पटं वयत्यादौ एक-विधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा, ततश्च ‘यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्’ इत्युपात्तस्यैव शब्दस्य अर्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे एवं हि पूर्वे धावतीत्यादौ अपराद्यर्थेऽपि क्वचित् तात्पर्यं स्यात् । यत्तु ‘विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः’ इत्यत्र एतद् गृहे न भोक्तव्यम् इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इत्युच्यते । तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः न च आख्यातवाक्य-योर्द्वयोः अङ्गाङ्गिभाव इति विषमक्षणावाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेन

स्नानधिष्णिपति तदतात्पर्येति । अत्र ते इत्यर्थे तदित्यव्ययम् । तात्पर्यवाची यत्पर इत्यादितात्पर्य्यं क्वाची यां युक्तिर्विषयावभागः तद्विषयकस्य तत्वाक्यतात्पर्य्यस्यानभिज्ञास्ते इत्यर्थः । अतएव ते देवानां प्रियां वलिलेन देवताप्रियाः पशवः इत्यर्थः । देवानां प्रिया इत्यलक् । समस्तपञ्चर्थकं पदं तथा हीति विधेयतया यत्तात्पर्य्यकः शब्दः स एव शब्दार्थः स शब्दस्य प्रामाण्यप्रयोजकोऽर्थः न त्वनुवाद्यभूतीऽर्थोऽपि तत्प्रामाण्य-प्रयोजक इत्येव यत्पर इत्याद्यभियुक्तोक्तैरर्थः । न तु व्यञ्जे तात्पर्य्यसत्वेऽपि व्यङ्ग्य एव वाच्यार्थः इत्यर्थः । प्रघट्केन दर्शयन्नाह भूतभव्येति । प्रमाणान्तरावगतः भव्यसदन-वगतः गामानयेत्यादिशब्दे हि प्रमाणान्तरावगतस्य गोरुच्चारणं तत्कर्मकाप्राप्तग-नयनार्थं नन्वेवं गामानयेत्युक्ते कथं गवानयनस्य साध्यताः प्रतीयते आनयनमात्र-स्यैव तथा प्रतीत्यौचित्यादित्यत्र आह कारकपदार्था इत्यादि । कारकपदार्था गवादयः प्रधाना क्रिया आनयनं तदभिनिर्वर्तकः स्वक्रिया गोः स्पन्दः तदभिसम्बन्धादित्यर्थः । ततश्च साध्यायमानानभिधेया किन्तु साध्यभूता क्रियैव तत्र विधेरित्याह ततश्चेति । अदम्भेति अदम्भभागमेव वङ्गिर्दहति न तु दम्भभागमपीत्येवं रौत्या इत्यर्थः । अप्राप्तं प्रमाणान्तरानवगतं कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनेत्युपलक्षणं यावदप्राप्तमिति सामान्य-निर्देशान् क्रियाया अप्राप्तत्वे क्रियैव विधेया कारकस्य विशेषणस्य अप्राप्तत्वे क्रियैव विधेया इति इत्युक्तम् अतएव कारकविशेषणस्य विधेयत्वं दर्शयति यथा ऋत्विगिति यज्ञमश्नुपे ऋत्विजां प्रचरथे क्वचिदप्राप्तकारकपदस्यापि विधेयत्वं दर्शयति इवनसेति

अङ्गता कल्पनीयेति विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा माऽस्य गृहे भुङ्क्थाः इति उपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम् ।

द्विविधे द्विविधोः उदाहरणमाह यथारक्तमिति वयेति । केञ् तन्नुसन्ताने इत्यस्य रूपं तन्नुभिः निष्पादयेत्यर्थः अत्र पटार्थं रक्ते तन्नु समर्पणात् तन्ववायेण रक्ते पटे ज्ञाति वयनविधिः शुभतन्नुसमर्पणे रक्तवयनीभयविधिः तन्वसमर्पणे तु पटाशमप्यादाय द्विविधिरिति अत्र एकविध्युदाहरणमपीदं भवति इत्याह एकविधिरिति । इत्थं प्रदर्शनस्य प्रकृतीपयोगमाह ततश्चेति तात्पर्यं शब्दप्रामाण्यप्रयोजकं तात्पर्यमित्यर्थः तथाच तदेवोक्तं यत्पर इत्यादिनेति हृदयं न तु तादृशं तात्पर्यमपि व्यङ्ग्यार्थेऽस्त्वेवेत्यत्र आह उपात्तस्यैवेति अर्थे कीषादिग्राहितशक्तिकेऽर्थे एव तादृशं तात्पर्यमित्यर्थः । व्यङ्ग्यार्थस्यापि तत्राचकपदग्राहितशक्तिकत्वात् तद्वारण्यायाह उपात्तस्यैवेति । व्यङ्ग्यार्थे तादृशतात्पर्यं निरस्यति नत्विति एवं हि इति पूर्वपदादप्यविधित्वेन परप्रतीतिः इत्यर्थः नन्वेतावता उपात्तस्य भव्यार्थकस्य शब्दस्य कीषादिग्राहितशक्तिकेऽर्थे भूतार्थकशब्दार्थस्यान्वयात्तत्र तत्प्रामाण्यप्रयोजकं तात्पर्यमित्युक्तं तदेकत्वसर्वत्रिकत्वाद्वाभिचारिः । तथाहि वरं विषं भुङ्क्त्वा मा चास्य गृहे भुङ्क्था इति भव्यार्थकवाक्ये एतद्गृहे न भोक्तव्यमित्येव प्रतीतिस्तत्र च वरं विषं भुङ्क्त्वा इति वाक्यस्यान्वयाभावाद्भव्यस्थोपदिष्टत्वाभावेन तत्प्रामाण्यप्रयोजकतात्पर्योपपत्त्यभावादित्याशङ्कते यत्तु विषमित्यादि अस्यैकदेशकीर्तनरूपत्वमेव बोध्यम् । वरं विषं भुङ्क्त्वा इत्येवमेव वाक्यशरीरं वरं शब्दाभावे विषभक्षणविधेरेव प्रतीतिः । एतद्गृहे न भोक्तव्यमिति मा च अस्य गृहे भुङ्क्था इत्यस्य कीषादिग्राहितसङ्केतोऽर्थः तत्र च वरं विषं भुङ्क्तेति वाक्यस्य प्रामाण्यप्रयोजकं तात्पर्यमित्यर्थः । स एव वाक्यार्थ इति विषभक्षणवाक्यस्यापि अर्थः स एव च न घटते विषभक्षणवाक्यार्थस्य मा चास्य इत्यादिभव्यार्थकवाक्यार्थेऽन्वयाभावेन तस्य भव्यार्थोपदिष्टत्वाभावादिति । यत्तु इत्याद्याशङ्कितपूर्वपचार्यं समाधानुमाह उच्यते इति । अङ्गाङ्गिभावोऽन्वयलक्षणात्वेनेति पाठे आख्यातस्य निरर्थकताकल्पनेन धात्वर्थमात्रबोधकयङ्कान्तकृतापथ्यावसानेन इत्यर्थः । सुहृद्वाक्यत्वेनेति पाठे तु विषभक्षणानुपदेशकसुहृद्वाक्यत्वस्यैव तथा पर्यवसानादित्यर्थः । एवं भुङ्क्था इत्यत्र आख्यातार्थात्यागः तदत्यागे विषभक्षणवाक्यार्थेन वाक्यार्थान्वयाभावादिति हृदयेनैकवाक्यरूपतां दर्शयति विषभक्षणादपीति । आख्यातव्यार्थ-

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते, तावति शब्द-
स्य अभिधैव व्यापारः, ततः कथं ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः
ब्राह्मण ! कन्यका ते गर्भिणीत्यादी हर्षशोकादीनामपि न

त्यागक्रियापदद्वयस्य भक्षणभोजनरूपतासिद्धिनामार्थस्य अपरनामार्थे साक्षादन्वया-
भावाद्भिषभक्षणादिति पञ्चम्यनुप्रवेशः । अपीत्याक्षिप्तपरं शब्दार्थदुष्टमिति भाशब्दार्थ-
इति बोध्यं भोजनदुष्टत्वकथनेन बोध्यमर्थमाह गर्भशक्तिः । अयं मानस बोधाकारः
इत्यमत्रापि उपात्तशब्दस्य कीषादियोगाद्गतशक्तिके भवार्थे तदन्वितभूतार्थकशब्दस्य
प्रामाण्यप्रयोजकं तात्पर्यमती न व्यभिचार इति दर्शयति इत्युपात्तेति । भव्यान्वित-
भूतार्थकशब्दस्य प्रामाण्यप्रयोजकं तात्पर्यमित्यनेन प्रकारेणोपात्तभव्यार्थकशब्दस्य
कीषयाहितशक्तिकेऽर्थ एवेत्यर्थः । इत्यमुपात्तशब्दस्य गृहीतशक्तिके अज्ञातो विवादा-
ध्यासितेऽर्थे तादृशं तात्पर्यमेव नास्ति । तत्रच वा तावतापि यत्पर इत्याद्यभियुक्त-
वाक्याविषयत्वेन नाभिधेयतासिद्धिरिति साधितम् । तथा चाभिधायी दीर्घतरव्यापार-
विधया व्यञ्जार्थोपस्थापकत्वे प्रमाणमेव नास्तीत्युक्तम् ।

ननु शब्दश्रुत्यन्तरं प्रतीयमानत्वमेव प्रमाणमित्यत आह यदि चेति । ब्राह्मणस्थाने
केनापि पुत्रजन्माद्यभीष्टानभीष्टवात्तांप्रदाने तस्य यौ हर्षशोकौ तदीयतस्त्रिजाभ्यां
तच्छब्दश्रीवा तृतीयपुरुषेण ज्ञायते तयोरपि वाच्यत्वं स्यादित्यर्थः । न च कन्या-
गर्भश्रवणात् कथं शोक इति वाच्यं कन्यापदस्य अदत्तपरत्वार्थे गर्भिणीति नञ्-
प्रक्षेपेण स्वलितगर्भेत्यर्थाद्वा । ननु शब्दश्रुत्यनन्तरं शब्दात् यावानर्थः प्रतीयते इत्येव
मधीच्यते हर्षशोकलिङ्गात् ज्ञातो हर्षशोकौ तु न शब्दात् ज्ञाताविद्यत आह कस्मात्
चेति । ननु मा अस्तु लक्ष्णारूपमपि वृत्तान्तरमभिधेयैव तस्या अन्यथासिद्धेरित्यत
आह किमिति चेति । श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य-
मर्थसिद्धिप्रकर्षादिति जैमिनिस्त्वम् । तत्र श्रुतिर्द्वितीया क्षमता च लिङ्गभित्यादिना
लक्ष्यत्वादार्था विवृताः प्रकृतानुपयोगाच्च सामर्थ्येन तत्र दर्शयते प्रकृतीपयोगिमात्रं
दर्शयते यथा द्वितीया द्वितीयान्तं पदं क्षमतामन्वस्य सामर्थ्यं तयोः पारदौर्बल्यं परस्य
दुर्बलत्वं पूर्वमेव तृतीय इत्यर्थः । द्वितीयान्तशब्देन यीऽर्थो लभ्यते मन्वसामर्थ्यात्तद्विरो-
ध्यर्थप्राप्तिसम्भवे द्वितीयान्तपदीपस्थाय एवार्थो गृह्यत इत्यर्थः । यथा ऐन्द्रा ऋची
गार्हपत्यमुपतिष्ठे त इति श्रुतौ गार्हपत्यमिति द्वितीयान्तपदात् गार्हपत्यनासधेयस्यापि-

वाच्यत्वम्? कस्माच्च लक्षणा? लक्षणीयऽपि अर्थे दीर्घदीर्घतरा-
भिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः किमिति च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रक-
रणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् इति अन्विताभिधान-
वादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम् । किञ्च, कुरु रुचिमिति पद-
योर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम्? न हि अत्रासभ्यो-
ऽर्थः पदार्थान्तरैः अन्वितः । इति अनभिधेय एव इति एव-
मादि अपरित्याज्यं स्यात् ।

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो न
अभ्युपेयते तदा असाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनि-

रुपस्थानप्रतीतिः ऐन्द्रा ऋचेत्युक्त्वा च इन्द्रप्रकाशकमन्त्रेणेत्यर्थलाभेऽन्यप्रकाशक-
मन्त्रेण अन्यस्य उपस्थानानौचित्यात् तन्मन्त्रसामर्थ्यादिन्द्रस्योपस्थानप्राप्ताश्च गार्हपत्य-
पदे इन्द्रलक्षणयैव उपपत्तिस्तदोक्तं पारदीर्घत्वमिति । मन्त्रसामर्थ्येन इन्द्रोपस्थान-
प्राप्तौ गार्हपत्यपदस्य इन्द्रलक्षणयोपस्थाप्यमानं इन्द्ररूपोऽर्थो गार्हपत्यपदशक्तिर्लभ्यत
इत्यपेक्षया विप्रकृष्टः विलम्बीपस्थितिक इत्यर्थः । लक्षणायां मुख्यार्थबाधाद्युपस्थिति-
विलम्बेन विलम्बादिति पूर्वं द्वितीयान्तमेव शक्त्योपस्थापकं बलीय इत्यर्थः । तथाच
तादृशं बलीयस्त्वं किमिति कया युक्त्या इत्यर्थः । लक्षणीच्छेदे इन्द्रस्यापि शक्त्यै चोप-
स्थानि विलम्बाभावेन तद्दीर्घं युक्त्यन्तराभावादित्यर्थः । केचित् तु पारदीर्घलोक्त्या
कथं पूर्वबलीयस्त्वं तत्तु प्रतीयतेति व्याचक्षते तत्र । शक्त्यैव दीर्घतरव्यापारविधया
तन्प्रतीतिसम्भवस्य तद्वादिना वक्तुं शक्यत्वात् । ननु गार्हपत्यपदात् शक्त्या इन्द्रोपस्थिति-
रपि दीर्घतरव्यापारविधयैव मया वाच्या कीषाद्यशक्तिशक्तिकत्वात् । तथाच दीर्घ-
व्यापारविधया उपस्थानापेक्षया दीर्घतरव्यापारविधया उपस्थाने विलम्ब एव इत्यर्थ-
प्रकषाद्दीर्घलोकोपपद्यत एव पूर्वबलीयस्त्वमित्यत आह किञ्चेति । रुचिं कुर्वित्थानुपूर्वी-
त्पदयोर्वैपरीत्यं तत्र च देशविशेषे योऽनन्तर्वर्त्यवयवविशेषार्थकचिङ्गं पदं
प्रतीयते तत्तदर्थव्यञ्जनया तदश्लीलदोषवत् तस्य च क्वचिदपि पदार्थेऽन्वयाभावा-
दनभिधेयत्वाद्वाङ्मनायाज्ञानङ्गीकारात् तादृशं पदं काव्ये अपरित्याज्यं स्यादित्यर्थः ।
तथानुपूर्व्यां कथने स्वस्यापि ब्रौह्मीदयावैपरीत्य इत्युक्तम् ।

ननु दीर्घतरव्यापारविधया यदुपस्थाप्यते तस्य पदार्थान्तरान्वयनियमो नास्तीति

त्यदीषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात् । न च अनुपपन्नं, सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासात् वाच्यवाचकेभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयेण तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेव औचित्येन उपपद्यत एव विभागव्यवस्था । 'इयं गतं सम्प्रति शोचनौयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्ये न किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ? अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तृन् प्रति एकरूप एव इति नियतोऽसौ न हि गतोऽस्तमक इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचित् अन्यथा भवति । प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्तादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते, तथा च गतोऽस्तमक इत्यतः सपन्नं

मयोच्यते इत्यत आह यदि चेति । नित्यदीषत्वं सर्वरसमाधारण्येन प्रादेशिकात्वाभावात् कष्टत्वादीनाम् आदिपदात् प्रतिकूलवर्णककष्टसन्धिरूपविसन्धिदीषपरिग्रहः । शृङ्गारकरुणशान्तेषु हि तेषां दीषत्वं न वीरादौ । तद्बीजञ्च कष्टवर्णादिव्यङ्ग्यस्य भोजीगुणस्य शृङ्गारी न तु गुणत्वं वीराद्यनुगुणत्वञ्चेति व्यञ्जनानादरे तु तादृशबीजाभावेन श्रुतिदुःखदायित्वमेव बीजं वाच्यं तथाच तद्दोषाणां सर्वरससाधारण्येन नित्यत्वं स्यादित्यर्थः । न च व्यञ्जनास्थानीयतमा दीर्घतराभिधादरेणैव तद्दोषपरिहार इति वाच्यम् भोजीगुणवृत्तिधर्मान्तराननुभावेनाभिधाया निर्विकल्पकोपस्थापकत्वाभावादिति हृदयात् बहुविधत्वात् किञ्चिद्रसं प्रति अनुगुणत्वं किञ्चिद्रसं प्रति प्रतिकूलत्वं तथा कस्यचित् व्यङ्ग्यस्य स्ववृत्तिधर्मवैशिष्ट्येन उपस्थितत्वं कस्यचित् तदवैशिष्ट्येन इत्येवंरूपबहुधात्वादित्यर्थः । तथाच निर्द्धर्मक एव भोजीगुणी व्यञ्जनया बोध्यत इति भावः । ननु अभिधामूलप्रतीयमानस्य रसादिभिन्नवस्तुन एव व्यङ्ग्यत्वं मया न स्वीक्रियते रसस्य तद्गुणस्य वा व्यङ्ग्यत्वस्य तेन असौ व्यङ्ग्य एवेत्यन्तप्रबन्धेन प्रागेव स्वीकृतत्वादित्यतस्मादृशवस्तुनोऽपि व्यङ्ग्यत्वद्वयमित्यादिकपालिपदेन हि विवक्षिता महेशनिन्दा व्यज्यत इति तत्पदस्यानुगुण्यम् । ननु अत्र दत्तमीवीत्तरं कपालिपदाभिधायैव दीर्घतरव्यापारविधया महेशनिन्दाबीधमं स्यादित्यती वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः वैधर्म्येण भेदं दर्शयन्नभिधासिद्धं व्यञ्जनया साधयति अपि चेति ।

प्रत्यवस्कन्दनावेसर इति अभिसरणम् उपक्रम्यतामिति प्राप्त-
प्रायस्ते प्रेयानिति कर्मकरणास्त्रिवर्त्तामह इति साम्ब्यो विधि-
रुपक्रम्यतामिति दूरं मा गा इति सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति
सन्तापोऽधुना न भवतीति विक्रेयवस्तूनि संक्रियन्तानिति
नागतोऽद्य प्रेयानित्यादिः अनवधिर्यज्ञोऽर्थः तत्र तत्र प्रतिभाति ।

वाच्यव्यङ्गयोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्थाः समर्थ्यादमुदाहरन्तु ।

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणाम् उत स्मरस्मैरविलासिनोनाम् ॥

अत्र प्रतीति अवस्कन्दनमाक्रमणं कूटयोषी प्रकरणादेवं प्रत्येति अभिसरणमित्यत्रा-
भिसारिका प्रतिपत्तौप्राप्तप्राय इत्यत्र प्रीषितभर्तृकाकर्मकरणादित्यत्र स्वाधीनभर्तृका
साध्य इत्यत्र ब्राह्मणा दूरमित्यत्र पथिकाः सुरभय इत्यत्र गौरचकाः सन्ताप इत्यत्रा-
तर्पकान्ताः विक्रेयेत्यत्र परिकेतारः नागत इत्यत्र प्रीषितदाराः प्रतिपत्तारः तत्र तत्र
प्रतिपत्तारि ननु अभिधयैव प्रथमं सूर्यास्तगर्भरूपमनुवर्षं प्रतिपाद्य दीर्घतरव्यापार-
विधया तत्तत्प्रकरणादिसाहाय्येन नानार्थाः प्रतिपाद्यन्त इति ब्रूमस्तत्कथं तयोर्भेद-
सिद्धिरित्यत्र आह वाच्यव्यङ्गयोरिति । निःशेषेत्यादौ वाच्यव्यङ्गयोः स्वरूपस्य निषेध-
विध्यात्मना निषेधविधिरूपेण भेदेऽपि यद्येकत्वं तदा नीलानीलादौ क्वचिदपि भेदो
न स्यादिति दूरतरेणान्वयः । तस्यानिकं न गतासि इति निषेधी वाच्यः गतासीति
विधि व्यङ्ग्यः । एवञ्च वाच्यव्यङ्ग्यभेदस्य शक्तिव्यञ्जनाभेदाधीनत्वात् तयोः अपि
भेदसिद्धिरिति भावः ।

मात्सर्यमित्यादि । हे आर्याः ! उत्तरदानसमाधीनां मयि असूयां त्यक्त्वा
समर्थ्यादं मर्यादानुरोधेन भवन्त उदाहरन्तु । किं भूधरनितम्बाः तपस्यार्थं सेव्याः ?
उत स्मरेण स्मैराः महामायाविलासिन्यः तासां नितम्बाः सेव्याः ? इति किमुंशब्दयोः
वाच्यार्थः संशयः वक्तुः शान्तत्वेन भूधरनितम्बा एव सेव्याः इति तस्य निश्चयः । तस्य
शङ्कारित्वे तु स्त्रीनितम्बा एव सेव्या इति निश्चयो वा व्यङ्ग्यः । प्रकरणासंशयात् तदन्व-
तरत्वसंशयेऽप्यस्यान्तरसेवने निश्चय इत्यस्य व्यङ्ग्यत्वात् तदुभयरूपेण वाच्यव्यङ्गयोः
स्वरूपस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । संशयश्च शान्तशङ्काय्यन्तरगतनिश्चयश्चेति हन्तः । संशये
संशयेनेति च क्वचित् क्वचित् प्रामादिकी पाठौ ।

इत्यादौ संशयशान्तशृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण

कथमवनिप ! दर्पो यन्निशातासिधारा-

दलनगलितमूर्ध्नां विद्विषां स्त्रीकृता श्रीः ।

ननु तव निहृतारैरप्यसौ किं न नोता

त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्त्तिरैभिः ॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतिः

कालस्य शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसङ्घटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकारणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य बोद्धृमात्रविदग्ध-

कथमवनिपेति हे अवनिप ! निशातासिधारया यत् दलनं तेन गलितमूर्ध्नां विद्विषां स्त्रीकृत्या स्त्रीकृतेत्यर्थं कथं दर्पः दर्पोऽयमित्यकार प्रथमः । दर्पं किं बाधकमित्यवाह नन्विति ननु भीः निहृतारैरपि तव वल्लभा कीर्त्तिरपगताङ्गैरपि तैः किं विदिवं न नीता अपि तु नीतैव तथाचायं तव कीर्त्तिं दर्पः साङ्गत्वाद्यपेक्षयाऽपगताङ्गतत्कर्माधिक्याद्दर्पोऽनुचित इत्यर्थः ।

निन्देति । यद्यपि निन्दा न वाच्या स्तुतिरपि शब्दरूपा न व्यङ्गा तथापि अत्र निन्दता स्तुत्यताप्रयोजकरूपत्वनिन्दा स्तुतिपदे तथा च दर्पकरणनिषेधोपयोगी कीर्त्तिहरणरूपी वाच्यार्थो निन्दताप्रयोजकः स्वर्गपथ्यन्तगामिनी ते कीर्त्तिरित्यर्थस्तु स्तुत्ययाप्रयोजको व्यङ्ग्यः विरुद्धतदुभयवपुषा वाच्यव्यङ्ग्ययोः स्वरूपस्य भेदेऽपीति पूर्ववदन्वयः । अर्थयोर्विरुद्धस्वरूपता चात्र तज्ज्ञाप्यनिन्दतास्तुत्यतयोः विरोधादवसेया । ननु यथा विरुद्धवामदक्षिणयोः सव्यपदशक्तिर्विरुद्धधवलनीलयोः श्रितपदशक्तेश्चामेदः तत्रापि अमेदः स्यादित्यत आह पूर्वैति । पूर्वं वाच्यार्थस्य पश्चात् व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीतिरिति स्वजन्यप्रतीतेः कालस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । ननु क्रमशः प्रत्यायने तात्पर्यसत्त्वे प्रतीतिकालभेदोऽपि न भेदक इत्यतः शक्तिव्यञ्जनयोराश्रयः भेदादपि भेदं साधयति शब्दाश्रयत्वेनेति शक्तत्वाच्छब्दस्यैव शक्त्याश्रयत्वेन क्वचिच्छब्दः क्वचित्तदेकदेशादाः अपि व्यञ्जका इति व्यञ्जनयोः तत्तदाश्रयस्य भेदेऽपीत्यन्वयः । ननु एकस्या एव शक्तेः जातेरिवाश्रयभेदी मयाङ्गीकर्तव्य इत्यतः स्वजन्यज्ञाननिमित्तभेदा-

व्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रं च मत्कृत्याश्च करणात् कार्यस्य गतो-
ऽस्तमकं इत्यादौ प्रदर्शितनयेन सङ्ग्रायाः

कस्य णवा होइ रोसो दडू ण बिआए संब्णं अहरं ।

सभमरपडमग्घाइणि ! वारिअवामे ! सहसु एण्हिं ॥

इत्यादौ संखीतत्वान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि
यद्येकत्वं तत् क्वचिदपि नीलानीलादौ भेदो न स्यात् । उक्तं

इति भेदं साधयति शब्दानुशासनेति । शकार्थज्ञानं शब्दानुशासनज्ञानेनैव व्यङ्ग्यार्थ-
ज्ञानं प्रकरणस्वप्रतिभानैर्मल्लसहितेन शब्दानुशासनज्ञानेनेत्यर्थः । वाच्यार्थबीधान-
न्तरमेव व्यङ्ग्यार्थबीधावाच्यार्थबीधकस्य शब्दानुशासनज्ञानस्याप्यपेक्षा निमित्तस्य
स्वस्वजन्यज्ञाननिमित्तस्य एवञ्च स्वस्वजन्यकार्यजनने सहकारिभेदीऽपि भेदक
इत्युक्तम् । ननु इदमपि न भेदकं एकेनैव कुलालेन सहकारिभेदेन स्यात्वी-
रघटादिकार्यजननात् स्वस्वकार्यभेदेनैव सहकारिण्योरभिधायञ्जनयोः भेदः
स्यादित्यापातत आह बोद्धृमात्रेति । शक्त्या शक्यज्ञानरूपा बोद्धृसामान्यस्यैव प्रतीति-
र्जन्यते व्यञ्जनया तु विदग्धव्यपदेशवतः पुरुषस्य व्यङ्ग्यार्थद्वारा आस्वादात्मिका
चमत्कृतिरपि जन्यत इत्यर्थः । बोद्धृमात्रविदग्धयोः प्रतीतिचमत्कृती यथासङ्गं
बीधे । ननु कार्यभेदीद्वारभूतव्यङ्ग्यबीधाबीधाभ्यामेव स्यादित्यतः स्वस्वज्ञाप्या-
र्थयोः सङ्गभेदेनापि भेदं साधयति गतोऽस्तमिति । न च एतत् पुनरुक्तमिति वाच्यं
पूर्वं विभिन्नसङ्गाबोद्धृकत्वमुक्तमिदानीं तु विभिन्नसङ्गाबीधकत्वमिति भेदात् । ननु
एकस्या एव शक्तोर्विभिन्नप्रकरणादिसाहचर्याद्बोध्यसङ्गाभेदः स्यादतः स्वस्वजन्य-
ज्ञानविषयस्य बोद्धृभेदेन भेदं साधयति कस्य ण वेति ।

कस्य न वा भवति रोषो दडा प्रियायाः सन्नणमधरम् ।

सभमरपघ्नात्रायिणि ! वारितवामे ! सहस्वेदानीम् ॥ इति संस्कृतम् ।

सपनायकदृष्टाधरां पत्नीं तर्जयति पत्नी भ्रमरदंशत्वेन प्रतारयन्त्यास्तत्कथा-
श्चतुरीक्तिरिबम् । हे वारिते ! अथ वामे ! निषेधायाश्चिणि ! हे सभमरपघ्ना-
त्रायिणि ! अस्मिन् निषिद्धसभमरपघ्नात्रायणीले ! इदानीं सहस्वपत्युत्सर्जनमिति
शेषः यतः प्रियायाः सन्नणमधरं दडा कस्य वा रोषो न भवति ।

सखी तत्कान्तादीति सखी नायिका अत्र हि अधरदंशफलकं सभमरपघ्नात्राय-

हि अयमेव हि भेदो भेदो हेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभे-
दश्च इति वाचकानामर्थापेक्ष्य व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति
न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम् ।

किञ्च वाणीरकुडङ्ग इत्यादौ प्रतीयमानम् अर्थम् अभिव्यज्य
वाच्यं स्वरूप एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यञ्जो अतात्प-
र्यभूतोऽपि अर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथम् अवतरन् कस्य
व्यापारस्य विषयताम् अवलम्बताम् ? इति ।

रूपं वाच्यार्थं तत्कान्तादर्थो बुद्धान्ते वक्त्रा सख्यो नायिका तु जानाति अधरदंशफल-
कातराया निषेधायाहृष्ट्या भ्रम तर्जनेनेयं भ्रमरदंशत्वेन प्रतारयतीति अत्र विभि-
न्नबोद्धृमध्यस्वरूपस्य भेदः निःशेषेत्यादौ तु तदन्तिकागमनरूपयोः विरोधिनीर्वाच्य-
व्यञ्जयोः स्वरूपभेद इत्यतः पृथक् स्वरूपभेदप्रदर्शनम् । अत्र प्रकरणभेदादिसहाया-
भावात् बोध्यभेदादनुपपत्त्या शक्तिव्यञ्जनार्थं सिद्धिः । नीलानीलेति वैधर्म्यानुभवे
सत्यप्यभेदाङ्गीकारे नीलारुणयोरप्यभेदः सुवचः स्यादित्यर्थः । वैधर्म्यमिवाभ्योन्याभाव
इति मतेऽयमेव भेद इति वैधर्म्यमभ्योन्याभावस्य ज्ञापकमेवेति मतं भेदहेतुर्वेति
हेतुरत्र ज्ञापकः ननु एवं तार्क्यतात्पर्यवङ्गीर्विरुद्धधर्माध्यासाभावात् भेददस्तदयही वा
न स्यादयमेवेत्येवकारिण भेदकान्तरनिरासादित्यत्र आह कारणभेदो वेति । ननु
एवं वाच्यव्यञ्जयोर्विरोधस्वरूपत्वबोद्धृभेदो वा यत्र तत्रासां शक्तातिरिक्ता व्यञ्जना
यत्र त्वेकबोद्धृकत्वमविरुद्धस्वरूपत्वं वा तत्र व्यञ्ज्यबोधिका दीर्घतरव्यापारविधया
ऽभिधैवास्त्वामित्यतस्तत्रापि वैधर्म्याध्यासेन भेदं साधयति वाचकानामिति । वाचका-
नामभिधयाऽन्वयबोधजनकालीनानां अर्थापेक्षा स्वीत्यादौऽन्वयबोधे दारौभूतपदार्थो-
पस्थित्यापेक्ष्य तेषामेव व्यञ्जकानां व्यञ्जनया बोधजननकालीनानां तदनपेक्षत्वमपि
तदर्थोपस्थित्यनपेक्षत्वमपीत्यर्थः । विशिष्टकारणस्यैव विशिष्टव्यञ्ज्यबोधस्यापि स्वविशि-
षणीभूतपदार्थोपस्थित्यनपेक्षत्वमपि क्वचित्दित्यर्थः । अपिकाराद् वाच्यसिद्धाङ्गं काका-
क्षिप्तस्य लयीर्व्यञ्जनया व्यञ्ज्यपदार्थमुपस्थाप्य विशिष्टशब्दे बोधजननं तस्मापेक्षत्वम-
सीति सूचितम् । एवञ्च बोधयोः पदार्थोपस्थितिसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वे कारणवैलक्षण्य-
प्रयोज्य एवेति कारणे शक्ति व्यञ्जने विभिन्ने एव सिद्धात इति भावः । ननु
पदार्थोपस्थितिगन्तावच्छेदकधर्मवत्त्वतदभावाभ्यामेव बोधयोः वैलक्षण्योपपत्तौ तदर्थं

ननु रामोऽस्मि सर्वं सह इति रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये ! नोचितमिति रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परामित्यादौ लक्षणीयोऽपि अर्थो नानात्वं भजते, विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ? उच्यते, लक्षणीयस्य अर्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियत-

शक्तिव्यञ्जनारूपकारणवैलक्षण्यं कथं कल्पनीयमित्यत आह किञ्चेति । वाच्यसङ्गावसादरूपस्वरूपे वाच्यतावच्छेदकावच्छिन्नरूपे विश्राम्यत्यवतिष्ठते रसबीधने व्यङ्ग्यसाहाय्यार्थं स्वतः स्ववाचकशब्दशक्त्यैव पुनरुपतिष्ठते इति यावत् । रसव्यञ्जनार्थमुक्तव्यङ्ग्यसाहाय्याय तस्य पुनर्ज्ञेयत्वात् अतात्पर्यभूतः शक्तियुक्तकजनतात्पर्याभिप्रेयसीभूतीत्यर्थः दत्तसङ्केतः कश्चित् लतागहनं प्रविष्टो बधूश्च न गतेत्येवंरूपः स्वशब्दानभिधेयः स्वस्मिन् यादृत्तसङ्केतपदाप्रतिपाद्य इत्यर्थः । कस्य व्यापारस्येति न च दीर्घतरव्यापारविधया अभिधाया एव विषय इति दत्तमेवीत्तरमिति वाच्यम् । इषुव्यापारदृष्टान्तेनैव हि तथात्वसिद्धिः । इषुव्यापारस्य वेगस्य च न विभिन्नलक्ष्यं पुनर्भेदनमतीतिभिधायाः कथं दीर्घतरव्यापारविधया व्यङ्ग्यं बोधयित्वा पुनर्वाच्यबोधकत्वं स्यात् अतएव पुनर्वाच्यबोधकेऽसुन्दराख्यगुणीभूतव्यङ्ग्य एवैवं रीतिसम्भवाद् गुणीभूतव्यङ्ग्य इत्युक्तं न ध्वनाविति । ननु मास्वभिधेव व्यञ्जना किन्तु लक्षणैव साभ्यात् न च मुख्यार्थबोधादिसापेक्षत्वतदनपेक्षत्वं भेदके स्यातामिति वाच्यलक्षणाविशेष एव तस्मापेक्षत्वस्वीकारात् । व्यञ्जना तु अन्यविधैव लक्षणा स्यात् स्वीपस्याप्यलक्ष्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोस्तुल्यानेकधर्मवत्त्वात् इत्याह रामोऽस्मीति गताऽस्ममर्क इत्यादौ एकस्यैव शब्दस्य व्यङ्ग्यार्थानां नानात्वं यद्भिन्नतमेकरामपदलक्ष्यार्थानामपि तथा नानात्वमित्यर्थः । रामोऽस्मीत्यत्र हि दुःखसहिष्णुर्लक्ष्यार्थः रामेणेत्यत्र तु निःकङ्क्षी लक्ष्यार्थः रामोऽसावित्यत्र तु तन्नामख्यातस्तेन तेन रूपेण ते लक्ष्यार्था इति विशेषेति व्यवदेशः संज्ञा काव्यस्यालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमव्यपदेशविशेषहेतुर्यथा व्यङ्ग्यार्थसंज्ञाऽर्थान्तरसङ्गमितवाच्यात्यन्तितरस्कृतवाच्यव्यपदेशविशेषहेतुर्लक्ष्यार्थोऽपीत्यर्थः । शब्दायत्तः शब्दतदर्थोवगमायत्तः इत्यर्थः । अनेकार्थशब्दाभिधेया यथा इत्यन्त एवेति कीवाः प्रतिनियमितास्तथा लक्ष्यार्था अयुपस्थितमुख्यार्थसम्बन्धा एवेति व्यवहारसमुदाह-

त्वमेव, न खलु मुख्येन अर्थेनानियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते, प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः अनियत-सम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते । न च

अत्ता एत्य णिमज्जइ एत्य अहं दिवसअं पलोएहि ।

मा पहिअ ! रत्तिअंधअ सेज्जाए महं णिमज्जहिंसि ॥

प्रतिनियमिता इत्यर्थः तमेव मुख्यार्थसम्बन्धोऽप्यस्ति न दर्शयति न खल्विति अनियतसम्बन्धः स्वरीषात् प्राणोऽस्ति न प्रमाणात् मुख्यार्थसम्बन्धः न तु कादाचित्कसम्बन्धेन क्वलेनापि कुर्वन् लक्षणात् । चक्रवर्ती तु विभिन्नबीजत्वेन विभिन्नबीजदृष्टीधर्मवानियतसम्बन्धत्व तच्च लक्ष्यार्थस्य नास्ति गङ्गादृष्टवत्त्वत्वेन लक्ष्यार्थयोः एकबीजदृष्टीत्वान् व्यञ्जार्थश्च तत्तदन्तु अतएवायं कश्चन वेत्यादिक-मेवानियतसम्बन्धोदाहरणं वक्ष्यते । तत्र पत्युवाचबीजदृष्टत्वेन प्रमाणात् बीजदृष्टत्वेन विभिन्नबीजदृष्टीत्वोदाहरणप्रदर्शनावसरे दृश्यते । लक्ष्यार्थवेत्तत्त्वं व्यञ्जार्थे दर्शयति प्रतीयमानस्त्विति सम्बन्धस्य नियतवानियतत्वे उपस्थितौ बोध्यं तच्चायं दर्शयिष्यमाणेषु नियतसम्बन्धादिवयो-दारणेषु दर्शयिष्यते । एवञ्च साधर्म्यमात्रकत्वं किन्तु वैधर्म्यादेव भेदसिद्धिरित्युक्तं मुख्यार्थबाधादिनिर्पक्षत्वे तस्या वृत्तेः लक्षणाविशेषरूपत्वे प्रमाणापि नाप्यती मुख्यार्थबाधादिसापेक्षं लक्षणा वाच्या विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिस्थलीयव्य-नायास्तु तत्सापेक्षत्वं नास्तीत्याह न च अत्ता एत्येति । अत्ता एत्येत्यादां विवक्षितान्य-परवाच्यध्वनौ न च मुख्यार्थबाधा इत्यन्वयः ।

अश्रू रत्त निमज्जति अत्ताहं दिवस एव प्रलोकय ।

मा पथिक ! रात्रन्धक ! शय्यायामावयीर्निमज्जसि ॥ इति संस्कृतम् ।

कथितस्त्रीरात्रन्धत्वं कृतवासं पथिकं प्रति स्वयं दूत्या उक्तिरियम् । अनेति अश्रू वां देशी श्वत्प्रायत्वमात्रार्थं शयने निमज्जतीत्याध्यासेनाह निमज्जतीति निष्पन्ना स्वपितृत्वार्थः । आत्मनस्तु अतथाभूतशयनमुचनार्थमत्राहमाति निष्कृष्टनिर्देशः । मा निमज्जसि मा प्रवेक्ष्यमि तत्र प्रवेशे निमज्जनाध्यासीऽन्धत्वेनात्यन्तमेक्ष्यप्रवेश-सम्भावनायां तस्य निमज्जनप्रायतामूचनाय अत्रानाकाङ्क्षितवक्तृत्वरूपवक्तृत्वेन लक्षणेन वाच्यार्थश्च व्यञ्जं मम शय्यायां निमज्जसीति । अत्र मुख्यार्थबाधाभावात्

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनी मुख्यार्थबाधः । तत्
 कथम् अत्र लक्षणा ? लक्षणायामपि व्यञ्जनम् अवश्यम् आश्र-
 यितव्यमिति प्रतिपादितम् । यथा च समयसव्यपेक्षा अभिधा
 तथा मुख्यार्थबाधादित्यसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा अत एव
 अभिधापुच्छभूता सत्याहः ।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननं तदनुगमेन तस्य दर्शनात्,
 न च तदनुगतमेव अभिधावलम्बनेन अपि तस्य भावात् । न च
 उभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेण अपि तस्य दृष्टेः । न च

कथं लक्षणेत्यर्थः । अससिरमणीत्यादावेव एतत्प्रदर्शनसम्भवेऽपि उदाहरण-
 सौजभ्यादिदं प्रदर्शितम् । ननु मुख्यार्थेन वक्तृतात्पर्यानुपपत्तिरेवात्र मुख्यार्थबाधोऽस्ती-
 त्यत आह । लक्षणायामिति । प्रतिपादितमिति लक्षणाप्रयोजनस्य व्यञ्जनैकगम्यस्तीक-
 त्वात् । तथाच तच्छब्दाप्रवेशस्य लक्षणागम्यत्वाभ्युपगमे तल्लक्षणाया रूढिहेतुकत्वाभावेन
 प्रयोजनमवश्यं वाच्यं तस्य लक्षणीयत्वेऽनवस्था व्यङ्ग्यत्वे तु तत्रैव व्यञ्जनसिद्धौ अलं
 प्रयासनेति भावः । लक्षणायां व्यञ्जनाया वैधर्म्यान्तरमभिधायामिवाह यथा चेति ।
 समयः शक्तियाहकः क्रीडादिः समयविशेषो मुख्यार्थे शक्तियाहकः क्रीडादिः मुख्यार्थ-
 बाधग्रहणार्थं तदपेक्षा अत्र तादृशी लक्षणाधर्मी व्यञ्जनायां नास्त्यती न लक्षणेव
 व्यञ्जनेत्याह नचेति । ध्वननं व्यञ्जना तदनुगमनेति । लक्षणीत्तरभावेन तस्य ध्वन-
 नस्य दर्शनात् बोधकत्वदर्शनात् । तथाच लक्षणेव मुख्यार्थबाधादिसापेक्षा लक्षणामूल-
 व्यञ्जना तु लक्षणासापेक्षैव न मुख्यार्थबाधादिसापेक्षेति वैधर्म्याद्भेदसिद्धिः इति
 भावः । ननु लक्षणाया अपेक्षितो यो मुख्यार्थबाधः स एव तदुत्तरव्यञ्जनयाप्य-
 पेक्ष्यते तत्सापेक्षत्वात् सापि लक्षणेव । लक्षणीत्तरत्र लक्षणा तु प्रयोजनं नापेक्ष्यते
 इत्युच्यते इत्यत आह न च तदनुगतमेवेति । यदि लक्षणीत्तरमेव व्यञ्जना बोधिका
 स्यात्तदेव तु नेत्यर्थः । तस्य ध्वननस्य भावात् बोधकतया सत्त्वात् मुख्यार्थेन तात्-
 पर्यानुपपत्तिः तत्रापि मुख्यार्थबाधः स्यादित्यत आह । नचीभयेति अवाचकेति ।
 तथाच वर्णस्य मुख्यार्थसत्त्व एव तद्बाधः स्यात् स एव तु नास्तीत्युक्तम् । ननु वर्णस्य
 पदैकदेशत्वात् तदैकदेशिपदमुख्यार्थसत्त्वैव बाधोऽभ्युपगन्तव्य इत्यत आह । न च

शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलीकनादिगतत्वे न
अपि तस्य प्रसिद्धेरिति अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रया-
तिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपङ्गवनीय एव ।

तत्र अन्ता एत्येत्यादौ नियतसम्बन्धः कस्म ए वा होइ
रोसो इत्यादौ अनियतसम्बन्धः,

विपरीतरण लच्छी बह्वं दङ्गुण णाहिकमलङ्गम् ।

हरिणो दाहिणणअणं रसाउला भत्ति टक्के इ ॥

शब्देति । ध्वननादिपर्याय इति ध्वननव्यञ्जनाद्यनेकनायक इत्यर्थः । इदानीं व्यञ्ज-
नाया नियतानियतसम्बन्धादित्यबोधकत्वं पूर्वाक्तमुदाहरणेषु दर्शयति । अत्र
अन्ता एत्येति । अत्र मच्छ्यामामप्रवेशी वाच्यार्थः तत्र प्रवेशन्तु व्यङ्ग्यार्थ उभयस्यैव
बीडा पथिकः सामाजिकश्च तदाप्रवेश वाच्यार्थे बुध्यमाने व्यङ्ग्ये प्रवेशेऽपि तत्प्रति-
योगितारूपी वाच्यार्थसम्बन्धी नियतो भासते तदभावज्ञानस्य तत्प्रतियोगिताविष-
यत्वनियमादिति भावः । कस्म एवेत्यादाविति । अत्र हि सभमरपद्माघ्राणं वाच्यार्थः ।
अबाधास्फूर्त्या तद्बीध्याज्ञा कान्त एव न तु कान्ता तस्याः तत्र बाधस्फुरणात् किन्तु
इयं प्रतारयतीत्येवंरूपस्य व्यङ्ग्यार्थस्यैव सा बीड्नी तत्र च सभमरपद्माघ्राणरूप-
वाच्यार्थसम्बन्धी न भासते । कदाचित्तु सभमरपद्माघ्राणकथनेनेयं प्रतारय-
तीत्येवमपि तथा बुद्ध्यते इत्यतः प्रतारणे सभमरपद्माघ्राणकथनजन्यतारूपस्य
सम्बन्धस्वीपस्थित्यनियमः । चक्रवर्ती तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः विभिन्नबीडृकत्वमेव
अनियतसम्बन्ध इत्याह । तत्र । वाच्यबीडृबीध्यत्वं व्यङ्ग्यस्यैत्युच्यते तदा लक्ष्यार्थ-
ऽपि तथात्वसत्त्वादनियतसम्बन्धत्वमस्येवेति । कथं ततो वैलक्षण्यमित्यविचारः
सुगम एव संसः । विपरीतरण इति ।

विपरीतरते लक्ष्मीर्द्वाणं दृष्टा भाभिकमलङ्गम् ।

हरिर्दक्षिणनयनं रसाकुला भटिति ठीकते ॥ इति संस्कृतम् ।

सूर्यात्मकदक्षिणनयने हरौ विपरीतरतौ प्रसक्ता लक्ष्मीसदीयनाभिकमलङ्गं
ब्रह्माणं दृष्टा लज्जामाना रसाकुलत्वेनात्यन्तरता च ब्रह्मणः पिधानाय पद्ममीलनार्थं
सूर्यात्मकं हरिर्दक्षिणनयनं सहसा आच्छादयतीति वाच्यार्थः । तत्र व्यङ्ग्यस्य

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः, अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनय-
नस्य सूर्यात्मकता व्यञ्जते, तन्निमीलनेन सूर्यास्तनयः, तेन
पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनं, तत्र सति गोप्याङ्गस्य
अदर्शनेन अनिर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति ।

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यार्थः, 'वाक्यमेव च
वाचकम्' इति येऽप्याहुः, तैरपि अविद्यापद्यपतितैः पद-
पदार्थकल्पना कर्त्तव्येवेति तत्पक्षेऽपि अवश्यम् उक्तोदाहर-
णादौ विधादिव्यं इत्येव । ननु वाच्यादभम्बद्धं तावन्न प्रती-
यते, यतः कुतश्चित् यस्य कस्यचित् अर्थस्य प्रतीतिः प्रसङ्गात्,
एवञ्च सम्बन्धात् व्यञ्ज्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धे अवश्यं न भव-
तीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपास्त्रिङ्गास्त्रिङ्गि-
ज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति । तथाहि,

वाच्यसम्बन्धिसम्बन्धित्वं दर्शयति अत्र हरितीति । हरिः वाच्यार्थः तदवयवनयनाभेद-
रूपसम्बन्धेन सम्बन्धौ व्यञ्जः सूर्यः नयननिमीलनजन्यस्तदस्तमयस्तद्वृत्तित्वसम्बन्धेन
सम्बन्धौ पद्मसङ्कोचस्तन्मन्यतासम्बन्धेन सम्बन्धौ ब्रह्मणः स्थानमपि तन्मन्यत्वेनैव
तत्सम्बन्धिलज्जायन्तकारहितं निधुवनविलसितञ्च तन्मन्यत्वेन सम्बन्धीत्येवं समुद्रता ।
ननु अयं शक्तिव्यञ्जनाभेदविचारः तदशक्यशक्यज्ञाने सत्येव तदेव तु नास्ति तथाहि
वाक्यस्यैव प्रयोगयोग्यत्वेन अखण्डतदर्थ एव अखण्डवाक्यार्थः स च व्यञ्ज्यत्वाभि-
मतार्थोऽपि भवति पदार्थस्तु कश्चिन्नास्ति तदुक्तं भट्टहरिणा । ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति
कश्चित् ब्राह्मणकम्बले । देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थका इति । अस्यार्थः
ब्राह्मणसम्बन्धिनि कम्बले प्रतीयमाने यथा ब्राह्मणरूपोऽर्थो नास्ति तत्सम्बन्धित्व-
विशिष्टकम्बलस्याखण्डस्य प्रतीतिः तथा देवदत्तो गच्छतीति वाक्ये देवदत्तसम्बन्धि-
गमनस्याखण्डस्य प्रतीतिः खण्डभूता देवदत्तादयोऽनर्थकास्तदर्थभिन्नादय एव
स्यु रित्येतद्वैयाकरणमतमाशङ्कते अखण्डेति । समाधत्ते तैरपीति । अन्यथा घटमानयेति
वाक्ये व्युत्पन्नस्य आनय घटमिति वाक्यात् तदर्थमीधो न स्यादिति भावः । एवञ्च
पदपदार्थकल्पनावशादेव अपदार्थभूतस्य व्यञ्ज्यार्थस्य वाच्यार्थात् पृथक् व्यञ्जनापि

भम धम्मिअ । बीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।

गोलाण्ढकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण” ॥

अत्र गृहे खनिष्ठस्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंही-
पलब्धेरभ्रमणम् अनुमापयति, यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भय-
कारणनिष्ठस्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहीपलब्धि-

शक्तेः पृथगिति भावः । एवञ्च पदार्थकल्पना अद्वैतदर्शनात् तत्त्वज्ञानिनां नास्ति पद-
पदार्थयोरपि ब्रह्माभिन्नत्वेन तैरवगतत्वादत् आह अविद्याप्रथपतितैरिति । अविद्या
हेतुबुद्धिहेतुर्मिथ्यावासना व्यङ्ग्यार्थोऽनुमितैरेव विषय इति । वादिनां नैथाधिकिनां
मते भूमिकासुत्यापयति वाच्यादसम्बद्धमिति वाच्यस्य पक्षत्वे तत्र बाधनिवर्तिका
तस्य हेतुत्वे च तत्र साध्यव्याप्तिबीधिकाऽवश्यं न भवतीत्यन्ता भूमिका अप्रतिबन्ध
ऽसम्बन्धेन भवतीत्यनन्तरमिति स्थिते इति पूरणीयं व्याप्तत्वेनेति । विरूपत्वात्
लिङ्गात् लिङ्गिनि पक्षे ज्ञानं साध्यभूतव्यङ्ग्यार्थस्य तदेवानुमानमनुमितिरिति ।
यत्तद्रूप एव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः पर्यवस्यतीत्यन्वयः । लिङ्गस्य पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्व-
विपक्षासत्त्वात्मकं विरूपत्वं दर्शयति व्याप्तत्वेनेति । साध्यवदन्यावृत्तिलरूपव्याप्ति-
सत्त्वेनेत्यर्थः । अनेन विपक्षासत्त्वं रूपं दर्शितम् । पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वात्मकं रूपद्वयं
दर्शयति नियतधर्मीति । साध्यवत्त्वेन नियतौ धर्मिणौ पक्षसपक्षौ तन्निष्ठत्वेनेत्यर्थः ।
भम धम्मिअ ! इति पद्यव्यङ्ग्यार्थस्यानुमेयतां दर्शयितुमाह तथाहि इति ।

भम धार्मिक ! विश्वस्तः स आ अद्य मारितस्तेन ।

गोदावरीकच्छकुडङ्गवासिना दमसिंहेन ॥ इति संस्कृतम् ।

गोदावरीतीरायमस्या काचित् कुलटा तदीयकुञ्जे कृतसङ्केता तन्निकुञ्जे पुष्पाव-
चयनेन प्रत्यहं सङ्केतभङ्गकारिणं कश्चित् धार्मिकं अप्रैरणेन कृतीपद्रवमप्यनिवृत्तं
दिनान्तरे एवमाह । यः आ प्रत्यहं त्वां भीषयति सोऽयं गोदावरीकुञ्जवासिना दम-
सिंहेन मारितः । हे धार्मिक ! तदद्य विश्वस्ती भमित्यर्थः । इदञ्च वाक्यं सङ्केत-
स्थलस्य सिंहवत्त्वकथनात्ताभ्रमणव्यञ्जकं तस्माभ्रमणमनुमानगम्यमेवेत्याह ।

अचेति । विहितमित्यन्तं गोदावरीतीरदेशस्य वाच्यस्य पक्षदर्शनपरं विहित-
मित्यस्य कुलटयेति शेषः । सिंहीपलब्धेरिति । हेतुप्रदर्शनं अभ्रमणं भीरु-
धार्मिकस्य सिंहीपलब्धिरप्येतद्वाक्यजन्वा तस्यैवानुमानश्चेत्पद्यश्रीतृष्ठा सामाजिका-

रिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । अत्र उच्यते भीरोरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशे, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवभ्रूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः, शुनो विभ्यदपि वीरत्वेन सिंहात्त्र विभेतीति विरुद्धोऽपि । गोदावरीतीरे सिंहसङ्गावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात् न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेन अप्रतिबन्धात् इति असि-

नाम् अनुमापयतीत्यत्र सिंहीपलब्धिजनकमेतद्वाक्यमेव कर्तृबोध्ं सिंहीपलब्धिरिति पाठे सिंहीपलब्धिरूपहेतीरेव विवक्षावशात् कर्तृत्वं बोध्यम् । सिंहीपलब्धेश्च विषयतासम्बन्धेन पक्षवृत्तत्वं बोध्यम् । तथाच अयं प्रयोगः गोदावरीतीरदेशी भीरुतडार्मिकेणाभ्रमणीयस्तदौयसिंहीपलब्धिरिति । तेनान्यदीयसिंहीपलब्धिसत्त्वं तदभ्रमणसत्त्वेऽपि न व्यभिचारः । पक्षोऽत्र तत्सिंहीपलब्धिसत्त्वेन विशेषणीयः तेनान्यदा तदभ्रमणसत्त्वेऽपि न बाधः । पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यस्य बोधात् । तत्सिंहीपलब्ध्यात् तच्छाब्दजन्यैव सामाजिकैरवगतेति । सैवात्र हेतुः स च पक्षमात्रवृत्तित्वेन व्यतिरेक्येव इत्यती व्यतिरेक्यैव उदाहरणं प्रयुङ्क्ते यद्यदिति । भीरुभ्रमणमित्यत्र भीरोर्भ्रमणं यवेति बहुव्रीहिणा भीरुभ्रमणवद्देशोऽर्थः । तेनाभ्रमणस्य साध्यस्याभावानां भ्रमणानामधिकरणान्युक्तानि । तेषां हेत्वभावाधिकरणत्वमाह तत्तद्भयकारणमत्र सिंहस्तस्य निवृत्त्युपलब्धिरूपलब्धिनिवृत्तिः । राजदन्तादित्वे कृते समाप्ते पूर्वनिपातस्य व्याकरणव्यत्यादित्वात् । निवृत्तिय अभावः सिंहीपलब्धिः अभावी भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपक्षान्तस्यार्थः । विशिष्टबुद्धौ विशेषणस्य पूर्वज्ञेयत्वेन तदनुसारात् पूर्वपदमत्र विशेषणार्थकं बहुव्रीहिं च कप्रत्ययः तथाच सिंहीपलब्धिभावविशेषणकमिति । तत्तदित्यादि समुदायार्थस्तथाच यद्यद्भीरुभ्रमणवत् तत्तत् सिंहीपलब्धिभाववदिति । व्यतिरेकेणीदाहरणमुक्तम् । उपनयनरूपमवयवं प्रयुङ्क्ते गोदावरीतीरे चेति । सिंहीपलब्धिहेतोः साध्याभावप्रतियोगित्वं दर्शयति व्यापकेति । व्यापकस्य साध्याभावव्यापकस्याभावस्य विरुद्धाप्रतियोगिनौ उपलब्धिः सिंहीपलब्धिर्गोदावरीतीर इत्यर्थः । सिंहीपलब्धिर्गोदावरीतीरवृत्तित्वमुक्त्वा तस्या व्यापकविरुद्धत्वं वाक्यान्तरेण कथितमिति न पौनरुक्त्यं भोरुरपीति भीरुतडार्मिकोऽपीत्यर्थः । अन्यभीरुभ्रमणस्य साध्याभावरूपत्वाभावात् । प्रियानुरागेण चेति । सिंहवद्भीदावरी-

दृश्य, तत्कथमेवविधात् हेतोः साञ्जसिद्धिः । तथा निःशेष-
च्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि,
तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव सानकार्यत्वेन
उक्तानौति न उपभोग एव प्रतिबद्धानि इत्यनैकान्तिकानि ।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्,

वीरदेशप्रविष्टप्रियानुरागेत्यर्थः । अन्नेन चेति मन्वीश्विभलादित्यर्थः । अनै-
कान्तिक इति । पक्ष एव व्यभिचारीत्यर्थः । पदान्तरितो तच्छब्दे सिंहीपलम्बि-
रभावात् शुनी विभ्यति स धार्मिको यदि वीरसदा शुनी विभ्यतपीत्यर्थः । विरुद्ध
इति । वीरत्वेन तत्र भमणावग्रम्भावेऽभमणरूपस्य साध्यस्य तदाभावाद्विरुद्ध इत्यर्थः ।
धार्मिकस्यावीरत्वे सिंहवति कदाचित् अभमणाद्वाभिमचारी वीरत्वे तु यावत्
सिंहसत्त्वं तावदेव भमणाद्विरुद्ध इत्यर्थः । भमणीयमेऽपि भमणमित्यभिप्रायात् ।
अत्र केचित् यद्देशे सिंहीपलम्बिरभमणश्चेति साध्यहेत्वोः सहचारसत्त्वे कथं विरुद्ध
इत्यतो व्यभिचारितो व्यातिरेकी विरुद्ध इति परिभाषया व्यभिचारित इत्येवाप्यर्थ
इत्याहुः तत्र । व्यभिचारस्य प्रागुक्तत्वेन पौनरुक्त्यत्वापत्तेः । शाब्दतदुपलम्बिवि-
शेषस्य हेतुत्वेन पदान्यत्र तदवच्छेदः तदन्यदेशे सामानाधिकरण्यस्यैवाभावात् च
अन्यथा अन्वयित्वमेव हेतीरिति । व्यतिरेकेणोदाहरणप्रदर्शनं न क्रियेत । शाब्द-
स्योपलम्बिविशेषस्य हेतोः सन्दिग्धासिद्धिमप्याह गोदावरीतीर इति न च वचन-
स्येति । कुलटावचने प्रामाण्यसन्देहेन तस्माच्चानात् धार्मिकस्य सिंहीपलम्बि
जाता नवेति पक्षे हेतोः सन्देह इत्यर्थः । एतावति वापलाभसामान्यमत्र न
हेतुरिति स्फुटीकृतमित्यवधेयम् । निःशेषच्युतेत्यादेर्व्यञ्जकस्यानुमेयत्वे व्यभि-
चारमाह तथेति । कारणान्तरतः स्नानादित्यर्थः । न प्रतिबद्धानि न व्याप्यतया
सम्बद्धानि न च स्नानाद्यजन्यतावधारकप्रमाणं सतीति । विशेषणादव्यभिचार इति
इति वाच्यम् । तादृशविशेषणस्यानुपात्तत्वेन तदनुसन्धाने विलम्बसदनुसन्धायकाभावा-
द्येत्यभिप्रायात् । ननु व्यञ्जनावोदनस्तवापि मते तेषामन्यहेतुकत्वसम्भवे कथं तेभ्य
उपभोगव्यञ्जनेत्यत आह ।

व्यक्तिवादिनेति । व्यञ्जनावोदिनेत्यर्थः । अधमपदेति अधमादिपदेत्यर्थः ।
अथादिपदानामपि व्यञ्जकत्वस्य प्राम्दर्शितत्वात् तेषां चन्दनच्यवनादीनां तथाच

न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथम् अनुमानम् ? एवं-
विधादर्यादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशत इति व्यक्ति-
वादिनः पुनस्तत् अदूषणम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयो
नाम पञ्चमः उल्लासः ।

— — —
षष्ठः उल्लासः ।

शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः ॥१॥
न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम्, अर्थचित्रे वा शब्दस्य,

फलबलात् एषां व्यञ्जकत्वं सिद्धे अन्यहेतुकत्वेन व्यभिचारी नात्र दूषणमिति भावः ।
ननु अधमत्वादिविशेषणान्येव तेषामनन्यहेतुकत्वादनुसन्धायकानि तथाच तद्वलादेव
मम मते न व्यभिचार इत्यत आह न च अत्र अधमत्वमिति । ननु अधमत्वादौना-
मप्रतिमत्वे कथं व्यञ्जनायां त्वन्मतेऽपि तेषां सहायतेत्यत आह एवंविधोऽर्थ इति
फलमेवात्र प्रमाणमित्यर्थः ।

काव्यप्रकाशादर्शं पञ्चमः प्रतिविम्बः ।

ननु शब्दचित्रं वाच्यचित्रमिति द्विविधं चित्रमुक्तं तच्च न युक्तम् एकतरस्यैव अन्यैः
काव्यत्वाङ्गीकारात् । इत्यतस्मादशाङ्गीकारो नास्माकं सम्मतः किन्तुभयस्यैव वैचित्र्य-
रूपत्वेनैव उभयोरेवालङ्कारत्वमन्वत्सम्मतमिति विवक्षुर्दभयलङ्कारसमावेशे एकस्य
चित्रत्वं खल्वयम्राह ।

शब्दार्थचित्रमिति गुणप्राधान्यत इति । एकस्य तत्र अलङ्कारत्वाभावमात्रे तात्-

तथा च उक्तम्,

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।

सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥

तदेतदाहुः सौशब्दं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।

शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं इयन्तु नः ॥ इति ।

शब्दचित्रं यथा

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभः,

तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।

उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे

सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविर्भृगलाञ्छनः ॥

पर्यं न तु तत्र गुणप्राधान्यत इति । एकस्य तवानलङ्कारत्वाभावमात्रे तात्पर्यं न तु तत्र गुणप्राधान्ये प्रतिनियते समत्वे तुल्यप्राधान्येनापि स्थितेः । अतएव उभयमनावृत्तेः एकस्यानलङ्कारत्वाभाव एव व्याख्यातो न तु गुणप्राधान्ये नियमिते शब्दार्थाचनयोः इति सुगमः पाठः । चित्रार्थशब्दयोः इति पाठं चित्रालङ्काररूपो यौ शब्दार्थाधन प्राप्तीपभाद्यौ तयोः स्थितिरित्यर्थः । वक्ष्यमाणकारिकावये सार्धकारिकाइयमेकैकालङ्कारवादिनां मतकथनं तृतीयकारिकापराद्धे उभयालङ्कारस्वीकृतमंतं तदेव संवादत्वेन दर्शयितुमाह ।

तथाचीकृमिति । तस्य काव्यस्य रूपकादिर्बहुधालङ्कार इत्यन्वयः । विभाति विशेषेण भाति बाह्यं काव्यत्वाप्रयोजकं सुपां सुवन्तानां तिङ्गां तिङन्तानां व्युत्पत्तिं विशेषेण अनुप्रासादिना उत्पत्तिविन्यासम् । तस्या एवालङ्कृतिले इंतुमाह ।

तदेतदिति । सौशब्दं नृशब्दता सुकाव्यत्वमित्यर्थः । स्वसम्बन्धाच्च तृतीयकारिकापराद्धेमाह शब्दाभिधेयति । अभिधेयोऽर्थः ।

प्रथममरुणेति । क्षणदामुखे मृगलाञ्छनस्ततः पूर्वाञ्चीकृत्क्रमिकरूपप्राप्तेरनन्तरं सरसविसिनीकन्दस्य सरसत्वेनाश्रयतया धावत्यमुक्तम् । क्रमशो रूपवयप्राप्तिं

अर्थचित्रं यथा,

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र

क्षोभाय पद्मलदृशंमलकाः खलाश्च ।

गौचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना

ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया पर्यवसानम्, तथापि स्फुटस्य रसस्य अनुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्य-
हयम् उक्तम् ।

अत्र च शब्दार्थालङ्कारभेदाद्बहवो भेदाः, ते च अलङ्कार-
निर्णये निर्णेष्यन्ते ।

इति काव्यप्रकाशे षष्ठः उल्लासः ।

पूर्वाङ्गेनाह प्रथममिति । प्रथमं तावदित्यन्वयः । कनकप्रभत्वेन ईषत्तामता
विरहीताम्यदिति वर्तमाननिर्देशात् कपोलकान्तिः प्रथमदशालाभेनेषत्याख्युता ।
अवानुप्रासं प्रधानं बहुषु वर्णेषु तथात्वात् । विरहीताम्यदित्यादौ सरसविसिनीत्यादौ
च उपमालङ्कारौ गौणी नायिकादिविभावादेः अनुपात्तत्वात् स्फुटरसाप्रतीत्या स्फुट-
प्रतीयमानार्थराहित्यञ्चेति चित्रता ।

ते दृष्टीति । ते खलाः पद्मलदृशमलकाश्च अत्र लीके दृष्टिमात्रपतिता अपि
कस्य क्षोभाय न भवन्तीति शेषः । खलपक्षे क्षोभी भयम् अलकपक्षे कामपीडा
अलकपक्षे गौचाः खलाश्च सविलासं स्वपरिहासम् अलीके सृषाकथायां लग्ना अलीके
ललाटे सविलासं सशोभं लग्नाश्च अलिकमलीकञ्चेति द्विरूपकं कालतां यमस्वरू-
पतां कृष्णवर्णताश्च कुटिलतां वक्रस्वभावतां कुञ्चितत्वञ्च । अत्र प्रकृतखलाऽप्रकृताल-
कयोरैकधर्मान्वयरूपं दोषकमर्थालङ्कारप्रधानं अलीकादिपदशेषाऽनुप्रासश्च शब्दा-
लङ्कारौ गौणः । विभावादिरूपतयेति वर्णितार्थस्य रूपचन्द्रादेः उद्दीपनादिविभा-
वादिरूपत्वेन तद्दालङ्कारसादौ काव्यस्य पर्यवसानमित्यर्थः । स्फुटस्य शीघ्रप्रत्ययस्य
अव्यङ्ग्यमुक्तमिति शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यन्ववरं स्मृतमिति सूचे इत्यर्थः ।

काव्यप्रकाशादर्शे षष्ठः प्रतिविम्बः ।

सप्तमः उद्भासः ।

काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह
मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन लेख्यपि सः ॥१॥
हतिरपकर्षः शब्दाद्याः इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने ।
विशेषलक्षणमाह

दोषगुणालङ्कारा वक्ष्यन्त इत्युक्तत्वात् दोषनिरूपणमुत्पापयति काव्यस्य स्वरूप-
मिति । दोषाणां सामान्यलक्षणमिति । सर्वदोषसाधारणं लक्षणमित्यर्थः । यद्यपि
तदोषाविव्यादिलक्षणघटका न सर्वे दोषा इति प्रागेव दर्शितम् अतः सर्वदोष-
निरूपणमसङ्गतं तथापि दोषत्वेन सकलकाव्यदोषाणां स्मारितत्वात्तेषामपि लक्षण-
करणं न असङ्गतमिति बोध्यं स्मृतस्यापेक्षा नाहंत्वरूपसङ्गतिसत्त्वात् ।

मुख्यार्थेति । मुख्यः प्रधानं अर्थः प्रयोजनं तस्य हतिरपकर्षो यस्मादिति
बहुव्रीहिः । मुख्यप्रयोजनञ्च सुखदुःखाभावश्चेति न काव्यजन्यरसात्मकसुखमात्-
मती वैषयिकसुखस्य दुःखाभावस्य चापकर्षके वस्तन्तरेऽप्यतिव्याप्तिरर्थप्रयोजन-
विशेषपरतया सङ्गमयति रसश्चेति । मुख्यो मुख्यार्थोऽत एव विवाचितः इति शेषः । ननु
अर्थवृत्तिः शब्दवृत्तिश्च दोषः कथं स्वाप्रत्ययासन्नस्य रसस्यापकर्षकारक इत्यतः प्रत्या-
सक्तिं घटयति तदाश्रयादिति । इदञ्च न हंत्वर्थकपञ्चम्यन्तं रूपं साध्यनिर्देशाभावेन
हेतुत्वानुपपत्तेः न च अनुगम्यमानमुख्यत्वमेव साध्यमिति । वाच्यरसस्य वाच्यवृत्ति-
त्वोपपादने वाच्यस्य मुख्यत्वकथनस्यानुपयुक्तत्वात् । वाच्यस्य मुख्यत्वेऽपि रसस्य
तद्वृत्तित्वे तस्वार्थवृत्तिदोषप्रत्यासन्नत्वोपपत्तेश्च किन्तु तदाश्रयादिति प्रथमान्त-
मेव तदाश्रयणमतति प्राप्नोतीति व्युत्पत्त्या क्लिबन्तत्वात् अत सातत्यगमन इत्यस्य रूप-
मिदं तथाच वाच्यो रससम्बन्धीत्यर्थः । शब्देऽपि रसाश्रयणत्वमुक्तमुपपादयति
उभयोपेति । यद्यपि शब्दादीनां रसोपयोगित्वकथनमेव तेषां रसाश्रयत्वकथनाप-

दुष्टं पदं श्रुतिकटु

च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसंमर्थम् ।

निहतार्थमनुचितार्थं

निरर्थकमवाचकं विधाऽश्लीलम् ॥ २ ॥

पादकं नत्वर्थोपयोगित्वकथनं तथापि रसोपयोगितापि शब्दादीनामर्थोपस्थापन-
द्वारैवेति । द्वारीभूततदुपयोगकथनमिदम् उपयोगश्च रसे व्यञ्जनयाऽर्थे च शक्त्या
आदिपदग्राह्यवर्णरचनयोस्तु वर्णानां वाचकपदघटतया समासरूपरचनायास्तु पाद-
घटितवाक्यघटकतयेति बोध्यम् । रसपदञ्चावासंलक्ष्यक्रमपरं तेन भग्वादिहतिरपि
दोषः । वाच्यपदञ्च लक्ष्यार्थस्याप्युपलक्षणं तेन लक्षणामूलरसादिहतिपरिग्रहः इत्यं
वाच्यादौ साक्षात् परम्परया च रससम्बन्धमुक्त्वा तेन तेन सम्बन्धेन तत्र रसस्थितिमाह
तेन तेष्वपीति । स रसः तेन दोषप्रत्यासन्न एव रस इत्युक्तम् अपकर्ष इति स च
तस्यानुत्पत्तिस्य प्रकर्षाप्रत्ययस्त्वस्योत्पत्तिविलम्बश्चेति त्रिविधः भ्रष्टिति प्रकृष्ट-
तदुत्पत्तिप्रतिबन्धनेन तन्नितयानुगमो बोध्यः । विशेषति लक्षणकथनादेव लक्ष-
णीक्रिरित्यभिप्रायः तेन कस्याचिद्दोषस्य लक्ष्यमात्रकथनमपि नानुपपन्नम् ।

दुष्टमित्यादि । श्रुतिकटुपदं दुष्टमित्येवं गीत्या पदमित्यस्य सर्वदोषान्वयः ।
क्लिष्टादित्रयं तु समासगतमेव सत्यदं दुष्टम् असमासगतत्वे तु वाक्यमेव तादृशं दुष्ट-
मित्यतोऽद्यशब्देन तेषां तेषां पृथक्करणं न च किमत्र बीजमिति वाच्यम् । क्लिष्टस्य
विलम्बितः प्रत्यायकपदद्वयरूपत्वेन अविमृष्टविधेयांशस्य उद्देशविधेयार्थकपदद्वय-
रूपत्वेन विरुद्धमतिकृतोऽन्वयवशाद्विरुद्धमतिजनकपदद्वयरूपत्वेन च पदद्वयस्य
वाक्यत्वनियमेन समासं विना पदत्वाभावात् । अनेकपदानामपि सगासी पदत्वमेव न
वाक्यत्वमिति वैयाकरणसम्प्रदायात् । एवञ्च कट्टादिपदं दुष्टं श्रुतिकटुत्वादयो दोषा
इत्युक्तं श्रुतिकटुलक्षणमाह । परुषवर्णरूपमिति रूपपदबहुलार्थकं तेनैकवर्णघटक-
कट्टावदोषत्वं श्रुतिदुःखदायित्वस्य बीजस्य एकवर्णेऽननुभवात् सजातीयसंबलन
एव तथानुभवात् । अतएव कष्टपदपरिभाषितमपि तदित्याह कष्टमिति । माधुर्यबुभुक्षा-
सस्व एव च श्रुती दुःखम् अतो मधुरतयाऽबुभुक्षितेषु वीररौद्रवीभत्सरसिषु न श्रुति-
कटुत्वं दोषः किन्तु शङ्कारादावेव अतः शङ्कार एव उदाहरति ।

सन्दिग्धमप्रतीतम्
ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं
विरुद्धमतिक्रममासगतमेव ॥ ३ ॥

श्रुतिकटु, परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा,
अनङ्गमङ्गलग्नहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्गा कार्त्तार्थं लभते कदा ॥
अत्र कार्त्तार्थमिति । च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं
यथा

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामीदरापाण्डर-
प्रान्तं हन्त ! पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत्पत्नीपतिपुत्रि ! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कथाः ॥

अनङ्गिति । तरङ्गितः तरङ्गवदुत्तरीत्तराविच्छेदः । तन्वङ्गा अनङ्गसम्बन्धिमङ्गल-
गृह्यस्य अपाङ्गस्य भङ्गीनां तरङ्गितैः उत्तरीत्तराविच्छिन्नभङ्गीभिः आलिङ्गितः
स्पष्टः स न कदा कार्त्तार्थं कृतार्थत्वं लभते लप्सत इत्यर्थः । कदाशब्दयोगे भविष्यदर्थं
प्रयोगतश्चेति वर्त्तमाना । च्युतसंस्कृतिदीर्घं लक्षणपूर्वकमेवाह व्याकरणेति । लक्षणं
व्युत्पादनम् असंस्कृतमित्युक्ते प्राकृतपदस्यापि दुष्टत्वं स्यादती व्याकरणेत्याद्युक्तम् ।
प्राकृतस्य तु प्राकृतव्युत्पादकव्याकरणेनैव व्युत्पादितत्वात् तद्धीनता ।

एतन्मन्देति । पत्नीपतिपुत्रानुरागिणः कस्यचिदुक्तिरियम् । पत्नी स्वल्पयामः
हे तत्पतिपुत्रि ! तवैतत् कुचयुगम् एव लक्ष्यते । कौटुम्भिकं मन्दविपक्वतिन्दुकफलमिव
श्यामीदरं श्याममध्यम् अपाण्डरप्रान्तश्च । हन्त हर्षे । पुलिन्दसुन्दरस्य करस्पर्शं
योग्यञ्च । तथाच विचित्रवर्णं सुखस्पर्शञ्चेत्युक्तम् । नीलमात्रवर्णं कर्कशञ्च स्थील्यमात्रेण
तत्प्रतिद्वन्द्विकुम्भयुगं बहूतः करिकुलस्य तद्दर्शनात् । कार्त्तार्थमाह तत्पत्नीति । कुम्भा-
भयाभ्यर्थनया दीनं कातरं कुञ्जरकुलं कर्तृ त्वामर्थात् कुम्भाभयमनुनाथते याचते

अत्रानुनाथते इति, सर्पिषो नाथते इत्यादावाशिष्ये
नाथतेरात्मनेपदं विहितम्, 'आशिषि नाथः' इति । [१।३।२१
सू०वा०) अत्र तु याचनमर्थः, तस्मादनुनाथति स्तनयुगमिति
पठनीयम् । अप्रयुक्तं तथाम्नातमपि कविभिर्नादृतं यथा,

यथायं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।

तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा ॥

कुचापेक्षया न्यूनगुणयोः स्वकुम्भयोः पराजयव्रौव्येण भीतत्वात् । तत्तस्मात् कुचयुगं
पवाहृतं परिधेयपत्राहृतं मातृधाः । पवाहृतत्वे करिकुल्लेन न द्रव्यते । ततश्च भया-
भावाद्नाभयं याचिष्यते । तथाच परैः प्रार्थ्यमानाभयकत्वरूप उत्कर्षस्तेन स्यादतस्तेन
करिकुल्लेन यथाभयं याच्यते तथा कुर्विति भावः । यद्वा पवाहृतं पवावच्छाहृतं मा
तृधाः तथात्वे हि श्रीमानन्तरस्यापि वृद्धाभयाधिक्येनातिकातरं स्यादतस्तत्र कृपां
कुर्विति भावः । आत्मनेपदं नियमितमिति धातीरात्मनेपदित्वेऽप्याशिष्येव तन्निय-
मितमित्यर्थः । न चाशिष्यात्मनेपदमेव अन्यत्र तु उभयपदमिति नियम इति वाच्यम् ।
आत्मनेपदिधातीरुभयपदप्रापकाभावात् ।

अत्र चेति । ननु याचनाशिषीः की भेदः इथीरप्राप्तप्राप्तीच्छारूपत्वात् न च
स्वगतत्वेन तदिच्छा याचनं धनं याचत इत्यादौ दृष्टत्वात् । परगतत्वे न तदीच्छात्वं
आशीर्नमस्कर्त्तारमाशास्ते इत्यादौ दृष्टत्वादिति वाच्यम् । चेष्टा भवेयुर्मधीत्यादौ स्वगत-
त्वेन तदोच्छायामाशिषी धर्मापदेष्टा दरिद्रभरणाय नृपी याचित इत्यादौ परगतत्वे न
तदिच्छायां याचनस्य च दृष्टत्वात् । उच्यते, स्वाभीष्टोत्पत्त्यर्थं परं प्रवर्त्तयितुं निवर्त्त-
यितुं वा इच्छा याचनं स्वाभीष्टोत्पत्तिमात्रेच्छात्वाशीरिति भेदः । क्वचिद् यद्ये-
तन्नियमस्यापि व्यभिचारी दृश्यते तदा तत्र तादृशप्रयोगी लाक्षणिक एवेत्यवधेयम् ।
असाधुत्वज्ञानेन शास्त्रबीधविघटनाद्रसानुत्पत्तिरेवात्र द्रूपकतावीजं पाठं परिष्करोति
तस्मादिति । अप्रयुक्तमाह अप्रयुक्तमिति । तादृशरूपतया अर्थप्रत्यायकत्वेन कीषे
आम्नातं कथितमपीत्यर्थः । कविभिरेव तद्रूपेण नादृतं न प्रयुक्तं संस्कृतवाक्यान्तरे
तु प्रयुज्यत इति कविभिरित्यस्याभिप्रायः । तेन कीषे तथा आम्नातस्य न कैवल्यं
कविभिरिति बहुवचनात्तद्दोषवत् काव्यकारिणा केनापि प्रयुक्तत्वेऽपि बहुभि-
रप्रयुक्तमेव दीषः ।

तथायमिति । विभाव्यते दृश्यते दैवत उपासुः देवता अस्यारूपभावध्वनिकाव्य-

अत्र दैवतशब्दो दैवतानि पुंसि वा (अ० को० १व०) इति पुंस्यान्नातोऽपि न केनचित् प्रयुज्यते । असमर्थं (यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्राऽस्य शक्तिः) यथा,

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपाजितसत्कृतिः ।

सुरस्रोतस्विनौमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥

अत्र हन्तीति गमनार्थम् । निहतार्थं (यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्) यथा,

यावत्करमाद् पादप्रद्वारगोष्णितकञ्चन दयितेन ।

मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता महमा ॥

मिदं कथनादतत्त्वज्ञानात् तदास्यादपकर्षविधातो दूषकतावीजम् अममथु-
श्रितिः । यदर्थं यदर्थकतया पठ्यते गणनं च तत्र अस्य शक्तिर्गृह्यत इति शेषः ।
गणपाठाच्छक्त्यपलापासम्भवात् अग्रहः सहकारिविशेषाभावादिति बोध्यम् । तेन
सहकारिविशेषाभावप्रयुक्ताग्रहीतशक्तिकत्वमसमर्थत्वं सहकारिसत्त्वे तु गृह्यत
एव शक्तिरती न गणपाठ कैवल्यं तीर्थान्तरेषु इति सत्कृतिः सत्कारः सुरस्रोतस्यतो
गङ्गां हन्ति गच्छति इति हिंसागत्याः ।

अवेति । गमनार्थं सत् तदर्थेऽसमर्थमित्यर्थः । जङ्गापइतिरिच्येव तत्तदुपपद-
प्रत्ययविशेषसहकारिणैव गमने शक्तिग्रहात् तथाच शाब्दबोधानुत्पत्त्या तादृशपुरुष-
भावानुत्पत्तिरत्र दूषकतावीजम् । निहतार्थमिति उभयार्थसुभयवाचकम् अप्रसिद्धे
इति । तथाच पदार्थोपस्थितिदशाग्रामविवक्षितस्य प्रसिद्धार्थस्थीपस्थित्या विवक्षिता-
प्रसिद्धार्थोपस्थितिविलम्बनेन रमविलम्बनमस्य दूषकतावीजम् । न च कथम-
विवक्षितस्यार्थस्थीपस्थितेः शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषप्रसूतिहेतव इत्युक्त्यविवक्षितार्थ-
स्यैव प्रकरणादिवशादुपस्थितेः सिद्धान्तितत्वात् इति वाच्यं तुल्यप्रसिद्धिकानिकार्ये-
ष्वेव तथा नियमस्य तदर्थत्वात् ।

यावकेति । मुग्धा मुन्दरी नायिका साध्वसतरला विलोक्य दयितेन परि-
चुम्बिता प्रधानशक्त्यभिधाने गुणशक्तिरभिहितवत् प्रकाशतेऽनियमाद्विलोकीकृत्यस्य
कर्मत्वेऽपि साध्वसतरलतीत्यत्र न द्वितीया तस्याः साध्वसहेतुं दर्शयति विशेषणमाह

अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोञ्ज्वलीकृतत्वरूपी-
ऽर्थो व्यवधीयते । अनुचितार्थं यथा,

तपस्त्रिभिर्या सुचिरेण लभ्यते,
प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ।
प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्त्रिनो
रणाश्वमेधे पशुतामुपागतः ॥

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तौत्यनुचितार्थम् ।
निरर्थकं (पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदं) यथा,

यावकेति । यावकरसः अलक्तकद्रवः तेनार्द्रेण नायिकायाः पदेन यः प्रहारस्तेन
श्रीणिताः शीणवर्णीकृताः कचा यस्य तादृशनेत्यर्थः । एतादृशत्वदर्शनान्मुग्धायाः
साध्वसः अवेति उञ्ज्वलीकृतः अर्थ इति । वस्तुत एवोञ्ज्वलीकृतः शीणवर्णी-
कृतत्वरूपेण तु प्रयुक्त इति बोध्यं व्यवधीयते विलम्बते ।

अनुचितार्थमिति । एकार्थकेनानेकार्थकेन पदेन व्यङ्गीऽर्थोऽत्र प्रतिपद्य-
मानार्थोऽपकर्षत्वादनुचितो बोध्यः । तवानेकार्थपदेन तद्व्यञ्जनं वाक्यदीपे दर्शयिष्यते ।
एकार्थेन तदाह ।

तपस्त्रिभिरिति । धे रणाध्वरे रणरूपेऽध्वरे पशुतां वलिरूपपशुतामुपागतः
पशवो भूता ऋता इति यावत् । ये यशस्त्रिनस्तां गतिमाशु प्रयान्ति या गतिस्तपस्त्रिभिः
सुचिरेण लभ्यते सत्रिभि र्याञ्जिकैः प्रयत्नतः प्राप्तुमिष्यते ।

अवेति । पशुरूपणात्पादकं पशुपदं तद्धर्मं कातरत्वं प्रतिपादनीयवौरनिष्ठं
व्यनक्तौति । तत्प्रकर्षविघातकार्थत्वरूपमनुचितार्थत्वं तत्प्रकर्षविघातादेव तद्विषय-
भावप्रकर्षविघातो दूषकतावीजम् । निरर्थकमिति । पादपूरणमत्र ऋन्दीभङ्ग-
वारणपरं तेन पदैकदेशगतनिरर्थकोदाहरणे पूरणप्रयोजनाभावेऽप्यनुपपत्तिर्न
भविष्यति मात्रपदादर्थप्रत्यायनरूपप्रयोजनव्यावृत्तिः । चादिपदमित्यत्रादिपदवाच्यस्य
दृशद्वैव निरर्थकत्वमुदाहरति उत्फुल्लेति । ममाभिवाञ्छितं युभत्प्रसादेन
प्रसिध्यतु इत्यन्वयः । गौरि भगवतीत्येकवचनसम्बोधनेऽपि वरप्रायेणकाले भक्त्य-
तिशयप्रादुर्भावात् युभदिति बहुवचनसमासः । अत्र वक्तुं निरर्थकपदवहात्म्यप्रयोजनत्व-

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरव्युते ! मम हि गौरि ! ।

अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥

अत्र हिशब्दः । अवाचकं यथा,

अवस्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना, न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥

अत्र जन्तुपदम् अदातर्यर्थे विवक्षितं, तत्र च नाभिधायकं,
यथा वा,

ज्ञानेन तद्वीर्यतापदादीनां स्वभावं प्रकर्षयिष्यातो इत्युक्ततावाच्यम् । अवाचक-
मिति । प्रवस्यप्रतिवदशः अथसप्रयुक्तत्वगवाचकत्वं ननु शक्तिमात्रअसप्रयुक्तत्वं
धरणार्थं विद्वर्षितव्यस्मात्ताचकस्य वक्ष्यमाणत्वेन तत्र द्वातीः शक्तिभन्त्वेन शक्ति-
भसाभावात् । सा नु शक्तिः अमुपसर्गस्य प्रतिवद्वा तस्मत्त्वे धारणशीघ्रजनकत्वाभावाद्-
प्रतिवद्वा शक्तिन् तत्र नास्तीवेति । तत्र तदुत्ससः असमर्थे तु हस्तीव्यस्य गमने-
ऽप्रतिवद्वा शक्तिरभि महकाव्योभावाद्देशीयतात्वादिति तत्र नातिश्यामिः ।

अवस्येति । भुविष्ठिरं युद्धाधीनैजयन्त्या द्रौपद्या उक्तिरियम् । शत्रुमित्त-
रूपा देहिनः अवस्यकोपस्य दारिद्र्यापदां विहन्तुश्च जनस्य स्वयमेव वश्या भवन्ति ।
तत्र च अवस्यकोपस्ये शत्रूणां दारिद्र्यापद्विहन्तुस्ये मितानां वश्यतेति शीघ्रता
वशाद्दीव्यम् । एतदुत्ससाभावाद्देशीयस्य वश्यता न भवतीत्याह अमर्षशून्येनेति ।
पूर्वोक्त्यतिरिक्ताभाषाण्यसर्गोऽवस्यो वीर्यः तथा दारिद्र्यापदासविहन्तुत्वनाभाष्य
जन्तुनेत्यवापि अदातेत्यर्थः । न चापदां विहन्तेत्यर्थे एव तदा करणोय इति
वाच्यम् । तदा वक्ष्यमाणनियार्थलक्षणपक्षेयैकत्वया तावत्याभावनिर्णयान् । अदातरि
तु जन्तुः प्राणिन्यदातरि इति गड्डलिकाप्रवाहस्याथगत्या प्रामाणिककोपदर्शनादत्र
जन्तुपदशक्तिभसात्तदर्थे प्रयुक्तत्वेन अदाहस्तीनैवापदां विहन्तुत्वनामः । विद्विषादर
इत्यत्र च आदरदरपदे श्लिष्टे । तथाच अवस्यामर्षशून्येन विद्विषा भवादृशेन जनस्य
शत्रुजयस्य न दरी न भयम् । दरी भये दरी गमे ऽपदर्थे दरीऽव्यप्रमिति कीषात् ।
तथा जन्तुना आदरः दारिद्र्यापदां विहन्त्वा जातहार्देण मित्त्रेण भवादृशेन जनस्य
मित्तस्य नादरी वश्यताप्रयोजकादरी नास्तीत्यर्थः ।

अत्रचेति । नाभिधायकं किन्तु दर्शिताप्रामाणिककोपदर्शनात्तदभनेषु

हा धिक् ! सा किल तामसी शशिसुखी दृष्टा मया यत्र सा,
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् ।
किं कुर्मः, कुशले सदैव विधुरो धाता, न चेत् तत्कथम्
तादृश्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना ॥

अत्र दिनमिति प्रकाशमयमित्यर्थे अवाचकं, यच्चोपसर्ग-
संसर्गादर्थान्तरगतं, यथा,

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केशरासीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।

प्रयुक्तमिति भावः । तादृशभ्रमवीजसत्त्वाच्च न लाक्षणिकमित्यपि बोध्यम् । ननु
एतादृशकोपस्य कथमप्रामाण्यं प्रामाणिकभारविकविप्रयुक्तत्वेन प्रामाण्यस्यैवौचि-
त्यादत् आह यथावति । स्वप्नदृष्टोर्वशीकस्य पुरुरवस उक्तिरियम् ।

हा खेदे धिक्वदेविन्दायां यत्र मया सा शशिसुखी उर्वशी दृष्टा सा किल
तामसी तमस्विनी शशिदर्शनाधिकरणकालस्य तामसीत्यनौचित्यात् । तथा तद्विच्छेद-
रुजा तद्वि बहुव्याधिनाऽन्धकारितमिदमनुभूयमानकालस्वरूपं दग्धं पापिष्ठं दिन-
मन्धकारित्वविरोधिप्रकाशमयं कल्पितमती धिगित्यर्थः । ननु विधिमाराध्यैव स्वाभी-
ष्टसाधनं कुर्वित्वाह किं कुर्म इति । विधुरो नाभीष्टसाधकः न चेदमभीष्टसाधक-
श्रेत् तत्कथं तादृश्यामवतीमयः शशिसुखीदर्शनाधिकरणरात्रिव्याप्तजीवकाली
जीवनाखिलकालोऽधुना न भवेदित्यर्थः । तादात्म्येनात्र व्याप्तिर्वीध्या प्रकाश-
मयमित्यर्थ इति । प्रकाशमयत्वेनैव तामसीत्यविरोधलाभात् न तु दिनत्वेन मेघ-
च्छले दिनस्यापि तमीमयत्वादिति भावः । न चात्र प्रकाशमये लक्षणैवास्तु तदति-
शयस्य प्रयोजनमस्त्विति वाच्यम् । दिनस्योत्सर्गसिद्धप्रकाशकत्वदर्शनात् तद्रूपैव
दिनपदस्य शक्तिरिति भ्रमसम्भवाद्दत्तुः शक्तिभ्रमस्यैव कल्पनात् । अत्रापरितुष्यन्न
सम्भवात्लाक्षणिकं स्थलमाह यच्चेति । अर्थान्तरगतमिति स्वीयान्तरप्रतिपादकमित्यर्थः ।
उपसर्गेणार्थान्तरं प्रतिबध्यार्थान्तरस्य द्योतनात् ।

जङ्घेति । भर्तुः महेशस्य नृत्यानुकारे ऊर्ध्वचरणमहेशनृत्यसदृशनृत्यकरणे भवान्या
दण्डपादी दण्डाकार ऊर्ध्वं चोत्क्षिप्तः पादी जयति । कौडशः भवान्या एव तनोर्यत्
खण्डं लावण्यं तदिव या वापी तत्कभूतस्य अम्भोजस्य शोभां विदधत् विन्ददित्यर्थः ।

भर्तुं नृत्त्यानुकारे जयति निजनुतस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताभोजगोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥
अत्र दधदित्यर्थं विदधदिति । त्रिधेति त्रीड़ाजुगुप्सामङ्ग-
लव्यञ्जकत्वात्, यथा,

वाप्या लावण्यतुल्यत्वकथनात् तस्मिन्नाभोजतुल्यदण्डपादसम्बन्धिलावण्यस्यापि
अभोजाकरत्वलाभः । न तु लावण्यमेव वापोति रूपं तस्मिन्नाभोजाप्रसिद्धिः ।
नाप्यभूतीपमा सम्भावनया उपमानप्रसिद्धिसत्त्वं एव तथात्वात् यथा सर्वपद्मप्रभासारः
समाहृत इव क्वचित् । तदाननं विभावीति तामभूतीपमां विदुरिति दण्डिनिः ।
अत्र हि विधिनिर्भितस्य प्रत्येकसर्वपद्मप्रभासारस्य विधिनैव क्वचिदेकत्र समाहारः
सम्भाव्यत एवेति भवति तस्योपमानता यथाच । विभाजसे मकरकेतनसर्पयन्ती
शालप्रवालविटपप्रमथा नतेव इत्यादी अत्रापि हि वटविटपे लतादर्शनात् विटपत्वेन
प्रवाल विटपेऽपि लता सम्भाव्यत एव । यदि तु सम्भावनयापि नोपमानप्रसिद्धिः तदा
उपमानाप्रसिद्धिर्दोष एव । अतएव जान्वल्यमाना इव वारिधारा दिनाईभाजः परि-
वेशनीऽकात् इत्यत्राकांनिष्यतन्ती जान्वल्यमाना वारिधारा अप्रसिद्धा इत्युपमाना-
प्रसिद्धिर्दोषो गम्यक्तैवायं दर्शयिष्यते । दण्डपादस्याभोजतुल्यत्वसाधकानि विशेषणा-
न्याह जङ्घेति । जङ्घा काण्डमुखनालमिव वृहन्नालमिव यवेति पुरुषव्याघ्रादिसमाप्तम् ।
न तु जङ्घाकाण्डमेव उरुनालं यवेति रूपकम् पद्मतुल्येऽपद्मे दण्डपादे नालवधात् एव
विशेषणान्तरेऽपि न रूपकम् । नखकिरुणा लसत्कीशराणीव तैः कराली व्याप्तः प्रत्ययं
तत्कालदत्तं यदलक्तकं तदाभाप्रसरः प्रसृता तदाभा किशलयानीव यत्र मञ्जु मञ्जीरं
भङ्गा इव यचेति सर्ववीपमासमासः । अभिनवः तादृशविशेषणवैशिष्ट्येनाभिनव
इत्यर्थः ।

अचेति । न च विधानार्थकत्वमेवात्र न कुत इति वाच्यम् । स्वस्मिन्नित्यनुक्त-
त्वेन तथात्वेन तथार्थे तात्पर्याभावनिर्णयात् नापि धरणे लक्षणा व्युत्पत्तौ विधान-
रूपधात्वर्थदीप्तकस्य सत्त्वं धरणार्थस्य शक्त्या लक्षणया वा उपस्थितिप्रतितबन्धात्
अवाचकेति भान्तवक्तृत्वज्ञानान्तडाक्याद्द्रसादिष्वप्रकर्षबीध विघातो दूषकतावीजं न
तु वाक्यार्थबीधाद्द्रसाद्यनुदयः वक्तृभ्रमज्ञानदशायां तद्विषयतया तदर्थोपस्थितौ
वाक्यार्थज्ञानीदयात् अतएवावाचकपदार्थस्यापि अवाचकपदान्तरार्थेनान्वयव्युत्पत्तेः

साधनं महद् यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।

तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहैतारालितां भ्रुवम् ॥ [१]

लीलापगममाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदृष्टाधरः

कश्चित्कोसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः ।

मुग्धा कुञ्जलिताननेन दधती वायुं स्थिता तत्र सा

भ्रान्त्या धूर्त्ततयाऽथ वा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥ [२]

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात्

घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽयं जातः ।

अस्य वाक्कादीपतापि वक्ष्यते । विधेतीति । व्यञ्जकत्वादित्यत्र प्रकाशकत्वादित्यर्थः ।
प्रीकाशश्च ज्ञापनमुत्पादानञ्च तत्र व्रीडाजुगुप्सयोः उत्पादनम् अमङ्गलस्य तु ज्ञापन-
मिति धीश्रुम् ।

साधनमिति । साधनं सेना धीशालिनं इत्यनेन नीतिमत्तापि दर्शिता अतः
शत्रुचासकत्वीपपत्तिः शरालितां कीपकुटिलां कः सहैत कः कांपनिर्भयः स्यादि-
त्यर्थः । अत्र साधनशब्दः स्वहितोद्यार्थं लिङ्गं व्यञ्जयन् शीतः व्रीडां जनयति
व्रीडाजनकपदप्रयोक्तृत्वज्ञानञ्च राजविषयभावप्रकर्षविधातो दूषकताबीजम् ।
अधवाज्ञोल्लङ्घयेऽपीदृशं बीजमवधेयम् । जुगुप्साश्लोलमुदाहरति ।

नीर्नति । अन्यननितया निःशङ्कं दृष्टाधरः कश्चिदयोन्नायिकयैव लीलापद्मेना-
हतः सन् न तथाभूतोऽपि केशरदूषितेक्षण इव नेत्रे व्यामील्य स्थितः । ततश्च नायिका
मुग्धा दूषितेक्षणत्वमीश्वरती तस्य अर्थान्नित्रयोः कुञ्जलिताननेन वायुं ददती स्थिता ।
सा च तेन नायकेन अनिशं चिरं चुम्बिता कीपवती कथं चुम्बितेत्यत्र आह
भ्रान्तेति । कीपापगमभ्रान्त्या सापराधाभिनामिदानो चुम्बामीति धूर्त्ततया वेत्यर्थः ।
वायुशब्दस्यापानवायौ प्रसिद्धत्वात्तत्र कुञ्जलिताननेन विशिष्टा अपानवायुं ददतीति
व्यञ्जनात्तत्र जुगुप्सा शीतुर्जायते । अमङ्गलाश्लोलमुदाहरति मृदुपवनेति ।
उर्वशीविरहियः पुरुवरसी मयूरकलापं दृष्टा उत्तिरियम् ।

मृदुपवनविभिन्न पक्ष वर्द्धी मयूरपुच्छी मत्प्रियाया उर्वश्या विनाशाददर्शनान्निः-
सपत्नी निष्प्रतिदृच्छी जातः । कीदृशः घनवत् मेघवत् रुचिरः कलापः पक्षसमूहो

रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः

सति कुसुमसनाथे किं हरेदेष बर्हः ॥ [३]

एषु साधनवायुविनाशशब्दा व्रीडादिव्यञ्जकाः ।

सन्दिग्धं यथा,

आलिङ्गितस्तत्रभवान् सम्पराये जयश्रिया ।

आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥

अत्र वन्द्यां किं हठहृतमहिलायां, किं वा नमस्यायामिति सन्देहः । (अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धं) यथा,

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः ।

विधोयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धनम् ॥

यत्र घनोऽत्र विद्युद्विशिष्टी बीभ्यः । कलापस्य चन्द्रवत्त्वान् निविडरुचिरेति वार्थः । त्वत्प्रियासत्त्वे किं स्यादिति अवाह तत्सत्त्वे तस्याः केशपाशे सति एष बर्हः कं हरेत् कर्माकर्षेत् । बर्हसादृश्यघटकं विशेषणमाह रतीति । अनेन विसीर्णत्वं कुसुमेत्यनेन चन्द्रकविशिष्टप्रतिदन्दिता । अत्र विनाशशब्दः स्वद्वितीयार्थं मरणं व्यञ्जयन् प्रतिपाद्यस्यामङ्गलं व्यनक्ति । श्लोकत्रयेऽश्लीलत्रयं दर्शयति एष्विति । सन्दिग्धमिति श्लेषत्वेन पदद्वयैकरूप्यादन्वयप्रतियोगिसन्देहजनकसन्देहविषयपदत्वं तत्त्वम् ।

आलिङ्गित इति । तत्रभवान् पूज्यस्त्वं सम्पराये युजे जयश्रिया आलिङ्गितः सन् आशीःपरम्परां कर्णे कृत्वा कृपां कुर्वित्यर्थः । अत्र कुतः कृपां कौटुशीं वा आशीः-परम्परामित्युभयैवाकाङ्क्षा तत्र वन्द्यामिति पदं वन्द्यां हठहृतमहिलाया-मित्यर्थः वा, वन्दनीयामाशीःपरम्परामित्यर्थकं वेति सन्देहस्य जनको वन्द्यी वन्द्यापदद्वयसन्देह इत्यर्थः । अप्रतीतमिति शास्त्रे शास्त्रविषये प्रसिद्धं विवक्षिता-र्थकतया केवलपदाच्छास्त्रान्तरलोकयोः व्यावृत्तिः ।

सम्यग्ज्ञानेति । सम्यग्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं तदेवान्तकामीनाशकत्वान्महाज्योतिः तेन दलिती नाशित आशयो मिथ्यावासना यस्य तथात्वजुषः पुरुषस्य विधोयमान-मप्ये तदिद्वितनिषिद्धरूपं कर्म न बन्धनं न मुक्तिप्रतिबन्धकं भवेदित्यर्थः ।

अन्नाशयशब्दी वासनापर्यायो योगशास्त्रादाविव प्रयुक्तः ।
ग्राम्यं (यत्केवले लोके स्थितं) यथा,

राकाविभावरौकान्तसङ्क्रान्तद्युति ते मुखम् ।

तपनोयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः ॥

अत्र कटिरिति । नेयार्थं “निरूढा लक्षणाः काश्चित्साम-
र्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः”
इति यन्निषिद्धं लाक्षणिकं यथा,

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णमाशर्वरौप्रियम् ।

करोति ते मुखं तन्वि ! चपेटापातनातिथिम् ॥

अत्रेति । तथाच सर्वेषां वाक्यार्थाबोधार्थं तेषां तादृशपुरुषे भवानुत्तरितव दूष-
कतावीजम् । ग्राम्यमिति लोके अविदग्धलोके स्थितं प्रसिद्धं कव्यकविसाधारणम् ।
विदग्धलोकैस्तु तादृशपदं न प्रयुज्यते अवैदग्धीव्यञ्जकत्वादिति भावः । एवञ्चाप्रयुक्ता-
द्भेदः अत्रापि विदग्धेनापि तस्य प्रयुज्यमानत्वाद्भक्तु रवैदग्धाव्यञ्जकत्वाच्च ।

राकेति । राका पूर्णिमा तन्सम्बन्धिनी विभावरौ कान्ताचन्द्रात् संक्रान्ता प्रविष्टा
द्युतिर्यत्र तादृशं ते तव मुखपत्रं शिलाकारसुवर्णशोभा तव कटिर्नितम्बश्च मनो हरते
तपनीयं हेम ।

अत्रेति । एवञ्च ग्राम्यवक्तृकत्वज्ञानादत्र रसप्रकर्षयोधविधातो दूषकतावीजम् ।
नेयार्थमिति यन्निषिद्धमिति । निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तित इति प्राचीनैरुक्तम् । अस्यार्थः काश्चित्-
लक्षणा निरूढाः प्रसिद्धाः । ताश्च बोधकतारूपात्मसामर्थ्यादभिधातुल्याः । काश्चित् साम्प्रतं
क्रियन्ते सम्बन्धप्रयोजनोपस्थितिवशादिति शेषः । काश्चित्तु सम्बन्धप्रयोजनरूप-
भावेऽपि वक्ता स्वाशक्तितो नैव क्रियन्ते इत्यर्थः । एवञ्च उक्तलक्षणाहेतुभूतसुख्यार्थ-
बाधस्य रूढिप्रयोजनैकतरस्य सुख्यार्थसम्बन्धस्य चोपस्थितिषु एकस्याप्यभावे वा
लक्षणा तद्विशिष्टं पदं नेयार्थमित्यर्थः ।

शरत्कालेति । हे तन्वि ! ते तव मुखं कर्तुं शरत्काली समुल्लासिनं पूर्णिमा-
सम्बन्धिनं शर्वरौप्रियं चन्द्रं कर्मभूतं चपेटापातनस्य कंरतालीपातनस्य प्रहारविशेष-
रूपस्यातिथिं विषयं ज्ञातेत्यर्थः । स च बाधितः सुखस्य करतलाभावात् ततश्चपेटपदं

अत्र चपेटापातनेन निर्जितत्वं लक्ष्यते ॥ अथ समासगत-
मेव दुष्टमिति सम्बन्धः, अन्यत् केवलं, समासगतञ्च ॥
क्लिष्टं (यत्र अर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहृता) यथा,
अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः ।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल । तव चेष्टितम् ॥

निर्जितत्वलक्षणायां निर्जितत्वापातनस्य निर्जितत्वापातकस्यातिथिं करीतीत्यर्थः ।
इत्याहावेति । अत्र निर्जितत्वलक्षणाः क्लृप्तप्रयोजनस्येति नैवार्थेति चक्रवर्त्ता ।
तत्र । निर्जितत्वातिशयस्यैव प्रयोजनस्य सत्वात् । क्लृप्तम् मुख्यजन्यं निर्जितत्वं
शोभाकरणकं तादृशस्य निर्जितत्वस्य मुख्यार्थस्य लक्ष्यार्थे सम्बन्धाजन्यत्वं तत्रात्र
बाधितं मुख्यार्थकरतलकरणकत्वाभावात् मुख्यार्थयोगोपस्थितिलक्षणा हेत्वभावाद-
शक्तिः प्रयोज्येयं लक्षणा नैवार्थेति । तदयुक्तं चपेटपदं नैवार्थम् । अत्राप्यशक्त-
वक्तृकत्वज्ञानाद्रसप्रकर्षबीधविघातां द्रव्यकताधीजम् । अथ समासेति । क्लिष्टादि-
तयं समासगतमेव सत् पदं दुष्टं नासमासगतं सन् किन्तु तदा वाक्यमेव ।

क्लिष्टत्वादिदोषत्वज्ञद्वित्यर्थः । तद्वीजन्तु प्रागेव दर्शितम् अन्यदोषविशिष्टन्तु
असमासगतमपि पदं दुष्टमित्याह अन्यदिति । यतीऽर्थप्रतिपत्तिरिति व्यवधानं द्विधा
भवति अनुक्तस्यान्वयप्रतियोगिन उक्तपदार्थान्विततदन्वितविशेष्यमहिम्ना विलम्ब-
नीपस्थितिरिका । तत्र च समाससम्भवान् पददोषता अन्वयप्रतियोगिनोरनासत्सि-
कता अन्या तत्र च समासासम्भवाद्वाक्यदोषत्वमुदाहरिष्यति तत्राद्यस्य पददोषत्व-
मुदाहरति ।

अत्रैति । हे भूपाल ! तव चेष्टितं वैशद्येन कुमुदैः सदृशमत्यर्थं शोभत
इत्यर्थः । अत्र कुमुदं न स्वप्रतिपाद्यं किन्तु अतोप्याद्यन्वितान्वयेनैवोपतिष्ठत इति
विलम्ब इत्याह । अत्रैति । न चात्र तथाभूतां दृष्टेत्यादौ वल्कलधरैरित्येतन्नभ्य-
स्यास्माभिरित्यस्यैव वक्ष्यमाणन्यूनपदत्वदोषाभिर्द् इति वाच्यम् । अत्रिलम्बे न्यून-
पदता अन्वितान्वयशाद्विलम्बे क्लिष्टतेति भेदात् क्लिष्टत्वं न्यूनपदत्वज्ञ इयमपि
अन्वयप्रतियोगिनोऽनुक्तस्यान्वतीऽनुपस्थितावेवं बीध्यम् । अन्यत उपस्थितौ तु न
दोषः । यथा अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामित्यत्र अत्र हि उदयमहिम्नाऽयमिति
निर्देशेन च न्यूनलाभः । यथा वा अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्वेतिव दौरित्यत्र अत्रापि

अत्र अत्रिलोचनसम्भूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमेन भासिभिः
कुमुदैरित्यर्थः ।

अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्, यथा,
मूर्ध्नामुहत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधाराः-

धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।

कौलासोक्तासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिर्दयोडुराणाम्

दोष्णां चैषां किमेतत् फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥

स्युक्तविशिष्टज्योतिष्वादेव चन्द्रलाभः । ज्योतिरन्तरस्य उक्तपदार्थानन्वयित्वात् ।
अविमृष्टविधेयांशमाह ।

अविमृष्ट इति । प्राधान्यं विधेयताप्रत्ययीषितः समभिव्याहारस्तल्लङ्घनेन
निर्दिष्ट इत्यर्थः । तदिति । तादृशं समासगतं पदमित्यर्थः । स च समभि-
व्याहारः समासमात्रगतत्वेन विधेयनिर्देशरूप एवेति चक्रवर्त्तिप्रभृतयः । तत्र
समासगतमेवेत्युक्तौ च तत्प्राप्तौ प्राधान्येनेत्यस्य व्यावर्त्तनीयाभावात् । तेषां मते समास-
गतत्वे प्राधान्यस्यैवाभावात् । तथा च निमृष्टरागोऽधर इत्यत्र रागे विधेयस्य
निमृष्टत्वस्य वपुर्विरूपाक्षमित्यत्राक्षिविधेयस्य वैरूप्यस्य चाविमृष्टतापत्तेः । ततश्च
वपुर्विरूपाक्षमित्यत्र तादृशं पदमुपेक्ष्य अलक्ष्यजन्मतेत्यत्रैवैतद्दीप्तस्य प्रदर्शयिष्य
माणत्वमुपपन्नं न स्यात् । ईदृशस्थले विधेयताप्रतीतेरनुभविष्या अपलापापत्तेश्च
न हि निमृष्टत्ववैरूप्ययोः विधेयत्वं नानुभयते तस्मादाद्य बहुव्रीहौ विधेयस्य
प्राङ्निर्देशः तत्र विधेयत्वं प्रतीयते एव तादृशबहुव्रीहौ तु प्राधान्येनैव निर्देशो
बोध्यः । एवं कर्मधारयविशेषोऽपि व्यावर्त्तनीयस्तच्चाये दर्शयिष्यते ।

मूर्ध्नामिति । रामसैन्यवैष्टतनगरीकस्य रावणस्य विषादोक्तिरियम् । उक्त-
विशेषणानां मम मूर्ध्नां दीणाञ्च किमेतत्फलं यदिह लङ्कायां स्वपुरात्मकनगरीरक्षणे-
ऽपि प्रयासः । हेलया चैलीक्यरक्षणस्यापि तत्फलत्वेन प्राग्दृष्टत्वादिति विषादः ।
मूर्ध्नामुत्कर्षकविशेषणमाह उहतेति । नव नव गलच्छेदे एकैके गला उहताः पुनः
कृत्ताश्चेत्येवं रीत्या सर्व एव उद्वृत्ताः पुनः कृत्ताश्च येऽविरलागलास्तेभ्यो गलन्वो या
रक्तानां संसक्ता निविडा धारास्ताभिर्धौती यौ ईशाङ्घ्रौ तत्प्रसादेन उपनती जयी
यत्र तादृशे जगति जाती मिथ्यामहिमा येषां तथा दोष्णामुत्कर्षकविशेषणमाह

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम्, अपि तु विधेयम् ।
यथा वा,

सस्तां नितम्बादवरोधयन्ती पुनः पुनः केशरपुष्पकाञ्चीम् ।

न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥

अत्र द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्षितं, मौर्वी द्वितीयामिति
युक्तः पाठः । यथा वा,

कीलासेति । कीलासस्य उल्लासने उत्थापने य इच्छासमूहस्यपिपुनस्तत्तन्चकी य
उत्सर्पी दर्पस्तेनोद्गुणासुइटानाम् ।

अत्र मिथ्यामहिम्नः पूर्वं जातत्वस्य बहुव्रीह्यावुपान्तत्वाज्जातत्वं विधेयं मिथ्या
महिमा चानुवाद्यः प्रतीयते तच्चेह न विवक्षितं महिम्नो जातत्वस्य सिद्धत्वेन जाते
महिम्नि मिथ्यात्वस्य विधेयत्वे न च मिथ्यामहिम्नि जातत्वविध्यसम्भवादित्याह
मिथ्यामहिमत्वमिति । नानुवाद्यं नानुवाद्यतावच्छेदकं मिथ्यामहिम्न एवानुवाद्यत्व-
मित्यर्थः । तत्रैवानुवाद्यताप्रतीतेः किन्तु विधेयमित्यत्र मिथ्यामहिमत्वं न विशेष्यं
किन्तु जातमहिम्नि मिथ्यात्वमेव विधेयं बोध्यम् । मिथ्यामहिमत्वस्य विधेयत्वस्याभा-
वात् महिम्नि मिथ्यात्वस्यैवेदानीं जायमानत्वेनाप्राप्ततया विधेयत्वात् । एवञ्च मिथ्या-
जातमहिम्नामिति निर्देशे प्रतीयते एव विधेयता । बहुव्रीहौ पूर्वपदार्थत्वान्मिथ्यात्वस्य
वपुर्विरूपाच्चमितिबत् । चक्रवर्तिप्रभृतयस्तु समासमात्र एव विधेयप्रवेशे विधेया-
विमर्शादेव जातत्वस्य विधेयताप्रतीत्या मिथ्यामहिमत्वमित्यादिकमुक्तमिति न व्याच-
क्षते । किन्तु अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यं येन विधेयान्तरं तत्रासमासगतं प्रती-
येत अपि तु तदेकदेशे महिम्नि तदेकदेशे मिथ्यात्वमेव विधेयमिति व्याचक्षते । तत्र
बहुव्रीहौ प्राञ्जनिर्दिष्टपदस्य विधेयताप्रतीतेः आनुभविकत्वेन दूषितमेव ।

कर्मधारयसमासेऽप्याह सस्तामिति । अत्र श्लोकान्तरीपात्ता पार्वती विशिष्या
महेशाश्रमेऽकालवसन्तागमे पार्वतीक्रियावर्णनमिदम् । अवरोधयन्ती यथास्थानं
स्थापयन्ती भावविशेषमूचकमिदम् । न्यासीकृतां निक्षेपीकृतां स्थानविदेति जगदशी-
कहं मौर्वीनिक्षेपस्थानं जगदशीकर्त्री पार्वत्येवेति जानतेत्यर्थः ।

अचेति । उत्प्रेक्ष्यं विधेयतयाऽसमासेनोत्प्रेक्ष्यमित्यर्थः । मात्रपद्रात् समासे

वपुर्विरूपाक्षमलस्यजन्मता दिगम्बरत्वे न निवेदितं वसु ।

वरेषु यद्बालसृगाक्षि ! सृग्यते तदस्ति कं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥

अत्रालक्षिता जनिरिति वाच्यम् । यथा वा,

विशिष्टीकृताच्चावृत्तिः तथात्वे द्वितीयत्वस्य कर्मधारयसमासान्तर्गतस्य विधेयतानवयवमादिति भावः ।

अथ पुष्पकाञ्चाया विशिष्टाया द्वितीयमौल्या एवाभेदेन विधेयाया उत्प्रेक्षेयमन्तु कथं द्वितीयत्वमात्रमतीत्ये चायां विधेयमिति चेन्न । पुष्पधनुषः कामस्य पुष्पदान्नि मीर्वीत्वस्य प्राप्तत्वेन तत्र स्वयं व्यापारणीयमौर्व्यपक्षया द्वितीयत्वमात्रस्यैव विधेयत्वात् यथा वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापरामित्यत्र इन्दुमत्या हस्तगामित्यस्य प्राप्तत्वेनापरात्वमात्रविधिरिति । अथैव पुष्पकाञ्चीरूपायां मौल्यां न्यासीकृतत्वोत्प्रेक्षेयान्तु इति चेन्न तदा मौर्व्यनुवादेनैव तदुपपत्ती द्वितीयत्वानुवादे वैफल्यात् द्वितीयत्वस्यापि तत्र विधित्वे तु स एवाविमर्शः स्यात् ।

अथ द्वितीयमौर्वीतुल्येपमा स्यादिति चेत्तदा न्यासीकृतत्वस्यास्त्रीयायां क्लृप्तामनन्वयः स्यात् अन्यत्र न्यासीकृतां द्वितीयमौर्वीमित्यन्वये तु द्वितीयत्वेन मौर्व्यां विशेषालाभात्तद्वैयर्थ्यमिति । बहुव्रीहिसमासेऽपि पुनरुत्तरपदार्थप्रधानतत्पुरुषयोग्यवाक्यस्यप्रकृत्यर्थस्य तद्विगतभावप्रत्ययार्थविशेषणत्वे गुणीभावी भवत्येवत्याह ।

वपुरित्यादि । तपस्यन्त्यां पार्वन्त्यां जटिलवटुवेशस्य महेशस्य उक्तिरियम् । वरेषु तावद्रूपकुलधनानि सृग्यन्ते हे बालसृगाक्षि ! वरेषु यत्तादृशं समस्तं सृग्यते तत्समस्तं नास्तु किं व्यस्तमप्यस्ति अपि तु नैवेत्यर्थः । एकैकतवितयाभावमाह वपुरित्यादि । अनेन वैरूप्यं बालसृगाञ्चीत्यनेन रूपवत्यास्तव विरूपः पतिः सर्वथैवानुचित इत्युक्तं शिशुपण्डितस्य भद्राभद्रदर्शनं नास्तीत्यपि सूचितं त्रिलोचन इति वैरूप्यदर्शकम् ।

अलक्ष्येति । जन्मस्थाने परिचय एव कुलचिन्ता अलक्ष्यमपरिचयेयं जन्म यस्य तस्य भावीऽलक्ष्यजन्मताऽलक्ष्यं जन्मेत्यर्थः । अत्र जन्मनोऽलक्ष्यत्वं विधेयं तच्चालक्ष्यजन्मपर्यन्तं बहुव्रीहिसा पूर्वनिर्दिष्टत्वेन विधेयतयैव प्रत्येतुं योग्यमपि पुनरुत्तरपदार्थप्रधानतत्पुरुषयोग्यवाक्यस्यप्रकृत्यर्थात्तच्छेदकरूपं सत् उत्तरपदार्थभूतस्य

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्त-

सन्दाननेकसदनं क्षणमप्यमुक्ता ।

या सर्वदैव भवता, तददन्तचिन्ता

तान्तिं तनोति तव सम्प्रति, धिग्धिगस्मान् ॥

अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः, यथा,

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं, न दृप्तनिशाचरः,

सुरधनुरिदं दूराकृष्टं, न तस्य शरामनम् ।

अयमपि पटुर्धारांमारः, न वाणपरम्परा,

कनकनिकषस्त्रिधा विद्यत्, प्रिया न ममोर्ध्वशी ॥

भावप्रत्ययार्थस्य विशेषणतया गुणीभूतत्वाद्विमुक्तं न तु बहुव्रीहिपतितत्वात् यदि
तु बहुव्रीहौ प्राङ्निर्दिष्टस्यापि गुणीभावः स्यात्तदा वपुर्विरूपाक्षमित्यत्रैव
तत्सौलभ्ये तदुपेक्षा न क्रियेत न क्रियेत च जनेरलक्ष्यतेत्येवं पाठरचनासम्भवेऽपि
भावप्रत्ययार्थविशेषणोभावपरिहारप्रयासः । बहुव्रीहौ प्राङ्निर्दिष्टस्यागुणी-
भावेऽपि को वज्रमान् दृष्ट इति प्रश्नस्य पर्वतो दृष्टवज्रिरित्युत्तरे दत्ते निराश्रया
प्रतीतिरेव प्रमाणं निषण्णेरनुसन्धेयम् । नञर्थस्य विधेयत्वे तस्याप्युत्तरपदाद्यप्रधाने
तत्पुरुषे गुणीभाव एव स्यादित्याह ।

यथा चेति । अप्राप्तसीतावात्तां रामं प्रति लक्षणस्य वाक्यमिदम् । या मौता
भवता क्षणमप्यमुक्ता न त्यक्ता तददन्तचिन्ता तस्या वात्तांचिन्ता तव तान्तिं क्लान्तिं
सम्प्रति तनोति अतस्तत्प्रतीकाराद्यमान् अस्मान् धिग्धिगित्यर्थः ।

कीदृशी आनन्दस्य तवानन्दस्य सिन्धुः सद्दानाययः जनकत्वमेवावाश्रयता
बोध्या अतिचापलशालिनस्तव चित्तस्य सन्दानने निगडने एकसदनम् अहित्थीयं
कारागृहमित्यर्थः ।

अत्रेति । विधेयी विधेयता प्रतीतियोग्यसमभिव्याहारेण निर्देशः । तादृश-
निर्देशः कुत्र दृष्ट इत्यत्राह यथेति । उर्वशीविरहिणा पुरुवरसा मन्त्रे सधनुष्के
वर्षति तद्धित्वति च दृष्टे क्रियमाथीर्वशीकाराद्यसम्भ्रमानन्तरं विशेषदर्शने सति
तस्योक्तिरित्यम् । स्यष्टीऽर्थः । अत्र नञीऽसमस्तत्वादगुणीभावः । ननु असुक्ता-

इत्यत्र नत्वमुक्ततानुवादेनान्यदत्र किञ्चिद्विहितं, यथा
जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।

अगृध्नु राददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥

इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि । विरुद्ध-
मतिक्रम्यथा,

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः ।

अकार्यमित्तमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥

अत्र कार्यं विना मित्तमिति विवक्षितम्, अकार्येषु मित्त-
मिति प्रतीतिः । यथा वा,

मनूद्यात्रान्यदेव विधेयं तथाच नात्र नञर्थस्य विधेयत्वात् गुणीभावात् इत्यत्राह
नचेति असुक्ततेति । असुक्ततयाऽसुक्तानुवादेनेत्यर्थः । नञर्थप्रतियोगिनीऽनुवादे
विधेयान्तरं क्व दृष्टमित्यत्राह यथेति । असक्तोऽनासक्तः अत्रस्तत्वादीति अत्रस्तत्वा-
दिना अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनेत्यर्थः । आत्मगोपनादिति विहितमित्यनुषङ्गः । विरुद्धेति
विरुद्धत्वं प्रतिपाद्यस्यापकर्षबीधकार्यकत्वं पदार्थस्यातथात्वेऽपि पदद्वयसमभि-
व्याहारवशात्तथा व्यञ्जकत्वं तत्तादृशपदद्वयस्य च समासगतत्वेनैकपदत्वप्राप्त्या पद-
दोषता असमस्तत्वे तु वाक्यदोषतैवीदाहरिष्यते अनुचितायै तु पदान्तरसमभि-
व्याहारं विनापि पदेनैव तादृशार्थव्यञ्जनेति भेदः ।

सुधाकरेति । आकारपदमत्र सदृशार्थकं विशारदं निर्मलम् । अचेति पदा-
र्थानौचित्याभावेऽपि कार्यपदनञ्पदयोः समभिव्याहारादत्र विरुद्धमिति । प्रपञ्च-
यति यथावेति । प्रवासागतस्य पत्युः सहसा प्रियाकण्ठधारणवर्णनमिदम् ।

अचेति । अविरुद्धार्थयोग्यलघुपदयोः समभिव्याहारवशादत्र रोगविन्यासव्यञ्ज-
नात् प्रतिपाद्यस्यापकर्षः । नात्रस्तमिति श्रीराममाक्षिपतः परशुरामस्योक्तिरियम् ।
धनुर्व्याख्यता भङ्गता तेन रामेण देवाङ्गवानौपते न वसन् तदयदि नाम तत्सम्भाव्यत
इत्यर्थः । यदिनाम शब्दः सम्भावनायाम् । कुत एतत् सम्भाव्यत इत्यत्राह भूतकरुणेति ।
भूतानि प्राणिमस्तेषु कारुण्यात्तस्य तदपराधक्षमासम्भवात् इति भावः । तत्पुत्रस्तु
खन्दः कथं विष्मृतः । अविस्मरणी हेतुः मदान्धेति । तथाच धनुर्भङ्गोऽपि मदान्धकृते

चिरकालपरिप्राप्तिलोचनानन्ददायिनः ।

कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम् ॥

अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम् । यथा वा,

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासन्तानशान्तात्मनः

तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवात् भवानीपतेः ।

तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकबधाद्दिश्वस्य दत्तोत्सवः

स्कन्दः, स्कन्द इव प्रियोऽहमथवा शिष्यः कथं विस्मृतः ॥

अत्र भवानीपतिशब्दो भवान्याः पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति ।

यथा वा,

एवेति । तत्कर्त्ता राममूढश्च एवेति । कथं विस्मरणं जिज्ञीविषीः तथा प्रियं
शिष्योऽयमथवा कथं विस्मृतिः स्कन्द इवेति प्रियत्वे च मदान्धघातित्वे च
दृष्टान्तः ।

अवेति । पत्यन्तराप्रसिद्धावपि महेश एव जारत्वं प्रत्याग्रयतीत्यर्थः । अतएव
प्रतिपादनीयस्य महेशस्यैवापकर्षव्यञ्जकता भवानी तु न प्रतिपादनीयेति । तदप-
कर्षबीधकतया न अत्र लक्षणसङ्गतिः । पत्यन्तरप्रतीतिम् भवस्य पत्नी भवानीति
श्रीगार्थेन पार्वत्यां भवपत्नीत्वग्रहदशायां तुल्यवित्तिवेद्यभावेऽपि ततपतित्वं ततश्च
पतिशब्दोपादाने चैतस्य भार्यायाः पतिरित्युक्ताविव पतिशब्दाच्चारत्वप्रतीतिः
अत्र प्रत्येकपदार्थोऽविरुद्धः पदद्वयात् उक्तविरुद्धप्रतीतिः ।

गीरपीति । यस्य अस्विकारमणस्य वाहनतां प्राप्तवती गीरपि सविधे निकटे
सोऽपि सृगेन्द्रत्वेन प्रसिद्धोऽपि गिरिसुतासिंही निरहङ्कारः सोऽस्विकारमणी त.
पायादित्यन्वयः ।

अत्रेति । विरुद्धां विरुद्धविषयां मातरमणकटंत्वञ्चात्र विरुद्धम् । नानार्थस्या-
स्विकाशब्दस्य मातरूपद्वितीयार्थव्यञ्जकतया रमणपदार्थान्वयवशात् तल्लाभात्
न च तादृशार्थं तात्पर्याभावात् कथं तद्ग्रह्णन्ति वाच्यम् । रमणशब्दस्यान्निध्य-
रूपसमभिव्याहारविशेषस्यैवेदृशसामर्थ्यानुभवबलेन कल्पनीयत्वात् कथमन्यथा रक्त-
वत्त्वं सुरभिमांसं भुञ्जति । शिष्टं रक्तोऽप्यर्थं जुगुप्सा । चक्रवर्त्ती तु शक्तित्वात्कीक-

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः ।

सविधे निरहङ्कारः पायाद्दः सोऽम्बिकारमणः ॥

अत्राम्बिकारमण इति विरुद्धां धियमुत्पादयति । श्रुति-
कटु समासगतं यथा,

सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना ।

बर्हिनिर्झादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः ॥

एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।

मातृत्वादम्बिकालं तद्विशिष्य सेति नरसिंहपुराणात् । पार्वतीप्रतीतिरपि मातृत्वेनैव
रूपेण इति रमणपदार्थस्य तवान्वयान्मातरमणकारित्वरूपविरुद्धप्रतीतिरिति व्याचष्टे
तत्र । पुराणस्य शक्तियाहकत्वाभावात् तादृशविरुद्धार्थस्य शक्तिगम्यत्वे विरुद्धार्थ-
व्यञ्जकत्वाभावाच्च । क्लिष्टादित्रयस्य पददीषत्वे समासगतत्वनियमः अन्येषान्व-
समासे समासे च पददीषत्वादसमासे उदाहृत्य समासे उदाहरति श्रुतिकटुति
सा चेति । सुधासान्द्रं सुधाव्याप्तं तरङ्गितं तरङ्गवत् चञ्चलं विलोचनं यस्या इति
वियहः । बर्हि निर्झादनं मयूरशब्दजननं तदहः कालो वर्षाः । न च कात्तोर्थ-
मित्यपि कृतार्थस्य भाव इत्यर्थकतद्धितसमासस्थमित्यविशेष इति वाच्यम् । तद्विता
युक्तार्थतामात्रं न समास इत्यभिप्रायात् । न च तथापि कृतार्थपदसमासवशात् तथा-
त्वमेवेति वाच्यम् । कृतार्थपदस्थैकवर्णकटोरदीषत्वात् अतएव परुषवर्णरूपमिति ।
बाहुल्यार्थकं रूपपदं श्रुतिकटुलक्षणे दत्तम् । एवमन्यदपीति । शीभन्मुखो देवतीऽयं
हृत्ततीर्थक्षमातल इत्यादिरीत्या बोध्यम् ।

अपास्येति । ननु वक्ष्यमाणोदाहरणेषु एकस्य श्रुतिकटुदेदीषस्य एकवाक्य-
स्थानेकपदालम्बित्व एव वाक्यदीषत्वमभिप्रेतं न तु तत्र पदान्तरार्थान्वयवशादेव दीष-
तया वाक्यदीषत्वमभिप्रेतं येन पदार्थान्वयनिरपेक्षणमेव च्युतसंस्कृत्यादीनामवाक्य-
दीषोक्तिरूपपत्स्यते वाक्यगताप्रयुक्तत्वदीषोदाहरणे । स रांतु वी दुश्चरव न इत्यादौ पदा-
न्तरार्थान्वयनिरपेक्षणां तत्तत्पदानामप्रयुक्तत्वसम्भवात् । तथाच गच्छमानः पश्यते
च पश्यानश्च हि पुरुषः । हृत्ततीर्थान्तरी हन्ति गङ्गां सम्प्रति सादरमित्यादावैकवाक्य-

वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते, पदस्यांशेऽपि केचन ॥४॥

केचन, न पुनः सर्वे । क्रमेणोदाहरणम्,

सोऽध्येष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनतांसीत्सममंस्त बन्धून् ।

व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नोतौ समूलघातं ज्यबधीदरींश्च ॥ [श्रुति०]

गतानेकपदालम्बिनां च्युतसंस्कृत्यादीनां कथमवाक्यदीपतेति चेन्न । च्युतसंस्कृति-
पदस्यासाधुत्वेन अममर्थनिर्णयकथीरनुपस्थापकत्वेन शाब्दबोधसामगौरहितला-
दन्वयबोधजनकत्वेन तद्वदितपदसमूहस्यावाक्यत्वात् अनथा घटकर्मत्वमानयन
मित्यादेरपि वाक्यत्वापत्तेः । साधुत्वज्ञानस्यासाधुत्वज्ञानाभावश्च वा पदार्थोपस्थित्यन्वय
शाब्दबोधजनकत्वात् । न चैवमवाचकस्यापि पदार्थानुपस्थापकत्वात्तद्वदितपदसमूह
स्याप्रवाक्यत्वेन तस्यापि वाक्यदीपत्वबहिर्भाव उचित इति वाच्यम् । तदर्थं वक्तु-
र्भमदशायां तदर्थं वक्तुस्तत्पथ्यग्रहणं ततः पदार्थोपस्थित्या शाब्दबोधोत्पत्त्या तद्वदित-
पदसमूहस्य वाक्यत्वादेव । न चैवं तत्र वक्तृतात्पर्यात्मिकायां लक्षणाया एव ग्रह
इति कथमवाचकत्वमन्यथा नेयार्थदीपोच्छेदादनुपपत्तेरिति वाच्यम् । वक्तृवाचकता
भमाधीनप्रयोगवशादवाचकत्वव्यवहारात् । सोऽध्येष्टेति । स दशरथः अध्येष्ट अधीत
वान् अयष्ट पूजितवान् अतांसीत् तर्पितवान् तपतर्पणे सममंस्त सम्मानितवान् व्यजेष्ट
विजितवान् षड्वर्गं अरिषड्वर्गं कामक्रीधलीभमीहमदमात्म्यरूपं परिद्विष्ट-
रूपञ्च । अरंस्त रतवान् रमुक्रीडायाम् । समूलघातं समूलहननेन हतवानित्यर्थः ।
ख्यमन्तधाल्वर्थस्थित्तरधाल्वर्थं हेतुताया अग्रं रेषोषं पुष्पातीत्यत्र ग्रन्थकृतैव वक्ष्यमाण-
त्वात् । व्यजेष्ट षड्वर्गमित्यं स एव प्रकृतोदाहरणं न तु सोऽध्येष्टेत्यादि क्रिया-
पदस्य कटुवर्णानामपि वाक्यगामिता एकैकस्य परम्परानन्वितार्थकत्वेनावाक्यत्वात् । न
चैवं तत्तत्पदगतैकैकवर्णकटोरदीपत्वेन समुचितकटुवर्णानां पदवाक्यान्यतरगामित्वा-
भावेन च पूर्वार्द्धेऽनुभवसिद्धं कटुत्वमदीप एव स्यादिति वाच्यम् । पदैकदेशं कटुत्वा
देव तेषां तत्र च वाक्यत्वाभावेऽपि परम्परापेक्षया दीपत्वात् उदाहरिष्यते च तथैव ।
न च वैयाकरणे वक्त्रि श्रुतिकटुत्वं न दीप इति वक्ष्यमाणत्वात् वैयाकरणभट्टिकार-
वक्तृकेऽत्र श्लोके कथं तत्तदुदाहृतमिति वाच्यम् । वैयाकरणताभ्यापके वक्त्ररीत्यर्थस्य
तवाभिप्रेतत्वात् । च्युतसंस्कृतमपास्य क्रमप्राप्तमप्रयुक्तं वाक्यगतमाह ।

स रातु वो दुश्प्रवनो भावुकानां परम्पराम् ।

अनेङ्मूकताद्यैश्च व्यतु दोषैरसम्मतान् ॥ [अप्रयु०]

अत्र दुश्प्रवन इन्द्रः, अनेङ्मूको मूकवधिरः ।

सायकसहायवाहो ! मकरध्वजनियमितक्षमाधिपते । ।

अञ्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप । श्लोकः ॥ [निह०]

अत्र सायकादयः शब्दाः खड्गाब्धिभूचन्द्रयशःपर्यायाः शरा-
द्यर्थतया प्रसिद्धाः ।

कुविन्दस्त्वं तावत् पटयसि गुणग्राममभितः

यशो गायन्थे ते दिशिदिशि च नग्नास्तव विभो ! ।

शरज्जरोत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा

तथापि त्वत्कीर्त्तिभ्रमति विगताच्छादनमिह ॥

स रातु व इति । स दुश्प्रवन इन्द्रोऽसौ युष्माकं भावुकानां मङ्गलानां परम्परा
श्रेणीं रातु ददातु असम्मतान् शब्दं अनेङ्मूकताद्यैर्दीपै र्वतु खण्डयतु मारयत्व-
त्यर्थः । अत्र दुश्प्रवनानेङ्मूकपदयोरेतौ विवृणोति ।

अत्रेति । अप्रयुक्ता तु रातुभावुकद्यतुपदानां सर्वेषामेव न तु दर्शितार्थकम्
पदद्वयस्यैवेति भ्रमः कार्यः । पूर्वपराङ्मयीरत्रैकवाक्यत्वाभावेन एकवाक्यगतानेक-
वाक्यस्याप्रयुक्तत्वासम्भवात् एकैकस्यैकवाक्यगतत्वात् उत्तमानुत्तमपदयोरिव एङ्मूका-
नेङ्मूकपदयोः पर्यायः । असमर्थमपास्य कमप्राप्तस्य निहतार्थस्य वाक्यगामित्वमाह ।

सायकेति । हे अवनिप ! तव श्लोकी यशो भातितरां कीदृशस्य तव सायकः
खड्गसहायसस्य मकरध्वजः समुद्रस्तेन नियमितायाः पृथिव्या अधिपतेः श्लोकः
कीदृशः अञ्जन्द्र इव रुचिरी भास्वरस्य अञ्जी जीवात्रिकः सीम इत्यमरः ।

अत्रेति । पर्यायवाचकाः प्रकृते विवक्षिता इति शेषः । शराद्यर्थतयेति ।
शरकामाक्षान्तिपद्मपदार्थतयेत्यर्थः । वाक्यगतमनुचितार्थमाह ।

कुविन्द इति । त्वं तावत् कुं पृथिवीं विन्दसि लभसे तथा गुणग्रामं स्वीयगुण-
समूहं पटयसि पटुं करोसि पटुशब्दात्तत्करीत्यर्थं कारितम् । दिशि दिशि एते नद्याः
स्तुतिपाठकास्तव यशो गायन्ति एतावता राज्ञो मङ्गलं दर्शितम् । तथाच यद्यपि एवं

अत्र कुविन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन्नुपसृक्तोऽव्ययमानस्य
तिरस्कारं व्यनक्तौत्यनुचितार्थः ।

प्राब्भ्रभाड्विष्णुधामाप्य विषमांशः करोत्ययम् ।

निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम् ॥

अत्र प्राब्भ्रभाड्विष्णुधामविषमांशनिद्रापणशब्दाः प्रकृत-
जलदगगनसप्तांशसङ्कीचदलानामवाचकाः ।

महान् लं तथापि त्वत्कीर्त्तिः स्त्रीलिङ्गं शब्दार्थत्वात् स्त्रीन्वीनाध्यामिता इह जगति
विगताच्छादनं यथा स्यात् तथा भ्रमति परंपरी साकाङ्क्षदर्शनानुक्तं तस्याः सान्दध्य-
माह शरदिति । अवदातः सितो गौर इत्यमरः । स्फुटाच्छादनगच्छित्याशक्तं विकट
सुन्दरं तथाच महत्तत्त्व पत्नी एवं सुन्दर्यपि नद्या दिशि दिशि भ्रमतीति । निन्द्या
व्याजन्तुतिः अवारिता दिगन्तगामिनी ते कीर्त्तिरिति स्तुतिपर्यवसानात् ।

अत्रेति । कुविन्दशब्दस्य तन्ववायोऽर्थान्तरं पटशब्दानामकारितान्तत्वे पट-
कर्तृत्वमर्थान्तरं गणशब्दस्य तन्त्रर्थान्तरं नग्नशब्दस्य दिगम्बरीऽर्थान्तरं तथाच त्वं
कुविन्दस्तन्ववायस्तन्तुसमूहं पटं करोषि त्वत्तो लम्बवस्त्रा दिगम्बरास्तव यशो गायन्ति
तव कीर्त्तिरूपा स्त्री तु तथापि पटानाच्छादिता भ्रमतीति प्रतिपादयस्य राज्ञी-
ऽपकर्षबोधकीऽर्थस्तद्वाङ्मनादनुचितः । न चात्र उपसृष्टीकनार्हस्य राज्ञः कुविन्दत्वं न
निन्दाप्रतिपत्त्या विरुद्धमतिक्रम्येति वाच्यम् । पदार्थानौचित्याभावे सत्येव पद-
द्वयसमभिव्याहारवशात् तथा व्यञ्जने तद्वयत्वात् अत्र तु तन्ववाद्यादिपदार्था एवानु-
चिता इति भेदात् । परन्तु कुविन्दः पटयसौत्यनयोरेव पदार्थयोरनौचित्यादेतदंश
एवानुचितार्थत्वं गुणशब्दपदार्थानां त्वनौचित्याभावेनाप्यपदसमभिव्याहारवशा-
देवानुचितार्थं व्यञ्जकत्वात्तदंशे विरुद्धमतिक्रम्येति सङ्कीर्णमिदमुदाहरणमिति
बोध्यम् । निरर्थकमपास्य क्रमप्राप्तमवाचकं वाक्यगतमाह ।

प्राब्भ्रेति अयं विषमांशः सप्तांशः सूर्यः सहस्रपर्णानां पद्मानां निद्रां सङ्कीचं
पलायनपरायणां करोति कौटुम्भः प्राब्भ्रे जलदे भाजमानः किं कृत्वा विष्णुधाम
आकाशमाप्य प्राप्य ।

अत्रेति । अपो विभर्त्तीत्यब्भ्रम् अप्यदच्च न धातूप्यभ्रमतीऽपनाम पदपूर्वस्य
प्रशब्दस्याब्भ्रपदार्थगतप्रकर्षबोधकत्वाभावात्तद्विशिष्टमब्भ्रपदमवाचकम् अभ्र बभ्रेत्य-

भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना ।
 तत्तत्प्रहरणीत्साह्वतो मोहनमादधौ ॥
 अत्रोपसर्पणप्रहरणमोहनशब्दा ब्रीडादायित्वादस्त्रीलाः ।
 तेऽन्यैर्वान्तं समग्रन्ति परोक्षगञ्च भुञ्जते ।
 इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात् प्रवर्त्तनम् ॥

युक्ताभघातूयन्नाभशब्दप्राग्बर्त्तित्वे तु तद्गतप्रकर्षयितकप्रशब्दविशिष्टमभपदं भवत्येव
 वाचकमित्यवधेयं सुदेशे विदेश इत्यादीं शोभनविगतवाचकी उपसर्गप्रति-
 रूपकी सुशब्दविशब्दाविव प्रशब्दीऽपि प्रकृष्टवाचक उपसर्गप्रतिरूपकीऽस्ति । प्रखल-
 जलधियं इत्यादिकन्तु खलघातोः संकारलीपेन खलशब्दसाधनात् । तथा विश्वशब्दी-
 क्षरपदशब्द एवाकाशवाचकी न तत्पर्यायधामशब्दः परिवृत्त्यसहत्वात् तथाऽयुष्म-
 त्वं न रूपेण सप्तसङ्गावाचकीऽपि विषमशब्दः सप्तत्वेन रूपेण समाप्तस्य वाचकः
 परिवृत्त्यचमत्वात् । निद्रापदन्तु निद्रितवद्दीप्यमानत्वरारहित्यरूपप्रयोजनवत्त्वात्
 मङ्गीचे लाक्षणिके एव वाचकत्वरारहित्यवशादेवावाचकतया दर्शितः । अतएव
 कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीदिति रघौ । विनिद्रोमाजनि शृण्वती नलमिति नैषधे ।
 उन्निरकोकनदरेणपिशङ्गिताङ्गा इत्येवैव प्रयुक्तम् । सहस्रपदोत्तरं पर्णपदमपि
 परिवृत्त्यचमत्वात् पवावाचकं न च प्रकृष्टजलदादौ तत्तत्पदानां लक्षणेवास्त्वामिति
 वाच्यम् । प्राग्भादिशब्दकदेशप्रादिशब्दानाम्भादिशब्दसमभिव्याहारं विनाऽन्यत्र
 प्रकर्षाद्यर्थकत्वदर्शनादुक्तसमभिव्याहारेऽपि तथात्वमस्यैव सम्भवाद्गुणैव शक्ति-
 भमस्यैव निश्चयेनावाचकत्वादेव । अत्र च प्राग्भादिशब्दानां पदैकदेशावाचकत्वे-
 ऽपि अवाचकपदान्तरसाहचर्याद्वाक्यदीषता । वाक्यगतं ब्रीडाऽस्त्रीलमाह भूपते-
 रिति । उपसर्पन्ती आगच्छन्ती भूपतेः कम्पना सेना मोहनमरीणां सम्भीहमादधौ
 कीदृशी वामे शची लोचनं यस्यास्तादृशी ।

अत्रेति । उपसर्पणं कामुकसमीपे आगमनं तच्च कम्पवत्या वामलोचनाया
 मानीर्दृष्टः तस्या एव प्रहरणं नितम्बप्रहारः मोहनं काममोहनम् । ब्रीडादायित्वा-
 दिति श्रोतु ब्रीडोत्पादकत्वादित्यर्थः । अतएव ब्रीडादिव्यञ्जक इति प्रागुक्तेऽपि
 तथैव व्याख्यातम् । वाक्यगतं जुगुप्साश्रीकमाह तेऽन्यैरिति । वान्तं वनिं उत्सर्गं
 पुरीषम् इतरार्थं इतरकविनिबद्धान्यर्थः प्रवर्त्तनं प्रवृत्तिः ।

अत्र वान्तोत्सर्गप्रवर्त्तनशब्दा जुगुप्सादायिनः ।

पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन, यत्र मे ।

भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशून्यकम् ॥

अत्र पितृगृहमित्यादौ विवक्षिते श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थत्वम् ।

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः ।

मार्गणप्रवणो भास्वङ्गतिरेष विलोक्यते ॥

अत्र किं सुरादिशब्दाः देवसेनाशरविभूत्यर्थाः, किं मटि-
राद्यर्थाः ? इति सन्देहः ।

अत्रेति । जुगुप्सादायिनः श्रोतृर्जगत्प्राज्ञकः । तत्र वान्तीतसर्गपदाभां
वाच्यार्थेनैव प्रवर्त्तनशब्देन तु पुरीषत्यागरूपेण व्यञ्जं न स्वर्गितीयाथेनेत्यवश्यम् ।
वाक्यगतममङ्गलाशीलमाह ।

पितृवसतिमिति । पतिगृहे प्राप्तश्रीकाया उक्तिरियम् । अहं तां पितुर्वसतिं
गृहं परिवारजनेन सह व्रजामि । पावकान्वय इत्यत्र प्राप्ते सतीति शेषः ।
तथाच यत्र पितृवसती पावकान्वये पवित्रताकारकवंशे पित्रादौ प्राप्ते मम हृदय-
मशेषितशोकशून्यकं भवति । निःशेषोद्भूतशोकरूपशून्यकं भवतीत्यर्थः । न तु
पावकानामन्वयो यत्रेति । यत्रेत्यस्य विशेषणं तदा स्वीलिङ्गतापत्तेः ।

अत्रेति । पितृवसतिशब्दस्य श्मशानमर्थान्तरं तादृशे यत्र पावकस्य वङ्गे-
रन्वये सम्बन्धे सति शरीरदाहात् हृदयं शोकरहितं भवतीति मृत्युप्रतीतिः मृत्यु-
प्रतीत्याऽमङ्गलम् । वाक्यगतं सन्दिग्धमाह ।

सुरालयेति । एष ऐश्वर्यवान् राजा प्रमत्तभिन्नर्वा विलोक्यते इत्यर्थः । सुरस्य
पत्ने सुराया आलये गृहे तथा कम्पना सेना पत्ने कम्पः मार्गणोवाणः पत्ने मार्गण
भिक्षा च तत्प्रवणस्तत्प्रसक्तः भूतिरैश्वर्यं पत्ने भक्ष्यं च ।

अत्रेति । सुरसुरादिशब्दसन्देहात्तदर्थसन्देह इत्यर्थः । अत्र च प्रकरणात्
भावादिव सन्देहः एकार्थे प्रकरणसत्त्वे तु उल्लासकालकरणेत्यत्र वीपमा
ध्वनिरेव स्यात् उभयत्र प्रकरणादिसत्त्वे तु पृथुकार्ष्णस्वरपादं भूषिताशेषपरिजनं

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगतानुषः ।

दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः प्रभो ! ॥

अत्राधिमात्रोपायादयः शब्दाः योगशास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वाद-
प्रतीताः ।

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भङ्गं जल्पति मानुषः ।

करोति खादनं पानं सदैव तु यथा, तथा ॥

अत्र गल्लादयः शब्दा ग्राम्याः ।

वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्त्वरजःपरा ।

निष्कम्पा रचिता, नेत्रयुद्धं वेदय साम्प्रतम् ॥

अत्राम्बररत्नपादैः क्षततमाः अचला भूः कृता, नेत्रद्वन्द्वं
बोधयेति नेयार्थता ।

देव ! । विलसत्करिणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनमिति वक्ष्यमाणवत् श्लेषालङ्कार
एव स्यादिति बोध्यम् । वाक्यगतमप्रतीतमाह ।

तस्याधीति । हे सखे ! तस्य जनस्य प्रियस्य तत्त्वज्ञानस्य प्राप्ते स यत्नः फलितः ।
कीदृशः दृढभूमिर्दृढसंस्कारदायी यत्नजनकज्ञानजन्यः संस्कार एव संस्कारयत्नजन्य-
त्वेनोक्तः यत्रापि संस्कारीत्यन्तरिति मतभेदाद् वा । तस्य कीदृशस्य तीव्र-
संवेगिता संस्कारविशेषस्तज्जुषस्तदतः अधिमात्रसंज्ञकः समाधिस्तदुपायस्य । वाक्यगतं
ग्राम्यमाह ।

ताम्बूलिति । गल्लं कपोलः भङ्गं भङ्गम् । अवेति । गल्लभङ्गशब्दावपभंश-
ग्राम्या । खादनपानशब्दौ तु परस्परसाहित्यवशादेव संस्कृतग्राम्यावित्यवशेषम् ।
वाक्यगतं नेयार्थमाह वस्त्रवैदूर्येति । सूर्योदयेऽपि निद्रितं जागरयत उक्ति-
रियम् । अस्य व्याख्या वृत्तावेव । अवेति । अम्बरमाकाशं वस्त्रपदार्थः । रत्नं
वैदूर्यपदार्थः अम्बररत्नं सूर्यः । पाद्म रश्मयश्चरणपदार्थाः । तमस्तिमिरं सत्त्वरजःपर-
पदार्थः । अचला भूर्निष्कम्पापदार्थः । नेयार्थेति । अवाचकता तु नाशब्दा
वस्त्रादिपदानामाकाशादिशक्तत्वभ्रमवृत्तस्य कस्याप्यभावेन तादृशभ्रमोद्भवनासम्भवात्
परन्तु स्वार्थवस्त्रादिवाचकाम्बरादिशब्दाच्चलसम्बन्धेनाकाशादी रुद्रिप्रयोजन-

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाच्याः ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति
सम्बन्धे क्लिष्टत्वम् ।

न्यक्कारो ह्ययमेव मे, यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो ! रावणः ।

धिकं धिक् शक्रजितं, प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,

स्वर्ग्यामटिकाविलुण्ठनहृद्योच्छूनैः किमेभिर्भुजेः ॥

अत्रायमेव न्यक्कार इति वाच्यम्, उच्छूनत्वमात्रं चानुवाद्यं

शून्या लक्षणैवेत्यर्थः । सत्त्वरजसीः पश्चाद्ग्नितत्वेन तमोगुणस्यापि सत्त्वरजःपर-
शब्दार्थत्वेन तद्वाचकतमःशब्दवाच्यत्वस्य सम्बन्धस्य तिमिरं सत्त्वात् । वाक्यगतं
क्लिष्टमाह ।

धम्मिल्लस्येति । अस्यापि वृत्तावेव व्याख्या । धम्मिल्लः संयताः कचा इति कोषः ।

निकाममत्यन्तं रज्यतीत्यन्वयः । अपूर्वा बन्धव्युत्तिर्बन्धविन्यासी यस्य तस्य धम्मिल्ल-
स्येत्यर्थः । अत्रानासत्तिकृता क्लिष्टता ।

वाक्यगतमविवृष्टःवर्षेयांशमाह न्यक्कार इति । रावणस्य विषादीक्तिरियम् ।
यदरयः अयमेव न्यक्कारः इन्द्रेणापि सेव्यमानस्य मेऽरिसत्ताया एवाभावात् बहुभि-
र्मिलित्वा कदाचिदरिताकरणमपि सम्भाव्यते । एकस्य तापसस्य तथाचरणन्तु
अन्यन्तन्यक्कार इत्याह तत्राप्येति । तेष्वपि मध्ये इत्यर्थः । अस्मां चक्षुर्गोचरः
तापसस्तपःक्षीणदेहः अत्रैव मत्समीप एव कुलं नल्लोकम् । शक्रजितमिन्द्रस्यापि
जितारं प्रबोधितं प्रबोधनं तदता प्रबोधितेनेत्यर्थः । न तु क्ववतुसास्य कर्मण्यभावात् ।
यामटिका स्वल्पयामः तद्विलुण्ठने स्वर्गोऽपि स्वल्पयाम इत्यर्थः । एभिर्भुजैस्तद्विलुण्ठ-
नेन हृद्योच्छूनैः हृद्योद्धतैः किमित्यर्थः ।

अवेति । आदौ क्लिष्टदृष्टिश्च तत्र विधेयप्रत्यायने प्रतीतिः प्रकृष्टा भवति ।
वक्रिमत्त्वे विधेये वक्रिमान् पर्वत इति निर्देशादिच्छया पर्वतो वक्रिमान् इति निर्देश
एव प्रकृष्टः प्रकृष्टप्रतीत्युत्पत्तेः तन्मूलमीवीकृतम् । अनुवाद्यमनुक्तैव न विधेयमुदीरये-
दिति । प्रकृष्टे त्वनुवाद्यमरिसत्त्वमिदंशब्दार्थस्तस्मात् पूर्वमेव विधेयस्य । न्यक्कारस्य

न वृथात्वविशेषितम् । अत्र च शब्दरचना विपरीता कृतेति
वाक्यस्यैव दोषो न वाक्यार्थस्य । यथा वा,

निर्देशादविमृष्टत्वात् पाठं परावर्त्तयति अयमेवेति । प्रसङ्गादस्य पद्यस्यान्यपाद-
दोषं दर्शयति उच्छूनत्वमात्रञ्चेति । किं पदेनैव वैयर्थ्यप्राप्ती वृथात्वविशेषणं पुन-
रुक्तमिति । पुनरुक्तदोषोऽनेन प्रदर्शित इति केचित्तत्र । किं शब्देन भुज-
वैयर्थ्यस्य वृथाशब्देन उच्छूनत्ववैयर्थ्यस्योक्ती पुनरुक्त्यभावात् । उच्छूनत्वमुदिश्य
विधीयमानं वृथात्वं कर्मधारयसमासवशात् गुणीकृतमतः समासगतमविमृष्टविधे-
यांशत्वमेवानेन दर्शितमत एव उच्छूनत्वमात्रञ्चेति । अविमृष्टता समुच्चये चकार
उक्त इति चक्रवर्त्तिप्रभृतयस्तत्र । तदा वृथात्वं न समासे गुणीकार्थमित्येव लिख्येति
न तु वृथात्वस्य विधेयतास्फोरकमीदृशं लिख्येति । किञ्च कर्मधारये विधेयस्यानु-
वाये साक्षादन्वयित्व एवाविमर्शः यथा मौर्व्यामुद्देश्यायां साक्षादन्वयिनी द्वितीय-
त्वस्य परम्परान्वयित्वे त्वनुभववशाद्भावविमृष्टता । यथातिशयसुन्दरी कालेत्यत्र अर्वाह
अतिशयित्वं विधेयमनुवाद्यायां सुन्दर्यां न साक्षादन्वितं किन्तु तदन्वितं सौन्दर्यं
एव । सुखरीऽयमुत्तमपण्डित इत्यत्र पाण्डित्यान्वितस्य उत्तमत्वञ्च यथा वा अमन्द-
बलितयौवमित्यत्र अत्रापि हि विधेयममन्दवमनुवाद्य बलितान्वितबलन एवान्वितं
न ह्यत्र विधेयतः केनापि नानुभूयते तत्रदिहापि उच्छूनान्वितोच्छूनत्वान्वितस्य वृथा-
त्वस्य विधेयस्य कथमविमृष्टता । वयन्तु स्वर्गविरुद्धनेन उच्छूनत्वमेव जन्यते न तु
वृथोच्छूनत्वमती विलुण्ठनवृथोच्छूनत्वयोः अनन्वयादभवन्मतयोगे दोष एवायं दर्शितः ।
वृथात्वविशेषितत्वे विलुण्ठनान्वयासम्भवादिति ब्रूमः । न च तदा उच्छूनत्वमात्रं
कस्य विधेयस्यानुवाद्यमिति वाच्यम् । उच्छूनत्वविशिष्टभुजानुवादादिविशेषणस्याप्यनु-
वाद्यत्वेन विधेयस्य किं पदार्थवृथात्वस्यानुवाद्यत्वात् । चकारस्य दोषसमुच्चयमात्रे
नन्वद्ययोरैव विपरीतप्रतीत्याऽयं दोष इति वाक्यार्थदोष एवायमस्तित्यत आह ।

अत्रेति । ननु समासे विभक्तिलोपात् सम्भूयोच्चारितपदानुपूर्वीपरावृत्त्यसम्भवा-
दस्तु समासगतमविमृष्टत्वं वाक्ये त्वयमेव न्यक्कार इति परावृत्त्यान्वयसम्भवादानुपूर्वी-
परावृत्तौ यत्किञ्चित् विलम्बो न दोषावहः । कथमन्यथा शन्यं वासगृहमित्यत्र विधेयस्य
शन्यत्वस्य निर्गम्युत्तचन्दनेत्यत्र विधेयस्य निर्मृष्टरागत्वस्य चापाचार्येस्त्रिपुरविजयी-
त्यादौ विधेयस्य चापाचार्यत्वस्य कातर्यं केवला नीतिरित्यादौ विधेयस्य कातर्यत्वस्य
पूर्वनिर्देशः यदि तु सर्वत्रैव दोष इत्युच्यते । तत्कथमविमृष्टतादोषं परिहरतैव

अपाङ्गसंसर्गि तरङ्गितं दृशो-
 भ्रुवोररालान्तविलासि वेङ्गनम् ।
 विस्तारि रोमाञ्चितकङ्कुकं तनो-
 स्तनोति योऽमौ सुभगे ! तवागतः ॥

अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिरुक्त,
 तथाहि प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दो-
 पादानं नापेक्षते, क्रमेण उदाहरणम्,
 कातर्यं केवला नोतिः, शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
 अतः सिद्धिं समताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ [प्रका०]
 इयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
 समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

यन्मृताऽलक्षिता जनिरिति पाठरचनां कृता तस्मात् न्यङ्कार इत्यत्रानुपूर्वीपरावर्त्तने
 यत्किञ्चित्बिलम्बी न दोषात्तद्दः कथमन्यथा स्वरसादेव दोषो दर्शितः । वस्तुतस्तु काव्ये
 एवंविधो वाक्यगताविच्छेदत्वदोषो न परिहार्यः । वाक्यगताविच्छेदत्वमन्यदेवं-
 दाहार्यमित्यभिप्रायेणाह यथावेति ।

अपाङ्गं संसर्गि सम्बद्धं तव दृशोः तरङ्गितं तरङ्गवशाद्धल्यम् अरालं कुटिलं
 अने विलासि भ्रुवो वेङ्गितञ्च तनोः विस्तारि रोमाञ्चरूपं सर्वव्यापकत्वात् कङ्कुकञ्च
 यस्तनोति हे सुभगे ! असावागत इत्यन्वयः । अनुवाद्यमात्रंति यच्छब्दसन्निधिपतित-
 स्थादःशब्दस्य युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमङ्ग इत्यादौ तथैव व्युत्पत्तेरिति भावात् ।
 अनुवाद्यतामात्रप्रतीतौ च विधेये तच्छब्दार्थे यत्पदमिदं साकाङ्क्षं तयोः परस्परकैव
 परस्परकाङ्क्षानिर्गत्तेरिति हृदये न तयोः क्वचित् परस्परान्वयसाकाङ्क्षत्वं क्वचित्तु
 नेति विचारेण प्रकृते यच्छब्दस्य यच्छब्दसाकाङ्क्षत्वमेवेति बोधयितुमाह ।

तथाहोति । तत्र तच्छब्दस्य यच्छब्दनिराकाङ्क्षत्वमादौ दर्शयति प्रक्रान्तेति ।

कातर्यमिति । केवला नोतिः कातर्यमित्यन्वयः । चपल एव चापल इति
 स्तार्थेऽप्युभाभ्यां नोतिशौर्याभ्याम् ।

अत्र प्रक्रान्तो रघुः संवृतस्वार्थः । इयं गतमिति अत्र सा प्रसिद्धा कलित्वार्थः ।

कला च सा कान्तिमती कलावत-
 स्वमस्य लोकस्य च नेत्रकीमुद्री ॥ [प्रसि०]
 उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
 ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
 क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
 धूमाम्भितेन दहनेन, न वीक्षिताऽसि ॥ [अनु०]

यच्छब्दस्तूनरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात् पूर्ववाक्या-
 नुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते, यथा
 साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मौलितं यदभिरामताधिके ।
 उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥
 प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकाङ्क्षः,

उत्कम्पिनीति । वासवदत्तया निगडिता सागरिकामैन्द्रजालिकदर्शितपुरदाहदग्धत्व-
 भमेण शोचयती वत्सराजस्य पतेः उक्तिरियम् । हे सागरिके ! क्रूरेण दहनेन
 दारुणतया सहसैव त्वं दग्धा पुनराह धूममिति वीक्षणे लीदृशी सुन्दरी त्वं न दग्धास्या
 इति भावः । वक्रिदर्शनाइयेन तत्कालीनावस्थां सम्भाव्याह ।

उत्कम्पिनीति । उत्कम्पवती भयेन परिस्खलितोऽशुकस्यान्ती यस्याः तादृशी
 ते मया पूर्वानुभूते लोचने वक्रिदर्शनाविधुरे कातरे प्रतिदिशं क्षिपन्ती । अत्र ते
 इत्यनुभूतार्थकम् ।

इत्थं तच्छब्दस्य यच्छब्दनिराकाङ्क्षत्वं दर्शयित्वा यच्छब्दस्यापि तच्छब्दनिरा-
 काङ्क्षत्वं दर्शयति यच्छब्दस्त्विति वाक्यगतत्वमेव स्यादिति व्यायान् पाठः । क्वचि-
 द्वाक्यानुगतेति पाठस्तत्र च उकारवान् नकार एव न तु रेफमूर्धा णकार इत्यवधेयम् ।

साधु चन्द्रमसीति । चन्द्रमसि सति पुष्करैः पद्मैः साधु कृतं कृत इत्याह
 मिलितमिति । अभिरामताधिके तस्मिन् सति यन्मिलितं सङ्घुचितं जयिनि चन्द्र-
 मयनशोले कामिनीमुखे सति उद्यता तेन चन्द्रेण पुनः साहसमनुष्ठितम् । अत्र
 यदिति तत्पदनिराकाङ्क्षम् । प्रकृते तन्नोति योऽसावित्यन्तादःशब्दसन्निहितो यच्छब्दः
 साकाङ्क्ष एवेति साधयितुमाह ।

यथा, अत्रैव श्लोके आद्यपादयोर्व्यत्यासे, द्वयोरुपादाने तु निरकाङ्गत्वं प्रसिद्धम् । अनुपादानेऽपि सामर्थ्यात् क्वचिद् द्वयमपि गम्यते, यथा,

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्,
जानन्ति ते किमपि, तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रतीति । एवञ्च तच्छब्दानुपादानेऽत्र साकाङ्गत्वम् । न चामाविति तच्छब्दार्थमाह,
असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रमन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः ।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥
अत्र हि न तच्छब्दार्थप्रतीतिः, प्रतीती वा,

प्रागुपात्तस्त्विति । पूर्ववाङ्गीपात्त इत्यर्थः । व्यत्यास इति मिलितं यदभिरामनाधिके साधु चन्द्रमसि पृष्करैः कृतमित्येवं विपर्यय इत्यर्थः । अत्र हि तन्माधु कृतमित्युक्तावेवाकाङ्गानि वृत्तिः । उभयोपादानानुपादानयोरेकमेवोदाहरणमाह ।

ये नामेति । नीऽस्माकमिह मालतीसाधवे नाटके नाम सम्भावनायां ये केचिदवज्ञां प्रथयन्ति ते किमपि बुद्धाविषयं जानन्ति अज्ञाहंतीरसहत्वेन बुद्धाविषयत्वादिति भावः । अतस्मान् प्रत्येष नाटकविषयो न यत्नः । तर्हि कं प्रत्येष यत्न इत्यत्राह उत्पत्स्यत इति । अस्मीत्यनन्तरं वाकारीऽध्याहायः तथाच मम समानधर्मा एतन्नाटकरसास्रदकः कोऽपि उत्पत्स्यते अस्ति वा तं प्रत्येष यत्न इत्यर्थः । नन्वियता कालिमानुत्पन्नी न उत्पत्स्यत एव उत्पन्नी वा सृतः स्यादित्यत आह कालो ह्ययमिति ।

अत्र पूर्वार्द्धे द्वयोरुपादानं परार्द्धे तु द्वयोरनुपादानं विवृणोति ।

अचेति । इत्यं प्राग्वाङ्गीपात्तस्य यच्छब्दस्य तच्छब्दसाकाङ्गत्वं व्यवस्थाप्य प्रकृतेऽपि साकाङ्गत्वमिति दर्शयति एवञ्चेति । अचेति । तर्नाति योऽसावित्यनेत्यर्थः । नन्वदःशब्देनैव तच्छब्दाकाङ्गानि वृत्तिः स्यात् इत्यत आपाततीऽदः शब्दस्य तच्छब्दसमानार्थतां निरस्यति न चेति । असौ मरुदिति । दृश्यमानो वसन्तकाल

करवालकरालदोःसहायो युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमल्लः ।
यदि भूपतिना स तत्र कार्ये विनियुज्येत ततः कृतं कृतं स्यात् ॥

अत्र स इत्यस्यानर्थख्यं स्यात् । अथ

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश ! निखिलं भवद्वपुः ।

आत्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥

इतीदंशब्दवददःशब्दस्तच्छब्दार्थमभिधत्ते इति । उच्यते,
तर्हि अत्रैव वाक्यान्तरे उपादानमर्हति न तत्रैव, यच्छब्दस्य
हि निकटे स्थितः प्रसिद्धिं परामृशति, यथा,

आगतः । तदीयपुण्यादिदृश्यमानत्वतद्दृश्यमानत्वाध्यासः । कीदृशी हनुमानिव इयो-
र्विशिषणमाह मरुता वायुना चुम्बितः स्पृष्टश्चारुः केशरः पुत्रागो यत्र पचे केशरः
श्टा । तथा प्रसन्नो यस्तारापतिमण्डलश्चन्द्रविम्बः स एवायणीः प्रधानं यत्र तादृशः
पचे तारापतिः सग्रीवस्य मण्डलं सेना तदग्रणीस्तत्प्रधानम् । तथा वियुक्तया रामया
आतुरदृश्या वीक्षितः पचे वियुक्तेन रामेण । अत्रेति । यद्यदःशब्दस्तच्छब्दसमा-
नार्थः स्यात्तदाऽत्रापि प्रतीतिः स्यादित्यर्थः । ननु अत्र स इत्यर्थोऽसावित्यस्त्वित्यत्राह
प्रतीति वेति ।

करवालति । योऽसौ कर्णः विजयार्जुनस्य विजयापरनाम्नोऽर्जुनस्य युधि
एकमल्लः प्रतिदन्वी स यदि भूपतिना दुर्योधनेन तत्र मैनापत्यकार्ये विनियुज्येत
ततः कृतं कृतं स्यात्सिद्धं स्यादित्यर्थः । कार्तवीर्यार्जुनव्यावृत्तये विजयेति ।
अत्रेति । आनर्थक्यं पीनरुक्त्यं तथाचादःशब्दो न तच्छब्दसमानार्थ इत्युक्तम् ।
नन्वत्र तच्छब्दसमानार्थकत्वाभावेऽपि तर्नाति योऽसावित्यत्र तच्छब्दार्थकः स्यान्नाना-
र्थकत्वादिदंशब्दवदित्याशङ्कते । अथ योऽविकल्पमिति भयप्रदर्शकमीश्वरं प्रति
तद्वैतदर्शिन उक्तिरियम् । हे ईश ! इदं निखिलमर्थमण्डलं पदार्थसमूहम्
योऽविकल्पं निःसंशयं भवद्वपुर्भवदभिन्नं पश्यति अस्य नित्यमैव सुखिनी भवत्-
स्वरूपेणात्मपक्षेणैव परिपूरिते जगति कुतो जनाङ्गयमित्यर्थः ।

अत्र अस्येति तस्येत्यर्थे । तथा च तत्प्रमानार्थस्यादःशब्दस्यापि तथात्वमित्याह ।

इदंशब्दवदिति । तर्हीति वाक्यान्तरेऽपि यच्छब्दतो व्यवधानेनेति बोध्यम् ।

अन्यथा तर्नाति योऽसावित्यत्रापि यस्तनीत्यसावागत इति वस्त्वन्तरे एवीपत्तित्वादिष्टा-

यत्तदूर्जितमत्युग्रं चात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।

दौव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम् ॥

इत्यत्र तच्छब्दः । ननु कथं .

कल्याणानां त्वमसि महिमां भाजनं विश्वमूर्त्तं !

धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि देव ! प्रसौद ।

यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ ! नमस्य यन्मे

भद्रं भद्रं वितर भगवन् ! भूयसे मङ्गलाय ॥

अत्र यद्यदित्युक्त्वा तन्मे इत्युक्त्वाम् । उच्यते, यद्यदिति येन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वोत्सुकं वस्तु आक्षिप्तं, तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते । यथा वा,

पत्तिसम्भवात् तदेव व्यक्तीकरोति यच्छब्दस्य ह्येति निकटस्थितत्वे वाक्यान्तरस्थत्वम-
किञ्चित्करमिति भावः ।

यत्तदिति । युधिष्ठिरं निन्दती भीमस्योक्तिरियम् । अस्य नृपते युधिष्ठिरस्य
वत्तत् प्रसिद्धं चावमूर्जितम् उद्धतमुग्रं तेजस्तदा सभायामक्षैर्दीव्यताऽनेन नूनं
तदपि हारितं न तु केवलं राजधनादिकमित्यपरार्थः । इत्यत्र यथा यच्छब्दस्य
निकटस्थितत्वात्तच्छब्दः प्रसिद्धं परामृशति तथा तन्निकटस्थोऽदःशब्दोऽपीत्यर्थः ।
एवञ्च तनोति योऽसावित्यत्र विघ्नेयाविमर्शं एवेति साधितम् ।

ननु प्रागुपात्तस्य यच्छब्दस्य तच्छब्दसाकाङ्क्षत्वे यच्छब्दसमसङ्घातच्छब्दं नैव
तदाकाङ्क्षा निवृत्तिर्वाच्या तथा च बौध्दित्यच्छब्दस्थिते कथमेकतच्छब्दं नाकाङ्क्षा-
निवृत्तिरित्याशङ्कते । ननु कथमिति ।

ननु कथं कल्याणानामित्यत्र यद्यदित्युक्त्वा तन्मे इत्युक्तमित्येऽन्वयः नटस्य नम-
स्करते मूर्त्यं वरप्रार्थनमिदम् । हे विश्वमूर्त्त ! मूर्त्ये ! त्वं कल्याणानां मङ्गलानां
महिमां तेजसां भाजनमधिककरणमसि । अथ प्रणामानन्तरं मयि धुर्यां नृत्यभावकामां
लक्ष्मीं धेहि अर्पय हे देव ! प्रसौद हे जगन्नाथ ! नमस्य मम यद्यत् पापं तत् प्रति-
जहि नाशय भूयसे बहुलाय मङ्गलाय भद्रमुत्तमं यथा स्यात्तथा भद्रं मङ्गलहेतु-
भूतमभौष्टं वितरित्यर्थः । समाधत्ते उच्यते इति सर्वोत्सुकमित्यनेन सर्वसाधारण्यैकेन

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतम्
मात्रा, स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमर्थाऽनुजोऽसौ, गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥

अत्रार्थस्येति तातस्येति च वाच्यं, नत्वनयोः समासे
गुणीभावः कार्यः, एवं समासान्तरेषु अपि उदाहार्यम् । विरु-
द्धमतिक्रम्यथा,

पापत्वरूपेण यद्यदित्यनेनाक्षिप्तमिति दर्शितम् । तथाभूतमिति तेनैव रूपेण परामृश्यत
इत्यर्थः । तथाचात्र वीक्षित यत्पदेन सामान्यरूपेणोपस्थानाच्चेनैव रूपेण एक तत्पदे-
नापि परामर्शसम्भव इत्युक्तम् । यदि तु वीक्षितयत्पदेन तत्तद्रूपेण प्रत्येकव्यक्त्युप-
स्थापने वक्तुं स्यात्पर्यं तदा एकतत्पदेन तत्तद्रूपेण बीषधितुमसामर्थ्यात् तत्पदेऽपि
वीक्षित्यभिप्रायः । तथाच यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा इत्यत्र स स भूमिपाण्ड
इति यां यां प्रिया मैत्रत कातरक्षीं सा सा क्रिया नमसुखो बभूव इत्यत्र सा सेति च
तत्पदवीक्षोपपत्तिः । नन्वेकवाक्यस्थस्यैवाद्ःशब्दस्य प्रसिद्धिपरामर्शकत्वयत्पद-
साभिध्यं प्रयोजकं युधि योऽसावित्यत्र तथादर्शनात् तनोति योऽसावित्यत्र तु
वाक्यभेदान्न तथेत्यत उदाहरणान्तरमाह ।

यथा किं लोभेनेति । रामं वने प्रेरयितुं पित्रा आज्ञातमिति श्रुत्वा लक्ष्मण-
स्वीक्रियम् । येन भरतेन मात्रा द्वारोक्तया एतद्रामवनप्रेरणरूपं कर्म एवं तात-
प्रतिज्ञानेन कृतं स भरतः किं लोभेन विलङ्घित इत्यन्वयः । अथवा मम मध्यमा माता
केकार्ये व स्त्रीस्वभावलघुतां गता पुनराह एतन्मम द्वितयं चिन्तितमपि मिथ्यात्वे
हेतुमाह ।

आर्थेति । आर्थस्य रामचन्द्रस्यानुजोऽसौ भरतः अतो गुरुर्महान् नाकार्य-
कारी तथा च तादृशः कथमकार्यकर्त्ता स्यादित्यर्थः । एवं माता मध्यमा तातस्य
दशरथस्य कलत्रं तत्कलत्रस्याकार्यमसम्भाव्यमेवेत्यर्थः । तदिदमकार्यं केन कृत-
मित्यत्राह इत्यनुचितमिति इदमनुचितमित्यर्थः ।

अत्रेति । आर्थतातयोः सम्बन्धादेवास्वीकृतिमिथ्यात्वं सिद्ध्यति स च सम्बन्धः
समासत्रशात् षष्ठ्या सात्त्वादप्रत्यायत्वेन गुणोभूत इत्यर्थः । न चार्थसम्बन्धिलक्षणाया
लुप्तपञ्चनुसन्धानात् वा सम्बन्धप्रतीती कथं गुणीभाव इति वाच्यम् । इत्यं सम्बन्धीप-

श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवाल्लिङ्गितभूर्त्तयः ।

वियहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः ॥

अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः 'सुखमासत इति विवक्षिते हता इति विरुद्धा प्रतीतिः ।

स्थितावप्यसावनुजः आश्रयेत्ये वरुपायाः मन्वन्स्य विधेयतायाः अनभवेन विषयी करणात् तथा निर्देशे आर्यानुजगरुत्वस्यैव विधेयतावगाहनात् तातकलदमित्यत्र तु विधेयान्तरस्यैव । न च वाक्यगतत्वप्रदर्शनमात्रेण कथं समासगताविरुद्धविधेयांशप्रदर्शनमिदं कृतमिति वाच्यम् । एकवाक्यतापदसमासपदइयगताविरुद्धविधेयांशइयस्य वाक्यगतत्वात् । न च असावार्थानजी माता च तातकलदमिति वाक्यइयमेव तत्कथमनयोरेकवाक्यता येन दर्शयत्यक्रियस्य एकवाक्यगमितया प्रकृतीदाहरणतासमार्थेति वाच्यम् । एकवाक्यनिर्देशस्य द्वितीयमित्यात्मस्य हेतुनीनु तद्वाक्यइयनिर्देशादेकवाक्यत्वानपायात् । सिंहगृहवाल्मीकनन्यायेन पुनः समासगताविमर्शप्रदर्शनं कृतमिति चक्रवर्तिप्रभृतयः । एवं समामान्तरेऽपीति । समामान्तरे पदइयगतत्वेनेत्यर्थः । समामान्तरीयेकपादवाक्यगतत्वाम्भवात् । अभीषवाणं धनुषा विमसन्न शक्रकार्थ्यं स चकार राम इत्यत्र कर्मधारये विधेययीरमीघत्वाशक्यत्वयीरविमर्शाडाक्यगामिता । वाक्यगतं विरुद्धमतिक्रममाह ।

श्रितक्षमा इति । ते कौरवा वियहस्य युद्धस्य क्षपणंन त्यागेन अद्य गता सुखा गतदुःखाः शेरते कौरवाः श्रितक्षान्तयः अनुरक्तभलीकाः शिवेन मङ्गलेनान्निङ्गितभूर्त्तयः । अत्र वियहादिपदार्थानामनौचित्याभावेऽपि पदार्थान्तरान्वयवशात् प्रतिपाद्यानां कौरवाणामपकर्षप्रतीतिः । तथाहि श्रितभृतलाः रक्तं शोणितं भुवि येषां ते तथा शिवाभिराल्लिङ्गिता मूर्त्तियेषां ते तथा वियहस्य शरीरस्य त्यागेन शेरते भवीति शेषः । आत्मशरीरयोर्विशिष्टयोस्ते इत्यनेनोपादानं वियहस्यैव आत्मनः भुवि शयनञ्च शरीरस्येति बोध्यम् । तथागता अमवः प्राणाः खान्दीन्द्रियाणि च येषां ते तथा न च अत्र शिवा पदार्थानौचित्यादनचितार्थत्वमिति वाच्यम् । वाचकस्य शिवपदस्यानुचितार्थत्वाभावात् ममिसाहचर्यादेव शगालीव्यञ्जनात् न च अमङ्गलाः शीलत्वमिति वाच्यम् । अमङ्गलस्य पितृवसतिपदार्थस्य शशमानस्यैवात्र पदार्थामङ्गलत्वाभावात् ।

पदैकदेशे यथामभ्रवं क्रमेण उदाहरणम्,
 अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायीपमत्वात्
 परिणतिविरसत्वात् सङ्गमेनाङ्गनायाः ।
 इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
 स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥

अत्र त्वादिति । यथा वा,

तद्गच्छ सिद्धैः कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
 अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलभ्यै वीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाभ्रः ॥

अत्र द्वै भ्यै इति कट् ।

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्त्ति ।

वलाहकच्छेदविभक्तारागाम् अकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥

पदस्थानेऽपि केचनत्येतस्योदाहरणं दातुमाह पदैकदेश इति । पदैकदेशे
 श्रुतिकटुत्वाद् अलमतीति । अङ्गनायाः सङ्गमे मालं व्यर्थं तत्र हेतूनाह अति-
 चपलं इति । चपलत्वं क्षणिकत्वं स्वप्नमायीपमत्वम् । इतितत्त्वं यदि शतकृत्वः
 आलोचयाम इत्यन्वयः । तदपि तथापि प्रत्ययमावांशकटुत्वादेव पदैकदेशता अनेक-
 पदैकदेशकटुत्वाच्चात्र श्रुतिकटुता एकवर्णकटीरदोषत्वात् एवं सोऽर्ध्यं इत्यस्य
 पादत्रयेऽपि बोध्यम् । ननु शङ्करे परुषवर्णानां तद्धोधकं समस्तवाक्यपतितत्वात्
 प्रतिकूलवर्णदोषोदाहरणमेवेदं युक्तमित्यत उदाहरणान्तरमाह ।

यथावेति । महेशस्य समाधिभङ्गार्थं कामं प्रेरयत इन्द्रस्यीक्तिरियम् । सिद्धैः
 महेशसमाधिभङ्गपायै समाधिभङ्ग एव किमर्थमित्यत्राह अर्थोऽयमिति अयं तारक-
 हन्तृसेनान्युत्पादनरूपोऽर्थः अर्थान्तरस्य शब्देन निर्देशः । अशुचितस्य महेशकठं क-
 पार्वतीशङ्करस्य लभ्य एवेत्यर्थः । अतः समाधिभङ्गेनैव तस्मिन्नातीति भावः ।
 केषिचु अन्तरपदमप्यनन्तरार्थकं तथाच धर्मार्थकाममोक्षगणनेऽर्थानन्तरगणितस्य
 कामस्य लभ्य एवेत्यर्थः इत्याहुः । सोऽर्थः अङ्गलभ्यै स्वसत्तालभ्यै त्वां प्रत्ययं
 कारणमपेक्षं त्वयैवायमर्थः साधयितुं शक्य इत्यर्थः । वीजाङ्कुरी वीजप्रभवीऽङ्कुरः
 स्वीदयात् प्रागभ्यो यथापेक्षते इत्यर्थः । जलानपेचभौमाङ्कुरव्यावृत्तये वीजिति ।

अत्रेति । सिद्धिपदाङ्गलभ्यपदयोः प्रत्ययभूतां चतुर्षीं विज्ञाय प्रकृत्येकदेशी-

अत्र मत्ताशब्दः स्त्रीवार्थे निहतार्थः ।

आदावञ्जनपुञ्जलिप्रवपुषां श्वासानिलोक्तासित-
प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशाम् ।

सम्प्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो

भङ्गोनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा ॥

अत्र दृशामिति बहुवचनं निरर्थकं, कुरङ्गेक्षणाया एकस्या
एव उपादानात्, न चालसवलितेत्यादिवत् व्यापारभेदाद्बहुत्वं,
व्यापाराणामनुपात्तत्वात्, न च व्यापारेऽत्र दृक्शब्दो वर्तते ।
अत्रैव 'कुरुते' इत्यात्मनपदमप्यनर्थकम्, प्रधानक्रियाफलस्य
कर्तृमस्त्वन्धे कर्तृभिप्रायक्रियाफलाभावात् ।

अकारभ्रकारौ श्रुतिकटू इत्यर्थः । प्रत्ययमुत्तमं त्वामिति कुमारसम्भवं पाठरचनया
एष दाषः परिहृतः । पादैकदेशे निहतार्थमाह यथाप्सर इति यः पर्वतः शिखरैः
धातुमत्तां धातुं विभक्तिं कौटुशीं अप्सरसां विभ्रभाय विलासाय यानि मण्डनानि
भूषणानि तेषां निष्पादिका अकालसम्या चित्रमेघाच्छन्नतयाऽसम्यापि सम्या तामिव
कौटुशीं वलाहकस्य मेघस्य श्चेदेन खण्डेन विभक्ती नानाकारीकृती रागी वर्षभेदी
यव तादृशीम् । अत्रेति धातुमत्ताशब्दस्य मनुबादिप्रत्ययद्वयरूप एकदेशी मत्ता ।
पदैकदेशे निरर्थकमाह ।

आदाविति । रुदतीं काञ्चिद्दर्शयत उक्तरियम् । कुरङ्गेक्षणाऽश्रुपयसा दृशां
निषेकं सम्प्रत्येव कुरुते अन्यदातु नैव रुदती दृष्टेत्यर्थः । कौटुशीना दृशां आदावञ्जन-
पुञ्जलिप्रवपुषां ततश्च श्वासानिलैः उक्तासितेन प्रोत्सर्पता विरहानलेन सन्तापितानां
सर्वाङ्गतापे दृशामपि तत्रत्वात् । अत्रोत्प्रेत्येति देवस्येति चेतोभुवो देवस्य भङ्गोसंशक-
बाणविशेषाणां धारा तैश्चाद्देतु पानकर्म पानीयदकर्मैव कामं यथेष्टम् कुरुते तदीय-
दृशां कामवाणकार्यकारित्वादियमुत्प्रेक्षा पानकर्मस्यपि प्रथमसङ्कारचर्चकृताङ्गनेन
लेपः भङ्गाश्वासरूपानिलैः उक्तासितेन प्रोत्सर्पता विरहत्वात्पाननेन सन्तापय ।
अत्रेति बहुवचनत्वे मानर्थकमित्यर्थः । षष्ठीत्वेन तु सम्बन्धबोधकत्वमस्तीवेति
बोध्यम् । नञेति दृशीलकबहुत्वाभावेऽपि वक्त्रोपात्ततद्वापाररूपनिर्देशणबाहुल्या-
द्विशिष्टबाहुल्यमित्यर्थः । व्यापारेऽङ्गेति अत्र दृक्शब्दे व्यापारलक्षणापि नेत्यर्थः ।

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयो, कार्तिकेयो विजेयः,
 शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिभूरियं हन्तकारः ।
 अस्य वैतत्, किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधाम्
 बद्धस्यर्द्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥
 अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थे ऽवाचकः ।

आपाराणामङ्गनलपासम्भवादिति भावः । व्यर्थमित्यात्मनेपदत्वेनेत्यर्थः । वर्त्तमानत्वेन तु वर्त्तमानकालस्य बोधकत्वमस्त्वेति बोध्यं वैयर्थ्यं घटयति प्रधानेति प्रधानस्य क्रियाफलस्येत्यर्थः । क्रियायास्त्वे कत्वेन प्राधान्यासम्भवात् तच्च फलमशुनिर्षककरणस्य उद्देश्यरूपं प्रधानं नाभ्येव दृक्त्विमितत्वन्तु अनुद्देश्यं कर्त्तृनिष्ठञ्च पानकर्मकरणस्य तु धारातैच्छ्यामुद्देश्यत्वात् प्रधानं कर्त्तृनिष्ठम् । कर्त्तृभिप्राय इति कर्त्तृभिप्रायं क्रियाफलं इति पाणिनिमतं कर्त्तारमभिप्रीतिं प्राप्तीतीति व्युत्पत्त्या कर्त्तृनिष्ठे क्रियाफल इति तदर्थः । अत्र तु कुरङ्गचणायी कवरां तदभावादित्यर्थः । पादपूरणमात्रप्रयोजनमिति यन्निरर्थकं लक्षणं कृतं तव पादपूरणपदस्य क्वन्दीभङ्गवारणप्रयोजनकतया व्याख्यातत्वादेव बहुवचनात्मनेपदयोः पादपूरणार्थत्वाभावेऽपि निरर्थकता । न च दृशामित्यत्र दर्शयित्वा करणेऽपि क्वन्दी भङ्गाभावेन कथं तदपि प्रयोजनमिति वाच्यम् । सन्तापितानामित्यत्र तद्विगेषणं तद्भङ्गवारणार्थत्वात् सन्तापितयोः इति करणे तद्भङ्गात् यत्र तत्रैव पादपूरणातिरिक्तप्रयोजनराहित्यमर्थः । तथाचाव निष्प्रयोजनत्वेऽपि तदस्त्वेव । पदैकदेशगतमवाचकमाह ।

चापाचार्य इति । दिग्विजये जामदग्न्यं प्रति रावणस्थीक्तिरियम् । त्रिपुरविजयी विलक्षणधनुःशिक्षया त्रिपुरजेता महेशशत्रु चापाचार्यः ममापि जेता कार्तवीर्यस्त्वया विजेयो विजितः शस्त्रव्यस्त उदधिस्तव सदन निवासस्थानं कश्यपाय पृथिवीं दत्त्वा शस्त्रभीषितात् समुद्राद् गृह्णीतस्थानत्वात् भरियं हन्तकारीऽतिथी कश्यपसुनौ दत्त्वा हन्तकारस्यातिथिदानमन्वत्वेन तत्सम्बन्धादेव देया भूरेव तत्पदेन लक्षिता तवीत्कर्षहेतुभूतमेतच्चतुष्टयमस्यैव किन्तित्यर्थं किमुशब्दः किन्तु रेणुकाया एव मातुः कण्ठबाधां कण्ठच्छेदं कृतवता तव परशुना सह बद्धस्यर्द्धो मम चन्द्रहासः खड्गी लज्जतेऽकार्यकारिणा स्पृहानीचिख्यात् ।

अत्रेति । अवाचक इति न च लक्षणा अस्तु इति वाच्यम् । अनिर्दिष्टकालकाः

अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।

परमार्थतः स हृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव ॥ [ब्रीडा०]

अत्र पेलवशब्दः ।

यः पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्थ-

स्नानेन शास्त्रपरिशोलनकीलनेन ।

सौजन्यमान्यजनिरूजितमूर्जितानाम्

सोऽयं दृगोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥ [जुगु०]

अत्र पूयशब्दः ।

प्रत्ययास्त्रिष्वपि कार्ष्णि भवन्तीति आकरणीकस्यात्र शक्तिभमगोजस्य सत्त्वेन वाचकत्वादेव न च तादृशव्याकरणानुशासनसत्त्वेन कथमतीतकालं शक्तिर्नास्ति इति वाच्यम् । तत्र कालिकक्रियार्थधातुभ्य एव तादृशाः प्रत्यया भवन्तीत्यत्र तदर्थान् न तु वय एव कालान्निषामर्थः अत्र एवातीतार्थकावाभावेऽपि तदर्थे तस्य साधुत्वेन न श्युतसंस्कृतित्वम् । न चात्र प्रत्ययैकदेशरूपस्यात्राचकत्वादिवातुनायत इत्यत्राप्यात्मनोपदस्य प्रत्ययस्य श्युतसंस्कृतित्वात् पदैकदेशदोषतैर्वाचिता न तु पददोषतैर्वाच्यम् । विशेषार्थकधातुविशेषप्रदेशिभ्यो नैव तथात्वेन प्रकृतिप्रत्ययात्मकपददोषत्वस्यैव तत्र व्याख्यत्वात् । पदैकदेशे ब्रीडाश्लीलत्वमाह ।

अतिपेलवमिति । पेलवं केवलं लघुतरं शीघ्रतरं स शठस्तु परमार्थतो हृदयं कालकूटघटितमिव वहतीत्यन्वयः ।

अवेति । आद्यवर्णोदयस्यापभ्रंशपदरूपत्वं न सुष्कबीधकत्वाद्ब्रीडाजनकत्वम् । पदैकदेशे जुगुप्साश्लीलत्वमाह ।

यः पूयत इत्यादि । सोऽयं जनः कस्यचिदेव अर्थात् पुण्यवती दृगोः पतति न तु सर्वस्य । यो हि जनः सुरसरिन्प्रभृतितीर्थसमुद्घस्नानेन पूयते पृती भवति शास्त्राणां धर्मशास्त्राणां परिशोलनस्य व्यवसायस्य कीलनेनाभ्यासेन सौजन्यस्य पुज्यतात्मकमान्यस्य च जनितेभ्य एव तादृशः तथा ऊर्जितानामूर्जितानामभ्यूर्जितं बलस्वरूपः ।

अवेति पूयं क्लृप्तः । पदैकदेशेऽमङ्गलाश्लीलत्वमाह ।

विनयप्रणयैककेतनं सततं योऽभवदङ्ग ! तादृशः ।

कथमद्य स तत्त्वदीक्षतां तदभिप्रेतपदं समागतः ॥ [अमङ्ग०]

अत्र प्रतशब्दः ।

कस्मिन् कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम् ।

अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह ॥

अत्र किं पूर्वं साधुरुत साधुषु चरतीति सन्देहः ।

किमुच्यतेऽस्य भूपालमौलिमालामहामणैः ।

सुदुर्लभं वचोवाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ॥ [निया०]

अत्र वचःशब्देन गीःशब्दो लक्ष्यते । अत्र खलु न केवलं

विनयेति । अङ्ग ! सम्बोधने । यस्तादृशः प्रसिद्धः विनयस्य वात्सल्यरूपप्रणयस्य च सततमेककेतनमेकाग्रयोऽभवत्कथं सम्भ्रमे स जनोऽत्र तत्त्वदीक्षतां तात्त्विकव्रतित्वं समागतः कौटुम्भं तस्यैवाभिप्रेतं वाञ्छित पदं व्यवसायम् । पदैकदेशसन्दिग्धत्वमाह ।

कस्मिन्निति अस्य जनस्य सामर्थ्यं कस्मिन् कर्मणि नीत्तपते नोद्विष्यते तस्मादयं साधुचर इह जनेऽञ्जलिर्बध्यताम् ।

अत्रेति । भूतपूर्ववृत्तेरश्रद्धितं चरत्प्रत्ययश्चरधातु र्भेति सन्देह इत्यर्थः । पदैकदेशे नेयार्थत्वमाह ।

किमुच्यते इति । वृषाणां मौलिस्थाया मालाया महामणिभूतस्यास्य किं चरितमुच्यते न किमपि वागीचरमित्यर्थः । यस्य तेजो वचोवाणै र्गीर्वाणैरपि सुदुर्लभमित्यर्थः ।

अत्रेति । न च गीःशब्दार्थवाणैरित्यथात् रेफइयवदभ्रमरशब्दार्थत्वेन भ्रमरस्य द्विरेफशब्दार्थवत् परन्तु तत्र रूढिरत्र तु न रूढिः न वा प्रयोजनमिति नेयार्थता इयमेव लक्षितलक्षणीच्यते । केचित्तु गीःशब्द एव लक्षणा तस्य च स्वार्थे लक्षणा इत्यमेव लक्षितलक्षणारीतिमाहृन्न । लक्षितगीःशब्दस्यान्वयबीधापत्तेस्तदीय-स्वार्थे लक्षणानुपपत्तेश्च । न च कथमत्रेदृशलक्षणा गीःशब्दार्थस्य वाक्यस्य वचः-शब्देन शक्त्यैव उपस्थापनसम्भवादिति वाच्यम् । गीःपदपरिवृत्त्या पदान्तरेण

पूर्वपदं, यावदुत्तरपदमपि पर्यायपरिवर्तनं न क्षमते । जल-
ध्यादावुत्तरपदमेव, वडवानलादौ पूर्वपदमेव ।

तदर्थोपस्थापने वाणपदमभिव्याहारस्य प्रतिबन्धकत्वात् अतस्तस्य गीःपदार्थत्वे-
नैवोपस्थापकता तथात्वे तु लक्षणेव । अथ विष्णुधर्मत्वत्वात् विष्णुपदशब्दकदेशपद-
शब्दपरिवृत्त्या धामपदं विष्णुशब्दसमभिव्याहारात् स्थानत्वेन रूपेण स्थानावाचकम् ।
अतोऽत्रैव तथापि पदशब्दार्थत्वेन लक्षितलक्षणाया वाचकत्वात् कथं तव वाचकतेति
चेन्न । पदशब्दार्थत्वेन तव बोधकत्वं तस्य कश्चिदुत्तरत्वाभावेन सम्बन्धाकाङ्क्षा-
शून्यत्वेन तदर्थे आकाश आकाशत्वेनापस्थित इव विष्णोर्वचनत्वात् स्थानत्वेनैवोप-
स्थिते तु यस्य विक्रमस्य विष्णोराकमणीयस्थाने तव साकाङ्क्षत्वेन भवत्वं व विष्णा-
रन्वय इति न तव पदशब्दार्थत्वेन लक्षणा । प्रकृतं गीःशब्दार्थत्वेनोपस्थापितस्य
वाक्यस्य वाणकार्यकारित्वाद्भवत्येव वाणपदार्थे साकाङ्क्षतयाऽभेदान्वयबोधः । एवञ्च
सर्वत्रैव पूर्वपदस्य परिवृत्त्यक्षमत्वे लक्षितलक्षणा नेयार्था परपदस्य परिवृत्त्यक्षमत्वे तु
प्राशङ्ग्योऽवाचकतेति बोध्यम् । न च वचःशब्दस्य वाक्ये शक्तिमत्त्वेन शक्तिभमा-
भावेऽपि अप्रतिबद्धशक्तिभमस्यैव वाचकलक्षणे प्रवेशितत्वाद्वाचकतैव स्यान्न
लक्षणा अप्रतिबद्धत्वाप्रवेशे विदधदित्यस्यावाचकतानुपपत्तेरिति वाच्यम् । गीर्वाण-
शब्द एव शक्तियाहकबोधयाहितशक्तिकत्वेन वाणपदपूर्ववर्तिनि वचःशब्दशक्तेरेवानु-
पस्थित्या भमीन्नयनाभावात् विदधदित्यत्र तु धाधातुगृहीता शक्तिरूपतिष्ठत एव
व्युपसर्गेण तु तदन्वयबोधस्यैव प्रतिबन्धः । न च समासपदैकदेशत्वाविशेषेऽपि
वचीवाणैरित्यत्र पदैकदेशदीपता विष्णुधर्मत्वत्वात् वाक्यदीपता कुत इति वाच्यम् ।
तत्रैव तद्दीपवत् पदान्तरसाहचर्यात् । उत्तरपदमपीति । तेन गीःशर इत्यपि
न भवति वचःशर इति तु न सुतराम् । उत्तरपदमेवेति । पर्यायपरिवर्तनं न
क्षमते इत्यन्वयः । तेन जलाशय इत्यादिपदाज्जलाधिकरणत्वेनैव बोधी न
समुद्भवेनेति बोध्यम् । जलधिपदम् उपसर्गविशिष्टं जलनिधिपरमेवेति बोध्यम् ।
पूर्वपदमेवेति तेनाशानल इति न, तत्राचकम् । ननु अप्रयुक्तत्वासमर्थत्वावाचकत्व-
नेयार्थत्वरूपा दोषाः शक्यतावच्छेकरूपेण बोधयितुमसमर्थत्वेन एकरूपेणैव सहल-
यितुं शक्यास्तत्कथनेषां पृथग्भावेन प्रदर्शनमित्यत आह ।

यद्यपि असमर्थस्यैव अप्रयुक्तादयः केचन भेदाः तथापि
अन्यैरलङ्कारकारैर्विभागेन दर्शिता इति, भेदप्रदर्शनेनोदाहर्तव्या
इति च विभज्योक्ताः ।

प्रतिकूलवर्णमुपहत-

लुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।

न्यूनाधिककथितपदम्

पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥ ५ ॥

अर्द्धान्तरैकवाचकम्

अभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।

अपदस्थपदसमासं

सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥ ६ ॥

भग्नप्रक्रममक्रमम्

अमतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।

यद्यपीति । वाक्यमात्रदीषानाह ।

प्रतिकूलति । उपहतविसर्गं लुप्तविसर्गञ्चेति दीषद्वयम् । न्यूनपदमधिकपद-
कथितपदञ्चेति दीषद्वयम् । अपदस्थपदमपदस्थसमासञ्चेति दीषद्वयम् । तद्विपरीत-
तत्त्वमेवेति । तत्र सविरोधिगुणव्यञ्जकवर्णत्वमित्यर्थः । वर्णपदञ्चात्र समासस्याप्युपल-
क्षणं तेन प्रकृतसविरोधिगुणव्यञ्जकसमासोऽपि प्रतिकूलवर्णो बोध्यः । दूषकतावोज-
साभ्यात् उदाहरिष्यते चेतिमेव विरोधश्च । माधुजीव्यौगुणयोरेव अतो माधुर्यव्यञ्जका
वर्णाः समासो वा वीरव्रीहकसरौद्ररसेषु श्रीजीगणव्यञ्जकवर्णाः समासो वा शृङ्गार-
शान्तरसेषु प्रतिकूला बोध्याः । एवञ्च नौरसेषु हास्यभयानकाङ्गतरसेषु च पद्यैकदेश-
मात्रनिष्ठत्वे च श्रुतिकटुत्वं दीषः । प्रतिकूलवर्णत्वन्तु समस्तवाक्यव्यापकत्वे शृङ्गार-

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते, तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णं
यथा शृङ्गारे,

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठ ! माम् ।

कम्बु, कण्ठ्याः क्षणं कण्ठं कुरु कण्ठार्त्तिमुद्गर ॥

रौद्रे यथा,

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ङ्गदाः पूरिताः,

क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।

तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूख्यस्त्राणि भास्वन्ति मे,

यद्रामेण कृतं, तदेव कुर्वन् द्रोणात्मजः क्रोधनः ॥

करुणशान्तवीररौद्रबोभस्वरसंश्लेषे दोषः शोरादिवय कोमलवर्णत्वेऽपि दोष इति
इधीविशेषः ।

अकुण्ठेति । कीकिले कम्बु, कण्ठ्याः सौन्दर्यहेतुरेखावयवविशष्टकण्ठ्यास्तस्याः
कण्ठे मां क्षणं कुरु मम कण्ठार्त्तिमुद्गर अपनय तस्याः समीपे तथा कुरु यथा
सा मां कण्ठे करीतीति तात्पर्यार्थः । मां कौटुम्भम् आकण्ठमकुण्ठया उत्कण्ठया
पूर्णम् । अतः शृङ्गाररसीयपदरूपवाक्यस्य व्यापकाः शृङ्गारवृत्तिमाप्त्यर्थं गुणव्यञ्ज-
काष्टवर्णाः टादिः शर्षो वृत्तिदैर्घ्यं गम्फ उद्धतं श्रीजसीति वक्ष्यमाणत्वात् । प्रति-
कूलसमासात्मकं प्रतिकूलवर्णं रादरमे दर्शयति ।

रौद्रे इति । देशः सोऽयमत्यादिकं पाण्डवेषु क्रुडश्याश्ल्याम् उक्तिरियम् ।
रामेण परशुरामेण यन्निहतशत्रुशोणितजलैर्ङ्गदप्रणारूपं कर्म कृतं द्रोणात्मजोऽश-
त्यामाऽपि अद्य क्रोधनः सन् तत् कुरुत पितृवधक्रोधात् पितृमस्वर्धोपन्यासः रामस्य
तथाकरणे या सामग्री ममापि साक्षाति दर्शयति देशः सोऽयमिति । कुरुक्षेत्ररूपो
देशः तातस्य केशग्रहरूपः तथाविधः परिभवी ममाशौच्यर्थः । रामतातस्य जम्-
दग्नेरपि कार्तवीर्याजनेन केशग्रहणं कृतं मम तातस्य मृतस्य द्रोणस्यापि वृष्ट-
द्यस्त्रेण केशान् गृहीत्वः शिरश्चिद्रमित्यर्थः । परशुरामस्य धान्यस्त्राणि ममापि
तान्येव रामेण मत्पित्रे नेन च मह्यं दत्तत्वात् कः दग्मान् अहितानां शस्त्रस्य घस्म-
राणि स्वादकानि गुरुणि जहान्ति भास्वराणि चेत्यर्थः ।

अत्र हि विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्वं चोचितम् । यथा
 प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्धेधाविधाविर्भवत्-
 क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापबिद्धः क्षणात् ।
 उज्ज्वालः परशु भवत्वग्निथिलस्त्वत्कण्ठपोठातिथि-
 र्यनानेन जगत्सु खण्डपरशु देवी हरः ख्याप्यते ॥
 यत्र तु न क्रोधस्तत्र चतुर्थपादाभिधाने तथैव शब्दप्रयोगः ।
 उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत् ।
 धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः ।
 यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बद्धिप्रभाविताः ॥

अत्रेति । श्रीजीगुणव्यञ्जकविकटवर्णीचिव्यमावप्रदर्शनमिदं न तु तदकरणा-
 दत्र प्रतिकूलवर्णता तद्विपरीतानां माधुर्य्यव्यञ्जकानां स्ववर्गान्यमूर्द्धकानां कादीनाम-
 भावात् । किन्तु अदीर्घसमासस्य माधुर्य्यव्यञ्जकस्य करणादेवात्र प्रतिकूलवर्णता वर्ण-
 पदस्य समासस्याप्युपलक्षकत्वात् तद्व्यति अहत्ति मध्यहत्ति वा माधुर्य्य घटना
 तथेति । रीद्रे विकटवर्णदीर्घसमासो क्व दृष्टावित्यत्राह ।

यथेति । प्रागप्राप्त्यादिकं रामचन्द्रं प्रति कुपितभार्गीवीकः । मम उज्ज्वालः
 परशुरग्निथिलः सन् त्वत्कण्ठपोठेऽतिथिर्भवतु पीठोपदेशनस्यातिधेरीचिव्यात्पीठ-
 रूपणम् । कौटुम्भः निशुम्भे आसर्दनं प्रागप्राप्तत्वं यच्छाम्भवं धनुस्तस्य त्वत्-
 क्षतया द्वेधाविधा भङ्गेन द्विप्रकारता तथा आविर्भवता क्रोधेन प्रेरितो यो भीमो
 भार्गवस्य सभ भुजस्तम्भस्तेनापबिद्धश्चालतः क्षणात् तत्क्षणात् र्यनानेन परशुना
 देवी हरी जगत्सु खण्डपरशुः ख्याप्यते पूर्वं महेश स्थितः सद्रथं रिपुखण्डक आसी-
 दतः खण्डयतीति खण्डः तादृशः परशु र्यस्येति व्युत्पत्त्या खण्डपरशुरिति महेशस्य
 योगरूढं नामत्वर्थः । अत्र पूर्वपादवर्थे ऊर्द्धतारं फयुक्तवर्णाः पूर्वार्द्धे च दीर्घसमासः
 चतुर्थपादे तु रीद्रेरसाभावान्न तथात्वमित्याह ।

यत्र त्विति । महेशनामकथनरूपे तत्र क्रोधाभावात् । उपहतविसर्गोलुप्त-
 विसर्गरूपं दीर्घवर्णकृत्वाक्येन व्याचष्टे ।

उपहत इति । लुप्तविसर्गता धीषवति लीप एव बोध्या खरे परे तु विसन्धि-

विसन्धिः सन्धेर्वैरूप्यं, विश्वे षोऽश्लोत्व' कष्टत्वञ्च । आद्यं

यथा

राजन् ! विभान्ति भवतुश्चरितानि तानि

इन्दोर्युतिं दधति यानि रमातलेऽन्तः ॥

धोदीर्बले अतितते उचितानुवृत्ती

आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः ॥

यथा वा,

तत उदित उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदग्राचलादिवेन्दुः ।

निजवंश उदात्तकान्तं कान्तिर्वेत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्षः ॥

मध्यप्रवेशी वत्येत उपहृतिर्लोपावपि क्रमाद्दृशः पाततात्वं दीर्घा बीर्घ्या वन्ध
शैथिल्यकारित्वस्य दीपतावीजस्य तदैव सत्वात् तादृशमेव इयोरैकमुदाहरणमई-
दयेनाह ।

धोर इति । यस्य राज्ञी भृत्या वनीन्मिक्तत्वादिविशिष्टा अत्र लोके स एव नृपो
धीरत्वादिविशिष्ट इत्यर्थः । बुद्धिप्रभाविताः बुद्धिप्रभायवन्तः अन्त्यर्थे इत्यच् । अत्र
पूर्वाद्धे उपहृतिः परार्द्धे विसर्गलोपः ।

विसन्धिदीपमाह । विशर्द्धाश्च वैरूप्यार्थकः वैरूप्यार्थकः वैरूप्यञ्च विधा
भवतीत्याह विशेषे इत्यादि विशेषः सान्धेर्वाहिल्यम् । विश्रंषमाह ।

राजन्निति । हे राजन् ! भवतस्तानि चरितानि विभान्ति यानि अन्तः रसा
तले भूतलमध्ये वेश्यादिन्दोर्युतिं दधति तथा भवती धोदीर्बले विजयसम्पदमेत्य
भातः । कीदृशे उचितानुवृत्तौ आतन्वती उचितं व्यवसाययं विचारयती काचित्
एषु भात इति पाठस्तदा च विजयसम्पदमातन्वती इत्यन्वयः । उचितानुवृत्तौ इति
तु धोदीर्बलविशेषणं बहुव्रीहिवशाद्गार्हापतपुंस्कत्वम् । तानि इन्दोरित्यत्र स्वरं ऐच्छिक-
सन्धिवशाद्दिशेषः परार्द्धे तु मिक्ततद्विवचनस्य प्रकृतिवद्भाववशादिशेषः ।

तत उदित इति । ततः शोकान्तर्गीतगुणार्थाप अयमुदितो । राजन् मुक्ता-
रूपमणिवच्चकास्ति उच्चैरुदग्राचलादादित इन्दुमिव तस्य इन्दोश्च श्लिष्टं विशेषण-
माह उदाररिति । उदारहारवदुदारहारि च हारिणी व्युत्पत्तय निजवंश निजकुल
निजोत्पादकवर्षौ च उदात्ता उद्गता कान्ता कमनत्या च कान्ति र्यस्य वंशौ मुक्ती-

संहितां न करोमीति स्नेच्छया सक्तदपि दोषः, प्रगृह्या-
दिहेतुकत्वे त्वसक्तत् ।

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।

अयमुत्तपते पत्नी ततोऽत्रैव रुचिङ्गुम् ॥

अत्र सन्धावश्लीलता ।

उर्वसावत्र तर्वाली भवन्ते चार्ववस्थितिः ।

नात्रर्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥ [स०शु०क०]

हतं लक्षणानुसरणेऽप्यश्वयम् अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसा-
ननुगुणश्च वृत्तं यत्र, तत् हतवृत्तं, क्रमेणोदाहरणम्,

त्पादात् अनर्थोऽतिपूर्वोऽसूक्ष्मश्च सूक्ष्मं पूजाविधावर्घं इति कोषः । ततः स्वार्थिकं
तद्धितं नञ् बहुव्रीहिः । अत्र विसर्मलोपे सन्धिनिषेधाद्दिङ्शेषः विश्लेषे च बन्ध-
नैथिस्थकारित्वं दोषतावीजं तत्रैव दर्शितोदाहरणानुसारिणं विशेषमाह ।

संहितामिति । संहिता सन्धिः नचैवं च्युतसंस्कृतित्वमिति वाच्यम् । स्वर-
सन्धेरिच्छाविकल्पस्य व्याकरणानुशिष्टत्वात् एवञ्च पूर्वार्द्धे सकृत्त्वेऽपि दोषः प्रगृह्यं
प्रकृतिवद्भावः आदिपादात् विसर्गलोपसन्धिनिषेधः । अश्लीलसन्धावुदाहर्तव्यं
जुगुप्साव्रीडाश्लीलसन्धौ एकत्रैवोदाहरति ।

वेगादिति । अयं पत्नी वेगादुड्डीय गगने चलन् उत्तपते उत्तापं गृह्णाति ङामर-
मुद्गतं चेष्टितं यस्य तादृशः ततस्तस्मादत्रैव रुचिं दिदृक्षां कुर्वित्यर्थः । अत्रापभ्रंश-
विषया दीर्घाकारपूरीषबोधकस्य च लण्डामरैत्यत्र लण्डाशब्दस्य रुचिङ्गुर्वित्यत्र च
श्रीमन्तर्वर्षवयवविशेषबोधकस्य चिङ्गुशब्दस्य सन्धावुत्पत्त्याऽश्लीलसन्धिता । एव-
ममङ्गलाश्लीलसन्धितापि भक्तोऽसौ धृतमित्यादावूष्णं कष्टसन्धिमाह ।

उर्वसाविति । असावुर्वो मरुती तर्वाली तन्मध्ये षी चार्ववस्थितिः शोभनावस्थाना
अत्र मरुभूमिरन्ते तिष्ठत्यतीऽत्र ष्टञ्च अनसभारं यथा स्यात्तथा गन्तुं न युज्यते
तत्तस्मात् साम्प्रतं शिरो मनागल्पं नमय । अत्र सन्धौ श्रुतिकटुवर्णोत्पादः ।
हतवृत्तमुदाहर्तुं हतपदार्थं विविधं भवन् हतपदार्थं समर्थयति ।

हतमिति । अप्राप्तगुरुभावोऽन्तलघु र्थेति विग्रहः हतं हन्दः अन्तलघोर्गुह-
भावांप्राप्तियश्च बन्धगादीकरणरूपगुरुकार्यान्मत्वं बोध्यम् ।

अमृतममृतं कः सन्देहो मधुन्यपि नान्यथा,
 मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।
 सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनी
 वदतु, यदिहान्बत् स्वादु स्यात्प्रियारदनच्छदात् ॥
 अत्र यदिहान्यत् स्वादु स्यात् इत्यश्वयम् । यथा वा,
 जो परिहरिउ' तौरइ मणमि ण सुन्दरत्तणगुणेण ।
 अह णवर जस्स दोसो पडिबक्कुंङ्गिमि पडिबणो ॥
 अत्र द्वितीयतृतीयगणौ मकारभकारौ ।

विक्रसितसहकारभारहारि-परिमलपुञ्जितगुञ्जितद्विरफः ।

अमृतममृतमिति । द्वितीयामृतपदमत्र मधुरार्थकं नान्यथेत्यपि तु तथैव प्रसन्न-
 रसं विमलद्रव' रसान्तरवित् रसितरभेदविज्जनी मध्यस्थः सन् सकृदपि वदत्वित्यश्वयः ।
 प्रियाया वदनच्छदादीनादन्यद्वस्तु यदि स्वादु स्यात्तद्वदत्वित्यर्थः । अमृतादेर्भ्रुरत्वे-
 ऽपि तत्तुल्यस्वादुत्वं नास्तीति भावः ।

अत्रेति । हा शब्दे पदमध्ये यतिरश्वया पदान्ते सा शीमां व्रजति पदमध्ये
 त्यजति चेति कृन्दसि यतिनियमात् । नचैवं लक्षणानुसरणमेव नास्तीति
 वाच्यम् । पुनस्तत्रैवासी स्वरविहितसन्धिः अयति तामिति तल्लक्षणस्यादान्य-
 शब्दकारसन्धौ सत्त्वात् अश्वयता त्वनुभवगम्या दुस्यजैवेतिभावात् । लक्षणानुसरणे-
 ऽपीत्यपिकाराच्छन्दीलक्षणभङ्गे तु सुतरामेव दोषो बोध्यः । आर्यायां गणविशेष-
 इयसान्निध्यकृतमश्वयत्वमाह । जी परिहरिउमिति ।

यः परिहर्तुं तीर्थते मनागपि न सुन्दरत्वगुणेन ।

अथ केवलं यस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः ॥ इति संस्कृतम् ।

तीर्थते पार्थ्यते सुन्दरत्वगुणेन हेतुना मनागल्पमपि यः परिहर्तुं न पार्थ्यते
 इत्यश्वयः । अथ समुच्चये यस्य दोषोऽपि केवलं प्रतिपक्षैरेव प्रतिपन्नी नास्माभिः ।
 प्राकृते अवरणवरी केवले । अत्रेति हरिउमिति द्वितीयगणोऽन्तगुरुः सकार-
 परिभाषितः । तौरइ इति तृतीयगणो भकारपरिभाषित आदिगुरुः अन्वयोः
 सान्निध्येऽश्वयम् । अप्रातगुरुभावात्तल्लक्षणमुदाहरति ।

नवकिसलयचारुचामरञ्ची ह्ररति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥

अत्र हारिशब्दः, हारिप्रमुदितसौरभेति पाठो युक्तः ।
यथा वा,

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्त्यैव सा,
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव, विधिना यैरेषं सृष्टो युवा ।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्, स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥
अत्र वस्त्राण्यपीति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते । [२]

विकसितेति । वसन्तो मुनेरपि मानसं हरति यती विकसितस्य सहकार-
पुष्पभारस्य हारिणा मनीहरेण परिमलिन विमर्द्दीत्यगन्धेन पुञ्जितगुञ्जिताः पुष्टशब्दा-
द्विरेफा यत्र तादृशः नवकिसलयरूपस्य चारुचामरस्य श्रीर्यत्र तादृशः । पाठ-
परिष्कारेण दीर्घं प्रकाशयति अचेति । अत्र पुष्पितायाः ऋन्दसि प्रथमपादान्तलघो-
र्गुरुत्वेऽपि संयुक्तवर्णपूर्वत्वाभावे बन्धगाढत्वरूपगुरुकार्यकारित्वं नास्ति ।

अत्र परिष्कृतपाठे हारिप्रमुदितसौरभगुञ्जितद्विरेफ इति श्लोकपादसत्र च
सहकारभारे हारिणी मनीहराः प्रमुदिताः सौरभे गुञ्जिताश्च द्विरेफा यत्रेति
बहुव्रीहिः । शार्दूलविक्रीडितऋन्दस्यप्याह ।

अन्यास्ता इति । रत्नरोहणभूः पर्वतविशेषः प्रसिद्ध एव गुणरत्नरोहणभुवस्तु ता
अन्या एव सा मृदप्यन्त्यैव धन्या एवं ते खलु सम्भारा अन्य एव यैः सम्भारेरेष युवा
विधिना सृष्टः । अत्र च यदीयगुणरत्नयन्मुत्सहितैरिति पूरयित्वा व्याख्येयमन्यथा ता
इत्यत्र सा इत्यत्र च घण्टायांकाङ्क्षाऽनिवृत्तिप्रसङ्गात् यैरित्यनेनैव सकलतत्परामर्शे
तु रोहणभुवा तस्य सृष्टत्वबाधादनन्यथापत्तेः । यस्मिन् दृष्टे द्विषां करतलादस्त्राणि
स्त्रीणां नितम्बस्थलादस्त्राणि च पतन्ति । कौटुशां मूढमनसां मनसि भयेन द्विषां
कामो न च स्त्रीणां मोहः तथा श्रीमतां कान्तिजुषाश्च द्विषां श्रीरैश्वर्यं स्त्रीणाश्च
श्रीम्बन्धं द्विषां कान्तिः श्रीमत्ताधीना स्त्रीणाम् सौक्यमेव न तु द्विषां
श्रीमत्तैव स्त्रीणां कान्तिमत्तैवेति विभागः समासनिबद्धयोर्विभज्यान्वयस्या-
भ्युत्पन्नत्वात् ।

अत्रेति । शार्दूलविक्रीडितऋन्दसि पादान्तलघोर्गुरुत्वेऽपि संयोगात्परत्वे

हा नृप ! हा बुध ! हा कविबन्धो ! विप्रसहस्रसमाश्रय ! देव ! ।
मुग्धविदग्धसभान्तररत्न ! कासि गतः क्व वयञ्च तवैते [३]

हास्यरसव्यञ्जकमेतद्वृत्तम् । न्यूनपदं यथा,
तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां,
वने व्याधैः साङ्गं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतम्,
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

अत्रास्माभिरिति, 'खिन्ने' इत्यस्मात् पूर्वमित्यामिति च ।

अधिकं यथा,

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसंक्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः ।

सत्येव बन्धगाढतारुपगुरुकार्यकारित्वसतस्तथैव पाठं तथात्वं दर्शयति वस्त्राण्य-
पीति । रसाननुगुणवृत्तसुदाहरति ।

हा नृपेति । अत्र सर्वत्र हाशब्दः खेदे । मुग्धाया विदग्धसभाया अन्तरे मध्ये
हे रत्नभूत ! त्वं क्व गतोऽसि तवैते वयं क्वेत्यर्थः, दीधकमिदं कन्दः कुरुषुविरौषि-
हास्यरसव्यञ्जकमित्याहारेति । न्यूनपदत्वदीषमाह ।

न्यूनैति । न्यूनस्य पदस्यार्थेन सहान्वये तात्पर्ये सति तदुपादानेन तदन्वय-
निर्वाहं च सत्यनुपपत्त्युपादकावाक्यत्वं तत्त्वं वक्ष्यमाणसाकाङ्क्षदीर्घेऽन्यान्ययित्वभमा-
देव प्रयुक्तत्वेन न्यूनपदार्थान्वये तात्पर्यविरहः वक्ष्यमाणेऽनभिमतवाच्ये न्यूनस्य
पदस्योपादानेऽपि न तदन्वयनिर्वाहोऽतद्व्यादास्य पृथक्त्वम् ।

तथाभूतामिति । व्याख्यातपूर्वमिदम् ।

अत्रेति । वल्कलधरान्तराणां वनवासदर्शनस्य खेदानौचित्येऽनुपयोगित्वे-
नास्माभिरित्यवैव सात्पर्यं न्यूनस्यास्माभिरित्यस्योपादाने च तत्र तदर्थान्वयनिर्वाहः
खिन्नः इतीतिदर्शितदुःखहेतूनां गुरुप्रयोज्यतया इत्यमित्यनेनाप्रदर्शने तद्दर्शनात्
खेदानौचित्यबोधनानुपपत्तः तत्रापि वक्तुं सात्पर्यात्तदध्याहारादेव तदन्वयनिर्वा-
हाच्च । अधिकपदत्वदीषमाह ।^१

अधिकेति । पीनरुत्थभावेऽप्युक्तपदार्थानतिरिक्तार्थपर्यवसायकपदवहाक्यत्वं

अविरुद्धसमर्थितोक्तियुक्तः प्रतिमङ्गास्तमयोदयः स कोऽपि ॥

अत्राकृतिशब्दः । यथा वा,

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां, यदिहं जरास्वपि मान्मथा विकाराः ।

यदपि च न कृतं नितम्बिनौनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥

अत्र कृतमिति कृतं प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति । तथाच, यदपि च न कुरङ्गलोचनानानामितिपाठे निराकाङ्क्षैव प्रतीतिः ।

तत्त्वं वक्ष्यमाणपुनरुक्तत्वदीषे तु कथितार्थस्य पुनःकथनं न तु कथितार्थस्यैव भङ्गाप्यर्थवसायकत्वं वक्ष्यमाणापुष्टार्थत्वदीषे तु विशेषणस्य प्रकृतार्थप्रकर्षकारित्वाभावमात्रं न तु कृतपदार्थस्यैव पर्यवसानम् । स्फटिकेति । स कोऽप्यनिर्वचनीयः प्रकामं यद्येष्टं प्रतिसंक्रान्तं प्रविष्टं निशातस्य निमलस्य शास्त्रस्य तत्त्वं यत्र तादृशः प्रति-संक्रमे हतुगर्भे विशेषणमाह । स्फटिकस्य आकृतिः शरीरं यतस्तद्विनिर्मल इत्यर्थः । अविरुद्धं यथा स्यात्तथा समर्थिता चक्रेः युक्तिः येन तादृशः तथा प्रतिमङ्गानां स्वप्रतिकूलश्रीराणामस्तमयो मरणं यस्मात्तादृशः तथा अदयः रिपी निर्दयः न त्वस्तमयस्योदयो यत्रैवैकमेव पदं तदा उदयपदस्याधिक्यापत्तेः । अत्राकृतिपदेनापि स्फटिकस्यैव पर्यवसानं नाधिक्यार्थस्यार्थः ।

चक्रवर्त्ती तु आकृतिरवयवसंयोगरूपसंस्थानविशेषस्तत्र मलासत्त्वात् नैर्मल्यस्याभावात्तत्पदाधिक्यमित्याह तत्र । तदाऽन्वयासम्भवरूपस्य भवन्मतयोगदीषस्यैवापत्तेः । प्रभातवाताहृतिकम्पिताकृतिरित्यादावाकृतिशब्दस्य शरीरबोधकत्वाच्च संस्थाने कम्पबाधात् । इदमनुचितमिति मान्मथविकारस्थानीचित्येऽपि स यदि धर्मा-विरीधी स्यात्तदा यौवन इव जरास्वप्यचित इत्यत आह ।

अक्रमश्चेति । शैशवे विद्या यौवने विषयासङ्गः वार्द्धके धर्मचर्या इति यः क्रमस्तद्विरुद्ध इत्यर्थः । इत्थं पुरुषधर्मं निन्दित्वा स्त्रीधर्मं निन्दति यदपि श्रुतिः । नितम्बिनौनां स्तनपतनीतराधिकं यज्जीवितं रतं वा न कृतमर्याद्विधावा तदप्यनुचितमित्यर्थः कृतं व्यर्थमधिकमिति यावत् । मान्मथी विकार इत्यन्तेन पुरुषधर्म-निन्दानन्तरं स्त्रीधर्मनिन्दैवाकाङ्क्षिता न तु स्त्रीधर्मस्य विधिज्ञतत्त्वनिन्देत्यतः

कथितपदं यथा,

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली ।

सुतनु ! कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम् ॥

अत्र लीलेति । पतत्रकर्म यथा,

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरी घोरो घुरेच्छूकरः

कः कः कं कमलांकरं विकमलं कर्त्तुं करी नोद्यतः ।

स्त्रीधर्मस्य विधिकृतत्वनिन्दयापि भङ्गा स्त्रीधर्मनिन्दापर्यवसानादाधिक्यम् । प्रत्य-
न्तति पुरुषधर्मनिन्दोपक्रमे यदपि चेत्यनेन स्त्रीधर्मनिन्दासमुच्चयस्यैवाकाङ्क्षितत्वात् न तु तस्य
विधिकृतत्वनिन्दासमुच्चयस्यैवाकाङ्क्षितक्रमभङ्गः निराकाङ्क्षा निरुद्देशः । कथित-
पददोषमाह ।

कथितपदमिति । कथितपदेनैव वक्तुः तात्पर्यं याहकाभावे सतीति बोध्यम् ।
तेन विहितानुवादलाटानुप्रासादे व्यभिक्तिः ।

अधिकरतलेति । करतले गण्डं कृत्वा चिन्तयन्तीं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् ।
हे सुतनु ! तव गण्डपाली गण्डदेशः कस्य जनस्य स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभि-
षेकं व्यञ्जयति अञ्जसा तत्त्वेनैव तत्कथय । आदेशवर्धिसर्वलीकत्वात् स्मरौ नरपति-
स्तस्य काभिन्युद्देशजननं लीलाकौतुकक्रिया तां योऽन्यः करोति स तत्रतिनिधीभूत-
स्तदीये यौवराज्येऽभिषिक्तः कस्य तादृशाभिषेकं व्यञ्जयति केन त्वमाकृत्यर्थः ।
गण्डपाली कीदृशी अधिकरतलतल्पं करतलरूपे तल्पं कल्पिता स्वापरूपा लीला
यथा तादृशी तथा परिमिलनं करतलस्यैव घर्षणं तेन निमीलन् पाण्डिमा पाण्डित्यं
यस्याः तादृशी विरहपाण्डि गण्डे करतलघर्षणात् रक्तिमोदयेन पाण्डिमनिमील-
नात् । अचेति उभयत्र विलासरूपाथस्यै कलीलापदेनैकीकृतौ तात्पर्यं याहकाभावात्
सान्निध्याभावादनुप्रासस्याप्यभावात् । पतत्रकर्ममिति बहुश आकृतस्य प्रकर्षस्य
अथाह वधायादिव पतनं तत्त्वम् अल्पारोहणे तु हस्तमूलादिव पतनं न दोषः ।

कः क इति । यतः सिद्धां खेहेन यो विलीसः क्रीडा तेन बहवसतिः पर्यटन-

के के कानि वनान्यरख्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
 सिंहीन्ने हविलासवधवसतिः पञ्चाननो वर्त्तते ॥
 समाप्तपुनरात्तं यथा,
 क्रोडारः स्मरकार्मुकस्य, सुरतक्रीडापिकीनां रवः,
 भङ्गारो रतिमञ्जरौमधुलिङ्गां, लौलाचकोरीध्वनिः ।
 तन्व्याः कञ्चुलिकापसारणभुजक्षेपखलत्कङ्कण-
 क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुखनः ॥

रहितः पञ्चाननः सिंही वर्त्तते अतस्तद्व्याः पञ्चमी भयाभावेन कं कं खलव्यापारं
 न कुर्वते इति पादत्रयार्थः । घुर्घुरायिता घुर्घुरशब्दकारिणी घुरी नासिका तथा
 घोरी घुरेत् पर्यटते । अत्रानुप्रासप्रकर्षपादत्रयरूढस्य चतुर्थपादे पातः । अत्र च
 शृङ्गारादीनां अपलतारूपव्यभिचारिभावप्रकर्षस्य विघातीऽनुप्रासप्रकर्षपातादती
 सुख्यार्थ इति ।

समाप्तिः । क्रियाकर्मभावेन समाप्तेऽपि वाक्ये कस्यापि विशेषस्थानाधायक-
 विशेषणान्वयार्थं विशेष्यावृत्तिसत्त्वम् ।

क्रोडार इति । मानिनीसम्भोगार्थं कस्यचित् कञ्चित् प्रत्याश्रीरक्तिरियम् ।
 तन्व्याः कञ्चुलिकायाः स्नानपिधानपुटकस्यापसारणे यस्तस्या निषेधार्थं भुजक्षेपखल
 खलतां कङ्कणानां क्वाणः शब्दो वो युष्माकं प्रेम तनोतु युष्माभिः कञ्चुलिकाप-
 सारिण तन्व्या भुजक्षेपः क्रियतामित्यर्थः । क्वाणे रूपकाख्याङ् क्रोडार इति । कार्मुकाः
 स्फालनेऽव्यक्तशब्दस्यानुकरणं क्रोडार इति सम्भावितोऽयमुद्दीपकः शब्दः सुरती-
 ङ्दीपनार्थं पीषितानां पिकीनां रवः उत्तरीत्तरं प्रकाशमानत्वाद्गतिरेव मञ्जरी तत्प्र-
 काशकानां मधुलिङ्गां भङ्गारः । उद्दीपकत्वेन तत्प्रकाशकता लीलार्थपीषितानां
 चकोरीणां ध्वनिः तथा नववयसो लास्याय वंशीखनः इत्यत्र तनोतु व इत्यन्ते
 वाक्यसमाप्तिः । रूपमापतया विशेषणस्य वेणुखनस्यान्वयार्थं तद्गतस्य क्वाणस्य विशे-
 षस्यावृत्तिः न च तद्ग्रन्थे कस्यापि विशेषस्थाधानम् उद्दीपकानां बहुनामिव रूपेषुः
 पिटपेषणस्यादाहूपककृतविशेषे आकाङ्क्षाभावात् । एवञ्चोपमाकृतविशेषस्था-
 धानार्थम् अथ विशिष्य विशिष्येत्यादौ नलाकाया काहती न दीषः । तथा अद्यापि
 स्नानविषयं अत्यति श्लाघः प्रमाणाधिक इत्यत्र त्रैपुञ्जननस्नानार्थलाभाय प्रमाणा-

द्वितीयाईगतकवाचकशेषप्रथमाद् यथा ।

मसृणचरणवातं गम्यतां, भूः सदर्भा,

विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि, धर्मः कठोरः ।

तदिति जनकपुत्रो लोचनैरशुपूर्णैः

पथि पथिकबध्भिः शिक्षिता वोक्षिता च ॥

धिकत्वविशेषणे हैमपङ्कवविभङ्गसंस्तरान् संऽन्वभूत् सरतमर्दनचमामित्यत्र सरत-
मर्दनचमत्वलाभाय तद्विशेषणदाने तत्र विशिष्यावृत्तौ न दोषः । अर्द्धान्तरे कवाचक-
पदार्थं विवृत्या न तद्दोषमाह ।

द्वितीयेति । प्रथमार्द्धान्तरं द्वितीयाईं तद्गतमेकं वाचकमेकं पदं शेषं समा-
पकं यस्य प्रथमार्द्धवाक्यस्येत्यर्थः । एकपदात् पदद्वयस्य द्वितीयाईगतत्वे दोषो नास्ती-
त्यक्तं कविसम्प्रदायानादृतत्वज्ञानादत्र रसापकर्षो हि दीषतावीजं तच्च तथात्वं
नास्तीति भावः ।

मसृण्येति । जनकपुत्री पथिकबध्भिरशुपूर्णैर्लोचनैर्वोक्षिता इति शिक्षिता
च शिक्षणीयान्याह मसृण्येति । यती भूः सदर्भा तत्तस्मादल्पचरणपातं यथा व्याप्तथा
गम्यतां तथा यती धर्मं आतपः कठोरस्तस्यैवात् सिचयस्य वस्त्रस्थान्तं मूर्ध्नि विर-
चयेति शिक्षितेत्यर्थः । अत्र तत्पदं प्रथमार्द्धवाक्ययोः यत्तद्वटितयोः समापकम् ।
अत्र द्वितीयाईगतस्य तत्पदस्य यत्पदाक्षेपेणान्वयाभिप्रायेणेदमुदाहरणं दत्तं यदि तु
तदिति । तदेतच्छिक्षितेत्यन्वयः तदात्र नायं दोषः । तदा च उदाहरणान्तर-
मन्वेष्टव्यं यथा । तस्याः कुक्षी मदनभूपनिधानकुक्षौ तद्रक्षणाय तनुलीमखता
भुजङ्गी । जागर्ति तां नखमशीभिरवीर्ययित्वा केनापि तौ परमभाग्यवताद्य-
खम्बाविति ॥ अत्र हि जागर्तीति द्वितीयाईगतम् एतां भ्रुवं नखमशीभिरिति
पठनीयम् । अत्र अक्षवर्ती अर्द्धपदं विच्छेदपरं तेन जगाम सुन्दरी नारी कुञ्जं
यस्या दिवं निश्रेयसं कुञ्जमित्यस्य द्वितीयविच्छेदगतत्वेऽपि दोष इति तत्र कविसम्प्र-
दायविरोधस्य तत्र सत्त्वे प्रमाणाभावात् तथात्वेऽपि तद्विरोधसत्त्वे त्वं सुग्धाक्षि !
विनैव कञ्चुलिकथा धत्से मनीहारिणां लक्ष्मीमित्यभिधायिनीत्वदापि यन्यकता दोषः
प्रदुर्ज्ञेयं त लक्ष्मीमित्यस्य द्वितीयविच्छेदगतत्वात् ।

अभवन् मतः इष्टः योगः सम्बन्धः यत्र, तत् यथा,
 येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः, पौतुः प्रतापोऽभि-
 लीलापानभुवश्च नन्दनंतरुच्छायासु येः कल्पिताः ।
 येषां हुङ्कृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणाम्,
 किन्तैस्तत्परितोषकारि विहितं किञ्चित् प्रवादोचितम् ॥

अत्र “गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्” इत्य-
 क्तनयेन यच्छब्दनिर्देश्यानामर्थानां परस्परसमन्वयेन यैरि-

अभवन्मतयोगदीर्घं तत्संज्ञाव्युत्पत्तिदर्शनेनाह अभवन्निति । असम्भवन् इष्ट-
 योगश्च वाच्यपदार्थयोः वाच्यव्यङ्ग्ययोश्च बोध्यः । असम्भवश्च उपात्तपदस्य विभक्ति-
 व्यत्ययं विनाऽन्वये निराकाङ्क्षत्वे समासासमासयोरन्वये निराकाङ्क्षत्वे वाच्यव्यङ्ग्ययो-
 र्विवाचितान्वयस्याप्रतीयमानत्वे च बोध्यः । अत्र विभक्तिव्यत्ययं विना उपात्तपदस्य
 निराकाङ्क्षत्वे उदाहरति येषामिति लङ्गादाहङ्ङेऽकृतर्पासुपराक्षसनिन्दोक्तिरियम् ।

येषां क्षपाचारिणां प्रतापीऽभिरित्यन्वयः । तैः क्षपाचारिभिः प्रवादोचितं
 स्वस्वख्यात्युचितं किं तस्य रावणस्य परितीषकारि कर्म विहितमित्यन्वयः ।

अत्र येषां हुङ्कृतय इत्यत्रैव क्षपाचारिणामित्यस्यान्वयी न तु तत्पूर्वपठिते यै रित्यत्र
 भिन्नविभक्तिकयोरभेदान्वये निराकाङ्क्षत्वादित्यन्वयोऽभवन्मतयोगं परीक्ष-
 संवादेन दर्शयितुं परीक्षवाक्यमाह ।

गुणानामिति । गुणानां विशेषणानां परार्थत्वादिशेष्यतो भिन्नविभक्तिकत्वेन
 परार्थत्वादर्थभेदादसम्बन्धीऽभेदान्वयाभावः समत्वात् समविभक्तिकत्वात्तु सम्बन्धः
 स्यादिति यदुक्तं मतं तन्नयेन तन्मतानुसारिणेत्यर्थः । विशेष्याप्रतीतिरिति । विशेष्य-
 पदत्वेनाभिमतस्य क्षपाचारिणामित्यस्य षष्ठ्यन्तत्वादित्यर्थः । ननु विशेष्यविशेषणयो-
 रेवाभेदान्वये समानविभक्तिकतानियमी न तु विशेषणानां परम्परान्वये तथाच
 यच्छब्दनिर्देश्यानामर्थानामेव परस्परं समन्वयोऽस्तु न तु क्षपाचारिणामित्यन्व-
 यत आह ।

यच्छब्देति । विशेषणानां विशेष्यद्वारेण परस्परसमन्वयो न तु साक्षादिति । तेषां
 परस्परसमन्वये च सतीत्यर्थः । न च विभक्तिव्यत्यासादन्वयोऽस्त्विति वाच्यम् । चैव-

त्यत्र विशेषस्याप्रतीतिरिति । क्षपाचारिभिरिति पाठे युज्यते
समन्वयः । यथा वा,

त्वमेवंसौन्दर्या, सच रुचिरतायां परिचितः,

कलानां सीमानं परमिह युवामिव भजथः ।

अपि इन्द्रं दिष्ट्या तदिति सुभगी ! संवदति वाम्,

अतः श्रेष्ठं यत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥

मैत्री गतौ देवदत्तश्चेत्यत्रैव प्रथममन्वितश्चैव पश्चादन्वयार्थं व्यत्ययदर्शनात् न तु
पश्चादन्वितस्य प्रथममन्वयार्थं न हि देवदत्तश्चैवमैत्री च गताविति भवति । क्षपा-
चारिभिरिति पाठो इति न च तथापि क्षपामित्यत्र विशेष्याप्रतीतितादवस्थानिति
वाच्यम् । तैरित्यत्र देवदत्ते विभक्तिव्यत्ययेनान्वय इवात्रापि विभक्तिव्यत्ययेनान्वयः
स्यादिति वाच्यम् । प्रथमवाक्यस्थपदार्थं प्रथममन्वयबोधे सति पश्चादुक्तपदार्थं
व्युत्पन्नान्वयः सम्भवत्येव । यथा दांशतस्थले जनितान्वयबोधचरमवाक्यस्थपदस्य तु
प्रथमोक्तपदाथान्वयार्थं व्यत्ययासम्भवात् । न हि चैवमैत्री गतौ देवदत्त
इत्युक्ते गत इत्यस्य व्यत्ययेन चेतमैतथीरन्वयः सम्भवति । अतोऽत्र यैरित्युक्ता येषां
हृद्गतय इति पश्चादुक्तजनितान्वयबोधवाक्यस्थस्य क्षपाचारिणाभिव्यक्तस्य व्यत्ययासम्भवं
एव । योग्यताविरहादभवन्मतधीगमाह ।

यथा वा त्वमेवमिति । योग्यवरेण परिशीतां सन्दरीं प्रातः तदुभयप्रशंसा-
वाक्यमिदम् । एवं सौन्दर्यं यस्यां त्वं ताडुशी स तव पतिश्च रुचिरतायाः सौन्दर्यस्य
परिचितः सम्बन्धी कलानां विदग्धचातुरीणां सीमानं पर्यन्तं पराकाष्ठां परं केव-
लम् इह जगति युवामिव भजथी नान्यः । परंशब्दैवकारयोः सम्भेदेनान्यतरवैयर्थ्य-
मिति न्यायादवैयर्थ्यं स्थण्डिल एव केवल इतिवत् । अपि सम्भावनायां तस्माद् युवथी-
इन्द्रं दिष्ट्या भाग्यं न संवदति संवादं गच्छति मिथो योग्यतां लभत इति यावत् ।
अतः परस्परयोग्यप्राप्तेः श्रेष्ठः पश्चात् यत् स्थात् अर्थात् प्रेमानुबन्धरूपं यत् स्यात्
तदानीं गुणितया जितं गुणितया एव तत्र जय उत्कर्ष इत्यर्थः ।

अत्र यत् स्यादित्यत्र यच्छब्दार्थः प्रेमानुबन्धः पर्यवसितः तदानींशब्दाद्यंस्तु
कथं, यत्तदर्थयोग्यैरिक्तधर्मिबोधकतानियमात् तथीरभेदान्वयी मतधीगः स इति

अत्र यदित्यत्र तदिति, तदानीमित्यत्र यदेति वचनं
 नास्ति । चेत् स्यादिति युक्तः पाठः । यथा वा,
 सङ्गामाङ्गणमागतेन भवता चापि समारोपिते
 देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।
 कोदण्डेन शराः, शरैररिश्चिरस्तेनापि भूमण्डलम्,
 तेन त्वं, भवता च कीर्त्तिरतुला कौर्त्या च लोकत्रयम् ॥
 अत्र आकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादि—

योग्यताविरहादभवन्निति दोषः स्फुट एव तत्र चीकृत्यत्तदानींशब्दार्थयोरेव्यं
 विना स्वस्वान्वययोग्यपदार्थान्वये सत्यं दोषो न स्यात् तदेव तु पदं नोक्तमित्याह ।

अचेति । नास्तीति तत्सत्त्वे तु यद्यदा स्यात् तदानीं तत्र गणितया जित-
 मिति । स्वस्वान्वययोग्यपदार्थे तयोरेवयान्नायं दोषः स्यादिति भावः । न चेवं
 न्यूनपक्षत्वमेवेति वाच्यम् । यत् स्यादित्युक्त्यनन्तरं तदानीमिति समभिव्याहारात्
 तत्रैव तद्योगस्य मतत्वावधारणात् तदूर्ध्वरूपितया प्राप्तत्वेन समस्तभूमण्डलस्य त्वया
 प्राप्तत्वात् कीर्त्तिरत्र भूमण्डलप्राप्तिलम्बधनवितरणात् न तु भूमण्डलप्राप्तिक्रियातिरेव
 कीर्त्तिः शौर्याधीनकर्मणा ख्यातः प्रतापरूपत्वादेव । अत्र येन येन यदयत् समासादितं
 तत् तदाकर्णयत्युक्ते किं किमाकर्णयामीति वा केन केन किं किमासादितमिति वा
 आकाङ्क्षायां परार्द्धीत्यानं वाच्यम् । द्वितीयाकाङ्क्षायां परार्द्धीत्याने प्रकृतं दोषं
 दास्यन् प्रथमाकाङ्क्षायां तदुत्थानं व्यावर्त्तयति अत्राकर्णनेति । किं किमाकर्णया-
 मीत्याकाङ्क्षायां कोदण्डादीनाम् आकर्णनकर्मणा द्वितीयान्तपदनिर्देश्यतापत्ते-
 रित्यर्थः । इत्यादीति प्राप्तमित्यग्रेऽन्वयः अथ येन येन यद्यत्समासादितमिति ।

वाक्यार्थ एवाकर्णयत्यस्य कर्म वाच्यं तद्वाक्यार्थप्रविष्टपदार्थकथनमावन्तु कोदण्डे-
 नेत्यादिकमित्युच्यते तदाह वाक्यार्थस्येति यदुक्तवाक्यार्थः कर्म तदा तत्रप्रविष्टपदार्थानां
 प्रथमान्तपदेनैव कथनीचित्यमित्यर्थः । यथा,

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।

महान्नि पातकान्याहुः संसर्गेषापि तैः सह ॥ इत्यत्र आहुः ।

इत्यस्य कर्मणि महान्नि पातकानीति । वाक्यार्थे प्रविष्टानां पातकानां ब्रह्म-
 हत्येत्यादिप्रथमान्तपदेन कथनम् । अथ येन येन यदयदिति तृतीयान्तप्रथमान्त-

वाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम् । न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि । न च केन केनेत्यादिप्रश्नः ।

यथा वा, “चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी” इत्यादौ भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यं, कृतवतेति परशौ सा प्रतीयते । कृतवत इति तु पाठे मतयोगो भवति । यथा वा,

चत्वारो वयसृत्वजः, स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः,
सङ्ग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः, पत्नी गृहीतव्रता ।

यत्पदानामर्था एव कोदण्डनेत्यादितृतीयान्तप्रथमान्तपदार्था इत्युच्यते तत्राह न च यच्छब्दार्थ इति कोदण्डादीत्यर्थेऽन्वयः कोदण्डत्वादिरूपेण यच्छब्दादप्रतीतस्तेषां तदर्थत्वाभावादित्यर्थः । अथ यच्छब्दार्था विशेषणानि कोदण्डादयस्तु तेषां विशेष्या इत्युच्यते तत्राह तद्विशेषणं वेति यत्पदार्थविशेषणकं वेत्यर्थः ।

बहुव्रीहिणा कोदण्डाद्विशेष्यता बोध्या तदा च बहुवचनान्तशरपदार्थस्य यद्यदित्ये कवचनान्तपदार्थस्य च विशेष्यविशेषणभावानुपपत्तिरिति भावः । एवञ्च केन केन किं किमासादितमिति प्रश्न एव राज्ञ उल्यानं वाच्यं तत्राह न च केनेत्यादीति । आदिना किं किमासादितमित्येतत्पर्यन्तं प्रश्नशरीरं बोध्यम् । तथाचैवं सक्रियप्रश्ने कोदण्डनेत्याद्युत्तरेऽपि आसादितमिति क्रियाया अनुषङ्गेशान्वयी वाच्यः स च न सम्भवति शरा इति बहुवचनान्तपदार्थे आसादितमित्ये कवचनान्तपदार्थान्वयासम्भवादिति भावः । न च चैत्रमैत्री गतौ देवदत्तश्रेत्यादाविव व्यत्ययिनान्वयः स्यादिति वाच्यम् । तत्र चकारस्यैवात्र व्यत्ययाहकाकाङ्क्षीत्यापकाभावात् न चान्वयानुपपत्तिरेवात्र तदुत्थापिकेति वाच्यम् । तदा देवदत्तो गच्छति चैत्रमैत्र्यावित्यत्राप्याकाङ्क्षीत्यानप्रसङ्गात् चैत्रमैत्री चेत्युक्तौ तु चकार एव तदुत्थापक इति भावः । वाच्यार्थबहुवचनार्थीर्मतयोगस्याप्यसम्भवमुदाहरति ।

यथा वा, चापाचार्य इति व्याख्यातमिदं पदैकदेशवाचके । परशौ सेति । परशुरेव निन्द्यकर्मकारित्वकथनादिति भावः । तथाच भार्गवे निन्दायोगी मतीऽप्रतीयमानत्वादेव न सम्भवतीति भावः । समासासमासयीरन्वये निराकाङ्क्षतमाऽभवन्मतयोगमाह ।

कौरव्याः पशवः, प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलम्,
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्थीतं यशोदुन्दुभिः ॥

अत्राध्वरशब्दः समासे गुणीभूत इति न तदर्थः सर्वैः संयु-
ज्यते । यथा वा,

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणसत्केसरालीकरालः

प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जौरभृङ्गः ॥

भर्तृनृत्यानुकारे जयति निजतनुखच्छलावस्थवापी-

सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ।

यथा वा चत्वारो वयमिति । रणस्थले दुन्दुभिश्च द्युतिः भीमेन पृष्ठे सह-
देवस्योक्तिरियम् । सङ्ग्रामरूपी राजसूयाध्वरी भविष्यति तत्र राजन्यानां राज्ञामुप-
निमन्त्रणाय यशःप्रकाशको दुन्दुभिः स्मृतमुद्धतं यथा स्यात्तथा रसतीत्यर्थः
तत्राध्वरे सामर्थ्यं दर्शयति ।

चत्वार इति । वयं भीमाद्याश्चत्वारो भातरः पत्नी द्रौपदी व्रतमेकस्त्रैकवेषी-
धरश्च प्रियापरिभवो द्रौपद्याः केशाकर्षणवस्त्राकर्षणरूपः ।

अचेति । गुणीभूतः समासैकदेशत्वान् न च चैत्रस्य दासभार्य्याद्यादी समासैक-
देशं दासे कथं चैत्रस्यान्वय इति वाच्यम् । समासे विशेषणीभूतस्य दासस्यासमासस्य
स्वविशेषणीभूतं चैत्रं प्रति विशेष्यभावेनान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् असमासस्यविशेष्या-
न्तरं प्रति तस्य विशेषणभावेनैवान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् न हि चैत्रगृहं पुत्रश्चेत्युक्तौ
समासे गृहविशेषणीभूतस्य चैत्रस्य पुत्रेऽपि विशेषणतयाऽन्वयः सम्भवति तददृष्ट्वापि
समासे दीक्षितविशेषणीभूतस्याध्वरशब्दाद्यस्य ऋत्विगादौ विशेषणतयाऽन्वयासम्भव
एवेति बोध्यम् । ससम्बन्धिकपदार्थस्य सम्बन्धिविशेष एवान्वयीऽन्वयः तु मतीऽसाव-
सम्भवमेव भवतीति दर्शयति यथा ।

जङ्घाकाण्डेति । व्याख्यातमिदं प्राक् । अचेत्यादि निजस्वादिशब्दार्थानां
प्रधानक्रियान्वयिन्येवान्वयस्य व्युत्पन्नत्वात् जयति क्रियान्वयिदण्डपादनीयमित्यर्थः ।
तेनानुक्तस्यावश्यवक्तव्यस्याध्याहारसम्भवादध्याहारेणाऽप्यप्रतिपादनीयत्वं एवायं दासः
अतीऽध्याहारेण प्रतिपादनीयार्थान्वूनपदादस्य भेदः ।

अत्र दण्डयादगता निज वनुः प्रतीयते. भवान्याः सम्बन्धि-
नी तु विवक्षिता । अवश्यं वक्तव्यमनुक्तं यत्र, यथा,

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टे
रत्यङ्गुतेरपहृतस्य तथापि नास्था ।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेय-
माहात्म्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥

अत्र अपहृतोऽस्मोत्यपहृतत्वस्य विधिर्वाच्यः । तथापीत्यस्य
द्वितीयवाक्यगतत्वे नैवोपपत्तेः । यथा वा,

एषोऽहमद्रितनयामुखपद्मजन्मा
प्राप्तः सुगःसुरमनोरथदूरवर्त्ती ।

अप्राकृतस्येति । कृतधनुर्भङ्गे रामेऽतिमानुषवृत्तित्वादिनिर्वचनीयपुरुषत्व' सम्भा-
वयती जनकस्योक्तिरियम् । अकारोऽताप्यर्थे दृष्टं चरितातिशयैरपहृतस्य प्राकृत-
स्यापि मम दशरथपुत्रेणैव एतत् कृतमित्यास्या तथापि नेत्यर्थः । तर्हि आस्थाभावात्
किं सम्भावयतीत्यत्राह कोऽपीति वीरशिशुकाकृतिः कोऽप्येष पदार्थः अप्रमेयोऽनुपमो
यी माहात्म्यसाराणां समुदायस्तन्मयस्तत्स्वरूपः । अत्र पूर्ववाक्यस्य यद्यपि कारा-
न्वयोग्यत्व एव तथापि कारव्युक्तिः सम्भवतीत्यतः पूर्ववाक्यं यद्यपि कारान्वय-
योग्यावश्यं वक्तव्यं तथाक्यस्य षष्ठ्यन्तत्वे तु निराकाङ्क्षत्वाभावेन तद्योग्यता नास्ति
अतः पूर्ववाक्यनिराकाङ्क्षमवश्यं वाच्यमित्यत आह ।

अत्रेति । अपहृतत्व' विधेयं हृतीऽस्मीति क्रियमाण एव निराकाङ्क्षता
स्वादित्यर्थः । विधिर्विधेयत्व' तदाचाप्राकृतादावपि प्रथमैव वाच्येति बोध्यम् ।
हृथातीरवांपूर्वत्वाभावेऽपि अर्धवशादपहृतस्येव्युक्तम् । अत्र षष्ठ्यन्तपदसत्त्वं
प्रथमान्तकर्तृत्वयोग्यस्यास्मीत्यस्याध्याहारसम्भवादनभिहितवाच्यत्व' न न्यूनपदत्वम् ।
नन्वत्र षष्ठ्यन्तवाक्ये तथापीत्यस्य निराकाङ्क्षतयाऽन्यथासम्भवाद्भवन्मतधीगदीषी-
ऽपि सम्भवत्यतस्तदसङ्गीर्षमुदाहरति यथा वा ।

एषोऽहमिति । स्वप्ने निभृतम् उवाऽनिरुद्धयीः समानमाय प्राप्तत्वा वाङ्मात्र-
निष्पादितस्य कस्यापि पुरुषस्य तत्कर्मनिष्पाद्यागतस्योक्तिरियम् । अनिरुद्धेन सह

स्वप्ने ऽनिरुद्धघटनाधिगताभिरूप-

लक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय ॥

अत्र मनोरथानामपि दूरवर्त्तीत्यप्यर्थो वाच्यः । यथा वा,

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।

कमपराधलवं मम पश्यसि ? त्यजसि मानिनि ! दासजनं यतः ।

अत्र अपराधस्य लवमपीति वाच्यम् । अस्थानस्थपदं यथा,

घटनाया प्राप्तभाभिरूप्यं लक्ष्याः सौन्दर्यश्रियः फलं यथा असुरराजस्य वाणस्य सुता-
मुषां स्वप्ने तादृशीं विधाय एषोऽहं प्राप्त आगतः । कौटुम्भः अद्रितनयाया मुखपद्मा-
ञ्जन्म यस्य तादृशः दाम्पत्यघटनाया विधिकार्यत्वात्तुल्यताप्रतिपादनाय पद्मजन्मे-
त्युक्तं तथा सुरासुराणां मन एव शीघ्रगामित्वाद्ग्रहस्तदूरवर्त्ती गुप्तकार्यकारित्वात् सुरा-
सुरैर्मनसापि न ज्ञात इत्यर्थः ।

अत्रेति । सर्वेन्द्रियागोचरत्व एव गुप्तकार्यकारित्वप्राप्तिः स्यादत इन्द्रिया-
न्तरसमुच्चयायापिकारीऽवश्यवक्तव्य इत्यर्थः । इदमुपलक्षणं सुरासुराणामपीत्यपि
वाच्यम् । अन्यथा मनुष्येन्द्रियागोचरत्वात्माभात् अत्र समासमध्येऽपिकाराध्याहारा-
सम्भवात् प्रकृत एव दीधी न न्यूनपदता अतीऽसमासेनापिकारं प्रवेक्ष्यावश्यवक्तव्यं
दर्शयति ।

मनोरथानामपीति । प्रपञ्चयति यथा

त्वयि निबद्धेति । प्रणयो वात्सल्यम् अपराधलवम् अपराधस्य कश्चिद् ।

अत्रेति । अपराधीयस्य लभागसमुच्चयाय तथा वाच्यत्वात् न चापराधलवमपी-
त्येवमत्रापिकाराध्यहाराः सम्भवत्येव इत्यतीऽत्र न्यूनपदत्व मीवेति वाच्यम् । अप-
राधस्य समासैकदेशत्वेऽपिकारेण तदीयस्य लभागसमुच्चयाप्रत्यायनात् वस्तुनर-
समुच्चयस्यैव तथात्वे प्रतीतेः अतएव षष्ठान्ततया दर्शयति अत्रापराधस्य लवमपीति ।
अस्थानस्थेति स्वार्थानन्वयिन्या स्ववाक्यीयक्रियया भिन्नवाक्यीयपदेन वा स्वार्थानन्वय-
व्यवधानाभावे सक्रियुक्तस्वामपतितेन पदान्तरीत्तरपातितानियमरहितेन पदेन
विशिष्टं यत्कश्चिद् तत्त्वम् । जिष्टे स्वार्थानन्वयिन्या स्ववाक्यीयक्रियया लक्ष्मीर्गर्भि-
तयोस्तु भिन्नवाक्यीयपदेन व्यवधानात् तदुभयोर्द्विप्रसङ्गः । अत्रानदीधे तु अस्त्वान-
वदितं पदं पदान्तरीत्तरपातिसानियमवदिति न तथाप्यतिप्रसङ्गः ।

प्रियेषु सङ्गृह्य विपक्षसन्निधौ
उपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलाम्,
वसन्ति हि प्रेमणि गुणा न वस्तुनि ॥

अत्र काचिन्न विजहाविति वाच्यम् । यथा वा,
लम्नः केलिकचग्रहस्रजजटालम्बेन निद्रान्तरे
मुद्राङ्कः श्रितिकन्धरेन्दुशकलेनान्तःकपोलस्थलम् ।
पार्वत्या नखलक्ष्मिशङ्कितसखीनर्मस्मितब्रीडया
प्रोन्मृष्टः करपङ्कवेन कुटिलाताम्बुच्छविः पातु वः ॥

प्रियेषेति । जलक्रीडावर्णनमिदं सङ्गृह्य प्रियेषु विपक्षस्य सपत्नीजनस्य सन्निधौ
पीवरस्तने वक्षसि उपाहितां दत्तां जलाविलामपि काचिन्न विजहावित्यन्वयः ।
अत्यागे विपक्षेत्यादिकं हेतुः तदेव समर्थयति वसन्ति हीति प्रेमसत्त्वे गुणयुक्ताद-
सत्त्वे च तदग्रहाद्वस्तुवत्त्वेरपि गुणस्य प्रेमवृत्तितयाऽध्यासादिदमुक्तम् ।

अत्रेति । विजहावित्येतदन्वयिनी नञर्थस्य तत्सन्निधौ आकाङ्क्षितस्य काचि-
दिति एतत्पूर्वे समभिव्याहृतत्वात् न काचिदिति भ्रमजननादनाकाङ्क्षितस्थान-
स्थता अक्रमदीपस्य तु पदान्तरीत्तरपातमित्यतपदघटितत्वादिति भेदः ।

ननु लक्षणे स्वार्यामन्वयीत्यादिप्रवेशी निष्फलः इदन्तु वरं क्लृप्तत्वादाहरणमेवा-
स्तिव्यती व्यवधानाभावेऽप्यस्थानस्थपदत्व' द्वितीयं दर्शयति ।

लघु इति । श्रितिकन्धरस्य मङ्गेशस्य इन्दुशकलेन चन्द्रखण्डेन निद्रान्तरे निद्रा-
कालेऽन्तःकपोलस्थलं कपोलस्थलस्य मध्ये लघोऽपिती मुद्राङ्कः स्वचिह्नं पार्वत्यः
प्रोन्मृष्टो वः पातु । मुद्राङ्कः कौदशः कुटिला आताम्बा च हृदियस्य पार्वत्या प्रोन्मार्ज-
नहेतुमाह । नखलक्ष्मि इति । शङ्कितेत्यस्यर्थे इत्यच् । तथा च नखलक्ष्मिशङ्काविशि-
ष्टायां सखीनामथाङ्गाविना नर्मस्मितेन वा पार्वत्या ब्रीडा तथेत्यर्थः । वङ्गब्रीडिषा-
पार्वतीविशेषणं वा हेतुगर्ममिदं कुटिलाताम्बुच्छवित्त्वेन नखलक्ष्मिशङ्का पार्वत्यै व
पत्न्युः कपोले नखलक्ष्मि कृतमिति कृत्वा सखीनां नर्मस्मितं भवित्यतीति ब्रीडीत्याद-
भयात् प्रोन्मार्जनं लघु इत्यन्तर्भूतकारितार्थम् इन्दुशकलेन कौदशेन केशी वः पार्वती-

अत्र नखलक्ष्मे त्यतः पूर्वं कुटिलाताम्नेति वाच्यम् । अस्या-
नखसमासं यथा,

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सौमन्तिनीनां हृदि
स्यात् वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालीहितः ।

प्राद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लकरवकोशनिःसरदलिश्रेणौक्तापाणं शशी ॥

अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः, कवेरुक्तौ तु कृतः ।

सङ्कीर्णं यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रवि-
शन्ति । यथा,

कृतः कचग्रहस्तं न शयया जटया लम्बेन ललाटात् लम्बमानेन अतः कपीलप्राप्तया
चिह्नार्पणम् ।

अत्रेति । नखलक्ष्मशङ्का तावत् कुटिलातामच्छवित्वज्ञानादेव भवतीति तदर्थं
प्राकृतनिर्देशे एवाकाङ्क्षित इति भावः ।

अस्थानस्येति । यत्र पद्ये यदव्यञ्जकी यः समासस्तत्र पद्ये तद्व्यञ्जकस्थान-
परिहारेण तत्समासकरणं तत्त्वम् । अद्यापीत्यादि सन्ध्यायां चक्रवर्णनमिदं उद्यन्तु-
द्रच्छन् शशी फुल्लतः कीषान्निःसरनी अलिश्रेण्येव कृपाणः खङ्गस्तं कर्षति कीषोऽस्त्री
कुद्वले पात्रे दिव्यखङ्गपिधानके इति कीषात् । कुद्वल एव दिव्यखङ्गपिधानमिति
शिष्टरूपकम् । शशी कीटशः दूरतरे प्रसारितः करी रश्मिरेव करी हस्तः दूरतरे
प्रसारिततत्कः खङ्गकर्षणेऽपि हस्तस्य दूरप्रसारणात् खङ्गकर्षणे हेतुमाह ।

अद्यापीति । स्तनशैलरूपं दुर्गमाश्रित्य मम शशुसौमन्तिनीनां हृदि मानी-
ऽन्वदा तावत् तिष्ठतु अद्यापि अधुना मनीदयकालेऽपि तत्र स्यात् वाञ्छति तस्यान्नां
धिक् इत्यतः क्रोधादिवालीहितः कर्षतीत्यर्थः ।

अत्रेति । समासो दीर्घसमासः तस्य क्रीधस्याधिभावकरीद्रसनिष्ठौजीगुण-
व्यञ्जकत्वेन क्रीधव्यञ्जकवाक्यमेव तस्य स्थानं न कविवाक्यमित्यर्थः । धिक्पथ्यन्तं
क्रुद्धस्य चन्द्रस्योक्तिः । अत्र कृतस्य समासस्यैवास्थानपाते कवेरसमीचीनवक्तृकत्वज्ञान-
जमनाद्रसप्रकर्षविघातकत्वेनायं दीर्घः तादृशः समासासत्वे तु नायं दीर्घः । किन्तु

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृह्याणमम् ।

ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥

अत्र पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि, इमं कण्ठे गृह्याण, मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्चेति । एकवाक्य-
तायान्तु क्लिष्टमिति भेदः ।

गर्भितं, यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति । यथा,
परापकारनिरतैर्दुर्जनेः सह सङ्गतिः ।

वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥

अत्र तृतीयपादो वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टः । यथा वा,
लग्नं रागावृताद्या सुदृढमिह यथेवासियध्यारिकण्ठे,
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।

तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति, विदितं तेऽस्तु, तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः, श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्त्तिः ॥

प्रतिकूलवर्णनैव वर्णपदस्य तत्र समासस्याप्युपलक्षणत्वेनादीर्घसमासस्यापि रौद्रे
प्रतिकूलवर्णनात् सङ्कीर्णमिति एकवाक्यान्तरान्यवाक्यीयपदप्रवेशे सङ्कीर्णता अन्य-
वाक्यस्यैव प्रवेशे तु वक्ष्यमाणं गर्भितत्वमिति भेदः ।

किमित्यादिकं वृत्तावेव व्याख्यातम् । ननु क्लिष्टमेवेदमित्यत्र आह एकवाक्य-
त्वायामिति ।

गर्भितमिति । सङ्कीर्णादस्य भेद उक्त एव । उभयत्रैव विवक्षितार्थस्य विल-
म्बेन प्रतीतिर्दीर्घतावीजम् । परापकारिति । दुर्जनैः सह सङ्गतिः कदापि भवता न
विधेया इदं तत्त्वं भवतः स्थाने वदामीत्यन्वयः । पञ्चवयति ।

यथा वा लग्नमित्यादि । यस्य राज्ञः कीर्त्तिः स्त्रीलिङ्गशब्दार्थत्वात् स्त्रीत्वे-
नाध्यासितयोः श्रियो नियोगादिति गदितुमिवाम्बुधिं श्रीपितरं गता समुद्र-
पर्यन्तगामिनी यस्य कीर्त्तिरिति भावः । किं गदितुमित्यत्राह लग्नमिति स्त्रीलिङ्ग-
शब्दार्थत्वात् स्त्रीत्वेनाध्यासितया यथा असियध्या इह जगति अरिकण्ठ एव सुदृढ-
वपुः कीदृश्या रामो कथिररक्त्विनैव रागोऽनुरागसदावृताद्या या च इह जगति

अत्र विदितं तेऽस्त्विति, एतत्कृतं प्रत्युत लक्ष्मीस्ततोऽप-
सरतीति विरुद्धमतिक्रान्तम् ।

मञ्जोरादिषु रणितप्रायं; पक्षिषु च कूजितप्रभृति,
स्तनितमणितादि सुरते, मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्” ॥ इति
प्रसिद्धिमतिक्रान्तं, यथा,

मातङ्गानां हस्तिभामिव मातङ्गानां शिङ्गानामुपरि पतन्ती परपुरुषैः शत्रुपुरुषैरेव
साक्षितायोग्यप्रकृतपुरुषैर्दृष्टा तस्यां दर्शितव्यभिचारायामसियष्टिरूपायां नायि-
कायां सक्तोऽयं राजा किञ्चिदकार्यमन्वस्मिन् सम प्रदानरूपमकार्यं न गणयति तेन
तद्गणनरूपेण हेतुना भव्यभ्यो दत्तास्मि इति ते विदितमस्त्विति गदितुमिवेत्यर्थः ।
अथ चासियष्टिरुहः किञ्चिदपि शचीर्वलं न गणयति तेन दत्तत्वात् भृत्या अपि
श्रीमन्तः कृता इति व्याजस्तुतिः । न च रागावताज्ञा अरिक्खलप्रकथनेऽरिक्ख-
लप्रात् प्रागेव रागावतत्वधीः कथमुपपद्यतामिति वाच्यम् । प्रथमलक्ष्मीत्तरलये
तदुपपत्तेः ।

अवेति । कृतमिति गर्भितं कृतमित्यर्थः । न च गणयतीत्यन्तमेकं वाक्यं
तेनास्मीत्यपरं वाक्यं तन्मध्ये पतितं विदितं तेऽस्त्विति कथं गर्भितमिति वाच्यम् ।
तेनेत्यनेन तद्गणनपरामर्शात् एकवाक्यतापन्नत्वात् यदि च तेन राजा दत्तास्मि इत्यर्थः
तथापि पूर्वोक्तकर्तुः परामर्शादेकवाक्यत्वैवेति भवति । ननु दृढप्रत्यायने गर्भितं न
दोष इति स्वयमेव वक्ष्यते प्रकृतेऽपि पितः साचौकरणे दृढप्रत्यायनमभिप्रेतमेव तत्र
गर्भं तं दोष इति अतोऽत्र दृढप्रत्यायनाभिप्रायकत्वे प्रत्युत दीषान्तरापादकत्व-
मेवेत्याह ।

प्रत्युतिति । दृढप्रत्यायनार्थं तदुपादाने विरुद्धमतिक्रान्तैव स्यादित्यर्थः । कृत्य-
माणः प्रकाशितविरुद्धमतिक्रान्तदिति भावः । उक्तविरुद्धमतिक्रान्तदोषस्त्व न बीध्यः ।
पदत्रयसमभिव्याहारवशाद्वाकारूपविरुद्धमतिकारित्व एव तदवसानान् अत्र तु
षास्त्रार्थपर्यालोचनया विरुद्धार्थस्य मानसकीर्षविषयत्वात् पर्यालोचनया विलम्ब एक
तर्काधस्त्य ज्ञानमत्वे प्रमाणं प्रसिद्धिहतदोषं दर्शयितुम् आदौ प्रसिद्धिं दर्शयति
मञ्जीरेति शब्दसान्त्वनाचकस्यापि पदस्य सम्बन्धिविशेषशब्द एव प्रसिद्धिरित्याह ।

मञ्जोरादि । मञ्जोरादिषु सम्बन्धिषु यः शब्दस्त्वस्मिन् रचितप्रायं पदम् प्रसिद्धः-

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक-
प्रचण्डवनगर्जितप्रतिरुतानुकारी सुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तु उक्तविशेषणके सिंह-
नादे । भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावः यत्र यथा,
नाथे निशाया नियते नियोगात् अस्तं गते हस्त निशाऽपि याता
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥

मित्यर्थः । प्रायपदं प्रभृत्यर्थं तेन शिञ्जितादिपरिग्रहः एवमुत्तरवापि एवञ्च रव-
पदमपि दुर्बलमन्वन्निशब्द एव प्रसिद्धमित्यभिप्रेत्य वीराणां सिंहनादे प्रसिद्धातिक्रान्तं
रवशब्दं दूषयति ।

महाप्रलयेति । रणस्थले सिंहनादं श्रुत्वा मीमस्योक्तिरियम् । महता प्रलय-
कालीनमारुतेन क्षुभितानां पुष्करावर्त्तकनामधेयानां महामेघानां प्रचण्डानि
घ्नानि च यानि गर्जितानि तेषां प्रतिरुतानामनुकारी सदृशो रवः पुरः समरोदधेः
कुतोऽद्य सुहुर्भवतीत्यर्थः । यावापृथिव्यीरत्सराली रीदसी स्थगित आच्छादितः
तादृशः कन्दरो येन तादृशः पूर्वमभूतोऽभूतपूर्वः मण्डूकादिषु सम्बन्धिषु उक्तविशे-
षणे महाप्रलय इत्यादिविशेषणविशिष्टे । भग्नप्रक्रममाह ।

भग्न इति । प्रस्तावः प्रकरणोचितो निर्देशः अनेकेषु वक्तव्येषु प्रथममेकस्मिन्नुत्ते
सदुत्तरवक्तव्यस्य यादृशे बुभुक्षा जायते तत तथा निर्देशे प्रक्रमभङ्ग इत्यर्थः । न तु
प्रक्रान्तरूपेष्वेवानिर्देशे तद्भङ्ग इति अमः कार्यः । वक्तव्यमात्रे महीभृत इत्यादौ प्रक्रान्त-
सामान्यान्तर्गतविशेषरूपेष्वानिर्देश एव तद्भङ्गात् । नाथे निशाया इति नियते-
रदृष्टस्य नियोगात् आदेशात् निशाया नाथे चन्द्रोऽस्तं गते सति हस्त खेदे निशापि
श्रुतोऽस्तमित्यनुसङ्गः । तथार्थान्तरं न्यस्यति । कुलाङ्गनानामिति । दशा वैश्व-
दशा नातःपरं नाथानुगमनात्परं भद्रतरं समस्ति नास्तीत्यर्थः । अत्र निशाया अस्त-
गमनं निशापीत्यपिना समुच्चयते अतः प्रक्रान्तगमघातुनैव निर्देशे बुभुक्षा तेजीव्य-
दिता घातुभेदेनैतत्कथने आपाततः पूर्वात्तरूपभेदावभासेन तत्सद्वुभुक्षाऽनिवृत्ते यां
घातुना तन्निर्देशात्प्रक्रमभङ्ग इत्यर्थः ।

अत्र गतेति प्रक्रान्ते यातेति प्रकृतेः । गता निशाऽपीति तु युक्तम् । ननु नैकं पदं द्विःप्रयोच्चं प्रायेण, इत्यन्यत्र कथित-पदं दुष्टमिति चेहैवोक्तं. तत्कथमेकस्य पदस्य द्विःप्रयोगः ? उच्यते, उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः । तथाहि,

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

अत्र रक्त एवास्तमेतीति यदि क्रियेत, तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयैव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति । यथा वा,

यशोऽधिगन्तुं, सुखलिप्सया वा, मनुष्यसङ्ग्रामतिवर्त्तितुं वा ।

निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्गमुपैति सिद्धिः ॥

अन्यत्रेति । वामन इत्यर्थः । इहैव प्रकृतयन्य एव । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्येति यः प्रथमं निर्दिष्टः स उद्देश्यः स एव प्रतिनिर्देश्यतया यत्र बुभुक्षितसङ्घातिरिक्त इत्यर्थः । तथाचात्रापि गमनमुद्दिष्टं प्रतिनिर्देश्यं तथाचापिना जनितबुभुक्षाकं तद्घातिरिक्त एव विषयः कथितपदनिषेधस्येति दर्शितम् । तद्वतीति उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यत्वतीत्यर्थः । दोष इति आपाततीऽर्थान्तरतावभासरूप इत्यर्थः । अयं भावः न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र शब्दी न भासते इति नियमाच्छब्देनीपस्थायमानोऽर्थः । शब्दविशिष्ट एव भासते अतः शब्दभेदेनीपादाने तत्तच्छब्दविशिष्टेऽर्थे भासमाने विभिन्नशब्दरूपविशेषणभेदाद्भेदावभास इति । सर्वनाम्नापि पूर्वापात्तशब्दविशिष्टभासनात् भेदावभास इत्याह सर्वनाम्नो वेति ।

उदेतीति । अत्र महतामेकरूपतया प्रथमीत्तरूपेण प्रतिनिर्देश्यत्वे बुभुक्षां । प्रतीतिं स्थगयतीति विलम्बयतीत्यर्थः । प्रक्रान्तप्रत्ययप्रक्रमभङ्गमाह ।

यशोऽधिगन्तुमिति । यशोऽधिगन्तुं निरुत्सुकानामुत्सुकारहितानां अथवा तदर्थमभियोगभाजां सोद्यमानां जनानाम् अङ्गं शब्दोः समुत्सुकेवीक्ष्यतेति उच्यते

अत्र प्रत्ययस्य । सुखमीहितुं वेति युक्तः पाठः ।

ते हिमालयमामन्त्रा पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।

सिद्धं चास्मै निवेदयार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥

अत्र सर्वनाम्नः । अनेन विसृष्टा इति तु वाच्यम् ।

महोभूतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम दृष्टिम् ।

अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरफमाला सविशेषसङ्गा ॥

अत्र पर्यायस्य । महोभूतोऽपत्यवतोऽपीति युक्तम् ।

एवं सुखलिसयापि निरुत्सुकानामित्यन्वयः तथा मनुष्यमध्यगणनामतिवर्षितु-
मतिक्रमितुमतिमनुष्यतां प्राप्तुं निरुत्सुकानामित्यन्वयः ।

अत्रति । तुम्प्रत्ययलभक्रमस्य सन्प्रत्ययनिर्देशेन भङ्ग इत्यर्थः । इच्छासु स्ववि-
कल्पधीषकेन वाकारेण तत्तद्विषयेच्छासु एकाररूपेणैव बुभुक्षाजननात् । सर्वनामप्रकृतेः
क्रमभङ्गमाह ।

ते हिमालयेति । ते पार्वतीपरिणयघटनाथे हिमालयसन्निहितं प्रस्थापिताः
सप्तपथः अस्मै शूलिने सिद्धमर्थे निवेदयेत्यन्वयः । अत्र निवेदनसम्प्रदास्यैव उद्देश्य-
प्रतिनिर्देश्यत्वादिदपदेन प्रथमनिर्दिष्टस्य तस्य तेनैव पदेन निर्देशे बुभुक्षोत्पादात्
तच्छब्देन निर्देशे तत्क्रमभङ्गः । सामान्यवस्तुनिर्देशे तदीयविशेषे यत्र बुभुक्षा
तत्रापि तद्विशेषानिर्देशे तद्भङ्गमाह ।

महोभूत इति । पुत्रवतोऽपि महोभूतो हिमालयस्य दृष्टिस्तस्मिन् पार्वतीरूपे-
ऽपत्ये दृष्ट्वा विच्छेदं न जगाम तत्र प्रतिवस्तूपमामाह अनन्तेति असङ्गपुष्पस्यापि
मधोर्धसन्तस्य द्विरफमाला चूने आसन्नपुष्पे सविशेषसङ्गा विशिष्यासक्ता यत इत्यर्थः ।

अत्रति । सामान्यविशेषप्रकाराभ्यामप्येकार्थकानेकशब्दत्वमत्र पर्यायपदार्थ-
संज्ञाच पुत्रवत् इत्यनेन पुत्रसामान्ये निर्दिष्टे तद्विशेषरूपस्य तत्पर्यायस्य पुत्र-
विशेषस्यैव निर्देशे बुभुक्षोदयात्तस्मिन्नपत्ये इति निर्देशात्तद्भङ्ग इत्यर्थः । अयं भावः
अनन्तपुष्पस्य मधोर्भूते इति दृष्टान्ते पुष्पसामान्यसत्त्वेऽपि तद्विशेषे चूते आसक्ति-
कथनम् सामान्यसत्त्वेऽपि विशेषे आसक्ति निर्देशे बुभुक्षा जाताऽती दाष्टान्तेऽपि
पुत्रसामान्ये निर्दिश्य पुत्रविशेषे आसक्त्यनिर्देशात्तद्भङ्ग इत्यर्थः । एवञ्च पुत्रसामा-

अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्त्री होऽभूदिति केचित्
समर्थयन्ते ।

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।

नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च । तदभिभवः कुरुते निरायतिं
लघुतां भजते निरायतिः, लघुतावान्न पदं नृपश्रियः इति
युक्तम् ।

न्योपक्रमे तद्विशेषपुत्रानिर्देशे क्रमभङ्गः । कन्यावर्णने च पुत्रविशेषो निर्देष्टुमशक्य
एवेत्युभयथापि दोषादुपक्रममेवान्यथा रचयति । महीभृतीऽपत्यवतीऽपीति अत्र चोपा-
देयसामान्ये सत्यप्युपादेयविशेषे आसक्तिरेवात्र परार्द्धेन दर्शिता न तु पुष्यत्वेन
सामान्यविशेषभावः । तथाच पूर्वार्द्धेऽप्युपादेयसामान्यस्य पुत्रसामान्यस्य सख्ये-
ऽप्युपादेयविशेषे आसक्तिनिर्देश एव बुभुक्षा तत उदीयत इत्यत उपादेयविशेषे
कन्यापत्ये दृगासक्तिनिर्देशात्तदबुभुक्षाविच्छेदी जायत एवेति समर्थयमानानां केषा-
ञ्चिद्ब्रह्माख्यानमाह ।

अत्र सत्यपीति । पुत्रे उपादेयसामान्ये कन्यारूपापत्यं उपादेयविशेषे ।
समीचीनत्वाच्चेदं न दूषितम् । उपसर्गविशेषोपक्रमे तदुपसर्गैव निर्देष्टुं नाम-
विशेषोपक्रमे तन्नाम्नैव निर्देष्टुं च बुभुक्षायामन्यथानिर्देशे क्रमभङ्गमाह ।

विपद इति । अविक्रमं जनं विपदोऽभिभवन्ति तादृशापदुपेतं जनमायति-
रुत्तराभीष्टफलं कर्तुं रहयति त्यजति । ततश्च तदायतिशून्यस्त्व लघुता नियता तत-
गरीयांस्तादृशलघुर्नृपश्रियो भाजनं न नाश्रय इत्यर्थः ।

अत्र तथात्वे किं स्यादित्याकाङ्क्षया पूर्वनिर्दिष्टस्य विपदादेः प्रतिनिर्देश्यता
तत्र च तेनैव शब्देन निर्देश्य एव प्रतिनिर्देश्यताप्रतीतिरुक्तैव । उपसर्गमेतेन लघु-
पर्यायश्लोकमभङ्ग इति बीध्यम् । पर्यायस्थीपात्तत्वादेव सर्वत्राख्यातीक्तकर्तुरुप-
क्रमे त्रियतेत्यादौ तद्वृत्तान्नियतेत्यत्र तथाकर्तृकमेव पाठं रचयति लघुतामिति
एवञ्च लघुताभागित्यत्रापि नृपश्रियो न पदं भवतीत्यध्याहारादाख्यातीक्त एव कर्ता
अचीक्री न तत्क्रमभङ्गः । प्रकृतदोषपरिहार एव तात्पर्यात् तथाभिभव इत्यत्र
इन्दीभङ्गः कृतः । एकवचनोपक्रमे तद्वृत्तमाह ।

काचिक्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मीः,
 अश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरि दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ।
 भ्रेमुर्वात्या इवान्याः, प्रतिपदमंपरा भूमिवत्कम्पमानाः
 प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरोभावि नार्थ्यः शशंसुः ॥

अत्र वचनस्य । काश्चिक्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्द-
 वक्त्रेन्दुशोभा निःश्रीका इति, कम्पमाना इत्यत्र कम्पमापुरिति
 च पठनीयम् ।

काचिदिति । युद्धे पदिष्यतां राज्ञां यात्राकाले विश्वेपदुःखात्तदीयनारी-
 क्रियासु अमङ्गलत्वारीपिण वर्णनमिदं भूमिपानां प्रस्थाने यात्रायां पुरोभावि
 अशिवं नार्थ्यः इत्यनेन स्वक्रियाप्रदर्शनस्वरूपेण शशंसुः । तत्र का नारी कथं
 शशंसेत्यत्राह काचिदिति । दुःखाद्भूतलपातन रजःकीर्णा काचिन्नारी अर्थाद्रजःकीर्णा
 दिवमनुविदधौ स्वसदृशीं अकार । कीदृशी मन्दवक्त्रेन्दु लक्ष्मीः मन्दन्दुश्रीकाया
 रजःकीर्णाया दिवी यात्रायाममङ्गलत्वेन स्वावस्थया तत्करणं काश्चिच्च दुःखादश्रीका
 दाहं दधिरि दिश इव । कीदृश्य उद्भ्रान्तसत्त्वाः सत्त्वानि प्राणाः प्राणिनश्च नार्थ्य
 उद्भ्रान्तप्राणाः दिश उद्भ्रान्तप्राणिकाः यात्रायां दिग्दाहस्य प्राण्युद्भ्रमस्य चाम-
 ङ्गलत्वात् अन्याश्च दुःखादात्या इव भ्रेसुः यात्रायां वात्याभ्रमस्याप्यमङ्गलत्वात् अप-
 राश्च भूमिवत् कम्पमाना वभूवुरिति शेषः । यात्रायां भूकम्पस्याप्यमङ्गलत्वात्
 सर्वथा एव स्वावस्थयाऽशिवं शशंसुरित्यर्थः ।

अचेति । नार्थ्योऽशिवं शशंसुरित्युक्तौ का नारी कथं शशंसेत्यकाङ्क्षायामिकैक-
 नार्थ्यवस्थाया बहुवचनत्वेन काचिदित्युपक्रमे काश्चिदित्यत्र बहुवचनात्तद्बहु इत्यर्थः ।
 अत एकाः का नार्थ्यः कथं शशंसुरित्येवाकाङ्क्षामुत्थाप्य उपक्रम एव बहुवचनान्त
 पाठं रचयति काश्चिदिति । बहुवचने लक्ष्मीरित्यसम्बन्धीभा इति कृतं ततश्च
 शोभा अश्रीका इति विसर्गलोपे बन्धशैथिल्यं स्यादती निःश्रीका इति कृतं कम्प-
 माना इत्यत्र च क्रियानिर्देशाभावात् साकाङ्क्षतां परिहरति कम्पमापुरिति ।
 आख्यातीक्ष्णकारकममङ्गलाह ।

गाहन्तां मंहिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्,
ह्यायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्ममभ्यस्यतु ।

विश्वैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्लवे,
विश्रान्तिं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्दनुः ॥

अत्र कारकस्य । विश्वव्या रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षति-
मित्यदुष्टम् ।

अकलिततपस्तेजोवीर्य्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
ववितथमदाधाते रोषान्मुनावभिधावति ।

अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसङ्ग्रहणाय च ॥

अत्र क्रमस्य, पादोपसङ्ग्रहणायेति पूर्वं वाच्यम् । एवमन्त्य-
त्वाप्यनुसर्तव्यम् । अविद्यमानः क्रमो यत्र यथा,

गाहन्तामिति । शकुन्तलादर्शनात् तद्गतमनसो दुःखनस्य मृगयानिष्ठस्ये
सेनापतेरयमादेशः सर्वे पशवोऽपि स्वच्छन्दं विहरन्विति समुदायार्थः । कदम्बकं
समूहः रोमन्मो हनुचलन भुक्तजीर्णतायं तथाचरणमभ्यासः विश्वैः प्राप्ताश्वसैः ।

अत्रेति । कारकस्य आख्यातोक्तकर्तृकारकस्य विश्वैः क्रियतामित्यतोक्त-
कर्मकारकनिर्देशाद्भङ्ग इत्यर्थः । के के किं किं कुर्वन्तीत्याकाङ्क्षायां गाहन्तामिति
कर्तृकारकोक्त्या निर्देशात् । निर्दिष्टक्रमभङ्गमाह ।

अकलितेति । कृतशान्भवधनुर्भङ्गस्य रामस्य रोषादागतं परशुरामं श्रुत्वा
स्वयं परिभावमनिदम् । अकलितेन अनिर्वचनीयेन तपस्तेजसा वीर्य्येण च प्रथिभा
पृथुलं यस्य तादृशे मुनौ परशुरामेऽविततथेनामीधेन मदेभाधाते उहृते रोषादभि-
धावति संति मम पाणिः अभिनवधनुर्विद्याधौनदर्पक्षमाय कर्मणेऽर्थाद् युद्धाय
पदोपसङ्ग्रहणाय च स्फुरतीत्यर्थः ।

अत्रेति । पादयुद्धस्य प्रमथोक्ततपस एवीचितत्वाद् युद्धस्य च द्वितीयोक्तवीर्य्यो-
चितत्वात्तथैव क्रमो बुभुक्षित इति भावः । अक्रमदोषमुदाहर्तुमक्रमपदार्थमाह ।

इयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपरलिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतः,
त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

अत्र त्वंशब्दानन्तरं चकारो युक्तः । यथा वा,
शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ ! दोषाकरश्री-
र्वक्त्रे, पार्श्वे तथेषा प्रतिवसति महाकुट्टिनी खड्गयष्टिः ।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुनः किं मया वृद्धया ते,
प्रोच्येवेत्यं, प्रकोपाच्छिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम् ॥
अत्र इत्यं प्रोच्येवेति न्याय्यम् । तथा, लग्नं रागावृताङ्गो-
त्यादौ इति श्रीनियोगादिति वाच्यम् ॥

अवियमान इति । स्वपूर्ववर्तिपदार्थनिष्ठस्वार्थान्वयबीधकतानियमवतां चादि-
पदानां तत्पदीत्तरपातितारूपः क्रमसदसत्यमित्यर्थः । इयं गतमित्यादि स्पष्टम् ।

अत्रेति । स्वबीधस्य समुच्चयस्य त्वंशब्दार्थ एव बीधयितुमौचित्याच्चकारस्य
तदुत्तरपातितानियमात् । शक्तिरित्यादि स्त्रीलिङ्गं शब्दार्थत्वात् स्त्रीत्वेनाध्यासितया
यस्य शशिकरसितया कीर्त्या प्रकोपादित्यं प्रोच्येव प्रयातं किं प्रोच्येत्यत्राह ।

शक्तिरिति । स्त्रीलिङ्गशब्दनिर्देशानां सर्वासां स्त्रीत्वेनाध्यासात् सन्नायिकायाः
कीर्तेः कीपहेतुं तासाम् असन्नारौत्वप्रदर्शकं प्रत्येकं विश्लेषणमाह निस्त्रिंशजिति ।
निस्त्रिंशः खड्गः निर्गतस्त्रिंशस्त्रिंशत्सङ्ख्यापूरको जनी येभ्यस्ते पुरुषाश्च निस्त्रिंशा
ऊनविंशत् पुरुषाः तथाच खड्ग ऊनात्रंशत् पुरुषाः खड्गजन्था शक्तिः सामर्थ्य-
मेवीनविंशत् पुरुषजन्था व्यभिचारिण्याः पुत्री स्त्री हे नाथ ! सा ते तव भुजयुगले
तथा वक्त्रे दोषाकरस्य चन्द्रस्य श्रीरेव दोषाणामाकारभूता श्रीः तथा महाकुट्टिनी
अतिशयच्छेदनशीला एषा खड्गयष्टिरेव महाकुट्टिनी व्यभिचारदूती पार्श्वे प्रतिवसति
तथा सर्वगा सर्वोपरिवर्तिनी तवाङ्गेव सर्वगामिनी स्त्री तव पुरती विलसति मया
वृद्धया प्रीदयेव जरत्या मया किम् इत्थं प्रोच्येवेत्यर्थः ।

अत्रेति । इत्यमिति । पदस्य वृद्धया ते इत्यन्तपरामर्शकत्वात्तदुत्तरपातितानियम-

अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र, यथा,
 राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
 गन्धवद्गुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥
 अत्र प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ।
 अर्थदोषानाह,

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्कमयाभ्याः ॥७॥

सन्दिग्धो निर्हतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।

अनवीकृतः सनियमाऽनियमविशेषाविशेषपरि-
 वृत्ताः ॥ ८ ॥

साकाङ्क्षोऽपद्युक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
 विध्यनुवादायुक्तस्युक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः ॥ ९ ॥

स्यात् इवकारोत्तरं पातादसत्त्वम् । लग्नमित्यादि प्राग् व्याख्यातम् । अत्रेति श्रुत्येभ्य इत्यन्तरामर्शकस्येतिकारस्य तदुत्तरपातितारूपकमन्त्रासत्त्वमत्र गदितुमित्यस्वी-
 चरपातात् ।

अमतपरार्थदोषमुदाहर्त्तुं तत्संज्ञार्थमाह अमत इति । प्रकृतस्य रसस्य विरुद्धी विरीधिरसव्यञ्जकः परार्थः प्रकृतरसानुपयुक्तोऽर्थः । राममन्मथेति सा निशाचरी राक्षसी ताडकैव निशाचरौ अभिसारिका राम एवाभिरामी मन्मथस्य दुःसहेन शरेण हृदये ताडिता सती गन्धवता रुधिरेशैव गन्धयुक्तरक्तचन्दनेनोक्षिता च सती जीवितेशस्य स्वप्राणनाथस्य उपनायकस्य वसतिमालयं जगामित्यर्थः । अत्रेति प्रकृते रुधिरसेकाभिव्यक्ते बीभत्सोऽपरो बीभत्सानुपयुक्तौ रामादावारीपितमन्मथादिरूपः । न च वक्ष्यमाणेन प्रतिकूलविभावादिग्रहपरसदीपेण सहास्वाभेद इति वाच्यम् । परार्थ इत्यस्यैव भेदकत्वात् तत्र प्रकृतरसीपयुक्तस्यैव विभावादिरूपायस्य प्रतिकूलत्वात् अत्र तु प्रकृतरसानुपयुक्तस्य मन्मथादेः ।

अर्थोऽपुष्ट इत्यादि । प्रसिद्धिविरुद्धी विद्याविरुद्धेति दोषद्वयं सनियम-
 परिहृतोऽनियमपरिहृतो विशेषपरिहृतोऽविशेषपरिहृतश्चेति दोषचतुष्टयं

दुष्ट इति सम्बध्यते । क्रमेणोदाहरणम् ।

अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तावश्चमानन्दः ।

मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकद्रविर्जयति ॥

अत्र अतिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतिपाद्यमानमर्थं
न बाधन्त इत्यपुष्टाः न त्वसङ्गताः पुनरुक्ता वा ।

सदा मध्ये यासामियममृतनिष्यन्दसरसा

सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।

प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महताम्

महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥

अत्र यासां कविरुचोनां मध्ये सुकुमारविचितमध्यमात्मक-
त्रिमार्गा भारतौ चमत्कारं वहति, ताः गम्भीरकाव्यपरिचि-

विश्वयुक्तोऽनुवादायुक्तश्चेति दीर्घपद्यम् । अपुष्टमुदाहरति अतिविततेति विशिष्यस्य
उत्कर्षानाघायकविशेषणत्वं तत्त्वम् । रविर्जयति कौटुम्भः अतिविस्तीर्णायां गगन-
सरणावाकाशपथे प्रसरणे चलने परिमुक्ती विश्रान्त्यधीनानन्दो येन तादृशः तथा
मरुता उल्लासितसौरभाणां कमलाकराणां हासकरी ।

अचेति । प्रतिपाद्यमानं रवेरुत्कर्षम् । न चातिविस्तीर्णपथगमनेऽपि विश्रान्त-
भावेन लभ्यमानमेवोत्कर्षमनुपादीयमानास्ते बाधन्ते एवेति वाच्यम् । सदातन्त्रेण
प्रसिद्धे रविप्रसरणे विश्रान्त्यध्यागमाच्चैव तन्नाभादतिविततगगनसरण्यनुपादानेऽपि
तदबाधात् अदीर्घपथेऽपि सदा प्रसरणे विश्रान्तिसम्भवेन तन्नाभेनैवोत्कर्षान् । अति-
विततत्वादस्य इत्यत्रातद्गुणसंविज्ञानबहुप्रोहिष्या कमलाकरे मरुदुल्लासितसौरभ-
विशेषणस्यैवापुष्टार्थत्वं मरुदादिपदार्थत्रयापेक्षया च बहुवचनमिति केचित् ।
कष्टमर्थमाह ।

सदेति । आसत्त्वादिसत्त्वेऽपि कष्टबोध्यार्थत्वं तत्त्वं लक्षणातश्चात्र कष्टबोध्यता
नेयार्थं त्वकष्टबोध्येति भेदः । सुकुमारविचितमध्यमात्मकारौतिमन्महाकाव्यविषयो
बौद्धजनैश्चानां मीघकन्नादित्यप्रभाषाच्च प्रसादनीपायभावमार्थकमिदं पद्यम् ।
बौद्धजनैश्च प्रसादनञ्च तदिच्छाविषयकाव्यकरणेनैवेति तदुपायचित्ता आदित्य-

ताः कथमितरकाव्यवत् प्रसन्ना भवन्तु, यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ता मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति सङ्घे पार्थः ।

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्धेवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं, जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥

प्रभा प्रसादनञ्च मेघापसारखेनेवेति तदुपायचिन्ता । अस्य कियतीं व्याख्यां कुरुते ।

अचेति । मध्य इति विषयतायामित्यर्थः । सरस्वती कवित्वरूपा चसत्कारमिति परिमलपदार्थः श्लोकेऽस्मत्तेति । अमृतस्यन्देनेव सरसीत्यर्थः । उद्दामा शब्दार्था-
उम्भरेणीकृता घनपरिचितेति व्याचष्टे गभीरेति महतां कालिदासादीनां यन्महा-
काव्यं सर्गबन्धप्रबन्धः स एव विसौर्णवाद्ग्रीमेव तद्वृत्ति द्विविश्वोकात्मकगभीरकाव्य-
विषया इत्यर्थः इतरकाव्यवदिति सप्तम्यन्नाडिति । इतरकाव्यविषया इवेत्यर्थः ।
आदित्यप्रभापचं व्याचष्टे यासामिति प्रभाणामपि रुचिपदार्थत्वात् तन्मध्ये त्रिपथ-
गा चाकाशगङ्गा रविरग्निवेष्टिततत्वात्तस्याः । अत्रापि वहतीत्यत्र परिमलमिति
बोध्यम् । तस्य च कमलादिसौरभमित्यर्थः । अत्र पक्षेऽमृतनिष्यन्दी जलप्रवाहः
तेन सरसा स्निग्धा सरस्वती भूमावागत्य सरीवरविशिष्टा उद्दामा वेगवती
मेघपरिचिता इति महतां महाकाव्यतुल्ये व्योम्नि मेघच्छन्ना इत्यर्थः । व्याहृतमाह ।

जगतीति । निन्दायामेव तात्पर्यसत्त्वे निन्दितस्यैव पुरस्कारव्यञ्जकार्थत्वं तत्त्वं
तथाच निन्दाया एव व्याहृतत्वमित्यर्थः । निन्दासुखस्तुतिरूपव्याजीक्री तु स्तुतावेव
तात्पर्यं न निन्दायाम् । मालत्यां माधवस्यानङ्गलेखोऽयं नवेन्दुकलादयश्चे ते
स्वभावतो मधुरा मनोशा भावाः पदार्थां जगति जयिन उल्कध्वन्तः अन्येऽपि ये
मनो मदयन्ति तेऽपि सन्धेव न तु मत्प्रीतिजनका इत्यर्थः । तर्हि कस्य प्रीति-
कारीत्यत्राह मम त्विति । इयं मालतीरूपा विलोचने चन्द्रिका यत्रयत्र विषयं याता
प्राप्ता अस्मिन् जन्मनि स एवैको नम महीत्सव इत्यर्थः । विषयमिति भावप्रधानी
निर्देशः विषयतामित्यर्थः ।

अत्रेन्दुकलादयो यं प्रति पस्पशप्रायाः स एव चन्द्रिका-
त्वमुत्कर्षार्थमारोपयतीति व्याहृतत्वम् । कृतमनुमतमित्यादि

अत्रार्जुनार्जुनेति भवद्भिन्निति . चोक्ते सभोमकिरीटिना-
मिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः यथा वा,

अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्त्रिन्मम पितरि, गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णालं सम्भ्रमेण व्रज क्षप ! समरं मुञ्च हार्दिक्य ! शङ्काम्,
ताते चापद्वितीयं वहति रणधुर की भयस्यावकाशः ॥

अत्र चतुर्थेपादवाक्याथः पुनरुक्तः ।

अत्रेति । यं लाघवं प्रति पस्पशाः तुच्छाः स एव साधनः चन्द्रिकात्वमिति ।
आदिपदत्वस्य वाच्यचन्द्रिकायाः उक्तार्थोऽनिति रूपकार्यकरणे रूपमाणनिष्ठोत्कर्ष-
नाभायैव रूपककरणात् । एवं तुल्यन्यायान् पुरस्कृतस्य निन्द्याव्यञ्जकायैवमपि
तत्त्वं बोध्यं यथा ।

देवि ! त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभा तिरस्कारिणा ।

पश्याजानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छाद्यताम् ॥ इत्यत्र

मुखे पङ्कजरूपणात् पुरस्कृतस्य पङ्कजस्य निर्जितत्वेन निन्द्याव्यञ्जना पुरस्कार-
व्याघातिका । पुनरुक्तमुदाहरति कृतमनुकृतमिति ।

अर्जुनार्जुनेति । वैश्वीसंहारे एतत् श्लोकात् पूर्वं सम्बोधनं भवच्छब्देन च सम्बो-
धितस्योपस्थापनात्तदर्थककिरीटिशब्देनात्र तस्य पुनरुक्तिरित्यर्थः ।

अस्त्रज्वालिति । पलायमानानि कुरमैन्यानि परावर्धयितुमशक्यान् उक्ति-
रियम् । सर्वधन्वीश्वराणां गुरौ मम पितरि द्रोणेऽस्त्रिन् सेनानाथे स्थिते सती
त्यन्वयः । मम पितरि कीदृशे अस्त्रज्वालायाऽवलीढं यत् प्रतिपक्षबलं तदेव जलधिस्तद-
न्तरौर्वायमाने जलधिःशोषकत्वाद्दौर्वाणत्वम् ।

अत्रेति । इदमपाततः वस्तुतस्तु पूर्वश्लोक एवैतदुदाहरणं न जेतव्यं न भेतव्यं
मिति वदाशासने पीनरुक्त्यस्यादीषत्वात् । दुष्कृममाह ।

भूपालरत्न ! निर्देन्यप्रदानप्रसृतोत्सव ! ।

विश्राण्य तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥ (दुष्क०)

अत्र मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो युक्तः ।

स्वपिति यावदयं निकटे जनः, स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।

तदपि साम्प्रतमाहर कुर्परं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम् ॥ (घा०)

एषोऽविदग्धः । मात्सर्यमुत्सार्येत्यादि,

अत्र प्रकरणाद्यभावे सन्देहः शान्तशृङ्गार्यन्वतराभिधाने
तु निश्चयः ।

भूपालीति । आकाङ्क्षितकमविलङ्घनेनीकृतपदार्थत्वं तत्त्वं निर्देन्येति । निर्गतं
दैवं यस्मात् तथा प्रदाने प्रसृतः स्यात् उक्तवो यस्य हे तादृश ! विश्राण्य देहि ।

अत्रेति । बहुमूल्ययाचनीतरमेव तत्राप्तसम्भावनायां अल्पमूल्ययाचनमिति
क्रमस्वाकाङ्क्षितत्वात् । साम्यमाह ।

स्वपितौति । सुप्तनवीदायां शय्यायां सुषुप्तीः प्रत्युक्तिरियम् । अयं सखीजन-
सव निकटे यावत् स्वपिति तावदहमप्यत्र स्वपिमि । तव किमपैति एतत्सन्निधौ
रतिकदर्थनरूपापायाभावात् तत्तन्मादयि ! भीः ! साम्प्रतं कुर्परं कफोषिमाहर संवृष
कफोषिणा शय्यां गच्छादयेत्यर्थः । स्यात् कफोषितु कुर्परं इत्यमरः । रूपकमिति
कश्चित्पाठस्तदा च रूपमेव रूपकं शरीरमित्यर्थः ।

अविदग्ध इति । तथाच अविदग्धकथितार्थत्वादयं साम्यः उक्तिभङ्गीराह-
त्वात् । सन्दिग्धमर्थमाह ।

मात्सर्यमिति । श्रुष्टान्निश्चितेऽपि बीडुः संशयजनकीऽर्थः सन्दिग्ध इति
सन्दिग्धपददीप्ते तु पद एव सन्देहः । अत्र वक्तृसंशयः किं पदवाच्य एव वाक्या-
न्निश्चितस्ततश्च निश्चितेन तत्संशयेन तदीयतापर्य्ये संशयजननादस्य एकतरसेवन
एव निश्चय इति । तन्निश्चये व्यञ्जनयाऽवगते किं भूधरनितम्बसेवनेऽस्य निश्चय
इत्यौचित्यावर्जितसंशयो भवति यदि तु तत्तात्पर्य्यग्राहकं प्रकरणादिकं तिष्ठति
तदा तदीयतापर्य्यग्रादेव एकतरसेवने मानसी निश्चयः स्यादित्याह ।

अत्रेति । अन्यतराभिधानेऽन्यतरत्वेन निश्चितत्वाभिधाने तथात्वेन निश्चये

गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि,
 प्रभावाद्यस्याभून्न खलु त्व कश्चिन्न विषयः ।
 परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकात् न तु भयात्,
 विमोक्ष्ये शस्त्रं ! त्वामहमपि, यतः स्वस्ति भवते ॥
 अत्र शस्त्रमोचने हेतुर्नोपात्तः ।
 इदन्ते केनोक्तं कथय कमलातङ्गवदने !
 यदेतस्मिन् हेन्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।
 इदं तद्दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
 तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥
 अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम् । यथा वा,

तत्तात्पर्यस्य सुग्रहत्वात् एवञ्च वक्तुं निश्चयस्य व्यङ्गत्वात्तदेव गुणीभूतव्यङ्गे शान्त-
 शृङ्गाद्यन्वतरनिश्चयस्य व्यङ्गत्वमुक्तम् । निहेतुमाह ।

गृहीतमिति । हेत्वभिधाने आकाङ्क्षीत्यापकसत्त्वेऽनभिहितहेतुकार्यत्वं तत्त्वम् ।
 कर्णेन सह विवादेऽस्त्रं त्यक्तं शस्त्रं सम्बोध्याश्चत्यास्र उक्तिरियम् । हे शस्त्र ! त्वं
 येन मम पिता नोचितमपि ब्राह्मणजात्यनुचितमपि परिभवभयात् द्रुपदात् परिभव-
 भीत्या गृहीतमासीः यस्य मम पितुः प्रभावात्तत्र न विषयस्तत्पत्यनाश्रयो न खलु
 कश्चिदभूत् तेन मम पिता त्वं सुतशोकात् मन्मरणवाच्यया श्रीकात्परित्यक्तं न तु
 भयान्परित्यक्तं तस्मादहमपि त्वां यतो विमोक्ष्येऽतो भवते स्वस्ति तत इति पाठस्तु
 सुग्रमार्थ एव ।

अत्रेति । द्वितीयशस्त्रमोचनमश्वत्यास्रः शस्त्रत्यागः अत्र च पितुः शस्त्रमोचने
 हेतुकथनमेव द्वितीयशस्त्रमोचने हेत्वभिधानाकाङ्क्षीत्यापकं प्रसिद्धिविरुद्धमाह ।

इदन्ते इति । कविलोके यादृशी प्रसिद्धिस्तद्विरुद्धत्वं तत्त्वं कमलस्यातङ्गी
 यस्मात् हे तादृशवदने ! यदेतस्मिन् हेन्नः कटकमिति धियं खलु धत्से इदं ते तव
 स्थाने केनोक्तं तत्कथय तत्किमिदमित्यवाह । इदं स्मृतिभुवा कामिन दुःसाधनजन-
 स्याक्रमणाय परमास्त्रं चक्रं तव करकमलमूले प्रीत्या विनिहितम् ।

अत्रेति । लोके कविलोके अन्यलोके प्रसिद्धप्रभावस्य दीघत्वाभावात् । पञ्चव-
 त्थयति यथा वा ।

उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः ।

सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिर्हिहेच्यताम् ।

इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया

चरणनलिनन्यासीदञ्चन्नवाङ्गुरकञ्चुकः ॥

पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरङ्गु-
रोद्गमः ।

सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी

महसि सुदृशि खैरं यान्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।

तदनु भवतः कीर्त्तिः केनाप्यगीयत येन सा

प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का, क्व नासि शुभप्रदः ॥

उपपरिसरमिति । इ अध्वगाः । गोदावर्याः परिसरस्य तीरस्य समीपे
सरणिं परित्यजत इह देगे भवद्भिर्न्या मार्गे इत्यन्तां हि यस्मादिह सरणीं रक्ता-
शोकः कयापि हताशया पापिष्ठया दिव्यस्त्रिया चरणनलिनन्यासेन उदञ्चदुङ्गच्छन्ना-
ङ्गुररूपं कञ्चुकं यस्य तादृशी विहितः दिव्यस्त्रीपादाघातेनाशोकस्य कविभिः प्रसि-
तत्ववर्णनात् तथाविध तद्दर्शनं रवीविरहिणां युष्माकं कामीहीमता सङ्कटं स्यादिति
भावः ।

अवेति । पुष्पोद्गम एव प्रसिद्धो न त्वङ्गुरोद्गम इत्यर्थः । न च कुसुमं कृत-
दीहदस्त्वया यदशीकोऽयमुदीरयिष्यतीति । कालिदासेन गर्भस्य वर्णनात् कलिकां
विना पुष्पासम्भवाच्चाङ्गुरस्वीद्गमः कविषु प्रसिद्ध एवेति वाच्यम् उद्दीपककथना-
दत्र नवाङ्गुरपदस्य पल्लवनवाङ्गुरपरत्वादेव पथि पथि शुकचञ्चूचारुवालाङ्गराणा-
मित्यत्र शुकचञ्चूसादृश्यात् पल्लवाङ्गुरस्यैव उद्दीपकत्वलाभात् कलिकारुपाङ्गराणां
नवत्वेनातिमुञ्चत्वावगमात्तद्दृश्यामुद्दीपकत्वाभावात् तथाच कामिनीपादाघातेन
पल्लवाङ्गुरोद्गमे कविप्रसिद्धे नास्त्विवेत्यर्थः । कविप्रसिद्धिविरुद्धमपि वर्णनीयमेवेत्याह ।

सुसितेति । कौमुदी चन्द्रिका तद्रूपे महसि तेजसि सति सुसितवसनालङ्का-
रायां सुदृशि सुमयनायामभिसारिकायां कदाचन खैरं यान्यां सत्यां विधुरस्तं गतो-
ऽभूत् तथाच शुकवस्त्रालङ्कारायास्तमसा अभिसारवाधे उपस्थिते तदनु भवतः कीर्त्तिः

अत्रामूर्त्ताऽपि कौर्त्तिः ज्योत्स्नावत् प्रकाशरूपा कथितेति
लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न द्रुष्टम् ।

सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः ।

नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ॥ (वि०वि०)

ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम् ।

अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्योः समीक्ष्यते ।

पाङ्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना ॥

एतत् अर्थशास्त्रेण ।

विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गदमङ्गना ।

बभार कान्तेन कृतां करजोस्त्रेखमालिकाम् ॥

अत्र, केयूरपदे नखक्षतं न विहितमिति, एतत् कामशास्त्रेण ।

अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन

दुःसाधसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे ।

केनापि जनेनागीयत येन गानेन कौर्त्थिव चन्द्रवत्तमीनाशात् सा मुक्ताशङ्का मती
प्रियगृहमगात् अस्यार्थस्य समर्थकमर्थान्तरं न्यस्यति क्व नासीति सर्वदैवेत्यर्थः । विद्या-
विरुद्धे वक्तव्ये धर्मविद्याविरुद्धमाह ।

सदेति । ग्रहोपरागं विनेति दिवाकरकरैः पूतं दिवा स्नानं प्रशस्यतं
अप्रशस्तं निशि स्नानं राहोरन्यत्र दर्शनादिति पराशरवचनात् । नीतिशास्त्रविरुद्ध-
माह ।

अनन्येति । षड्गुण्यं मन्त्रणा तदनुसृति तदनुसरणं एतदर्थशास्त्रेणेति । अर्थ-
शास्त्रं नीतिशास्त्रं तेनेदं विरुद्धमित्यर्थः । बाहुबलपाङ्गुण्ययोर्मिलितयोरेव काव्ये-
साधकत्वस्य नीतिशास्त्रीकत्वात् । कामशास्त्रविरुद्धमाह । विधायेति । अनङ्गाङ्ग-
दमिति करजोस्त्रेखमालिकाविशेषणम् । अवेति । नखक्षतस्य स्थानान्याह ।

वात्सायनः । नखक्षतस्य स्थानानि कक्षी वक्षस्तथा गलः ।

पार्थी जधनमूरु च सनगण्डलखाटिका इति ॥

योगशास्त्रविरुद्धमाह ।

आसादयन्नभिमतामधुना विवेक-

ख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विसुक्तः ॥

अत्र, विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः, पश्चादसम्प्र-
ज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ, एतत् योगशास्त्रेण । एवं
विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम् ।

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्,

दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।

सन्तर्पिताः प्रणयिणी विभवैस्ततः किम्,

कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम् । तत्तु यथा,

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं, यदि न गौरवमद्रिषु किं ततः ।

लवणमम्बु, सदैव महोदधेः, प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥

अष्टाङ्गिति । समाधिधनानां मौलिमणिः यम्युच्यते नियमसंबन्धमासनं प्राणसंयमः ।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानञ्चैव समाधिगुक् । एतानि कथितान्यष्टौ योगाङ्गानि
मनीषिभिरित्युक्ताष्टाङ्गयोगस्य यत्परिशीलनमनुष्ठानं तस्य कौलमेनाभ्यासेन दुःसा-
धनेऽवश्याकर्षणे मीढनादीनां सिद्धीनां योगोपसर्गसंपादां सविधं सान्निध्यं दूरे
विदधत् अधुना विसुक्तः किं कुर्वन् अभिमतां विवेकख्यातिं समाधिविशेषमासा-
दयन् । समाधीनां क्रमं दर्शयत्येति । तथाच योगशास्त्रीकक्रमविरोधादित्याविरु-
द्धत्वम् । एवमिति वैद्यकादिविद्याविरुद्धमित्यर्थः । अनवीकृतमाह ।

प्राप्ता इति । उद्देश्यप्रतिनिर्देशत्वाभावे सति बहुशः प्रत्यायस्यैकस्यैवार्थस्य
भङ्गोभिदेन नवीकरणरहितार्थत्वं तत्त्वम् । अर्थात्तत्त्ववर्णाहरेत्याधानमत्र दूषकता-
धीजम् । सर्वत्र ततः किमित्यस्मात्परं मुख्यपर्यागतत्वज्ञानं यदि न स्यादिति शेषः ।
ननु क्रीडशकरणे नवीकरणं स्यादित्येवाह ।

तत्तु यथेति । अविषादिता विषादराहित्यं सतां प्रकृतिरेव स्वाभाविकैव
नलोपाधिकी तत्र प्रतिवस्तूपमामाह ।

यदीत्यादि । तत्र गौरवं गुरुत्वम् अत्र स्वाभाविकत्वस्यैव बहु शोच्यम् किन्तु
इयं किं ततः सदैव प्रकृतिरेवेति महोत्पद्येतीति । अनियमपरिहृतमाह ।

यत्रानुलिखिताख्यमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधेः,
उत्कर्षप्रतियोगिकल्पमपि न्यङ्कारकोटिः परा ।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुक्तञ्च यत्सम्पदः,
तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥

अत्र, छायामात्रमणीकृताश्मसु मणोस्तस्याश्मतैवोचितेति
सनियमत्वं वाच्यम् ।

वक्त्राभोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते,
बाहुः काकुत्स्थवोर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।

यचेति । सनियमेनान्यव्यवच्छेदेन वक्तव्येऽतथा कथिताश्रयत्वं तत्त्वम् । तस्य
अर्धाञ्जिन्तामणेरभासमणिकृताश्मसु शोभया मणिकृतशिलासु मध्ये गणन इति
दीपः । अश्मत्वं शिलात्वमेवोचितं न तु मणित्वं निकृष्टमध्यगण्यत्वे निकृष्टसाधा-
रणधर्मैव निर्देष्टुमुचितत्वात् यत्र मणी विधेरेतन्निखिलं निर्माणं विधेः निर्माय-
माणाखिलगुणा इत्यर्थः । अनुलिखिताख्यं स्वस्वनाम्नीञ्च स्वागोचर इत्यर्थः । उ-
त्कर्षप्रतियोगी अमुकापेक्षयाऽमुक उत्कृष्ट इत्यपेक्षाबुद्धिविषयः सर्वोत्कृष्टस्य
प्रत्येकं प्रति तथा कल्पनस्य न्यङ्कारत्वात् कोटिः काष्ठा तथा यत्सम्पदः प्राणिनां
मनोरथाविषया अपि जाता इत्यर्थः । अत्र सर्वगुणमध्ये आभासः शोभाप्येकगुणः
अतः सर्वगुणवन्तो मणयोऽपि आभासमणिकृता भवन्त्येव तन्मध्येऽश्मत्वमेवेति न
युज्यते अतो गुणान्तरव्यवच्छेदेनैव वक्तव्यमित्यतस्तथैव पाठं रचयति ।

छायामात्रेति । छायामात्रेति पाठकरणे तस्यैत्यस्य प्रक्षेपं कुरुते तस्याश्मतै-
वेति । यद्यप्यत्र मणिकृतेत्यभूततद्भावार्थकञ्चिप्रत्ययमद्विज्ञैव मणेरैवाभासवशान्द-
खित्वे लब्धे गुणान्तरव्यावृत्तिः लभ्यते इतीदमुदाहरणं न प्रकृते सम्भवति तयान्नि-
खीलिङ्गमणिशब्दाभिप्रायेणैव इदमुदाहृतं न चिूपत्ययाभिप्रायेण ध्रुवा सिद्धिर्बलवता
वृषाणां जायते नहीत्येवास्वीदाहरणं द्रष्टव्यं नीतिव्यवच्छेदाय बलमात्रवतामिति
सनियमस्य वक्तव्यत्वात् । अनियमपरिहृतमाह ।

वक्त्राभोजमिति । सरस्वती वाग्देवतैव सरस्वती नदी सा तत्र वक्त्राभोजमधि-
वसति तथा सदा अधरः शोषोऽरुच एव शोषो नदः समुद्रमुद्राविशेषयुक्तो दक्षिणो

वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव सुञ्चत्यभीक्ष्णम्
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते ! तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥

अत्र शोण एवेति नियमो न वाच्यः ।

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः ! सान्द्रैर्मसीकूर्चकैः,
मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम् ।

चन्द्रं चूर्णयत क्षणाञ्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके,
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥

अत्र ज्योत्स्नीमिति श्यामाविशेषो वाच्यः ।

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारैः

रत्नान्यमूनि मकरालय ! भावमंस्थाः ।

बाहुः सादृश्यात् काकृतस्थस्य रामचन्द्रस्य वीर्यस्मृतिकरणे पट्टः स एव दक्षिणः
समुद्रः सागरः सेतुबन्धाद्रामनीर्यस्मारकः तथात्र ता वाहिन्यः सेना एव वाहिन्यो
नद्यः अभीक्ष्णं सततं भवतः पश्यं क्षणमपि नैव सुञ्चन्ति तथा स्वच्छेऽकुटिले मानसे
मनस्यैव मानसे सरोवरेऽन्तः सति कथम् अम्बुन्तरपानाभिलाष इत्यर्थः ।

अत्रेति । अनियमे नाम्बुसत्तायां दर्शयितव्यायामेवकारिणान्यव्यवच्छेदानी-
चित्यात् नचाधीगव्यवच्छेदकोऽयमेवकार इति वाच्यम् । विशेषीत्तरत्वात् वकारस्य
तथा व्युत्पत्त्यभावात् । विशेषपरिहृतमाह ।

श्यामामिति । विशिष्टवक्तव्यत्वे सामान्येन कथितार्थत्वं तत्त्वम् । उर्वशी-
विरडादुन्मत्तस्य पुरूरवस उक्तिरियम् । भोः ! मख्यः ! श्यामां रात्रिं सान्द्रैर्मसी-
कूर्चकैर्मसीचूर्णैः श्यामलिमानं श्यामलत्वमानयत प्रापयत तथा मन्त्रं तन्त्रमौषधञ्च
प्रयुज्य श्वेतोत्पलानां श्रितं विकासं हरत तथा शिलापट्टके कृत्वा चन्द्रं कणशचूर्णयत
येनैवंविधकारणेन तस्या उर्वश्या वक्त्रेण मुद्राङ्किताः चिह्निता दश दिशोऽहं द्रष्टुं
क्षमे एवंविधाकरणे तु एभिरुद्दीपकैरन्धीकृतीऽहं द्रष्टुं न शक्त इति भावः ।

अत्रेति । श्यामाविशेषो राविविशेषः तमस्विन्याः श्यानीकरणाभावात् । अवि-
शेषपरिहृतमाह ।

कल्लोलिति । सामान्ये वक्तव्ये विशेष्यकथितार्थत्वं तत्त्वम् । हेमकराख्य-

किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम

याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥

अत्र, एकेन किं न विहितो भवतः स नामेति सामान्यं वाच्यम् ।

अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः, प्रत्युत

द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।

उत्कर्षश्च परस्य, मानयश्चमोर्विश्रंसनं चात्मनः.

स्त्रीरत्नञ्च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ? ॥

अत्र स्त्रीरत्नमुपेक्षितुमित्याकाङ्क्षति । नहि परस्यैत्यनेन सम्बन्धो योग्यः ।

कल्लौलरङ्गैर्वेष्टितानां दृशदां परुषैः प्रहारैरमुनि रत्नानि माऽवमंस्थाः माऽवमानय
यती भवतः स्थाने पुरुषोत्तमोऽपि किं याच्यया प्रसारितकरः कौस्तुभेन न
विहितोऽपि तु विहित एव । तथाच रत्नस्योपकारकत्वात् कथं तदवमाननमिति
भावः । अत्र रत्नसामान्यावमानन निषेधे रत्नसामान्यस्यैवोपकारकत्वं वक्तव्यं न
विशेषस्य कौस्तुभस्य अतः पाठं परावर्त्तयति ।

एकेनेति । एकेनापीत्यर्थः अपिना रत्नान्तरसमुच्चयनाभावे तद्दोषतादवस्थात् ।
साकाङ्क्षमाह ।

अर्थित्व इति । उपात्तपदार्थान्वयित्वभ्रमप्रयुक्तस्यार्थस्थानुपात्तपदार्थान्वयकाङ्क्षत्वं
तत्त्वम् । न्यूनपदे तु तथा भ्रमाभावादित्यं विशेषणम् । धनुर्भङ्गे रामेणैव सीता
परिणेतव्येति निश्चिते मीघयाचनस्य रावणदूतस्य शौक्लस्य वाक्यमिदम् । यत्नाञ्चेत्
समर्थस्य रावणस्य प्रभोरर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न सीतापरिणयरूपफलप्राप्तिः प्रत्युत
विपरीते तथा वाच्यमानया कन्यया सुबाहुसुलीशादिराक्षसवधात्तस्य द्रुह्यन् द्रीहकारी
दाशरथिः युक्तः तस्मात् परस्य शतीरुत्कर्षश्च आत्मनी मानयश्चसीर्भ्रंशमच्च देवी दश-
मुखी जगत्पतिः कथं मृष्यते न इष्टीत्यर्थः ।

अत्र समुच्चयार्थकचकारवयवशात् पूर्वोक्तक्रमेणैव स्त्रीरत्नस्यापि कथं मृष्यत
इत्यत्रान्वयित्वभ्रम उन्नीयते वस्तुतस्तु तत्र नान्वयः । इष इतुमस्त्व एव कथं न इष्टी-

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी, शास्त्राणि चक्षुर्नवमं,
भक्तिभूतपतौ पिनाकिनि, पदं लङ्गेति दिव्या पुरी ।
उत्पत्तिर्दुहिणान्वये च, तदहो ! क्वेद्वरो लभ्यते ?
स्याच्चेदेष न रावणः, क्वनु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥
अत्र स्याच्चेदेष न रावण इत्यत एव समाप्यम् ।

त्युक्तिसंभवात् स्त्रीरत्नस्य त्वनुरागपात्रत्वेन द्वेषहेतुत्वभावात् अतस्तदुपेक्षायामिव
द्वेषान्वयी योग्य इत्यत आह अत्रेति । मनु परस्य स्त्रीरत्नं द्वेषयोग्यमित्यत आह
नहीति । आत्मन इत्यनेन व्यवधानादासत्त्वभावादिति भावः । न योग्यो नीचतः ।
शक्रवर्ती तु आकाङ्क्षितपदाध्याहारेऽपि विवक्षितात्वयानिर्वाह एव साकाङ्क्षत्वं
तथाचापौपेक्षितुमित्यस्याध्याहारे स्त्रीरत्नपेक्षितुमित्यन्वये चकारबलात् परीत्कर्ष-
स्वमानयशोभंशयोरपि उपेक्षितुमित्यत्रैवान्वयापत्तौ विवक्षिता सिद्धिः । परीत्कर्षस्व-
मानयशोभंशयोरिव द्वेषत्वान्न तदुपेक्षया इति साकाङ्क्षत्वमित्याह तन्न । स्त्रीरत्न-
श्चेति चकारात् पूर्वमुपेक्षितुमित्यस्याध्याहारे स्त्रीरत्नमुपेक्षितुश्चेत्यर्थे स्त्रीरत्नपेक्षया
परीत्कर्षस्वमानयशोभंशयोग्यद्वेषान्वये विवक्षितसिद्धिः । इदृशलक्षणकरणेऽनभिहित-
वाच्यभेदापत्तेश्च । अपदयुक्तमाह ।

आज्ञेति । अयुक्तस्थाने समापितपदार्थत्वं तत्त्वं पदं हि स्थानं युक्तत्वं हि
पदार्थसमापनम् । सीतां परिणेतुं प्रहितदूतस्य रावणस्य प्रशंसापूर्वत्यागाय
शतानन्दस्य वाक्यमिदम् । तस्य रावणस्याज्ञा शक्रशिखामणः प्रणयिनी सहचरी
शक्रेण शिखायां मणिवत्तदाज्ञा च भ्रियत इत्यर्थः । शास्त्राख्येव नवं नवीनं विभि-
निर्मितभिन्नं चक्षुः भूतानां प्राणिनां पत्यौ पिनाकिनि महेशे भक्तिः लङ्गेति
लङ्कानाञ्चौ दिव्यापुरी पदं वसतिस्थानं दुहिणस्य ब्रह्मणोऽन्वये कुली उत्पत्तिः अहो
तत्तस्मान्नेद्वरो लभ्यते यद्यपि रावणो लोकानामासंरावजनको रावणनाम-
स्मारितदौर्जन्यो वा न स्यात् अतस्तथात्वाभासौ वरो याद्य इति भावः । तादृश-
ज्ञानागुणवत्तस्य तमेव दीपसम्भवमुपपादयति क्वनु पुनरिति ।

अत्रेति । समाप्यं पद्यमिति शेषः क्व नु पुनरित्यादेस्तदत्याग एवोपयोगित्वेन
तदुक्त्वा पद्यसमापनानीचित्यादिति भावः । अत्र रावणविषयानुयाया अपकर्षो
द्वेषतावीजम् । सहचरभिन्नमाह ।

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता,
मदेन नारी, सलिलेन निम्नगा ।
निशा शशाङ्केन, धृतिः समाधिना,
मयेन चालङ्घियते नरेन्द्रता ॥

अत्र श्रुतादिभिरुक्तैः सहचरितैर्व्यसनमूर्खतयोर्निष्कृष्ट-
योर्भिन्नत्वम् ।

लग्नं रागाहताङ्गैस्त्वत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन श्रीस्तस्माद्-
प्रसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते ।

प्रयत्नपरिवोधितः स्तुतिभिरस्य शेषे निशा-
मकेश्वमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम् ।

श्रुतेनेति । उक्तमीचितधर्मेणानेकेषामुक्तमानां प्रशंसायामनुत्तमीचितधर्मे-
ष्वानुत्तमस्यापि प्रशंसनं तत्त्वम् । श्रुते वेदः व्यसनमकार्यं धृतिः धैर्यं समाधि-
र्युक्तत्वाद्युक्तत्वावधानं तेन गृह्यादौ दृष्टमाने प्रतिकारसम्भवे तत्र धैर्यं न कार्यम्
अप्रतिकार्यं पुत्रादिमरणादौ तु धैर्यं कर्तव्यमेवेत्येवं समाधिनेत्यर्थः ।

अवेति । सहचरैरेकवाच्यनिर्दिष्टैः भिन्नत्वमनुचितत्वम् श्रुतबुद्ध्यादिसद्विषय-
भावप्रकर्षविधातीऽत्र दीपतावीजम् । प्रकाशितविरुद्धमाह ।

लग्नमिति । प्रकाशितो व्यञ्जितः प्रकृतोपश्लोकेन विरुद्धोऽर्थो येन वाक्यार्थेन
तादृशार्थत्वं तत्त्वम् । अनुचितार्थे पश्यतापदस्यैवाधेयस्यथा न तु वाक्यार्थः । तथा
कुविन्द इत्यादौ वाक्यानुचितार्थे श्रितचमारक्तभुव इत्यादौ वाक्यगतविरुद्धमतिक्रान्ति
चानेकार्थपददृष्टितवाक्यात्वात्वाक्यमेव विरोधिव्यञ्जकं न वाक्यार्थः न च शाब्दां व्यञ्ज-
नायामर्थस्यापि शब्दसहकारितया व्यञ्जकत्वात् वाक्यार्थोऽपि तत्र व्यञ्जक इति
वाच्यम् स्वातन्त्र्यैवाधेयस्यात्र व्यञ्जकताया विवचितत्वान्न तु सहकारितावशाद्-
प्राधान्येन लग्नमित्यादिकं व्याख्यातं गर्भितदीपे । श्रीस्तस्मादिति राज्ञीऽपचारस्य
विदितं तेऽस्त्वित्यनेन इदप्रत्यायनात्तदपचारप्रतिक्रियाचिकीर्षावगमात् । विध्य-
युक्तमाह ।

प्रयत्नमिति । इयोर्विधेयत्वेऽपि क्वचिदेके विधेयमुद्दिश्य वाप्यं विधातुमर्हं विधेयः

इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिनाम्,
अपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥

अत्र शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे इति विधेयम् । यथा वा,
वाताहारतया जगद्विषधरेराश्वास्य निःशेषितम्,
ते यस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्वर्हिभिः ।
तेऽपि क्रूरचमूरुचमंवसनैर्नाताः क्षयं लुब्धकैः,
दम्भस्य स्फुरितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानोहते ॥

ताया निराकाङ्क्षतारूपापर्याप्तिरपि तत्रैवीचिता तथात्वविपर्यासाद्विधेयतापर्याप्ता-
युक्तत्वं तत्त्वम् । तदयुक्तत्वग्रहश्च क्वचिद्योग्यताबलात् क्वचित् यादृक्विशेषणयाहित-
तात्पर्यात् विधेयादिमर्षं तु विधेयतैव न प्रतीयते न तु विपर्यासाद्विधेयतापर्याप्ता-
युक्तत्वं यत् । तत्र यंग्यतात्रलग्नहीततदयुक्तत्वे उदाहरति । प्रयत्नपरिबोधित
इत्यादिकुरुपाञ्चालशौक्यणानां नाशाय दुर्योधनस्थानेऽश्वत्थामः प्रतिज्ञयम् । शेष
इति भावेष्वनुसामौष्ये वक्तमाना । तथाच हे दुर्योधन ! अद्य निशां व्याप्य शयिष्यसे
स्तुतिभिः प्रयत्नपरिबोधितस्य इत्यर्थः । सीमकाः पाञ्चालाः रणकथा रणप्रसङ्गः
दोःशालिनां वीराणाम् अपैतु अपगच्छतु नृपा एव काननम् ।

अत्रेति । युद्धचितया निद्रा तदुत्तरं प्रबोधश्च इयमपि नास्तीत्यत आश्वासने
इयमपि विधेयं तत्र निद्रितस्यैव प्रबोधान् विधेयता पर्याप्तिस्तत्रैवाख्यातेन कर्तुं
युक्ता तद्विपर्ययेणात्र निर्देशात् विध्ययुक्तता न च निद्राहयमध्यवर्तिप्रबोध एवाय
मुक्तः स च तदुत्तरनिद्रायामनुवाद्य इति वाच्यम् । स्तुतिभिः प्रयत्नपरिबोधितत्व-
वशाच्छत्रुनाशाधीनसुखनिद्रायां लम्बायां तदुत्तरं निद्रान्तरकथनानुपयोगात् तदुत्तर-
मपि स्तुतिभिः प्रबोधनकथनौचित्यापाताच्च अद्य शेष इत्युक्त्या तथात्वव्याघाताच्च ।
अद्यान्तरन्यासगृहीततात्पर्याया विधेयतात्पर्याप्तिरप्ययुक्तत्वमाह ।

वाताहारिति । विषधराणां वाताहारता सर्वजनप्रसिद्धैव तैस्तथात्वेनाश्वास्य
जगदेव निःशेषितं तेषां दम्भाधीनतादृशकर्मणः फलमाह ।

ते यस्ता इति । ते विषधरास्त इत्यर्थः नियमतोऽभ्रतोयकणिकाभक्ष्यं बर्हिणां
लीकसिद्धमतस्तत्तीव्रतत् दम्भीपयोगि तथा व्रतवद्विरत्यर्थः । तेषामपि तादृश-
कर्मणः फलमाह तेऽपीति । ते बर्हिणः क्रूरं कठिनं चमूरुवी मृगा लुब्धकै व्याधे-

अत्र वाताहारादित्यं व्युत्क्रमेण वाच्यम् ।
 अरे रामाहस्ताभरण ! भंसलस्येणिशरण !
 स्मरक्रोडाव्रीडाशमन ! विरहिप्राणदमन ! ।
 सरोहंसोत्तंस ! प्रचलदल नीलोत्पल ! सखे !
 सखेदोऽहं, मोहं स्यय, कथय क्वेन्दुवदना ? ॥

सोवामपि चर्मधरणं वह्निप्रतारं कतया दम्भोपयोगि तेषां तत्कर्मफलमप्येवं रीत्या बोध्यमिति भावः । कथं तैरेव दम्भोपयोगिकर्मात्फलदर्शनेऽपि क्रियत इति अर्थान्तरन्यासेन तथाकरुणं समर्थयति दम्भस्येति । वाताहारादिकर्मभिराचरितस्य दम्भस्य स्फुरितं फलं वह्निंयासादिरूपं विदन्नपि जनो विषधरादिरन्यजनो वा दाभिको दम्भोपयोगिकर्मांश्वेव गुणानोहते गुणतया चेष्टते यतो जात्वी निकृष्टः इत्यर्थः ।

अवेति । वाताहारादित्यं वाताहाराभतीयकणिकाप्रतचर्मधरणरूपव्रतव्ये-
 षाश्रासनरूपव्युत्क्रमेण निर्दिष्टविधेयतापर्याप्तिं परावर्त्य वाच्यमित्यर्थः । तथाच जगन्निःशेषणाय वात आहतः तद्व्यसनायाभकणिकाप्रतं कृतं तान् चयितुं क्रूर-
 चसूचर्मवसनं कृतमित्येवं रूपतया वाताहारादौ विधेयता पर्यापणीया इत्यर्थः । कथमेवं वाच्यमिति चेदर्थान्तरन्यासे गुणानीहते इत्युक्त्या आख्यातेन दम्भोप-
 योगिगुणचेष्टायां विधेयतापर्याप्तौ तात्पर्यस्य यादृजितत्वादिति भावः । वाता-
 हारादिकरणमात्रं दम्भोपयोगिगुणचेष्टारूपत्वात् । केचित्तु वाताहारादिव्रतानां क्रमशो न्यूनं न्यूनतरव्रतत्वेन न्यूनतरादिक्रमेणैव वाच्यमिति यन्मकृता दर्शितं गुण-
 गुणतरव्रतानां लघुव्रतादिक्रमेणैव करणीयत्वादिति व्याचक्षते तन्न । तथोक्ते दुष्कृ-
 तदीवरूपत्वेन प्रकृतीदाहरणतया यन्मकृता तत्प्रदर्शनस्यानीचित्यात् लघुव्रतादि-
 क्रमेण करणीयत्वेऽप्युक्तौ तथाक्रमनियमाभावाच्च । भिन्नकर्तृकव्रतेषु तथाकमा-
 भावाच्च अनुवादायुक्तमाह ।

अरे इति । प्रकृतविधेयस्य यद्वर्त्मविशिष्टानुवादः प्रतिबुद्धसादृशधर्मस्यानुवाद्य-
 विश्लेषणत्वं तुल्यम् । सर्वशीहसखे नौलीत्यलमाखीक्य पुरुरवससात्मन्धीधने-
 नीक्तिरिवम् । अरे इति सानुभवसम्बन्धने । रामा प्रकृते सर्वशी भसला धमराः
 मकरन्ददायित्वात् तेषां शरण ! अरक्रीडायां वा व्रीडा उद्दीपकत्वाच्चमन ! उत्पल-

अत्र विरहिप्राणदमनेति नानुवाचम् ।

लम्नं रागावृताङ्घ्रेत्यादि,

अत्र विदितं तेऽस्वत्वुपसंहृतोऽपि तेनेत्यादिना पुनरु-
पात्तः ।

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।

यथाऽशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः ।

तलचारिणां सरोवरहंसानाम् उपरिस्थितत्वात्तदुत्तंस ! शिरोभूषण ! सखे ! नीलो-
त्पल ! इन्दुवदना उर्वशी क इति कथय तत्कथनाच्च मम मोहं झथय यतः सखेदी-
ऽहमित्यन्वयः । अत्र व्रीडाशमनान्तसम्बोधनद्वयेण सरोहंसीत्तंसेति सम्बोधनेन च
परोपकारित्वं प्रचलदलेति सम्बोधनेन स्त्रीपकारोपयोगिजीवित्वं सम्भावितम् ।

अचेति । विरहिप्राणदमनस्य विरहिमोहझथनप्रार्थनायामयोग्यत्वमिति भावात्
त्यक्तः पुनः स्त्रीकृतमाह ।

लघ्नमिति । क्रियाकर्माद्युक्त्या उपसंहृतेऽपि वाक्यार्थे उक्तजातीयकारकस्य पुन-
रुपादानरूपं स्त्रीकृतत्वं नञ्चम् । दधाति श्रीभां शशभृन्नभस्सखे इत्यत्र तु नभस्तल
इत्यधिकरणस्य उक्तकारकजातीयत्वाभावात्त दीषः । समाप्तपुनराप्ते तु विशेषणा-
न्वयार्थं विशेष्यानुषङ्गे नैतल्लक्षणाक्रान्त इति बोध्यम् । तेनेत्यादिनेति । कर्मकार-
काणां लघ्नमित्यादिगण्यतीत्यन्तानामुक्तत्वे तेनास्त्रीत्यादेः कर्मकारकस्य पुनः
स्त्रीकारः निराकाङ्क्षत्वमत्र दीषतावीजम् । अस्त्रीलार्थमाह ।

हन्तुमेवेति । अस्त्रीलार्थव्यञ्जकवाक्यार्थत्वत्वं शब्दास्त्रीषे तु अनेकार्थपदस्यैव
व्यञ्जः स्वतंत्रित्यार्थोऽस्त्रीत्व इति । हन्तुमेव शत्रून् प्रहर्तुमेव एवकारास्त्रीतिप्रवृत्तिव्यव-
च्छेदः । पक्षे सुरतमहारं कर्तुं सख्यस्य विवेचनारहितस्य पक्षे नञ्जतारहितस्य विवरं
शत्रो म्छिद्रं पक्षे योनिविवरं पातः शत्रुच्छेदं कीनियहः नीतिशून्यत्वात् पक्षे सुरताने
नञ्जभावः । उन्नतिः शत्रुबाधकत्वम् अनञ्जभावश्च । अरे रामाहस्येत्यादी सखेदी-
ऽह्निति गर्भितं सखेदीऽह्नमित्यत्र सखे ! इत्यनाश्रय्यवृत्तञ्च भास्वर्थ्यमुक्त्वाथं इत्यादी
मुक्तिकटुत्वञ्च शत्रुत्वार्थं तदप्रदर्शनमित्यत्र आह ।

यथैक इति । इदानींतुक्तदीक्षायां प्रतिप्रसवे वक्तव्ये पुनरुक्तत्वाधिकपदत्वदीवी
प्रतिप्रसूते ।

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति तथापि
तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम् ।

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।

सन्निधानादिबोधार्थम्,

अवतंसादीनि कर्णाद्याभरणान्धेवोच्यन्ते, तत्र कर्णादि-
शब्दाः कर्णादिस्थितिप्रतिपत्तये, यथा,

अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।

तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः अवरणकुण्डलम् ॥

अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः ।

आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥

अत्र कर्णअवरणशिरःशब्दाः सन्निधानप्रतीत्यर्थाः ।

कर्णावतंसादीनि । ध्वनिः शब्दः निर्मितिः प्रयोगः व्याचष्टे अवतंसादीनि
अवतंसपदस्य कर्णभूषणत्वेनैवीपस्थापकत्वात् कर्णपदप्रयोगे कर्णकर्णभूषणमित्यर्थे
पुनरुक्तत्वं चादिपदात् कुण्डलशेखरादिपरिग्रहः कुण्डलशेखरपदद्वयस्य अवणशिरः-
स्थितियोग्यसंस्थानविशेषस्यैव कुण्डलशेखरत्वजातिविशेषैव शक्यतावच्छेदके-
नीपस्थापकमतस्तत्र अवणशिरःपदप्रयोगे यद्यपि पीनरुक्तं नास्ति शक्यतावच्छेदक-
शरीरे अवणशिरसीरप्रवेशात् तत्रापि अवणशिरःपदयोरधिकपदत्वञ्चकसंस्थान-
ज्ञानादेव अवणशिरःसम्बन्धित्वाभात् तत्प्रयोगे तद्दीपद्वयं परिहरति कर्णादि-
स्थितिप्रतिपत्तय इति । तथाच कर्णादिशब्दास्तत्र कर्णादिस्थितपरतया लाक्षणिका
इति भावः । प्रयोजनाभावेऽपि रुद्धिहेतुकैयं लक्षणेत्यर्थे वक्ष्यते । नचावतंसपदस्यापि
कर्णस्थितभूषणवाचित्वात् सैव पुनरुक्तिरिति वाच्यम् । कर्णयोग्यभूषणवाचित्वा-
देव तस्य । अत्रवर्ती तु कर्णस्थितिः कर्णपदस्यैव इत्याह तत्र । व्यञ्जनीधस्य
शब्दबोधोत्तरकालीनत्वेन कर्णशब्दस्य लाक्षणिकत्वाभावे शब्दबोधे पुनरुक्त्यनु-
कारात् । कर्णावतंसपदं अवणकुण्डलपदसीदाहरति । अस्याः कर्णावतंसनेति
कर्णस्थितत्वं तस्यैव । एवं अवणस्थितं कुण्डलमित्यर्थः । शिरःशेखरपद-

विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे ।
धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोषा विस्फूर्जितं तव ॥
अत्र धनुःशब्द आरूढत्वावगतये । अन्यत्र तु,
ज्याबन्धनिस्यन्दभुजेन यस्य विनिश्चसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥
इत्यत्र केवलो ज्याशब्दः ।
प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥

मुदाहरति अपूर्वेति शिरःशेखरशालिनी जना आययुरित्यन्वयः । मधुरामोदः शेखर-
रस्यपुष्पाणां बोध्यः भृङ्गमुखरत्वमपि तत एव । धनुर्ज्याशब्दमप्युदाहरति ।

विदीर्णोति । विदीर्णाः शरनिर्भिन्ना येऽभिमुखारातयज्ञैः कराली व्यातै
इत्यर्थः । दोषा हस्तो न विस्फूर्जितं दिदीपे ।

अत्रेति । ज्याशब्दस्य धनुःस्थितियोग्यसंस्थानविशेषव्यञ्जजातिविशेषेण शक्य-
तापच्छेदकेनोपस्थापकत्वात्तदव्यञ्जकसंस्थानज्ञान एव धनुःस्थितियोग्यतालाभ इत्यती-
धनुःपदस्याधिक्यं धनुरारूढलक्षणया परिहृतमित्यर्थः । तादृशलक्षणयैव सङ्गर-
मध्ये हस्तस्य प्राशस्यलाभात् अन्यथा धनुर्विद्याभ्यासार्थं धनुरारूढलक्षणतद्विहृतस्य
हस्तस्य सङ्गरे प्राशस्यलाभात् यत्र तु धनुरारूढत्वप्रतिपादनेन प्राशस्यलाभे तात्पर्यं
नास्ति तत्र तदर्थं न धनुःशब्दीपादानमित्याह ।

अन्वय इति । यस्य कार्पवीर्यजुनेस्य कारागृहे आप्रसादात् प्रसादपर्यन्तं
लङ्केश्वरेणोषितमित्यन्वयः । विनिश्चसती वक्त्रपरम्परा यस्य इति विश्वः । अत्र
निष्पिष्टभुजत्वादिव वीरत्वलाभ इति भावः ।

अत्र । ज्याबन्धज्याघाति पाठद्वयम् । यदि च धनुरारूढत्वप्रतिपादनेऽपि तात्पर्यं
तदगतबन्धपदान्तरआदपि तलाभ इत्यपि बोध्यम् । अत्र कारा ख्याबन्धनालये
इत्यनरकीचात् गृहपदपीनरक्त्यमपि काराशब्दे बन्धमात्रलक्षणया परिहरणीयमिति
बोध्यम् । मुक्ता ये वैयकं हार इति कौषान्मुक्ताहारपदे मुक्ताशब्दस्यापि पीनरक्त्य-
मुदाहरति ।

प्राणेश्वरति । प्राणेश्वरस्य त्रियस्य परिष्वङ्गेन वा विधत्स्य विद्यासस्य प्रतिपत्त्यः

अत्र मुक्तानामन्यरत्नामिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः ।

सौन्दर्यसम्पत्, तारुण्यं यस्यास्ते, ते च विभ्रमाः ।

षट्पदान् पुष्पमालेव काञ्चाकर्षति सा सखे ! ॥

अत्रोत्कृष्टपुष्पविषये पुष्पशब्दः, निरुपपदो हि मालाशब्दः

पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते ।

स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥ १० ॥

न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते ।

जगाद् मधुरां वाचं विशदाच्चरशालिनीम् ॥

प्राप्तयस्ताभिर्लंसदा श्रीभमानेन मुक्ताहारिण तस्याः स्तनवयं हसतीवेत्यन्वयः मुक्ताहार एव हास इति भावः ज्ञापकत्वे तु तृतीयः ।

अत्रेति । तथाचान्यरत्नामिश्रितमुक्ताद्यैर्विधकेष्वेत्यर्थः । पुष्पमालाशब्दोऽपि पौनरुक्त्यमुद्धरति ।

सौन्दर्येति । यस्यास्तारुण्यं ते ते विभ्रमाश्च सौन्दर्यसम्पत् सा कान् नाकर्षति षट्पदान् पुष्पमालेव ।

अत्रेति । मालाशब्दस्य पुष्पस्रज्ज्ञेन रूपेण बोधकत्वान् पुष्पमालेत्यत्र पुष्प-पुष्पस्रजिति बोधे पौनरुक्त्यं पुष्पशब्दस्त्रीभूतत्वे लक्षणाया परिहृतमित्यर्थः । उत्कृष्ट-पुष्पविषये इति मालाशब्दाद्यैर्कदादेशी यत् 'पुष्पमुत्कृष्टं' सङ्घिये इत्यर्थः । न तु पुष्प-पदमुत्कृष्टपुष्प एव लाक्षणिकं तदा पौनरुक्त्यतादवस्थ्यात् । निरुपपदः पुष्प-शब्दोपपदरहितः पुष्पस्रजमेव न तु उत्कृष्टस्रजमित्येवकारार्थः स्त्रीपदत्वेऽपि पुष्पस्रज्वाचित्वानपाथात् । नन्वेवमैच्छिष्या सन्निहितलक्षणाया जघनकाञ्चीत्यादि-शब्दा अपि प्रयुज्यन्तामित्यत्र आह स्थितेष्विति । रुद्धास्थितेष्वित्यर्थः रुद्धभावे तु निवृत्तौ लक्षणेति व्याचष्टे ।

न खल्विति । वागनुकूलक्रियात्वेनेव कण्ठलास्याद्यभिधातवाचिनी गदधातो-रेव वागनुकूलत्वसामे । जगाद् वाचमित्यत्र सहाचमित्यस्य पौनरुक्त्यं तदपि वागनु-कूलत्वाग्रमपहाय तत्क्रियायामिव गदधातोर्लक्षणाया परिहार्यमिति नमसिद्धन्व-तत्पौनरुक्त्यनन्वयं ये परिहरन्ति तन्मत्तं रूपयति जगादिति । न-युक्तमिति ऊचे नन्वेवापसङ्गुद्धरेत्येवमत्र नृपसूत्रे वचनं उक्तीदर इत्यत्र जगाद् वाचं गिरिराजपुत्री-

इत्यादौ क्रियाविशेषणत्वेऽपि विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धौ,
गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित्प्रयोगः कार्यः”

इति न युक्तम् । युक्तत्वे वा,

चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि द्रुतम् ।

पादाभ्यां दूरमध्वानं व्रजन्नेष न खिद्यते ।

इत्युदाहार्यम् ।

ख्यातेऽर्थं निर्हेतोरदुष्टता-

यथा,

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते, पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।

उमासुखन्तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं
लोकप्रसिद्धमिति न भुङ्क्ते इति हेतुं नापेक्षते ।

त्यादौ च विशेषणदानं विनापि तत्प्रयोगात् विशेषणदानेऽपि पीनरुक्तागुणा
वाच्येति भावः । विशेष्यस्यानुपादाने मधुरत्वं विशेषणं कथं देयमित्यत्राह क्रिया
विशेषणत्वेनेति । मधुराक्षरशालीति क्रियाविशेषणविधयेव तदुपपत्तिरित्यर्थः । ननु
तत् किमन्यतो लभ्यस्य विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं कापि नोपादानमित्यत्राह ।

युक्तत्वे वेति । पीनरुक्ताभावे यत्र योग्यतावशात् विशेष्यलाभः सम्भवति
तत्रैव विशेषणदानार्थं गतार्थविशेष्योपादानमिति हृदयेन तादृशस्यलसुदाहरति ।

चरणत्वेति । चरणचं पादुका तत्कारणकेन कष्टकवेधतः स्वपरित्राणेन
हीनाभ्यामपीत्यर्थः । अत्र व्रजनयोग्यतयैव पादलाभी न तु पीनरुक्तामतीऽत्रैव
विशेषणस्य चरणत्वेत्यादि श्रुपनार्थं पादाभ्यामित्यस्य देयत्वादिदमेव तत्रोदाहार्य-
मित्यर्थः । अत्र च क्रियाविशेषणमपीच्छावशात् कर्तुं सम्भवतीति बोध्यम् ।

ख्याते इति । तत्रैतुक्तत्वे न ख्याते इत्यर्थः एकत्रापि स्वैर्याभावाङ्गीला चक्षुषा
लक्ष्मीचन्द्रं गता सती रात्रौ सुद्रितानां पद्मानां गुणान्न भुङ्क्ते न तद्गुणैः प्रीयिता
भवति एवं पद्माश्रिता सती दिवा निष्प्रभचन्द्रसम्बन्धिनीमभिख्यां प्रीभां न भुङ्क्ते
तथा न प्रीयिता भवतीत्यर्थः । द्विसंश्रयां चन्द्रपद्मीभयविवश्यात् उमासुखे उभयगुण-
सम्बन्धादितिभावः ।

ऽनुकरणे तु सर्वेषाम् ।

सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम्, यथा,

सृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयंत्ययम् ।

पश्यैष च गवित्याह सुवामाखं यजेति च ॥

वक्त्राद्यौचित्यवशाद्

दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ ॥११॥

वक्तृप्रतिपाद्यव्यङ्ग्यवाच्यप्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद्गुणः क्वचिन्न दोषो न गुणः । तत्र वैयाकरणादौ वक्तारि प्रतिपाद्ये च, रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः क्रमेषोदाहरणम्,

अनुकरणेत्विति । सर्वेषामिव दोषाणामदीपत्वमित्यर्थः परवाक्यानुकारकवाक्य-
तदर्थयोरनुकार्यवाक्यतदर्थदीपैरलिप्तस्य न्याय्यत्वादिति भावः । तत्र श्रुतिकटुत्वश्रुत-
संस्कृतित्वाप्रयुक्तत्ववशाक्यानुकरणे उदाहरति ।

सृगचक्षुषमिति । पूर्वाहं श्रुतिकटुत्वस्य तृतीयपादे निर्विभक्त्यन्तस्य नाक-
श्रुतसंस्कृतित्वस्य चतुर्थपादे सूत्रामपदाप्रयुक्तस्यादीपत्वम् । इति शब्दस्य लिङ्गाद्य-
गोव्यक्तिपरामर्शकत्वात्तत्र श्रुतसंस्कृतित्वप्रसक्तिः शब्दभावपरामर्शकत्वे तु तस्य
निरर्थकत्वेन लिङ्गत्वाभावाद्निर्विभक्त्यन्तस्य परामर्शोऽपि न श्रुतसंस्कृतित्वं यथा
प्रत्यचीपजीवकत्वादित्ये तच्छब्देकदेशभावपरामर्शे प्रत्यक्षाविति ।

वक्त्रादीति । व्याचष्टे वक्तृप्रतिपाद्येति व्यङ्ग्यप्रपदमत्र रसकुरव्यङ्ग्यपरं न च
साक्षात्कार्यत्वेन सिद्धान्तितस्य रसस्य कथं व्यङ्ग्यत्वमिति वाच्यम् । व्यङ्ग्या-
नन्तरमेव साक्षात्कार्यत्वस्य सिद्धान्तितत्वात् । अतएव रसादिध्वनेरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्व-
परिभाषायुपपद्यते । वैयाकरणादाविति आदिपदात्तार्थिकपरिचयः । वैया-
करणत्वञ्च न व्याकरणमादधातुत्वमात्रं सीऽध्यैष्ट वेदान्तित्यादौ तादृशभट्टिकारवक्तृके
श्रुतिकटुत्वदोषोदाहरणत्वानुपपत्तेः किन्तु स्ववैयाकरणता चिन्त्यापयिषया वक्तरी-
त्वर्थः । प्रतिपाद्ये तादृशचिन्त्यापयिषाविषय इत्यर्थः । कष्टत्वं श्रुतिकटुत्वम् ।

दीधीवेवोत्समः कश्चिद् गुणवृद्धोरभाजनम् ।
 क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिदुयत्र सन्निहिते न ते ॥
 यदा त्वामहमद्राचं शब्दविद्याविशारदम् ।
 उपाध्यायं तदास्माकं समस्मात्तच्च सम्मदम् ॥
 अन्वप्रोतवृहत्कपालनलकक्रूरकणत्कङ्कण-
 प्रायप्रेङ्कितभूरिभूषणरवैराघोषयन्यम्बरम् ।
 पीतच्छर्दितरक्तकर्मघनप्राधारघोरोल्लसद्-
 व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दपोद्धतं धावन्ति ॥

दीधीवेवीडिति । कश्चित् पुरुषः गुणो विद्यादिः व्याकरणविहितः कार्य-
 विशेषस्य वृद्धिः सम्पत् व्याकरणविहितो गुणबाधककार्यविशेषश्च दीधीवेवीधातीश्च
 गुणनिषेधात्तद्वाधिका वृद्धिरपि नास्ति । एवमिडागमस्यापि धातोर्विकरणत्वात् गुण-
 वृद्धौ स्वसन्निहितजनस्यापि गुणवृद्धिप्रतिरोधकः कश्चित् क्विप्प्रत्ययेनीपनीयते
 क्विप्प्रत्ययेति । यत्र पुरुषे यत्र क्विप्प्रत्यये च सन्निहिते सति ते गुणवृद्धौ तत्-
 सन्निहितस्य पुरुषस्य धातोर्वा न स इत्यर्थः । यावद्भावेन गुणस्य तद्वारिकाया वृद्धेः
 क्रियमभावात् । अत्र वेवीट्समेति क्विप्प्रत्ययेति च श्रुतिकटुत्वस्य गुणत्वं तादृश-
 पदोपादानात् तद्वक्तुर्वैयाकरणत्वविख्यापयिषालाभेनीदेश्यनिर्वाहकत्वात् एवमुत्तरत्वापि
 बोध्यम् । वैयाकरणे प्रतिपाद्ये श्रुतिकटुत्वस्य गुणत्वमाह ।

यदा त्वामिति । अद्राचं दृष्टवानस्मि शब्दविद्या व्याकरणम् । अस्माकं स्मृतवानस्मि
 सम्मदं हर्षम् अस्याचं स्पष्टवानस्मि । अत्र प्रतिपाद्यस्य शब्दविद्याविशारदत्वास्य
 वैयाकरणत्वं निश्चितं वक्तुस्तूपाध्यायान्तरप्राप्त्या सम्प्रदस्यश्रित्वेन पूर्वापाध्यायस्यदृ-
 त्वेन च अध्येतज्ञापनात् गाढवैयाकरणत्वमिति न वैयाकरणवक्तुर्कीदाहरणमित्य-
 संहरः । रसरूपव्यञ्जनमहिम्ना श्रुतिकटो गुणत्वमाह ।

अन्वप्रोतेति । प्राकरणिकी ताडका दर्पोद्धतं यथा स्यात्तथा धावन्ति । कीदृशी
 अश्लेष नाडिकया प्रोतेर्यथितैर्हृद्भिः कपालैः मलकैश्च हस्तजङ्घास्थिभिः क्रूरं
 कश्चिन्मणि कङ्कणप्रायाणि प्रेङ्कितानि चकानि भूरीणि च भूषणानि तेषां
 रवैरव्यरमाघोषयन्ती शब्दापयन्ती तथा प्रघनं पीतं ततश्छर्दितं वान्तं वद्वक्तुर्दं
 कर्मं तस्य चमत्प्रारोच निविडसेकेमं चीरो तथा उल्लसता व्यङ्गीलिमं सनभारैश्च

वाच्यवशाद्यथा,

मातङ्गाः ! किमु वलितैः, किमफलैराङ्गुलैर्जम्बुकाः !
सारङ्गाः ! महिषाः ! मदं व्रजत किं ! शून्येषु शूरा न के ।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटमटाकोटेरिभारेः पुनः
मिन्धुध्वानिनि हुङ्गते स्फुरति यत् तद्गर्जितं गर्जितम् ॥

अत्र सिंहे वाच्ये परुषाः शब्दाः । प्रकरणवशाद्यथा,
रक्ताशोक ! कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वा नुरक्तं जनम् ?
नो दृष्टेति मुधैव चालयमि किं वातावधूनं शिरः ? ।
उत्कण्ठाघटमानघटपदघटासङ्घट्टदष्टच्छ्रद-
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्भोऽयं कुतः ? ॥

अत्र शिरोविधूननेन कुपितस्य वचसि ।

भैरववपुरित्यर्थः । अत्र पादतयञ्चञ्चो बीभत्सरसयतुर्थपादव्यञ्जश्च वीरो रसः श्रीजी-
गुणयञ्जनादुभयस्यैवानुगुणाः कटुवर्णा इति तस्य गुणत्वम् ।

मातङ्गा इत्यादि । वल्गितैरित्यादी सगर्जितैरिति शेषः । तदैव पराङ्गर्जित-
विशेषप्रशंसालभ्यस्तीक्ष्णार्जितानर्थक्यस्योपपत्तेः । इभारेः सिंहस्य सिन्धोरिव प्रतिध्वान-
वति हुङ्गते यद्गर्जितं स्फुरति तदैव गर्जितं प्रशस्तगर्जितमित्यर्थः । इभारेः कौटुम्बस्य
कोपाटोपेन क्रोधसंरम्भेण समुद्भटा उत्कटा भीषणा शटाकोटिर्यस्य तादृशस्य अस्य
सिंहविषयभावध्वनित्वात् व्यञ्जमहिम्ना परुषा वर्णा इत्यत्र आह । सिंहे वाच्य इति ।

रक्ताशोकेति । अत्र तस्य पुरुषवस उक्तिरियम् । नु भी रक्ताशोक ! कृशोदरी
अर्धशी मामनुरक्तं जनं त्यक्त्वा क्व गता रक्ताशोकेति । अनुरक्तत्वश्रीकनाशकत्व-
सूचकं सुन्वीधनं तस्य वायुकम्पमानशिरोदर्शनात् पुनराह वातेनाहृतमेव वात-
व्याध्यभिभूतं शिरो न दृष्टेति सूचकं चालयमि किं मुधा व्यर्थमित्यर्थः कुत
इत्यत्राह तस्याः पादाहति मन्तरेण भवतीऽयं पुष्पोद्भोः कुतः कौटुम्बः उत्कण्ठया
घटमान या घटपदानां घटा समूहस्यया सङ्घटेन परस्परवर्षणेषु दष्टच्छ्रदी यस्य
तादृशः मकरन्दाप्राप्ता आदमपि दशन्तीति भावः ।

अवेति । शिरोविधूननव्यञ्जे उत्कण्ठेत्याद्युक्त्या प्रकरणवशता । क्वचिन्नी
आवीत्य द्वाहर्त्तुमाह क्वचिदिति ।

कचिन्नोरसे न गुणो न दोषः, यथा,
 शीर्षघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् घृणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
 दीर्घाघ्रातानघौचैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः ।
 घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्दिगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
 र्दत्तार्घाः सिद्धिसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥
 अप्रयुक्तनिहृतायीं श्लेषादावदुष्टौ यथा,
 येन ध्वस्तमनोभवेन वलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
 यश्चोहत्तभुजङ्गहारबलयोगङ्गाञ्च योऽधारयत् ।

श्रुतिकटुत्वं न गुणो न दोष इत्यर्थः ।

शीर्षघ्राणेति । यो घर्मांशुरेकः स्वतुल्यद्वितीयरहितः शीर्षघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्
 कुष्ठरीगविशीर्षनासिकापादपाणीन् जनानुल्लाघयन् गदान्निर्गतान् कुर्वन् पुनरपि
 घटयति घ्राणाङ्घ्रिपाणिभि र्योजयति । कौटुशान् ब्रह्मिभिः चतविंशष्टैरपघनैः
 शरीरेर्विशिष्टान् अतएव घर्घराव्यक्तशब्दान् अघौचैर्जन्मान्तरायपापसमूहे दीर्घाघ्रातान्
 चिरकालं प्राप्तान् तस्य घर्मांशो हृत्तयो रश्मयो वः शीघ्रमंहसां पापानां
 विघातं विदधतु कुर्वन्वित्यर्थः । तस्य कौटुशस्य दिगुणा देवतान्तरापेक्षया
 दिगुणा याऽन्तर्गता घनघृणा सततकृपा तन्निघ्ना तदायत्ता निर्विघ्ना च वृत्तिर्भस्य
 तादृशस्य । उल्लाघो निर्गते गदादिति कारुण्यं करुणा घृणेति गभस्तिघृष्टिघृष्टय
 इति चञ्ची दुरित दुष्कृतमिति चामरः । घृणयः कौटुशाः सिद्धिसमूहैर्भसि दत्तार्घाः ।
 सूर्यविषयभावध्वनिरयमती गौरसस्वात् त्वदीयीजीगुणव्यञ्जकता नास्तीत्यती न गुणः
 न च भाववृत्तिगुणानङ्गीकारे भावध्वनी सगुणत्वघटितकाव्यलक्षणाव्याप्तिः तत्र
 माधुर्याङ्गीकारे च तन्माधुर्यबोधप्रतिबन्धकत्वादेव दोष इति वाच्यम् । समस्त-
 पयव्यापकत्वं एव प्रतिकूलवर्षतया तत्प्रतिबन्धात् न तु प्रादेशिकत्वं अनुप्रासवशात्
 श्रुतिदुःखदायकत्वमपि नास्तीति सर्रेफाणां वर्णांशो श्रुतिकटुत्वं न दोष इति भावः ।

अप्रयुक्तेति इदमपि नीभावित्यस्त्रीदाहरणम् ।

येन ध्वजेति । त्वां सर्वदः सर्वदाता माधवः सर्वदा उमाधवः पार्वतीपतिश्च
 पायात् । माधवः कौटुशः चम्बकैषु यदुषु श्रीकृष्णसूत्रां स्वयं निवासकारी चिनिवाह-

यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यञ्च नामामराः,

पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरंस्वां सर्वदोमाधवः ॥

अत्र माधवपक्षे शशिमदन्धकक्षयशब्दावप्रयुक्तनिहतार्थी ।

अश्लौलं क्वचिद्गुणः, यथा, सुरतारम्भगोष्ठ्याम्,

(द्वार्थैः पदैः पिशुनयेच्च रक्षस्यवस्तु” इति कामशास्त्रस्थितौ)

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।

उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥ (व्रीडा०)

गत्वीरित्यस्य रूपं पक्षेऽन्धकासुरस्य स्वयं हन्ता येन माधवेन अभवेन अनुत्पत्तिनाऽनः शकटं ध्वजं बलिजिद्वलिनामासुरजता स्वकायः पुरा स्त्रीकृता नारीकृताऽभ्यता हरणे मीहिनीरूपधारणात् । पक्षे ध्वजमनीभवेन कामारिणा येन बलिजितो विष्णोः कायः पुरस्य त्रिपुरासुरस्य नाशाय अस्त्रीकृतस्त्रिपुरदाहो विष्णोः शररूपत्वात् । यश्च माधवः उहस्यस्य दुर्घस्य भुजङ्गस्य सर्परूपाघासुरस्य हन्ता रवस्य शब्दरूपब्रह्मचो लयो लीनता यत्र तादृशः पक्षे यश्चीहत्तभुजङ्गस्वरूपाहारबलयः यश्च माधवोऽगं गोवर्धनाचलं वराहमूर्त्यां गां पृथ्वीच्चाधारयत्पक्षे गङ्गाम् । यस्य माधवस्य नाम शशिमयो राक्षीः शिरीहर इति स्तुत्यममरा आहुः पक्षे यस्य शिरः शशिमत् चन्द्र-युक्तं हर इति स्तुत्यं नाम च अमरा आहुः ।

अचेति । शशिमच्छब्दस्य राहावप्रयुक्तत्वम् अन्धकक्षयकर इति समासवशादेक एव शब्द इत्यती विवचनम् । समासपदैकदेशपदद्वयञ्च निहतार्थम् अन्धकासुरे नाशे चान्धकक्षयशब्दयोः प्रसिद्धेः । सुरतारम्भेति सुरतसारम्भे यस्यां तादृशगोष्ठ्यां वज्रागमित्यर्थः । पिशुनयेत् सूचयेत् रक्षस्यवस्तु गोप्यहत्तं कामशास्त्रस्य स्थितौ नियमे सतीत्यर्थः ।

करिहस्तेनेति । सम्बाधे आहते साधनस्य सैन्यस्य अन्तर्मध्ये प्रविश्य उपसर्पन् चलन् पुंसां ध्वजः पताका विराजतु । कौटशे करिष्वां हस्तेन विलोडिते द्विधा कृते अथच अथवशादश्लौलार्थे एव अङ्गनया प्रतिपाद्यः यथा साधनस्य स्त्रीणां गुह्याङ्ग-स्नानःप्रविश्य उपसर्पन् पुंसां ध्वजी लिङ्गं विराजते कौटशे बालिकायास्तादृशान्त-त्वेन सम्बाधे सङ्कुचते तदुपसर्पणीपायमाह करिहस्तेनेति । तर्जन्मनामिके युक्ते मध्यमा स्याद् बहि र्गदि । करिहस्तः समाख्यातः कामशास्त्रविशारदैरित्यनेन परि-

शमकथासु,

उत्तानोच्छ्र्वमण्डूकपाटितोदरसन्निभे ।

क्लेदिनि स्त्रीब्रणे सक्तिरक्लमेः कस्य जायते ॥ (जुगु०)

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणाम्

नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च

स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥

अत्र भाव्यमङ्गलसूचकम् । सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना
क्वचिन्नियतार्थप्रतीतिक्वत्वेन व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे गुणः,

भाषितेनाङ्गलित्वेण विलोडिते आस्फालिते । व्रीडाश्लीलार्थस्यैवातीद्देश्यत्वादगुण-
त्वम् । शमकथासु शान्त्यर्थं कथासु ।

उत्तानेति । पाटितं दारितं स्त्रीणां वरणङ्गमेव व्रणाकारत्वाव्रणः सक्तिरासङ्गः
लुगुप्ताश्लीलार्थस्यैवातीद्देश्यत्वादगुणत्वम् ।

निर्वाणेति । नटभ्येयं कुरुणाममङ्गलमूचकीक्तिः आपाततः कुरुपाण्डवयो-
रप्याशीः । वैरदहनो वैरितारूपीऽपिः अरीणां कौरवाणां प्रशमाच्छान्त्यवलम्बनात्
कुरुराजसुता दुर्घाधनादयः स्वस्थाः सुस्था भवन्तु वकारवानयं सकारः कीदृशाः
रक्ता अनुरक्ता प्रसाधिता आयत्तीकृता भूर्भूलीकी यैस्तादृशाः क्षतविग्रहास्त्यङ्ग-
युवाः ।

अत्रेति । कुरुणां भाविनीऽमङ्गलसूचनमित्यर्थः तथाहि अरीणां प्रशमा-
न्तरणात् तथा रक्तेन रुधिरेण प्रसाधिता भूर्भूयैः क्षता विग्रहाः शरीराणि येषां ते
कुरुराजसुताः स्वस्थाः स्वर्गस्था भवन्त्विति । अधीषपरे सकारे स्वःशब्दस्य विसर्ग-
लीपः । अमङ्गलाश्लीलस्यैवातीद्देश्यत्वादगुणत्वम् । सन्दिग्धमपीति सन्देहजननयोग्य-
पदमपीत्यर्थः । वाच्यमहिम्नेति । प्रत्येकस्वार्थान्वयिविभिन्नवाच्यमहिम्नेत्यर्थः ।
नियतार्थेति । एकैकवाच्ये सन्देहकोटीभूतयोः स्वार्थयोः प्रतीतिकारित्वे इत्यर्थः ।
अतएव सन्देहफलाभावात् सन्दिग्धपदमत्र सन्देहयोग्यपरतया व्याख्यात ईदृशत्वे च
क्वचिद्व्याजस्तुतिः पर्यवस्यतीत्याह व्याजस्तुतीति । ननु सर्वत्रैव व्याजस्तुति-
पर्यवसायित्वम् ।

यथा,

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।

विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीतं गुणः, यथा,

आत्मारामा विद्धितरतयो निर्विकल्पे समाधौ,

ज्ञानोद्रेकाद्विघटितमनोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।

संवीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्,

तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥

नौप दृष्टा हरितकपिशं केशरैरङ्गुलीः

आविर्भूतप्रथमसुकुलाः कन्दलीशानुकम्बम् ।

दग्धारख्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्रात्र चोर्ध्याः

सारङ्गास्ते जललवसुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥

इत्यत्र सारङ्गपदस्य भङ्गहरिषाद्विरूपनियतार्थप्रतीतिकारित्वेऽपि व्याजस्तुति-
पर्यवसायित्वाभावात् गुणत्वञ्च सन्देहयोग्यपदेनापि स्वार्थद्वयस्य विभिन्नान्वय-
निश्चयजननात् ।

पृथुकार्तेति । रात्रिं दरिद्रस्त्रीक्षरयम् । हे देव ! तव मम चावयोः सदनं
रटहं समं तव पृथुनि कार्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यत्र तादृशं सदनं मम तु
पृथुकानां शिशूनां जुधात्तत्वादात्तस्वरस्य पात्रं तव भूषिता अलङ्कृता निःशेषपरिजना
यत्र तादृशं मम तु भुवि उषिताः सुप्ता निःशेषपरिजना यत्र तादृशं तव विलसन्तीभिः
करेणुभिर्हंसिनीभिर्गहनं व्याप्तं मम तु विले गते सत्काः कुक्षितं सती सूषिका
पिपीलिकादयस्तेषां रेणुभिर्गहनमपरिष्कृतत्वात् कुक्षायां कः । अत्र त्रिष्टपदा-
नामर्थद्वयस्यैव विभिन्नान्वयिष्यन्वयनिश्चयाद्गुणता रात्रस्य व्याजस्तुतिः पर्यवस्यति ।
ज्ञत्वे विज्ञत्वे गुणत्वञ्च प्रतिपाद्यस्य तदर्थ एव शीघ्रप्रतीतेः ।

आत्मारामा इति । दुर्धर्षनेन कृष्णं बभूवुः प्रयतितमिति श्रुत्वा भीमस्त्रीक्षि-
रियम् । निर्विकल्पे हेतादभिनि समाधौ विद्धितरतयो जना यं कमपि अनिर्वचनीयं
वीक्षन्ते नीहान्धीऽयं दुर्धर्षधनसप्तसुः पुराणं देवं कथं वेत्ति यं कौटशं तमसां
ज्योतिषां वा परस्तात् बहिर्भूतं तमःसहकारिषा इन्द्रियेषु ज्योतिःसहकारिषा

षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा
 हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः ।
 अविचलितमनोभिः साधकैर्भृग्यमाणः
 स जयति परिणहः शक्तिभिः शक्तिनाथः ॥

अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः, यथा,

फुल्लुक्करं कलमकूरणिहं वहन्ति
 जे सिन्धुवारविड़वा महबल्लहा दे ।
 जे गालिदस्म महिसीदहिणीसरिच्छाः
 दे किञ्च मुद्ध विअइल्लपसूणपुञ्जा ॥

अत्र, कलमकूरमहिषीदहिशब्दा ग्राम्या अपि विदूषकोक्ती ।

इन्द्रियेण वाऽयाञ्चत्वात् ध्यानैकगम्यत्वात् समाधौ विहितरतयः कीदृशाः आत्म-
 रामाः आत्मन्वेत्र रमन्तः तमीयन्विरज्ञानवासना ज्ञानस्य तत्त्वज्ञानस्य उत्सका-
 दुक्षोधाद्विघटिततत्काः सत्त्वनिष्ठाः सात्त्विकाः । अवात्मारामादिपदानि योग-
 शास्त्र एव प्रतीतानि प्रतिपाद्यः सहदेवश्च तज्ज्ञः । स्वयं परामर्शी वक्तुरेव स च
 तदर्थज्ञातैवेति तस्याप्रतीतपदं विलक्षणप्रतीतिकारित्वाद् गुण इत्यर्थः ।

षडधिकेति । मालतीमाधवे कपालकुण्डलायाः शिवस्तुतिरियम् । स शक्ति-
 नाथो महेशो जयति । कीदृशः शक्तिभिः पार्वतीभूर्त्तिभिः परिणज्जी वेष्टितः तद्विदां
 तं जानतां योगिनां षडधिकदशनाडीचक्रमस्य इडापिङ्गलादिषोडशनाडीचक्रमस्य
 मध्ये स्थितात्मा सन् हृदि विनिहितरूपः हृदा एवं ध्येयः सन् सिद्धिदाता
 अविचलितमनोभिः स्थिरचित्तैः साधकैर्भृग्यमाषी ध्यानेन ग्रहीतुं चेष्ट्यमानः । अत्र
 षडधिकादिपदानामप्रतीतत्वेऽपि स्वयं परामर्शाद् गुणत्वम् ।

अधमेति । अधमताप्रकाशनस्यैवोद्देश्यत्वाद् गुणत्वम् ।

पुष्पोत्करं कलमभक्तसमं वहन्ति ये सिन्धुवारविटपा मम बल्लभास्ते ।

ये गालितस्य महिषीदध्नः सदृशाः ते किञ्च मुग्धविचकिल्लप्रसूनपुञ्जाः ॥

इति संस्कृतम् । ये सिन्धुवारविटपाः शालिभक्तसमं पुष्पोत्करं वहन्ति ते मम
 बल्लभाः किञ्च ये मथितस्य महिषीदध्नः सदृशास्ते सुन्दरमल्लिकापुष्पपुञ्जा अपि मम
 बल्लभा इत्यर्थः । क्वचिदिति पदग्नूनताया एव यत्र भावपीषकत्वं तथेत्यर्थः ।

न्यूनपदं क्वचिद्गुणो, यथा,

माढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा

सान्द्रस्त्रे हरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्वितम्बाम्बरा ।

मा मा मानद ! माति मामलमिति चामाचरोक्तापिनौ

मुक्ता किं नु ! मृता नु किं ! मनसि किं लीना ! विलीना नु किम् ! ॥

क्वचिद्गुणो न दोषः, यथा,

तिष्ठेत्कोपवशात् प्रभावपिहितता ? दीर्घं न मा कुप्यति,

स्वर्गायोत्यतिता भवितु ? मयि पुनर्भावाद्द्रमस्या मनः ।

तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्त्तिनीम्,

सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥

गाढेति । सख्यी रात्रित्तं कथयतः सख्युक्तिरियम् । चलमित्यस्य पीडयेति शेषः । हे मानद ! मां मम मा इत्यलं पीडयेत्यन्वयः इति चामस्याल्प-
स्याचरस्योक्तापिनौ प्रिया भावातिशयेन निष्पन्दत्वात् किं नु मुक्ता निद्रिता निद्रितत्वे
स्पन्दः स्यादित्यत आह मृता न्विति । मृतत्वेऽन्तर्गता न स्यादित आह मनसीति ।
तथात्वेऽपि स्वलिता स्यादित्यत आह विलीनेति । अस्त्वलनलयधोरिवैत्यर्थः कीदृशी
सख्येवं मृतेष्ववाह गाढेति । माढालिङ्गनखर्वितकूचामौ प्रोद्भिन्नरोमोद्गमा चेति
विग्रहः न तु कुच एव रोमोद्गमः कविभिरुपाऽवर्णनात् । तथा सान्द्रे ष निविडेन
क्षेहरसातिरेकेण विगलत् श्रीमती नितम्बादम्बरं यस्यास्तादृशी । अत्र पीडयेति ।
वक्तुमसामर्थ्यस्य भावातिशयसूचकस्य व्यञ्जकं न्यूनपदमिति गुणत्वम् ।

क्वचिदिति । न्यूनपदत्वं न गुणो न दोष इत्यर्थः ।

तिष्ठेदिति । उन्मत्तस्य पुरुषवसो वितर्कोक्तिरियम् । प्रभावेण दैव्या शक्त्या
सा उर्वर्षी पिहितोऽदृश्या तिष्ठेदिति । वितर्क्य निषिध्यति दीर्घमिति एवमुत्तर-
वितर्केऽपि मन्त्रि पुनरित्यनेन निषेधः तां हर्तुमित्यत्र तु निषेध एवासुराहरणतर्क-
सूचकः मे पुरोवर्त्तिनी सेत्यन्वयः हि अत्रधारणेनैवेत्यर्थः । अगोचरमगोचरत्वं
वाता प्राप्ता विधिः प्रकारः उत्तराप्रतिपत्तिः पुरःप्रतिपत्तिविबुधविषया बोध्या घट-
प्रतिपत्त्युत्तरायाः पटप्रतिपत्तेर्घटप्रतिपत्त्युपाधकत्वात् । क्वचिद्गुण इति यथाधिक्य-
वशादेव तादृशपदे लक्षणा यत्र वीक्षितत्वादेव विशेषाव्यञ्जना तत्रेत्यर्थः ।

अत्र पिहितेत्यतोऽनन्तरं नैतद्यत इत्येते, न्यूनैः पदै विशे-
षविधेरकरणात् गुणः उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वा प्रतिपत्तिं बाध-
त इति न दोषः । अधिकपदं क्वचिद्गुणः, यथा,

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहु चाटुगर्भम्

कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।

तस्माधवो न, न विदन्ति, विदन्ति, किन्तु,

कर्तुं ह्यथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥

अत्र, विदन्तीति द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदपरम् । यथा वा,
वद वद ! जितः स शत्रुः ? न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति ।
चित्रं चित्रम् ! अरोदीद्वाहेति परं मृते पुत्रे ॥

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तारि ।

कथितपदं क्वचिद्गुणः, (लाटानुप्रासे, अर्थान्तरसंक्रमित-
वाच्ये, विहितस्यानुवाद्यत्वे च) क्रमिणोदाहरणम्,

सितकरकरुचिरविभा विभाकराकारधरणधरकीर्तिः ।

पौरुषकमला, कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥ (लाटा०)

यद्वञ्चनेति । वञ्चने प्रसारणे आहितमतिर्दक्षमतिः स्वकार्योन्मुखः खलजनी
बहु चाटुगर्भं कृतकं कृतिकं यद् ब्रवीति साधवो जनास्तत्र न विदन्ति अपि तु
विदन्ति किन्तु तस्य प्रणयं ह्यथा कर्तुं न पारयन्तीत्यर्थः अन्ययोगेति । साधुभ्यो-
ऽन्यस्तिस्तेदनयोगव्यवच्छेदपरमित्यर्थः । तथाच विशिष्यसङ्गतैवकारार्थे लक्षित्युक्तं न
नेति । निषेधव्याप्तायोगव्यवच्छेदलाभे साधव एव विदन्त्येव इत्यर्थः पर्यवस्यति ।
वीक्षायामिकपदाधिक्यं परिहरति ।

बदवदेति । जिताराती सेनापती वदवदेति राज्ञः पृष्ट्वा जित इत्यादिकं
सेनापतेरुपरं तव तवास्मीति जल्पम् शत्रुर्न हत इत्यर्थः । चित्रं चित्रमिति राज्ञ उक्तिः
अरोदीदित्वादि सेनापतेः शत्रुर्न हतस्तत्पुत्र एव हतः शत्रुश्च हाहेत्यरोदी-
दित्यर्थः । अत्र वीक्षितपदानां बहुव्यक्तय एव वाच्यार्थाः इन्द्रादयस्तु व्याख्याता
इत्याह । अनेति । लाटानुप्रासः पदानुप्रासः स चाये बन्धमाहः ।

सितकरेति । ॐ विभाकराकार । ॐ स्यंतुष्य ! ॐ अरविधर । इन्वी-

ताला जायन्ति गुणाः, जाला दे सहिअएहिं घेप्यन्ति ।

रङ्गकिरणगुग्गहिआइ' होन्ति कमलाइ' कमलाइ' ॥ (अर्था०)

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणम्,

गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते,

जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ (वि० अ०)

पतत्रकर्षमपि क्वचिद्गुणः, यथा, उदाहृते [२३४पृ०] प्राग-
प्राप्तेत्यादौ ॥ समाप्तपुनरात्तं क्वचिन्न गुणो न दोषः, यत्र न
विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्यहणम्, अपि तु वाक्यान्तरमेव क्रियते
यथाऽत्रैव प्रागप्राप्तेत्यादौ ॥ अपदस्थसमाप्तौ क्वचिद्गुणः, यथा,
उदाहृते [२८५पृ०] रक्ताशोकेत्यादौ ॥ गर्भितं तथैव यथा,

पालक ! सितकरस्य चन्द्रस्य करवद्वचिरविभा कीर्त्तिसर्ववास्ति नान्यस्य तथा सा
प्रसिद्धा कमलापि तवैव पौरुषकमला पौरुषमेवाधिष्ठानं कमलं यस्यास्तादृशो
नीली लक्ष्मीरन्वस्य पौरुषाधिष्ठात्री लक्ष्मीन्तु तवैवेत्यर्थः । अत्रानुप्रासाधायकत्वादेव
कथितपदं गुणः । अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं तदाह । ताला इति ।

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।

रङ्गकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इति संकृतम् ।

अत्र द्वितीयकमलपदमुत्कृष्टपरतयाऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं तादृशार्थबोधकत्वादेव
गुणः । विहितानुवादे लाह ।

जितेन्द्रियत्वमिति । अत्र विनयादयो विहितानुवाद्यास्तत्र च कथितपदेनीक्ता-
वैव नार्थान्तरावभास इति प्रामुक्तत्वाद गुणत्वम् । क्वचिद् गुण इति यत्र तादृश-
प्रकर्षोऽननुगुणः प्रागप्राप्तेत्यादौ हि गुरुस्वरणे क्रीडाभावाद्बुद्धतवर्णानुप्रासप्रकर्षस्या-
ननुगुणत्वात्तत्प्राप्ती गुणः । न पुनर्यहणमिति । ननु पुनर्यहणाभावे समाप्तपुन-
रात्तताप्रसक्तिरेव नास्तीत्यत्र आह ।

यत्रेति । वाक्यान्तरैरेव पुनरात्तता नानुपहृते यत्रेत्यर्थः प्रागप्राप्तेत्यादौ हि
धेनानेनेत्यनेन वाक्यान्तरैण परशोः पुनर्यहणं नानुपहृतेण । उदाहृते रक्ताशोके-

होमि अक्षहृत्विअरेहो गिरङ्कुसो अह विवेअरहिओवि ।
सिबिणेवि तुमन्नि पुणो पत्तिहि भत्तिं ण पसुमरामि ॥

अत्र, प्रतीहीति मध्ये, दृढप्रत्ययोत्पादनाय ॥ एवमन्यदपि
लक्ष्याल्लक्ष्यम् ।

व्यभिचारिरसस्थायि भावानां शब्दवाच्यता ।

कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥ १२ ॥

प्रतिकूलविभावादि ग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।

अकारण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥ १३ ॥

अङ्गिनोऽननुसन्धानं, प्रकृतीनां विपर्ययः ।

अनङ्गस्याभिधानञ्च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥ १४ ॥

त्यादाविति तत्र शिरोविधूननेन कुपितस्य वचसि दीर्घसमासस्थानुगुणत्वात् न च
तत्कथमपदस्थतेति वाच्यम् । अङ्गारीयपदस्थत्वात् । तथैवेति क्वचिदुच्यते
इत्यर्थः । होमिअ इति ।

भवाम्यपहसितरेखी निरङ्कुशीऽथ विवेकरहितोऽपि ।

स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्तिं न प्रक्षरिष्यामि ॥ इति संस्कृतम् ।

कामं प्रति तत्कालस्य वसन्तस्थीतिरियम् । अपहसितरेखी दूरीकृतमर्थ्यादः
निरङ्कुशीऽनर्गलः भद्राभद्रविवेकशून्ययाङ्गं भवामीत्यर्थः । त्वयि भक्तिं पुनः स्वप्नेऽपि
न प्रक्षरिष्यामि एतत् प्रतीहि इत्यर्थः । प्रक्षरिष्यामीत्यर्थे पसुमरामीति प्राकृतोप-
कारात् परीहकारोपरि मकारः व्युधातोः स्वामीत्यस्य च सिनीति रूपम् ।

अचेति । अयं भावः । यदि वाक्कार्यप्रतीत्यनन्तरं दृढप्रत्यायनं क्रियते तदा
तन्निष्कलं वाक्कार्यप्रतीते जातत्वेन तत्र दाकार्योत्पादनासम्भवात् दृढप्रतीत्यनन्तरस्य
चाशब्दत्वात् अतः शाब्दप्रतीतावजातायामिव दृढतदुत्पादनमुचितमिति मध्ये तत्क-
र्तव्यं न चैवमादौ तत्कर्तव्यमिति वाच्यम् । कतिपयपदार्थोपस्थितावैव शीघ्रः
अत्रूषाविशिषोदयात् नचैवं वदामि भवत्सत्त्वमित्यपि दृढप्रत्यायनमस्तु तत्कथं तत्र

स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणी यथा,
सत्रीडा दयितानने, सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे,
सत्रासा भुजगे, सविस्मयरसा चन्द्रे ऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्था जङ्ग सुतावल्गुनविधौ, दीना कपालोदरे,
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनौ दृष्टिः शिवायास्तु वः ॥

अत्र त्रीडादीनाम्, व्यानम्ना दयितानने, मुकुलिता मात-
ङ्गचर्माम्बरे, सोत्काम्य भुजगे निमेषरहिता चन्द्रे ऽमृतस्यन्दि-
नि । भीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ, म्लाना कपालोदरे
त्यादि तु युक्तम् ।

गर्भितत्वदीष उक्त इति वाच्यम् तत्र दुर्जनसङ्गतित्यागस्य सार्वलौकिकप्रसिद्धत्वे न
तत्प्रतीते दृढत्वस्यायत्नसिद्धत्वे न तत्र तत्करुणानीचित्यात्प्रकृते तु त्वयि भक्तिप्रसङ्गरणा-
भावस्य तदुक्तिमात्रलभ्यत्वे न दृढप्रत्ययस्वान्यतोऽनुपपत्तेः एवं स्त्रीयजनस्याकार्यकारित्व-
शरणादेव क्रीधाविर्भावाददृढप्रतीतिरुत्पद्यत इति तत्रापि तदर्थं न गर्भितकरण-
मित्यतो लग्नं रागावताञ्जैत्यत्रापि तथात्वं दीषः ।

रसदीपान् सूचयति । व्यभिचारीति व्यभिचारी व्यभिचारिभावः । शब्द-
वाच्यता स्ववाचकशब्दोपादानम् ।

सत्रीडेति । नवसङ्गमः प्रथमपतिदर्शनं पार्वत्यास्तप्रणयिनौ तत्र नियुक्ता दृष्टि वः
शिवायास्तु कादृशी दयितस्य महेशस्थानने विषये सत्रीडा नवीढाल्वात् मातङ्गचर्म-
रूपेऽम्बरे विषये सकरुणा इतं मातङ्गं प्रति कारुण्यवती भुजगे विषये चासवती
अमृतस्यन्दिनि चन्द्रे विषये विस्मयात्मकरसवती एतादृशमहारसस्य चर्माम्बरवती-
ऽसम्भवात्सेर्था सपत्नीत्वबुद्ध्या कपालोदरे विषये दैन्यवती एतादृशमङ्गलभूषण एव
मम स्वामीति बुद्ध्या दैन्यम् ।

अत्रेति । यद्यपि करुणविषययोर्व्यभिचारिभावमध्ये मथनं नास्ति तथापि
कारणान्तरकार्याच्च सहकारीच्च यानि चेष्वत्र रत्यादे रित्युक्तौव प्राप्ता यत्स्थायिन
इत्युपादानं तद्व्यादीनां रसान्तरे व्यभिचारिभावत्वज्ञापनार्थमत एव प्रह्लादे क्रीध-
ज्ञासावपि व्यभिचारिभावावेवेत्यालङ्कारिकाः । तदत्र करुणपदार्थः श्लोकी विषयश्च

रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम्, क्रमेणो-
दाहरणम्,

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम् ।

नेत्रयोः क्षतवतोऽस्य गोचरे काप्यजायतक्षी निरन्तरः ॥

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त-

व्यक्तानुरागसुभगामभिरामरूपाम् ।

पश्यैष बाह्यमतिवृत्त्य विवर्त्तमानः

शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥

पार्वत्याः पत्यालीकनव्यङ्गे शृङ्गारे व्यभिचारिभावे वेति । तदभिप्रायेणोदसुक्तमिति प्राचीनाः । वस्तुतस्तत्र शृङ्गारे तयोरनुपयुक्तत्वेन तथात्वाभावात्तानपहायैवात्र प्रकृतोदाहरणतेति युक्तम् । ईर्ष्यात्वासूयात्मको व्यभिचारिभाव एवेति बोध्यम् । पाठं परावर्त्तयति व्यानस्येति नमत्वं ग्रीडया सुकुलनं श्रीकस्य उत्कम्पस्त्रासस्य निर्नि-
मेषत्वं विस्मयस्य भूनिमीलनमौर्ष्याया स्नानिर्देन्यस्यानुभावा इति तदुपादानेनैव तद्वज्रनसुचितमित्यर्थः ।

तामनङ्गति । तां नेत्रयोर्गोचरे क्षतवतोऽस्य निरन्तरी निविडः कीऽपि रसीऽजायत तां कीदृशीं किञ्चिदुच्चभुजमूलावच्छेदेनावलीकितामित्यर्थः । तथात्वे भुजमूलदर्शनेन कामीद्द्वेषिः । नन्वेतत्काव्यश्रवणजन्यो रसः श्रोतनिष्ठ एव ज्ञान-
सम्बन्धेन श्रोतनिष्ठस्य नायकरत्यादेरेव रसत्वस्य सिद्धान्तितत्वात् नायकस्तु नैत-
त्काव्यश्रोता किन्तु नायिकादर्शनजन्यरतिमानेव तथाच तस्य रतिरजायतेत्येवार्थः । ततश्च स्थायिभावस्यैव शब्दवाच्यत्वं लक्षणीयत्वं वा न रसस्य तस्य तु तत्तत्काव्यस्थ-
शब्देन वाच्यता न सम्भवत्येवेत्युक्तं गुणीभूतव्यङ्गे रसादिलक्षणस्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्य इत्यनेन सत्यं रसादिशब्दैः स्थायिभावस्वीपादान एवात्र रसस्य स्वशब्दवाच्यता-
दोष इत्युक्तौ स्थायिभावस्य पृथग्पादानं पुनरुक्तिरेवेति वाच्यम् । स्थायिभावस्यैव रसाच्चकशब्देन स्ववाचकशब्देन वा उपादानमित्याशयेन दोषद्वयकथनात् ।

आलीक्येति । बाह्यमतिवृत्त्य/विवर्त्तमान एव पुनान् चभिरामरूपां नायिका-
नवलीक्य शृङ्गारस्य सीमनि पार्श्वे तरङ्गितं गतागतमातनोति एतत्पञ्च कीदृशीं

स्थायिनो यथा,

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम् ।

ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुक्ताहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥

अत्रोक्ताहस्य ।

कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत-

दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।

लीलाशिरोऽंशुकनिवेशविशेषकृत्ति-

व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा ॥

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपाः शृङ्गारयोग्या विभावा अनुभाव-
पर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना ।

परिहरति रतिं, मतिं लुनीते,

खलति भृशं, परिवर्तते च भूयः ।

इति वत विषमा दशाऽस्य देहम्

परिभवति प्रसभं, किमत्र कुर्मः ॥

कीमलकपीलतलीऽभिषिक्तेनाभिषेकेण व्यक्तो योऽनुरागस्तेन सुभगामित्यर्थः । अभि-
षिक्तेति भावे क्तः । कपीलावलीकनेनानुरागव्यक्तिभावात् ।

सम्प्रहार इति । युद्ध इत्यर्थः । प्रहरणैरस्त्रैः परस्परं प्रहाराणामित्यन्वयः ।
अनुभावस्य कष्टकल्पनया व्यक्तिमाह ।

कर्पूरेति । शिशिररोचिषि चन्द्रे सति सा नायिका तस्य यूनी नयनावनौ
नयनविषयतयाम् अभूदित्यर्थः । चन्द्रे कीदृशे कर्पूरधूलिवत् धवलद्युतिपूरैष
धौतदिङ्मण्डले सा कीदृशी लीलया शिरसि अंशुकनिवेशस्य विशेषकृत्तिव्यक्तस्तनो-
न्नतिः तदर्थं हस्तीत्क्षेपेण स्तनोन्नतिदर्शनात् । अत तस्य शान्तशृङ्गारित्वान्यतर-
निश्चायकाभावेन अनुभावस्य अक्षुःप्रसारणस्य कष्टकल्पनया व्यक्तिमाह ।

परिहरतीति । अथ सर्वास्त्रैव क्रियासु अर्थं कर्त्ता बोध्यः । रतिं विहारसृष्ट्या
परिहरति व्यजति लुनीते नाशयति इति विषमा दशा अस्य देहं परिभवतीत्यन्वयः
प्रसभं बलात् । प्रयत्नप्रतिपाद्य इति प्रकरणात्सम्बन्धनीवाच यमः अथ च विभावा-

अत्र, रतिपरिहारादीनामनुभावानां करुणादावपि सम्भ-
वात्कामिनीरूपो विभावे यद्वतः प्रतिपाद्यः ।

प्रसादे वत्सल, प्रकटय मुदं, सन्त्यज रूपम्,
प्रिये ! शुथन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।

निदानं सौख्यानां क्षणमभिसुखं स्थापय मुखम्,
न मुग्धे । प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥

अत्र, शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्थानित्यताप्रकाशनरूपी
विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारौ उपात्तः ।

शिङ्गुअरमणम्मि लोअणपहम्मि पडिण गुरुअणमज्झम्मि ।
सअलपरिहारहिअआ वणगमणं एब्ब महच्छुदि बह्म ॥

दीनां प्रतिकूलमावीयत्वाभावान्न प्रतिकूलविभावादिग्रहदोषप्रसक्तिः तन्माचीयत्व एव
तथात्वस्य व्यक्तीभविष्यत्वात् । प्रतिकूलविभावस्यायिभावव्यभिचारिणां ग्रहमेकैव
दर्शयति । प्रसादे इति शुथन्ति शीघ्रं लभमानानि अङ्गानि कर्मभूतानि अमृतमिव
ते वचः कर्तुं सिञ्चतु इत्यन्वयः । प्रत्येतुं प्रत्यागन्तुम् ।

अत्रेति । कालोऽत्र जीवनकालः तदनित्यतया जीवनस्यैवानित्यत्वं कालस्य
नित्यत्वात् तथाच स्वजीवनानित्यत्वप्रकाशनरूपः शान्तमात्रस्य विभाव इत्यर्थः । एवं
तत्प्रकाशितो निर्वेदोऽपि शान्तिमाचीयः । न च निर्वेदः कथं शान्तस्य व्यभिचारौ
उक्तस्तदीयस्यायिभावत्वादेव तस्येति वाच्यम् । प्रकृते शृङ्गारे उपात्तो व्यभिचारि-
निर्वेदः प्रतिकूलशान्तरस्यैव इत्येव तदर्थात् प्रतिकूलविभावादीत्यादिपदेन तदीय-
स्यायिभावस्याप्युक्तत्वात् यौवनानित्यत्वप्रकाशनन्तु न शान्तमावीर्यं जरतोऽपि काम-
सत्त्वात् अतएव त्यजत मानमखं तव वियह्मिर्नपुनरेति गतं अतुरं वय इति रघाव
दुष्टम् । प्रतिकूलानुभावयद्मुदाहरति । शिङ्गुअरमणम्मि इति ।

निभ्रतरमणे लीचनपथं पतिते गुरुजनमध्ये ।

सकलपरिहारहृदया वनगमनमिव महति बभूरिति ॥ संस्कृतम् ।

निभ्रतरमणे उपनायके महति इच्छति ।

अत्र सकलपरिहारवनगमने शान्तानुभावौ । इन्धनाव्या-
मयनव्याजिनोपभोगार्थं वनगमनं चेत् न दोषः ।

दौमिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे ।

अकाण्डे प्रथमं यथा, वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के ऽनेकवीरसं-
क्षये प्रवृत्ते, भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम् ।

अकाण्डे छेदो यथा, वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के कङ्कणमोच-
नाय गच्छामीति राघवस्योक्तौ ।

अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा, हयग्रीवबधे
हयग्रीवस्य । अङ्गिनोऽननुसन्धानं यथा, रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के
वाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररीद्रशृङ्गा-

अवेति । वनगमने इत्यत्र तत्पूर्वकवनगमने इत्यर्थः । वनगमनमात्रस्य शान्ता-
नुभावत्वाभावात् शान्तानुभावौ शान्तमावानुभावौ शृङ्गारे त्वलङ्काराद्यपरिहारेण
परिहारार्थसाकक्षाभावात् वनगमनस्य सकलपरिहारपूर्वकत्वाभावे तु न दोष इत्याह
इन्धनादीति आदिना फलपुण्यादिपरिग्रहः उपभोगार्थमिति तादृशवनगमनस्य फलं
दर्शितं तादृशवनगमने तु लब्धे उपभोगलाभ इति भावः । न तूपभोगार्थतापि
शास्त्रीति बोध्यम् ।

दौमिःरुहोधनं रतिविलापेष्विति । विललाप त्रिकीर्णमूर्च्छंजित्युपक्रम्य धारा-
वाहिके कण्ठरसे प्रवृत्तितेऽपि पुनर्मधीरागमने तमवेत्य्य ररोद सा भृशं स्तन-
सम्बाधसुरोजघान चेति तदुहोधनं कृतं तत्र च पिष्टपेषणन्याय एव दोषतावीजम् ।

अनेकेति । स्वपुञ्जलक्षणप्रश्रव्यनेकेत्यर्थः । अप्रधानस्येति प्रतिनायकस्येत्यर्थः ।
न च वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपीरपि । तज्जयाप्रायकीर्त्तकथनञ्च चिनोति
इति दण्डुःशक्तिविरोध इति वाच्यम् । तस्यातिविस्तरेण वर्णनाभावपरत्वात् अति-
विक्षरेण वर्णने तु तत्रैव नायकसुदुग्दयेन अङ्गिनोऽननुसन्धानदोषापत्तेः । वाभ्रव्या-
गमने इति सागरिकाया एव पिष्टगृह्णादागतः कञ्चुकी वाभ्रव्यः । प्रकृतिविषय्यं
वक्तुं प्रकृतीराह ।

रथान्तरसप्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरप्रशान्ताः
उत्तमाधममध्यमाश्च तत्र रतिहासशोकीद्भूतानि अदिव्योत्त-
मप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि, किन्तु रतिः सम्भोगशृङ्गाररूपा उत्त-
मदेवताविषया न वर्णनीया, तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णन-
मिवात्यन्तमनुचितम् ।

क्रोधं प्रभो ! संहर संहरति यावद्भिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वद्धि भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥

प्रकृतय इति । प्रकृतिविशेषा इत्यर्थः । तानाह दिव्या इति दिव्या इन्द्रादयः
अदिव्या मानुषा दुष्कृतमाधववत्सराजादयः दिव्यादिव्या देवमानुषाः श्रीकृष्णरामा-
दयः । वीरिति एते त्रय एव वीरादिरसप्राधान्येन चतुर्विधा इत्यर्थः । तथाच ते
द्वादशासतसद्रसप्राधान्येन तेषां न परिभाषा आह धीरोदात्तेति ।

अविकल्पनः क्षमावानतिगम्भीरी मङ्गासत्त्वः ।

स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथित इति तल्लक्षणम् ।

मायापरः प्रचण्डसपलोऽहङ्कारभूयिष्ठः ।

आत्मज्ञानिरतो धीरैर्धीरोत्ततः कथितः ॥ इति ।

धीरोद्धतलक्षणम् ।

निश्चिन्तोद्दुरनिश्चं कृष्णापरो धीरललितः स्यादिति ।

धीरललितलक्षणम् ।

सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिकी धीरप्रशान्तः स्यादिति ।

धीरप्रशान्तलक्षणम् ।

एते द्वादशैव उत्तमादिविषया इत्याह ।

उत्तमिति । तेन षट्त्रिंशत्प्रायकाः । तथा वर्णनीयानौचित्यरूपं विपर्ययं वक्तुं
वर्णनीयौचित्यं दर्शयति रतिहासेति दिव्येष्वपीति वर्णनीयानीति शेषः । अत्यन्त-
मिति अनुचितमिति तेन तद्वर्णनं प्रकृतिविपर्ययः एवञ्च वडके षड्दि अस्मि असञ्च
करकिमञ्च एत्यादिके विववी अरए इत्यादिके च विपर्यय एवेति बोध्यम् ।

क्रोधं प्रभो इति । मरुतां देवानाम् । यावद्देवानमिति । अवदानं मूल-
भूतपुराणादिप्रसिद्धं प्रसिद्धं लोकप्रसिद्धम् ।

इत्युक्तवत् भ्रूकुट्यादिविकारवर्जितः क्रोधः सद्यःफलदः स्वर्गपातालगगनसमुद्रोल्लङ्घनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव । अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा, तत्र देवोपनिबद्धव्यम्, अधिकन्तु निबध्यमानमसत्यप्रतिभासेन, नायकवद्वर्तितव्यं, न प्रतिनायकवत्, इत्युपदेशे न पर्यवस्येत् । दिव्यादिव्येषु उभयथापि । एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्ययः । तत्र भवन् भगवन्नित्युत्तमेन, न अधमेन, मुनिप्रभृतौ, न राजादौ, भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम् । एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबद्धव्यम् ।

अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनं यथा, कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनाट्य वन्दिर्वर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम् ।

ईदृशाः' इति नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम् ।

इत्युपदेश इति । काव्यादेरनुपदेशस्य रामादिरतित्वादि प्रागेवीकृत्वात् काव्यन्तु प्रौढीक्तिभिन्नं बोध्यम् । भाषाविपर्ययीऽपि प्रकृतिविपर्यय एवेति । वक्तुं भाषाविशेषण सम्बोधनकर्तृनियमनमाह । तत्र भवन्निति । तथा भाषया सम्बोधननियमान्नियमतत्रेवेति सुनीति न राजादावित्यादिना प्रभुमात्रपरिग्रहः । आलिङ्गितस्तत्र भवानित्यत्र तु न सम्बोधनमित्यतोऽदोषः । वाच्यमिति इति वाच्यमिति च न वाच्यमित्युभयत्रान्वयः । एवं देशेति । दिवि मानुषभाषा देशानुचिता एक ऋतुधर्मस्य ऋत्वन्तरे वर्णनं कालानुचितं जरत्या, कामवर्णनं वयोऽनुचितं त्रिप्रस्य शूद्रसेवादिवर्णनं जात्यनुचितं विधवायाः सिन्दूरादिवर्णनं वेशानुचितम् अदाचिणात्यानां मातुलकन्यापंरिणयो देशव्यवहारानुचितः ।

अनङ्गस्याभिधानं व्याचष्टे अनङ्गस्येति । वन्दिर्वर्णितस्येति स्वस्येति शेषः । अनौषित्यादिति प्रकृतिविपर्ययरूपानौचित्वादित्यर्थः । तदाभासा अनौषित्यप्रव-

उक्तं हि ध्वनिक्वता,

अनीचित्याहते नान्यत् रणभङ्गस्य कारणम् ।

अनीचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परेति ॥

इदानीं क्वचिददोषा अध्येते, इत्युच्यन्ते,

न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित् ।

यथा,

अनीत्सुक्येन कृतत्वरा, सहभुवा व्यावर्त्तमाना क्रिया,

तैस्तैर्बन्धुबधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।

दृष्ट्याग्रे वरमात्तसाध्वसरसा, गौरी नवे सङ्गमे

संरोहत्पुलका हरेण सहता श्लिष्टा, शिवायास्तु वः ॥

अनीत्सुक्यशब्द इव तदनुभावो न तथाप्रतीतिकृत् । अत-

एव “दूरादुत्सुकम्” (८०) पृ० इत्यादौ व्रीडाप्रेमाद्यनुभावानां
विवलितत्वादीनामिवोत्सुकत्वानुभावस्य सहसा प्रसरणादि-
रूपस्य तथा प्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम् ।

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥१५॥

सिंता इत्युक्तमनीचित्यन्तु नास्य विषय इत्यवधेयम् । उपनिषत् मूलभूतवेदः ।

सञ्चारिणी व्यभिचारिणः । क्वचिदिति यत्र तदनुभावीऽन्यसाधारणस्त्वर्थः ।

अनीत्सुक्येनेति । नवे सङ्गमे प्रथमदिनसमागमे हसता हरेण श्लिष्टा अतएव
संरोहत्पुलका गौरी वः शिवायास्तु । कीदृशी तददृष्टागमने प्रथमानीत्सुक्येन
कृतत्वरा ततश्च सहभुवा साहजिकया क्रिया व्यावर्त्तमाना ततश्च तैस्तैरित्यादि
ततश्चाग्रे वरं स्नामिन् दृष्ट्वा आसेत्यादि ।

अवेति । तदनुभावस्वरकारणरूपः न तथेति नीत्सुक्यमात्रप्रतीतिकृदित्यर्थः ।
मादृगञ्जनाभीत्यापि त्वराकरणसम्भवादिति भावः । प्रतिकूलविभावादियहं प्रति-
प्रसूते ।

सञ्चार्यादेरिति । आदिना अनुभावविभावपरिग्रहः । विरुद्धरसीयानामेषां

बाध्यस्योक्तिः न, न परं दोषः, यावद्व्यक्ततरसपरिपोषकत् ।
यथा,

क्वाकार्यं, शशलक्ष्मणः क. च कुलम् (१०५ पृ०)-इत्यादौ,
अत्र, वितर्कादिषु उन्नतेष्वपि चिन्तायामिव विश्रान्तिरिति
प्रकृतरसपरिपोषः ।

(पाण्डु चामं वदनं, हृदयं सरसं, तवालसञ्च वपुः ।

आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥

इत्यादौ साधारणत्वं पाण्डुनादीनामिति न विरुद्धम् ।)

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।

किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥ (विरु० वि०)

इत्यत्राद्यमङ्गं बाध्यत्वेनैवोक्तम् । जीवितादपि अधिक-
मपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्वमिति प्रसिद्धभङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्त-
मेव पुष्पाति ; न पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गाप्रतिपत्तेः ।

बाध्यत्वेनीक्तिरित्यर्थः । तदाह बाध्यत्वेनीक्तिरिति क्वाकार्यमिति । अत्र वितर्कादिषु
शान्तरसौर्गिष्वित्यर्थः । विरुद्धस्योत्तरभावस्य पूर्वभावबाधकत्वात् भावसन्धी त्व-
च्छेदभेदेन स्थित्या तुल्यबलत्वात् न बाध्यबाधकभावः । ननु विरुद्धरसौयविभा-
वादेः बाध्यत्वेनानुक्तावपि कथं रसहृतिः । क्वचिन्नोपलभ्यत इति दर्शयन्नाह पाण्डु-
चाममिति । मालतीं प्रति लवङ्गिकाया उक्तिरियम् । हे सखि ! तव पाण्डुचामं
वदनादिकं कर्तुं तव हृदन्तनितान्तं क्षेत्रियरोगमावेदयति अस्मिन् क्षेत्रे शरीरे-
ऽचिकित्स्यरोगः । चामं क्षौणं सरसं सखेदं साधारणं करुणविप्रलम्भयोः । न विरुद्ध-
त्वमिति प्रतिकूलमावीयत्वाभावादिति भावः । न सुविरुद्धरसमावीयस्यापि विभा-
वस्य क्वचिदनुभूयमाने प्रातिकूल्याभावे किं वीजमिति दर्शयन्नाह ।

सत्यमिति । अत्र शान्तरसप्रतिकूलस्य शृङ्गारस्य कामविभूतिमत्ताङ्गनापाङ्ग-
भङ्गय चालम्बनीहीपनविभावः । समाधत्ते ।

अचेति । किन्त्वित्यनेन कामादीनामकिञ्चित्करत्वबीधनाद्बाध्यत्वं प्रतीयते
बाध्यत्वेनानुक्ताया अपि मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गेव प्रातिकूल्ये वीजमाह जीवितादपीति

न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः, शान्तशृङ्गारयो नैरन्त-
र्यस्याभावात्, नापि काव्यशोभाकरणम्, रसान्तरादनुप्रासमा-
त्राद्वा तथाभावात् ।

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः, स कार्य्यो भिन्नसंश्रयः ।

रसान्तरेणान्तरितः, नैरन्तर्येण यो रसः ॥ १६ ॥

वीरभयानकयोरिकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन
भयानको निवेशयितव्यः । शान्तशृङ्गारयोस्तु नैरन्तर्येण
विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्य्यम् । यथा नागानन्दे, शान्तस्य
जीमूतवाहनस्य, अहो गीतम् ! अहो वादित्रम् ! इत्यद्भुतम-
न्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो निबद्धः । न परं प्रबन्धे,
यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तरव्यवधिना विरोधो निवर्तते ।

यथा,

प्रसिद्धमङ्गुरञ्च तदुपमानञ्चैति विग्रहः तत्तयोपात्तमित्यर्थः । शान्तमेवेति उपमाने-
नीपमीयप्रकर्षस्यैव बोधनात् जीवितस्यातिलोलत्वे लब्धे तेन शान्तरसुपीषणात् ।
एवञ्च विभावयीरुपमानोपमीयभावेन रसयोरप्युपमानोपमीयभावगृहीतेरथे व्यक्ती-
भविष्यत्त्वात् साम्येनाथ विवक्षित इति कारिकया यत् प्रतिप्रसविष्यते तद्विषयादोष-
त्वमात्रं दर्शितम् । न पुनरिति अनुपमानशृङ्गारप्रतिपादनेन तेषामुन्मुखीकरणं न
पुनरत्र दोषपरिहार इत्यर्थः । नैरन्तर्यमव्यवधानं तस्य च स्वातन्त्र्येणाभावादित्यर्थः ।
ननु श्रीभनीयस्य तस्य कथं श्रीभाकरत्वमित्यत्र आह अनुप्रासादिति रमाकामरस्याङ्ग-
नापाङ्गमङ्ग इति अनुप्रासः । इदानीं कवीनुपदिशति ।

आश्रयैक्ये इति । कथोश्चिद्रसयोरिकाश्रयत्वं नास्ति कथीश्चित्तु नैरन्तर्यमेव नास्ति
तत्राद्यस्थीपनिबन्धप्रकारमाह पूर्वार्द्धेन अन्यस्य तु परार्द्धेन । तादृशविरुद्धौ तौ
दर्शयति वीरिति शान्तेति अद्भुतमन्तर्निवेश्येति । अद्भुतरसस्थायिभावविच्छायपदार्थ-
मन्तर्निवेश्येत्यर्थः । सर्वत्रैवात्र रसपदस्यानुतादिपदस्य च स्थायिभावपरत्वेनैव
वक्ष्यमाणत्वात् । न परमिति प्रबन्धे नाटके एकस्मिन् वाक्ये तुल्यकल्पे ।

भूरेशुदिग्धान्, नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्, सुराङ्गनास्त्रिष्टभुजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवाजिताञ्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्गतले निषणाः कृतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥

अत्र, बोभत्सशृङ्गारयोरन्तर्वीररसो निवेशितः ।

स्मर्यमाणो विरुड्भोऽपि, साम्येनाथ विवक्षितः ।

अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ, तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ १७ ॥

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नोवीविसंसनः करः ॥

एतत् भूरिश्रवसः समरभुवि पतितं हस्तमालोक्य तद्बधू-
रभिदधौ ; अत्र पूर्वावस्थास्मरणम् शृङ्गाराङ्गमपि करुणं परि-
पोषयति ।

भूरिगति । युद्धे पतिता वीरा देवत्वं प्राप्य विमानपर्यङ्गतले निषणाः सन्ती
लखनानामसरसाम् अङ्गुलीभिर्निर्दिष्टान् नश्यमानदेहान् भूमिपतितान् कृतूहला-
विष्टतया अपश्यन्नित्यन्वयः । तत्र सर्वे प्रथमान्तं वीरा इत्यस्य सर्वे द्वितीयान्तं स्वदेहानि-
त्यस्य विशेषणं क्रव्यभुजां खगानां सशोणितैः पक्षैरुपवीज्यमानानित्यन्वयः । अत्रेति
वीररसः शूरार्थः वीरशब्देन लब्ध इत्यर्थः । विरुड्भरसइत्यस्य प्रबन्धातिरिक्तोऽप्युप-
निबन्धप्रकारमाह ।

स्मर्यमाण इति । न दुष्टावित्यत्र व्यत्ययान्न दुष्ट इत्यन्वयः ।

अयं स इति । अत्र शृङ्गारः स्मर्यमाणः करुणस्य विरुड्भोऽपि न दुष्टः ।
यद्यपि शृङ्गारोऽत्र व्यज्यमान एव तथाप्यतीतस्य व्यक्तस्य स्मर्यमाणपूर्वावस्थास्मर-
न्वात् स्मर्यमाणत्वमुक्तम् । साम्येन विवक्षितस्यादुष्टत्वमाह ।

दन्तैः क्षतानि, करजैश्च विपाटितानि,
 प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।
 दत्तानि रक्तमनसा मृगराजबध्वा
 जातसृष्टैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥

अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चमत्कारकारीणि
 तथा जिनस्य । यथा वा, परः शृङ्गारी तदवलोकनात् ससृष्टः
 तद्वत् एतद्दृश्यो मुनय इति साम्यविवक्षा ।

क्रामन्थः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः संदर्भाः स्थलीः
 पादैः, पातितयावकैरिव ; पतद्वाप्यम्बुधौताननाः ।

दन्तैः क्षतानीति । प्रसूय स्वादयं जिघत्सो सिंघां तत्परिवर्त्तं स्वाङ्गं दत्तवते
 तन्नखदन्तक्षताङ्गाय जिनाय कस्यचिदुक्तिरियम् । रक्तमनसा निविष्टचित्तया
 मृगराजबध्वा दत्तानि दन्तक्षतानि करजैर्नखैर्विपाटितानि च प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके
 भवतः शरीरे जातसृष्टैर्मुनिभिरप्यवलोकितानीत्यन्वयः । पुलकः परपरिवाणहर्षात्
 स्वशरीरव्यथेनापि परपरिवायकत्वदर्शनादताडशानां मुनीनां ससृष्टता अपि
 शब्दादन्येषां सुतराम् ।

अत्र जिनगावस्य सिंहीदन्तदन्तनखक्षतदर्शिमुनिनिष्ठः शान्त उपमेयः
 श्रेयवशादनुरक्तवधूदत्तकामुकगावस्यदन्तनखक्षतदर्शिकामुकान्तरनिष्ठः शृङ्गार उप-
 मानं तयोर्विभावयोरुपमानीपर्मयभावप्रदर्शनमुखेन तयोरपि तथात्वं दर्शयति
 अत्रेति । दन्तक्षतादीनीत्यत्र अनुरक्तचित्तवधूदत्तानीत्यपि बोध्यम् । साम्यविव-
 क्षेति । तत्साम्यविवक्षया तद्वाङ्मयोः शान्तशृङ्गारयोरपि तथात्वं बोध्यम् । न
 च किमर्थमत्र साम्यविवक्षया दोषीकारः शृङ्गारिकामुकशान्तमुनिरुपाश्रया-
 भेदादेव विरोधाभावादिति वाच्यम् । एतदुभयज्ञातरि एतद्वक्त्रि एव उभय-
 स्यापि सम्भवात् परकीयरतिनिर्वेदज्ञातर्येपि तदुभयीत्यतिसम्भवात् । अङ्गिन्य-
 ङ्गत्वमाश्रयी विरुद्धयोरप्यदुष्टत्वमाह ।

क्रामन्थ इति । राशः स्त्रीरुक्तिरियम् । लक्ष्मणार्योऽङ्गनां दावाग्निपरिती
 भ्रमन्ति पलायनपराः । तत्रोत्प्रेक्षते पुनरपीति पुनरपि जायमानविवाहा इवेत्यर्थः ।
 तद्वत्प्रेक्षाघटकानि विशेषणान्याह क्रामन्थ इति । सदर्भाः स्थलीः पादैः क्रामन्थः

भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनाथ्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्दिवाहा इव ॥ [१]

अत्र, चाटुके राजविषया रतिः प्रतीयते, तत्र करुण इव
शृङ्गारोऽप्यङ्गमिति तयोर्न विरोधः, यथा

एहि गच्छ ; पतोत्तिष्ठ ; वद, मौनं समाचर ।

एवमाश्राग्रहग्रस्तैः क्रोडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥

अत्र, एहोति क्रोडन्ति, गच्छेति क्रोडन्तीति क्रोडनाफे-
क्षयोरगमनगमनयोर्न विरोधः ।

क्षिप्तो हस्तावलम्बः, प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्तम्
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सन्भ्रमेण ।

आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साशुनेत्रोत्पलाभिः,

कामौवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शम्भवो वः शराग्निः ॥ [२]

वनान्तस्य दर्भमयत्वात् विवाहेऽपि वङ्गिप्रदक्षिणे आनृतदर्भमयस्थस्याक्रमणात्
विवाहे पादस्य सालक्तकद्रवत्वात् तदुत्प्रेक्षते गलद्रक्तैः पतितयावकैरिवेति । याव-
कमलक्तकं विवाहेऽपि धूमादशुनिर्गमादाह पतहाप्याम्ब्विति । दावाग्निभ्रमणे
ताडशावस्थाप्राप्त्या दुःखाडाप्याम्ब्वपातः विवाहेऽपि वङ्गिप्रदक्षिणे भर्तृकरावलम्बित-
करत्वादाह भर्तृकरेति दावाग्निभ्रमणे तु स्वतीऽचमत्वात् भर्तृकरावलम्बितकरत्वं
विवाहेनावच्छिन्नमानत्वेन भर्तृती भयं दावाग्निभ्रमणे तु त्वक्ती वङ्गितश्च भयमाह
भीता इति ।

अत्रेति । चाटुकी राजक्षीता करुण इवेति तासां श्रीच्यावस्थाज्ञानाद्विवाह-
कालीनावस्थाज्ञानाच्च अनयो नैरन्तर्येण विरुद्धयोरपि राजविषयभावाङ्गयोरदुष्टत्वं
भावाङ्गता च श्रीच्यावस्थाया राजप्रयोज्यत्वाद्द्विवाहकालीनावस्थायाश्च तत्स्थानीय-
त्वात् तद्दृश्ययोः करुणशृङ्गारयोश्च तत्स्थानीयत्वात् तद्दृश्ययोः करुणशृङ्गारयोरपि
तत्प्रयोज्यत्वात् अत्रैवैकक्रियाङ्गयोर्विरुद्धक्रिययोरप्युदुष्टत्वं दृष्टान्तयति । यथा

एहि इति । क्रोडाहि सुखविषयः तदुत्पादकत्वाद्दनुमन्यमानानामेहीत्यादि-
क्रियाणामङ्गता । नैरन्तर्येण विरुद्धयोरङ्गिनि साक्षात्परम्पराभ्यामङ्गत्वमुदाहरति ।

क्षिप्त इति । विपुरदाहे स प्रसिद्धः शम्भवः शराग्निर्वो दुरितं दहतु । कीदृशः

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणीऽङ्गम्, तस्य तु शृङ्गारः ; तथापि न करुणे विश्रान्तिरिति तस्याङ्गतैव । अथ वा प्राक् यथा कामुक आचरति स्म, तथा शराग्निरिति शृङ्गारपोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्धृत्यते । उक्तं हि,

‘गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते ।

प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥’ इति ।

आर्द्रांपराधः आसन्नपराधः कामीव शराग्निः कामिनो विशेषणान्यह । चित्त इति । हस्तावलग्नयोर्हि शराग्निः कामिनोर्द्वयोरपि साशु-नेत्रीत्यलाभिस्त्रिपुरयुवतिभिः क्षेपात् भयात् क्रोधाच्चाशु एवमंशुकस्यान्तमाददानः शराग्निः कामी च इति प्रसभं सहसाऽभिहितः केशेषु गृह्णन्नयपास्तः कामिनः केशयहणं चुम्बनार्थं चरणनिपतितस्याग्निः सन्भ्रमेण भयेनानिरीक्षणं कामिनस्तु सन्भ्रमेणादरेणेक्षणाभावः ।

अत्रेति । प्रभावातिशयोऽत्र तद्विषयो वक्तुरतिशयितो भावस्त्रिपुरस्त्रीविङ्मनेन भावस्यातिशयितत्वात् । करुण इति तासां शोच्यावस्थान्नातरि वक्तुरि करुणः स च त्रिपुररिपुप्रयोज्यत्वात् तद्विषयभावस्य प्रकर्षकत्वेनाङ्गं तस्य चेति उपमानेन वक्तृनिष्ठशृङ्गारेण उपमेयकरुणप्रकर्षणात् विश्रान्तिः प्रकर्षणपय्यांतिः करुणप्रकर्षणद्वारा भावस्यापि प्रकर्षणात् पूर्वादाहरणादस्यायं विशेषी यदत्र शृङ्गारेण करुणप्रकर्षणं करुणेन भावप्रकर्षणमिति करुणः साक्षादङ्गं शृङ्गारः परम्पराङ्गं क्रामन्त्य इत्यादि पूर्वादाहरणे तु करुणस्थानीयत्वेन करुणस्यैव शृङ्गारस्य साक्षादेव भावाङ्गत्वमिति । तस्याङ्गतैवेति । शृङ्गाराङ्गिनीऽपि करुणस्वाङ्गतैवेत्यर्थः । इत्थं पदैः सकलपदार्थोपस्थितौ खलीः कपीतन्वाद्येन विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तरमिति शक्तिबोधस्तद्व्यभिचारेणैऽपीयं रीतिरित्युक्तम् । इदानीं विशिष्टस्य विशिष्ट्यमिति प्रथमं शृङ्गारविशिष्टकरुणबोधस्ततः करुणविशिष्टभावबोध इति वक्तुमाह अथवेति । विशिष्टवैशिष्ट्यबोधस्तत्र ईदृशरीतिद्वयात् तथा शराग्निरिति अनेन प्रथमं शृङ्गारोपम्यत्वं करुणस्य दर्शितम् । मुख्य एवेति त्रिपुररिपुविषयभाव एवेत्यर्थः । उपोद्धृत्यते प्रकथ्यते अनेन च शृङ्गारविशिष्टकरुणवैशिष्ट्यं भावस्य दर्शितमिति विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमिति रीत्या विशिष्टवैशिष्ट्यबोधो दर्शितः ।

गुण इति । गुणी विशेषणं स्वस्य विशेषणेन कृतीपकारः सन् प्रधानं पार्थ-

प्राक् (४३०) प्रतिपादितरूपस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधः, नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति, इति रसशब्देनात्र स्थायि-
भाव उपलक्ष्यते ।

इति काव्यप्रकाशे दोषदर्शनो नाम सप्तम उक्तासः ।

अष्टमः उक्तासः ।

एवं दोषानुक्ता गुणालङ्कारविवेकमाह,
ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ १ ॥

निकविशेष्यं प्रतिपद्यते अन्वेति । तथा इति तादृशान्वितः सन्नेव इति प्रधानस्य
भ्रयस्युपकारे वर्धत इति एवञ्चेदृशं काव्यमपराङ्गमेवेति बोध्यम् । ननु वीररस-
स्थायिभावोत्साहभयस्थायिभावभीत्याद्यीरेलाश्रयैक्ये विरोधः करुणस्थायिभाव-
शीकशङ्कारस्थायिभावरत्याद्यीरेव च नैरन्तर्येण विरोधस्तयोरेव भिन्नसंश्रयत्वरसान्त-
रितत्वादिकथनमुचितम् । रसस्तु ज्ञातसामाजिकनिष्ठ एव सामाजिके तु सकलरस-
एव तस्य कथं भिन्नसंश्रयत्वादिकमुपदिष्टमित्यत आह प्रागिति । स्थायिभाव उच्यते
तथाच बहुषु स्थानेष्वेव रसशब्देन स्थायिभावएवोच्यते इति दर्शितं तथाच रसस्य
शब्दवाच्यत्वं यदुक्तं तत्रापि स्थायिभावपररसशब्द इत्युक्तं व्याख्यातञ्चेदं तत्रैव ।

इति सप्तमी दोषः प्रतिविम्बः ।

दोषेण परिभ्रूयन्ते चक्षुष्मन्तोऽपि मानवाः ।

आदर्शस्य गुणेन स्युस्ते सदर्थं विस्तीक्षिनः ॥

काव्यलक्षणीकक्रमेण दीषनिरूपणानन्तरं गुणे निरूपणीये भान्तपरम्परयैव
गुणालङ्कारयोर्भेदव्यवहारी भेदव्यवहारी वस्तुतस्तुभेद इति धे भ्रुवतं तन्मतं निराकर्तुं तयोर्भेदं
साधयितुमाह एवमिति विवेकं पृथग्भावम् । तत्र गुणसामान्यलक्षणमाह ।

ये रसस्येति । अङ्गिनः पराङ्गतामनापन्नस्य रसस्य धे उत्कर्षहेतवो धर्मा

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयः, नाकारस्य ; तथा, रसस्यैव माधुर्यादयो गुणाः, न वर्णानाम् । क्वचित्तु शौर्यादिसमुपचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादे व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि वितताकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्त्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति, तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्ते रमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि, मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादिरमाधुर्यादि रसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीतिबन्ध्या व्यवहरन्ति । अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते, न तु वर्णमात्राश्रयाः । यथैषां व्यञ्जकत्वं, तयोदाहरिष्यते ।

वक्ष्यमाणा माधुर्याजःप्रसादाख्याप्ते गुणाः स्फुरित्यर्थः । उत्कर्षहेतुता च साक्षादेवेति बोध्यम् । तेन परम्परया तद्हेतुतया वक्ष्यमाणस्यालङ्कारस्य व्यवच्छेदः । ते चाचलस्थितयो रसे सति अवश्यं सन्तस्तत्प्रसवव्यापका इत्यर्थः । प्रसादस्तु रसत्वस्यैव व्यापकः व्यञ्जकसत्त्वे गृह्यन्ते तदसत्त्वे तु न गृह्यन्त इति तु विशेषः । पराङ्गरसे त्वगृह्यमाणत्वान्न तत्र गुणस्वीकार इत्यतोऽङ्गिन इत्युक्तम् । गुणा वर्षधर्मा एवेति केषाञ्चिद्वावहारो भ्रान्तपरम्परयति दर्शयति ।

आत्मन एव हीति । नाकारस्य न शरीरस्य शौर्यादीनां शरीरधर्मत्वेन भ्रान्तव्यवहारवद्गुणानामपि वर्षधर्मत्वेन भ्रान्तानामिव व्यवहार इति दर्शयितुमाह क्वचित्त्विति । अस्यात्मनः शूर इतीत्यस्य व्यवहरन्तीत्यर्थेऽन्वयः इत्यं शूरत्वव्यवहारं प्रति शरीरमहत्त्वस्यान्वयं दर्शयित्वा तद्व्यतिरेकेण तद्व्यवहारव्यतिरेकमाह क्वापीति अविश्रान्तं यथार्थेऽतिष्ठन्ती प्रतीतिर्येषां तादृशाः । इत्यं दृष्टान्ते भ्रमवीजं दर्शयित्वा दाष्टान्ते गुणेऽपि तद्दर्शयति तथा मधुरादीति अमङ्गरङ्गेत्यादौ तन्नीधम् । माधुर्यव्यवहारप्रवृत्तेरिति भ्रमिषेति बोध्यम् । अमधुरादीति वीरादिरसीयकाव्यस्थानामित्यर्थः । मधुरादीति व्यवहरन्तीत्यन्वयः । अयं भ्रममूलको भ्रमी दर्शितः ।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ २ ॥

ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सन्धवि-
नसुपकुर्वन्ति, ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरि-
णोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः ; यत्र तु नास्ति
रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः ; क्वचित्तु सन्तमपि
नोपकुर्वन्ति । यथाक्रममुदाहरणानि,

अपसारय घनसारं, कुरु हारं दूर एव, किं कमलैः ।

अलमलमालि ! मृणालैः, इति वदति दिवानिशं बाला ॥

इत्यादौ वाचकमुखेन,

इत्थं माधुर्यव्यवहारे वर्णसीकुमार्यस्यान्वयं दर्शयित्वा तद्व्यतिरेकेण तद्व्यवहार-
व्यतिरेकं दर्शयति मधुरादिरसोपकरणानामिति रसपर्यन्तेति । गुणवैशिष्ट्येन
रसविशेषप्रतीतिशून्या इत्यर्थः । अतएवेति । व्यवहर्तृणां भ्रान्तत्वादेवेत्यर्थः । न तु
वर्णमात्रेति । अत्र मात्रपदं स्वरूपमात्रपरं वर्णाश्रयत्वमात्रस्यैव खण्णनीयत्वात् ।
इत्थं गुणसामान्यस्य रसवृत्तिलमुक्त्वा शब्दतदर्थवृत्तीनामलङ्काराणां तद्विभक्त-
वक्तुमाह ।

उपकुर्वन्तीति । सन्तं स्फुटस्थितं सर्वथा नीरसस्य सगुणत्वाभावेन काव्यला-
भावात् । व्याचष्टे ये इति अङ्गद्वारेणेत्यस्य विवरणवाच्यवाचकेति मुख्यं सर्वा-
पेक्षयाऽधिकास्त्रायं सन्तमित्यस्य विवरणं सन्धविनमिति स्फुटसन्धविनमित्यर्थः ।
क्वचित् स्फुटतदंसन्धवे कस्योपकारका अलङ्कारा इत्यत्राह यत्र त्विति स्फुटो नास्ती-
त्यर्थः । जातुचिदित्यनेन क्वचिदुपकारकत्वाभावोऽपीत्युक्तं तदाह- क्वचित्स्विति ।
तत्र प्रथमं सतत्कस्योपकारकत्वं शब्दतदर्थाङ्गद्वारयोः श्लोकद्वये दर्शयति ।

अपसारयेति । मनोराम इति च घनसारं कर्पूरम् । वाचकमुखेनेति
वाचकः शब्दसदलङ्कारीऽचानुप्रासः तेन शब्दसुपगतस्य शब्दोपस्थाप्यार्थद्वारा रसोप-
कारात् ।

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतम्,
 प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव ।
 हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतः,
 न मां वातुं तातः प्रभवति, न चाम्बा, न भवती ॥
 इत्यादौ वाच्यमुखेन अलङ्कारौ रसमुपकुरुतः ।
 चित्ते विद्ददिति, ए खिद्ददिति सा गुणेषुम्
 मेज्जासु लोटदिति, विसपुदिति दिम्मु हेसुम् ।
 बीलमि बद्ददिति, पबद्ददिति कब्बबन्धे,
 धाणे ए तु तुद्ददिति चिरं तरुणी तरट्टी ॥
 इत्यादौ वाचकमेव,
 मित्रे कापि गते, सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति,
 क्रन्दत्सु भ्रमरेषु, वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।

मनोराग इति । लवङ्गिकां प्रति मालत्या उक्तिरियम् । प्रमाथी मनः-
 प्रमथनशीलो माधवविषथो मनोरागोऽविरतं तीव्रं विषमिव विसर्पति तथा निर्धूमो
 विधुती वातचलितः पावक इव ज्वलति तथा गरीयान् ज्वर इव प्रत्यङ्गं हिनस्तीति
 विभिन्नधर्मा मालोपमा इत इतस्त्रातुं तातादिकं न प्रभवतीत्यर्थः । इत इत इत्यति-
 विषादे वीक्षा । विधुतश्चन्द्रात्पावको ज्वलतोवैत्युत्प्रेक्षा वा । अलङ्काराविति श्लोक-
 दयोक्तशब्दाथालङ्कारावित्यर्थः । क्वचित्तु सत्तमपि नोपकुर्वन्तीत्यत्रोदाहरति ।

चित्ते इति ।

चित्ते विघटिते न खिद्यति सा गुणेषु श्रय्यायां लुठति विसर्पति दिङ्मुखेषु ।
 वाक्ये वर्त्तते प्रवर्त्तते काव्यबन्धे ध्याने न व्युद्यति चिरं तरुणी प्रगल्भेति ॥संस्कृतम् ।

गुणेषु न खिद्यति तत्र गुणभावनायाम् । खेदं न भजतीत्यर्थः । दिङ्मुखेषु
 विसर्पणमुद्भ्रमान् वाक्ये वर्त्तते कमप्युपदेशं गृह्णाति अतएवास्मदुपदिष्टे त्वद्विषये
 काव्यबन्धे प्रवर्त्तते व्युद्यति क्षीणा भवति । प्रगल्भायां तरट्टी देशी । वाचक-
 मेत्रेति टवर्गानुप्रासस्य शृङ्गारप्रतिश्रुत्वान् वाचकमात्रोपकारकत्वात् ।

मित्रे इति । सव्याकालीनचक्रवाकक्रियावर्णनमिदम् । वियोगिना उप-
 स्थितत्रियोगेन चक्रवाक्येण विसलता सखालजता नास्त्रादिता नोन्निगा केवलं

चक्राङ्गेन वियोगिना विसलता नास्वादिता नोज्जिता,
कण्ठे केवलमर्मलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥

इत्यादौ वाच्यमेव, न तु रसम् । अत्र विसलता न जीवं
रोषुं क्षमेति प्रकृताननुगुणोपमा ॥

एष एव च गुणालङ्कारप्रविभागः । एवञ्च 'समवायवृत्त्या
शौर्यादयः, संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां
भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनाञ्चोभयेषामपि सम-
वायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैषां भेदः' इत्यभि-
धानमसत् । यदप्युक्तं, काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा-

निर्गच्छती जीवस्यार्गलेव वक्त्रे निहिता कर्दैयं कृतमित्यत्राह मित्रे इति । उप-
स्थिता वियोगस्य दुःखीद्दीप्तिस्त्रिधा भवति इष्टवियोगिदर्शनात् तदन्वूनां क्रन्दनात्
इष्टसंसर्गिदर्शनाच्चेति । तत्रेष्टवियोगिदर्शनादाह मित्रे इति । मित्रे सूर्ये एव
मित्रे बन्धौ क्वाप्यलभ्यवार्त्ताके देशे गते सति तदन्वू सरोरुहवने बज्जानने ताम्यति
सति आननमत्र पुष्पमेव इष्टवियोगिवन्वू क्रन्दनादाह क्रन्दत्सिति अत्र गुञ्जिते
क्रन्दनाध्यासः इष्टसंसर्गिदर्शनादाह वीक्ष्येति । सारसौ सारसस्त्रीं दयितेन
आसन्नां युक्तामित्यर्थः । न तु रसमिति वियोगिनी जीवनरक्षणप्रयत्नानीचिन्त्येन
तदुत्प्रेक्षाया विप्रलम्भानुपकारकत्वादिति भावः । नन्वत्र मास्तु जीवनरक्षणप्रयत्नीत्-
प्रेक्षा यथा विप्रलम्भानुपकारः किन्तु पुरान्निर्गच्छती जीवस्य प्राणिनी याऽर्गला
निर्गमनविरोधिका हारपिधानकाष्ठरूपा केवलं सेव निहितेत्यपमैवेयमास्ता-
मित्यत आह ।

अत्रेति । यदि जीवनरोधकत्वेन साधर्म्येणैयमुपमा स्यात्तदा उपमेयायां
विसलतायां तन्नास्तीत्याह न क्षमेति न समर्थेत्यर्थः । प्राणिवोधकत्वस्य श्लेषा-
जीवनबोधकत्वस्य वा तत्राभावात् अतः प्रकृतं जीवबोधकत्वं साधर्म्यमननुगुणम-
सम्पादकं यस्या इयमुपमा तादृशी इत्यतीऽत्र नोपमेयत्वर्थः । यदि च दीर्घत्वादि-
साधर्म्येणैयमुपमा स्यात्तदा जीवस्येत्यादि वैयर्थ्यमेव स्यादिति । स्फुटत्वादेव नीक-
मिति भावः । अर्गलामाषीपमयैव दीर्घत्वादिलाभात् । चक्रवर्ती तु अत्र विसं लते-
चेति या उपमा सा प्रकृतस्य जीवबोधकत्वस्याननुगुणाऽननुकूला लतोपमया कीमलत्व-
लामेन तस्या जीवबोधनासामर्थ्यादिति व्याचष्टे तत्र । तत्कथनस्य प्रकृतानुपधीनात्

स्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति ; तदपि न युक्तं, यतः, किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः, उत कतिपयैः, यदि समस्तैः, तत्कथमसमस्तगुणा गौडी पाञ्चाली च रीतिः काव्यस्यात्मा ? अथ कतिपयैः ततः,

अद्रावन् प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः, प्राज्यः प्रोच्यन्नुल्लसत्येष धूमः ।
इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः ।
स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी ।

तावता प्रकृतरसानुपकारकत्वात्माभात् विसमेव लतेति रूपकसम्बन्धे उपमाया एवाभावाच्च किञ्च उपमायां न ह्युपमानगतं सर्वमेव धर्ममुपमये प्रतीयते चन्द्र इव सुखमित्यादौ कलङ्कित्वादेरपि प्रतीत्यापत्तेः तत्कथं कीमलत्वप्राप्तिः । इत्यं गुणारसनिष्ठा अलङ्कारास्तु शब्दतदर्थनिष्ठाः स्वाश्रयप्रकर्षणद्वारा रसीपकारका इति व्यवस्थापितेऽयमेव गुणालङ्कारयोर्भेद इत्याह एष एव चेति विभागी भेदः । केचिन्नुदृष्टान्तयोः श्रौत्यङ्कारायोर्गुणालङ्कारयोः स्वाश्रये सम्बन्धभेदाभेद उचित एव काव्यीयगुणालङ्कारयोस्तु स्वाश्रयस्य तन्निष्ठसम्बन्धस्य च भेदाभावीर्भेद एव किन्तु भान्तपरम्परयैव भेदव्यवहार इत्याहुस्तेषां तदभिधानमसदित्याह एवञ्चेति । समयवाद्यहञ्चेति । समवायीऽत्र स्वरूपसम्बन्ध एव स्थितिर्वैशेष्येव गड्डलिकाऽज्ञातप्रवाहागमस्थानी धारावाहिकप्रवृत्ती नदीविशेष इति केचित् मेषयूधैरनुगम्यमाना मेषीत्यन्वे तत्रायैव भान्तपरम्परयैव भेदो व्यवह्रियत इति तेषामभिधानमसदित्यर्थः । गुणालङ्कारयोर्लक्षणभेदाद्भेद इति केचिदुक्तं दूषयितुमाह यदप्युक्तमिति । काव्यश्रीभाषा इत्यत्र काव्यव्यवहारप्रयोजिकायाः श्रीभाषा इत्यर्थः । अथथाऽयं वितर्क्य काव्यस्यैव दूषयित्यमाणस्य व्यवहारस्यासङ्गत्यापत्तेः । गुणाच्च तन्मते श्लेषप्रसादादयो दश गुणा दृश्युक्तनामानो बोध्याः । काव्यस्यात्मैति रीतिरात्मा काव्यस्येति वामनीकत्वात् । श्रीजःप्रभृतिष्विति श्रीजोऽत्र पदवचनविन्यासः प्रभृति पदाचार्य्यक्तिरूपगुणपरिग्रहः बहुलन्वविवक्षितं काव्यव्यवहारापत्तिरिति न चाचेष्टापत्तिरिति वाच्यम् । गौरपत्यं वलीवर्द्धौ घासमत्ति मुक्षेन स इतिवत् स्वरूपकथनमात्ररूपत्वेन सर्वथा गौरसखास्य काव्यत्वानङ्गीकारात् स्वरूपकथनमात्रत्वेन वक्रिभूमविषयभावस्याप्यभावाच्च । इत्यमतिव्याप्तिस्तुक्ताऽप्यातिमाह ।

अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम् ॥

इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकी गुणनिरपेक्षी काव्यव्यवहारस्य प्रवर्त्तकौ ।

माधुर्य्यैजःप्रसादाख्यास्त्रयस्तेन पुनर्दश ।

एषां क्रमेण लक्षणमाह,

आह्लादकत्वं माधुर्य्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥३॥

शृङ्गारे (अर्थात्) सन्धोगे, द्रुतिर्गलितत्वमिव अव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि ।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

स्वर्गेति । वरदण्डिनी पुंसोऽनेनैव देहेन स्वर्गप्राप्तिः प्राप्यमाणः स्वर्गः तथा रदच्छदस्य शोष्ठस्य रसः सुधां न्यक्करोतितरां विशेषोक्तिरितद्देहरूपकारणसत्त्वेऽपि स्वर्गप्राप्तभावरूपस्य फलस्याभावः स्वर्गप्राप्तिः कारणत्वफलत्वे । चात्र योगक्षेमसाधारणे बोध्ये व्यतिरेकश्च उपमानौभूतसुधापेक्षया उपमेयस्य रदच्छदरसस्याधिक्यरूपः गुणनिरपेक्षाविति तदुक्तैकगुणस्याप्यत्राभावादिति भावः ।

आह्लादकत्वमिति । आह्लादजनकतावच्छेदकी धर्म इत्यर्थः । शृङ्गारादीनां रव्यादिरूपस्थायिभावी हि स्वस्य रसरूपतापरिणामकत्वेन रसरूपाह्लादजनकगर्ज्यादिरागवृत्तिरिव तदवृत्तिमाधुर्य्यरूपी धर्मविशेषस्तज्जनकतावच्छेदकः परिणामवशेन रसस्यापि स्थायिभावाभिन्नत्वेन स्थायिभाववृत्तेः माधुर्य्यस्य रसवृत्तित्वं नानुपपन्नं द्रुतिकारणमिति तेन धर्मेण मनसो गलितत्वप्रायरूपा द्रुतिर्जन्यते इत्यर्थः । अर्थात् सन्धोगे इति करुणविप्रलम्भादावत्यन्तद्रुतिहेतुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् द्रुतिसामान्यकारणत्वसन्धोगमात्रे इत्यर्थः । केचित्तु काव्यस्य सुश्रव्यत्वमैव लक्षणमाहः तस्या व्यावर्त्तकत्वमित्याह अव्यत्वं पुनरिति शीजःप्रसादयोः सतीरपि काव्यस्य सुश्रव्यत्वमस्तीत्यर्थः ।

करुण इति । तन्माधुर्य्यम् अतिशयान्वितत्वञ्च फलातिशयादित्याह अत्यन्तेति शीजोगुणलक्षणमाह ।

दौमप्रात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥ ४ ॥

चित्तस्य विस्ताररूपदौमत्वजनकमोजः ।

बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।

वीरात् बीभत्से, ततो रौद्रे सातिशयमोजः ।

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥५॥

व्याप्तोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

अन्यदिति व्याप्यमिह चित्तम् । सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु,
सर्वासु रचनासु च

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥६॥

दौमप्राप्तेति । आत्माऽत्र मनोदीप्तिरूपाया मनोविस्तृतेरित्यर्थः । दौमिन्न
कटुवर्षश्रुतिजन्यदुःखसङ्गिभन्नः सुखविशेषः सैवात्मनो मनसो विस्तृतिस्तद्वेतुरित्यर्थः
एवमेव व्याचष्टे ।

चित्तस्येति । रसनिष्ठेनौजसा मनसा च रसान्निभमेव तादृशं सुखं जन्यत
इत्यर्थः । सातिशयमिति दौमिन्नरूपफलातिशयात् । प्रसादगुणलक्षणमाह ।

शुष्केन्धनेति । अन्यदिति याच्नादन्यत् यादृकं चित्तमित्यर्थः । यो गुणः
सहसा तद्ग्राप्तीति स्वाश्रयरसव्यञ्जकार्थेन सह चित्तं स्वविषयकं करोतीत्यर्थः ।
सहसा व्याप्तौ दृष्टान्तमाह ।

शुष्केन्धनेति । शुष्के आलशालशुष्के देशे जलवदित्यर्थः । सर्वत्रेति समन्या
आश्रयत्वव्यञ्जत्वस्यार्थ इत्याह सर्वेष्विति सर्वरसान्शया सर्वजातीयरचनाव्यञ्जकत्वार्थः ।
नास्य रसविशेषवृत्तित्वनियमो नापि रचनाविशेषव्यञ्जकत्वनियमः किन्तु यद्रस्रीयस्य
यद्रचनाविशिष्टस्य च काव्यस्य सहसार्थप्रत्ययस्तद्रसवृत्तिसाद्रचनाव्यञ्जकत्वमित्यर्थः ।
नन्वेवं गुणानां रसवृत्तित्वे काव्यवृत्तित्वाभावात् सगुणाविति काव्यलक्षणव्याघात
इत्यत आह ।

गुणवृत्त्येति । परम्परावृत्त्यर्थः । परम्परावृत्तेः वृत्तित्वाभावेऽपि तथात्व-

गुणवृत्त्या उपचारेण, तेषां गुणानाम्, आकारे शीर्यस्येव ।
कुतस्त्रय एव, न दश ? इत्याह,

केचिदन्तर्भवन्त्येषु, दोषत्यांगात्परे श्रिताः ।

अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचित्, न ततो दश ॥७॥

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा यः श्लेषः, यश्चारी-
हावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता,
यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः ; तेषामोजसि अन्तर्भावः ;
पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्गा साक्षादुपात्तम् । प्रसादेनार्थ-
व्यक्तिर्गृह्यता मार्गाभेदरूपा समता क्वचिदोषः, तथाहि,
मातङ्गाः किमु वलितैः-[२८५५०]-इत्यादौ, मिहाभिधानं
मसृणमार्गत्यागो गुणः । कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात्त-
न्निराकरणेनापारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, श्रौञ्चत्व्यरूपा कान्तिश्च
स्वीकृता । एवं न दश शब्दगुणाः ।

सुपचारादित्याह उपचारेणेति । न दशेति प्राचीनीकृतदशगुणा नैत्यर्थः । कुत्रचित्
स्थाने अन्ये गुणा दोषत्वं भजन्तीत्यन्वयः । दशगुणाश्च ।

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमीजः कान्तिसमाधय इति ॥

तत्र श्लेष समाध्युदारताप्रसादानामौजस्यन्तर्भावमाह ।

बहूनामिति । समासवशादित्यर्थः । तथाच दीर्घसमास एव श्लेषपरिभाषितः ।
आरोहावरीह्यीरिति गाढवर्णरूपक्रमीपसंहारयोरित्यर्थः । विकटत्वसुपक्रमीप-
संहारराहित्येन गाढवर्णघटना औजीमिश्रितेति गाढवर्णमिश्रितेत्यर्थः । तथाच
शैथिल्यमिश्रणमत्र विकटत्वाद्भेदः तेषामौजसीति मयाप्यैतौजोगुणस्य व्यञ्जत्वाङ्गी-
कारादेकस्मिन् व्यञ्जे गुणत्वकल्पनापेक्षया बहूनां व्यञ्जकानां गुणत्वकल्पने गौरव-
मिति भावः । तथाच तेषामुदाहरणमीजोदाहरणमेवेत्येवमन्तर्भावः एवमग्रेऽपि
पृथक्पदत्वमसमासः भङ्गेति अहतिर्नध्यहतिर्वेति । माधुर्यव्यञ्जकतयाऽसमासस्य
मयापि बहूनामत्वात् अहतिपदेन पृथक्पदत्वस्वीक्तिरेव भङ्गिः । अन्ये भजन्ति

पदार्थं वाक्यरचनं, वाक्यार्थं च पदाभिधा ।

प्रौढिर्याससमासौ च, साभिप्रायत्वमस्य च' ॥

इति या प्रौढिः, ओज इत्युक्तम् तत् वैचित्र्यमात्रं न गुणः, तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः । अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाञ्जीलग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यम्, अपारुथरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृता । अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणोभूतव्यङ्गाभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः, दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता । क्रमकौटिल्यानुस्वणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम् । अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः, कः खखनुन्म-

दोषत्वमिति दर्शयति मार्गेति उपक्रमीपसंहारयोर्मसृष्ट्येकमार्गता समासता गाढवर्ण-
स्तथात्वन्तु समाधिरित्यनयोर्भेदः । मसृष्टमार्गे त्यागो गुण इति दोषाभाव इत्यर्थः ।
तदव्याग्रे प्रकृतिविपर्ययदोषः स्यादित्यती दोषत्वभजनम् । एवञ्चैकस्यैव गुणस्य
दोषत्वभजनकथनादन्वे इत्यत्र बहुत्वमविवक्षितं बीध्यम् । [दोषत्यागात् परे श्रिता इति
दर्शयति कष्टत्वेति औज्वल्यमगाम्यता । एतद्दृशनामानो विभिन्नलक्षणा अर्थगुणा
अपि नाङ्गीकर्त्तव्या इत्याह ।

पदार्थ इति । चन्द्र इति वक्तव्ये नयनसमुत्थं ज्योतिरत्वेरिति पदार्थे वाक्यरचनया
कान्तार्थिनौ निशि सङ्केतं गच्छन्तीति वक्तव्येऽभिसारिकेति वाक्यार्थे पदाभिधानम् नायं
पण्डित इति वक्तव्ये नायं व्याकरणं स्युतिमलङ्कारं तर्कं नीमांसाश्च वेत्तीति व्यासः
नायं पण्डित इति समासः मिलितमेतच्चतुष्टयं प्रौढिरित्यर्थः । एतद्वैचित्र्यमात्रमिति
तथाच वैचित्र्यमलङ्कार इति लक्षणादलङ्कार एवायमित्यर्थः । तद्भावेऽपीति यद्यपि
गुणान्तरात्तत्र काव्यव्यवहार इति वक्तुं शक्यं तथापि गुणान्तरस्य काव्यव्यवहार-
प्रयोजकत्वमेतद्भावेऽप्यसि अस्य तु तथात्वं न गुणान्तरासत्त्वे इत्यन्वयासिद्धत्वमित्य-
भिप्रायः । अन्यविधसौजसः प्रसादमाधुर्यसौकुमार्योदारतानाश्च यथासङ्गं पञ्च-
दोषत्यागैरेव स्वीकार इत्याह अपुष्टार्थत्वेति तदधीगात् साभिप्रायत्वरूपस्य ओजसः

तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात् । अर्थस्यायोनेरन्यच्छाया-
योनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत्कथं काव्यम्, इत्यर्थं दृष्टिरूपः
समाधिरपि गुणः ।

तेन नार्थगुणा वाच्याः,

वाच्या वक्तव्याः ।

प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये ।

वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥८॥

के कस्य ? इत्याह,

स्त्रीकारः अर्थवैमल्यमधिकपदेनाकल्पीकरणम् अधिकपदत्वत्यागात् तत्स्त्रीकार-
उक्तिवैचित्र्यं बहुशः प्रतिपादनैयस्यार्थस्य भङ्गीभेदेन नवीकरणम् अनवीकृतत्व-
त्यागात् तत्स्त्रीकारः अपारुष्यममङ्गलाभावः । अमङ्गलाशीलत्वत्यागात् तत्स्त्रीकारः
याम्यत्वत्यागादयाम्यतारुपाथा उदारतायाः स्त्रीकारः । अभिधास्येति रसध्वनीरसगुणौ-
भूतव्यञ्जनेभ्यो भयव रसपदार्थान्वयः । रसगुणीभूतव्यञ्जनापराङ्मूर्च्छं ताभ्यामित्यर्थः ।
क्रमेति । क्रमः क्रियापरम्पराकौटिखं वैदग्ध्यव्यञ्जिका रचना अनुलक्षणं प्रसिद्ध-
वर्णनम् उपपत्तियोगः सहितुकत्वमेतच्चतुष्टयमित्यनेन घटनाज्ञेय इत्यर्थः तदु-
दाहरणञ्च ।

दृष्ट्वासासनसंस्थिते प्रियतमे पथादुपेत्यादरा-

देकस्या मयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।

ईषदक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमीलसन्मानसा-

मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बतीति ॥

अथ हि ज्ञानाख्यातान्तक्रियापरम्परा पुंसी वैदग्ध्यव्यञ्जिका रचना च
अयस्यार्थो लोकाप्रसिद्धः अपरस्याश्रम्बने एकस्या मयनपिधानं हेतुश्चेति । विचित्रत्व-
भावमिति तथाचायमलङ्कार एव न गुण इति भावः । अवैषम्यं प्रक्रमभङ्गा-
भावः स च प्रक्रमभङ्गः दीपत्यागिनेव स्त्रीकृत इत्याह दीषाभावेति । अन्व-
प्रस्तावेऽन्योपक्रमी अन्यदिति । आकाङ्क्षितप्रकारादन्यदित्यर्थः । समाधिगुणा-
स्त्रीकारवीजमाह अर्थश्चेति । सधीस्तुष्टितमत्तच्छिबुकप्रस्यर्द्धिनारङ्गकमित्यादि-

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गाः, रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥६॥

ठडडवर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः,
तथा रेफणकारौ ऋस्वान्तरिताविति वर्णाः ; समासाभावो
मध्यमः समासो वेति समासः ; 'तथा' माधुर्यवती पदान्त-
रयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका । उदाहरणम्,
अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्गाः ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ॥

अर्थानिरर्थः निजनयनप्रतिविम्बेरस्मुनि बहुशः प्रतारिता कापि नीलोत्पल-
ऽपि विम्बप्रति करमर्पयितुं कुसुमलावीत्यादिरन्यच्छायायोनिरर्थः अन्यैरपि नारौ-
नयनस्थोत्पलसादृश्यवर्णनात् । वाच्या इत्यस्य शक्या इत्यर्थकत्वभ्रमं निरस्यति
वक्तव्या इति प्रोक्ता इति माधुर्योऽजःप्रसादा इत्यर्थः । तेषां शब्दगुणत्वपरम्परयत्युक्त-
मेव इताः प्राप्ताः ।

मूर्ध्नीति । सवर्गान्त्य' वर्णं मूर्धावच्छेदेन गच्छन्त इत्यर्थः । स्ववर्गान्त्यमूर्धान
इति यावत्कादयो मान्ताः स्पर्शास्ते यद्येवंविधा इत्यर्थः । अत्राटवर्गं पर्युदस्यति ।

अटवर्गा इति । ऋस्वान्तरकारस्यापर्युदसनीयत्वेन तत्सङ्ग्रहाय ढपर्यन्तात्
ऋस्वान्ताविति सम्यक् पाठः । ऋस्वान्तरिताविति पाठे अन्यस्वरिण्ये पूर्वव्यञ्जनव्यव-
धानात् स एवार्थः समास इति समासप्रतियोगिकत्वेन समासाभावस्यापि समासत्वे-
नोपचर्येदसुक्तम् । घटना तथेत्यत्र तथापदं गृह्यन् व्याचष्टे तथा माधुर्यवतीति
मूर्ध्नि वर्गेत्याद्युक्तमधुरवर्णवतीत्यर्थः । पदान्तरयोगे सन्धी यद्यपि वर्णत्वेन तस्यापि
सङ्ग्रहः सम्भवति तथापि सन्धावपि तादृशा वर्णा उत्पाद्या इत्येवं कव्युपदेशपरमिद-
मिति बोध्यम् । माधुर्ये इत्यत्र सप्तम्यर्थी व्यञ्जकता इत्याह व्यञ्जिका इति ।

अनङ्ग इति । अनङ्गस्य रङ्गस्थलप्रतिमम् आनताङ्गास्तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतं
कुत एतज्ज्ञातमित्यत्राह कुर्वन्तीति । यत इत्यर्थे यद्येति । यत एता भङ्गी यूनां
स्वान्तानि चिन्तानि शान्तमपरचिन्तनं येषु तादृशानि कुर्वन्ति अत इत्यर्थः । अत्र

योग आद्यद्वितीयाभ्यामन्वयोः, रेण, तुल्ययोः ।

टादिः, शष्पौ, वृत्तिर्द्वैर्घ्यं, गुम्फ उद्धत ओजसि ॥१०

वर्गप्रथमद्वितीयाभ्यामन्वयोः (द्वितीयचतुर्थयोः), रेफेण अध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित् तुल्ययोः तेन तस्यैव सम्बन्धः, टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः, शकारषकारौ, दीर्घ-समासः, विकटा सङ्घटना ओजसः । उदाहरणम्, मूर्ध्नामु-हत्तकत्तेत्यादि [२०४पृ०]

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।

साधारणः समग्राणां, स प्रसादो गुणो मतः ॥११॥

समग्राणां रसानां सङ्घटनानाञ्च उदाहरणम्,

शङ्कारीयपद्ये गकारास्तकाराश्च स्ववर्गान्व्यमूर्धानी माधुर्यव्यञ्जकाः प्रतिमन्तेति । दङ्गन्तेति सन्धावपि तादृशी वर्षी । ओजोगुणव्यञ्जकान्याह ।

योग इति । अन्वयोरिति स्वस्यान्वयोरित्यर्थः गुम्फो घटना उद्धत एतादृश-वर्णवान् । तद्वितीयचतुर्थयोरिति । तथाचाद्येन द्वितीयस्य द्वितीयेण चतुर्थस्य योग इत्यर्थः । अत्र आद्यद्वितीयत्वे भिन्नवर्गसाधारणे बोध्ये तेन भिन्नवर्गाद्येन भिन्नवर्गद्वितीयस्य भिन्नवर्गद्वितीयस्य भिन्नचतुर्थेन योगोऽपि बोध्यः । नकारवर्जनेन णकारेण नयोगः तुल्ययोरित्यत्राप्येवं बोध्यम् । तेन कच कङ्कज्जगभक्तादयोऽपि व्यञ्जका बोध्याः अतएवोदाहरणे रक्तसंस्कृति । उभय एवेति दुयाञ्छा गार्धर्पचा मुहुर्धर्तमाद्र्कमित्यादौ तेन तस्य वेति आद्यस्य आद्येन द्वितीयस्य द्वितीयेन भिन्न-वर्गसाधारणेन योग इत्यर्थः । णकारवर्ज इति । लघुणकारवर्ज इत्यर्थः । विकटा एतादृशीद्धतवर्णवती घटनासन्धिरित्यर्थः मूर्ध्नामित्यादौति व्याख्यातमिदं दीधीज्ञासि ।

अत्र मूर्ध्नामिति । -गलद्रत्यादिषु रेफयोगः उक्तकृत्येति । रक्तसंस्कृति च आद्यस्य आद्यी योगी जगज्जति द्वितीयेन द्वितीयस्येति स्वयमूहम् । प्रसादगण-व्यञ्जकान्याह श्रुतिमात्रेणेति । स पूर्वोक्तप्रसादो गुणस्तेषां समग्राणां साधारण-सादृशैः समवेत्यञ्च इत्यर्थः । केषां समग्राणां व्यञ्जा इत्यत्राह श्रुतिमात्रेणेति । यादृशं

परिस्नानं पीनस्तनजघनसङ्घादुभयतः,

तनोर्मध्यस्यान्तःपरिमिलनमप्राप्य हरितम् ।

इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपबलनैः,

कृशाङ्गाः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम् ॥

यद्यपि गुणपरतन्त्राः सङ्घटनादयस्तथापि,

वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।

रचना वृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ १२ ॥

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्तृौचित्यादेव रचनादयः । यथा,

मन्यायस्तार्णवाश्रमः प्रुतिकुहरचलन्मन्दरध्वानधौरः,

कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः ।

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः,

केनास्मिन् सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ ? ॥

रसे यादृशे समासे यादृश्यां घटनायाञ्च सत्यां श्रुतमात्रशब्दादर्थप्रत्ययी भवेत् तादृश-
रससमासघटनास्तद्घट्टिका इत्यर्थः । मात्रपदाहिलम्बव्यवच्छेदः तथाच फलपरिषया
एव तद्घट्टिका इत्युक्तं रसानामिति आश्रितत्वं व्यङ्ग्यत्वञ्च षष्ठ्यर्थः आश्रया व्यञ्जकाश्च
रसा इत्यर्थः एवञ्च स्वरूपमतिप्रसादे सति शीघ्रोऽर्थबीधस्ततो रसबीधस्ततः प्रसाद-
बीध इति सिद्धयति ।

परिस्नानमिति । उभयत्र शिरश्चरणावच्छिन्नाई इये न्यूनत्वे स्तनसङ्घः उत्ता-
नत्वे जघनसङ्घः तनोर्मध्यस्य परिमिलनघर्षणमप्राप्य अन्तर्हरितमित्यन्वयः । अत्र
शीघ्रप्रतीतार्थरसघटनाव्यञ्जः प्रसादः । गुणपरतन्त्रा इति यद्यपि तत्तद्गुणव्यञ्ज-
नार्थमेव तत्तद्घटनादय इत्यर्थः । अन्यथात्वं तत्तद्गुणव्यञ्जनार्थतां विनाप्युपादेयत्वं
तत्र मिलितवक्त्रादिवयौचित्यभ्रमं निरस्य न व्याचष्टे क्वचिदिति ।

मन्या यस्तेति । रणस्थले दुन्दुभिश्चर्द् युत्वा भीमस्येयं पृच्छा । दुन्दुभिरत्र दुन्दुभि-
शब्दः केन ताडितः ताडनाञ्जनितविशेषणानां शब्दविशेष्यकत्व एवोपपत्तेः कीदृशः
शब्दः मन्येनायसं प्राप्तायासं यदर्षवाश्रमस्येन प्रुतं व्याप्तं कुहरं गुहा यस्य तादृशस्य
वसती मन्दरस्य ध्वानवद्गीर इत्यर्थः । तथा कीष्णी वादनदण्डः तदीयाघातेषु

अत्र हि न वाच्यं क्रोधादिव्यञ्जकम्, अभिनेयार्थञ्च काव्य-
मिति तत्रतिकूला उद्धता रचनादयः, वक्ता चात्र भीमसेनः ।

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः । यथा,

प्रौढच्छेदानुरुपोच्छलनरयभवस्सै'हिकेयोपघात-

त्रासाकृष्टाश्वतिर्य्यग्बलितरविरथेनारुणेनेष्यमाणम् ।

कुर्वत्काकुत्स्थवीर्य्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारम्भभाजाम्

भाङ्कारैर्भीतमेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धोचिता एव ते, तथाहि,
आख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः, कथायां रौद्रेऽपि

सम्, गर्जन्याः प्रलयघनघटाया अन्धीन्यसङ्घटनेव चण्ड इत्यर्थः ईदृशं चण्डत्वं
कीणाघातकाले इत्यर्थः यद्वा ।

ढकाशतसहस्राणि भेरौशतशतानि च ।

एकदा यत्र ताड्यन्ते कीणाघातः स उच्यते ॥

इति परिभाषायां यत्रेत्यस्य यन्निमित्तमित्यर्थकत्वेन एकदा ढकादिताडनजन्याः
शब्दाः कीणाघातास्तेषु मध्ये गर्जदित्यादिवत् चण्ड इत्यर्थः । कीणाघातघटकशब्दानां
मध्येऽयं ताड्यचण्ड इत्यर्थः । कृष्णा द्रौपदी तत्क्रोधप्रवर्त्तकत्वात्तदयदूत इत्यर्थः ।
कुरुकुलनिधनार्थमुत्पातरूपनिर्घातसहितवात इत्यर्थः । अस्मात् सिंहेनादस्य यत्-
प्रतिरसितं प्रतिध्वनिसत्तुल्यः । अभिनेयार्थञ्च इति वेषीसंहारनाटकरूपमित्यर्थः ।
तत्र च रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादय इति नियमस्य वक्ष्यमाणत्वात् तदौचित्यं
तथा च वक्त्रौचित्यमात्रादत्र दीर्घसमासादय इत्याह वक्त्राभावेति तस्य धीरोद्धत-
त्वात्तदौचित्यम् ।

प्रौढच्छेदेति । एतत् कुम्भकर्णस्य उत्तमाङ्गं शिरो वियती निपतति कौदृशं
कन्दरा यौना तदीयरम्भभाजां मरुतां भाङ्कारैः भ्रामित्यव्यक्तशब्दैर्भीमं तत्रोत्प्रेचते
कुर्वदिति काकुत्स्थी रामः तस्य स्तुतिं कुर्वदित्यर्थः पुनः कौदृशम् अरुणेन सूर्य-
सारथिना ईदृशमाणं कौदृशेनारुणेन सै'हिकेयी राहुस्तेन उपघातसप्तसाकृष्टै-
रश्वैस्सिर्ष्वक् बलिती रविरथी येन ताड्येन तच्छिरसि राहुभनेष तुरगानाकृष्य

साख्यन्तमुद्धताः, नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासाद्वयः ।
एवमन्यदप्यौचित्यमनुसर्त्तव्यम् । •

इति काव्यप्रकाशे गुणालङ्कारभेदनियतगुणनिर्णयो
नाम अष्टमः उल्लासः ॥

नवमः उल्लासः ।

गुणविवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसराः, इति सम्प्रति
शब्दालङ्कारानाह,

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।

श्लेषेण काक्वा वा, ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा

॥ १ ॥

तथेति श्लेषवक्रोक्तिः, काकुवक्रोक्तिश्च ।

तत्र पदभङ्गश्लेषेण यथा,

रविरथीऽरुणेन तिर्यग्बन्धित इत्यर्थः । ननु पततः शिरसो रविसान्निध्याभावात्
कथं राङ्गपघातत्वास इत्यत उत्तमाङ्गविशेषणमाह प्रौढेति । प्रौढस्य तौत्रवेग-
जनकस्य छेदस्यानुरूपं यदुच्छलनमूर्च्छंगमनं तदीयरयेण मिलत्सन्निहितीऽभवत् ।
आस्थाधिककथा प्राचीनप्रबन्धविशेषी नाटकादावित्यादिपदान्नाटिकापरिग्रहः ।

इति अष्टमो गुणप्रतिबन्धः ।

प्राप्तावसराः प्राप्तसमयाः सगुणावनलङ्कृती इति काव्यलक्षणीकृतक्रमादाकाङ्क्षी-
दयादुपीघात एव तु अत्र सङ्गतिर्नावसरः शब्दालङ्कारानिति शब्दार्थावित्युक्त्वा-
पथैव क्रमः ।

यदुक्तमिति । अन्यथा अन्वाभिप्रायं यदाक्यमुक्तमन्येन जनेन उक्तवाक्यज्ञेयेषु
संवाक्यकाक्वा वाऽन्यथाऽन्वाभिप्रायकं योज्यते योजनया प्रत्याप्यते इत्यर्थः । अन्यदीयं

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि, कश्चेतनो
 वामानां प्रियमाद्धाति, हितकृन्नैवावलानां भवान् ? ।
 युक्तं किं हितकर्त्तनं ननु बलाभां वप्रसिद्धात्मनः ?
 सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥
 अभङ्गश्लेषेण यथा,
 अहो ! केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ? ।
 त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्नतु दारुमयी क्वचित् ॥
 काक्षा यथा, .

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
 अलिकुलकोकिललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ॥

प्रत्युत्तरं प्रथमवक्तृवाक्यश्लेषस्य स्ववाक्यस्थकाकीर्वा साहाय्यात् प्रथमवक्तृवाक्य-
 स्थान्याभिप्रायकत्वप्रतीतिक्रदित्यर्थः । तथा विधा तादृशी विधा व्याचष्टे श्लेषवक्त्रेति
 श्लेषस्य समझीऽभङ्गस्य तत्राद्यमुदाहरति ।

नारीणामिति । परिहृसतीशक्तिप्रयुक्ती इमे तत्र स्त्रीणामनुकूलमाचरामीत्येके-
 नीक्ते परिहृस्य तदन्यः प्रशंसति नारीणामिति जानासि विज्ञीऽसि स्त्रीणामित्यभि-
 प्रायकमिदं प्रथमवाक्यं नारीणामित्यत्र श्लेषवशादरीणां नैत्यभिप्रायकतया स्वप्रत्यु-
 त्तरेणान्यो योजनया प्रत्याययति कश्चेतन इति एतदुत्तरस्य वामानां शत्रूणामित्यर्थ-
 कत्वात् पूर्ववाक्येऽरीणां नेति योजनालाभः एवं सर्वत्र एतहाक्यमेव पुनः पूर्ववक्ता
 वामानां स्त्रीणामित्यभिप्रायकतया प्रत्याययन् तमनुमीदते हितकृदिति अत्रावला स्त्री-
 हितमित्यं क्तुं कर्त्ता एतहाक्यमेव पुनरन्यो बलशून्याभिप्रायकतया योजयन् तं पृच्छति ।

युक्तं किमिति । अनेन वाक्येन पूर्ववाक्ये कृतीच्छेदने इत्यभिप्रायकहावाः
 प्रतीतिः । इदमेव वाक्यं बलस्य बलासुरस्याभावो यज्यात् तादृशानामिन्द्राणां हितस्य
 मतस्य श्लेषेत्यभिप्रायकतया पूर्ववक्ता पुनर्योजयंस्तमधिचिपति सामर्थ्यमिति अत्र
 हितशब्दस्य मतार्थकत्वं हि नती सर्वे नत्यर्था मत्यर्था इत्यनुशासनाद्बोध्यम् ।

अहो केनेति । दारुणा कठिना त्रिगुणा इति प्रत्युत्तरम् अस्य मते दारुण्येति
 इतीयान् सञ्जादिगुणत्रयाधीना इत्यर्थः ।

गुरुजनपरिति । अत्र गुरुवाक्यं प्रीक्षितपतिश्रीचन्याभिप्रायकं पूर्ववाक्यं बलयाः

वर्णसाम्यमनुप्रासः,

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनु-
गतः प्रकृतो न्यासोऽनुप्रासः ।

छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

छेकाः विदग्धाः, वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः,
गत इति छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च ।

किं तयोः स्वरूपम् ? इत्याह,

सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः,

अनेकस्य अर्थात् व्यञ्जनस्य, सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानु-
प्रासः । उदाहरणम्,

सखी तु स्ववाक्यकाकां तदाक्यं कामाकुलत्वेन विषादाभिप्रायकतया पराहंस्ववाक्येन
योजयन्ती आश्रासयति अलिकुलिति नैष्यति अपित्वेष्यति अत शिरशालनेन सह
कृता काकुः । अगुप्रासालङ्कारमाह ।

वर्णैति । स्वरसादृश्यमुत्कर्षायैव क्वचित्तवैसादृश्येऽपीत्यर्थः । यथा कुपित-
कपिकपोलक्रीडतामः शशाङ्क इत्यत्र क्वचित्तु स्वरसादृश्यमपेक्षणीयमेव यथा भूत-
चूतप्रसून इत्यत्र अतः क्वचित् स्वरवैसादृश्येऽपीत्येवार्थः । संज्ञाव्युत्पत्तिमाह ।

रसादीति । छेकवृत्तिगत इति गतः सम्बन्धी तथाच छेकानां विदग्धानां
सम्बन्धी वक्तुर्वेदग्धमात्रप्रत्यायक इत्यर्थः । तेन रसादिसम्बन्धित्वव्यावृत्तिः तच्च
स्फुटरसादिरहितरूपे नीरसे बीध्यं स्फुटरसादिसत्त्वे तु वृत्तिसम्बन्धी वृत्तिर्हि
रसोपकारिका स्वस्य स्थितिः तत्सम्बन्धी तद्वान् रसविषय इति स्नाश्रयशब्दप्रकर्षणेन
तद्वारा रसोपकारकत्वाद्गुणगुणव्यञ्जकवर्षघटितत्वाच्च गत इत्युत्कीर्णः तद्वशात्
संज्ञासिद्धिमाह ।

छेकेति । सकृदिति सकृदपीत्यर्थः । बहुशसु सुतरामिति भावः पूर्वच्छेकानु-
प्रासः । ततोऽवचेति । प्रातश्चन्द्रवर्षणमिदं परिचामः परिचीषः अथ स्यन्द-
मन्देति । गच्छपाशुतेति च संयुक्तानेकवर्षसकृत्वं कामशामकामिणीत्वसंयुक्तान-
नेकवर्षासकृत्त्वम् एवं ततोऽवचपरिचन्दमन्द इन्दुरसुन्दर इति करदी संयुक्तानेक-

ततोऽरुणपरिष्पन्दमन्दीकृतत्रयुः शशी ।

दध्रे कामपरिचामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥

एकस्याप्यसकृत्परः ॥ २ ॥

एकस्य, अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकत्वो वा सादृश्यम् वृत्त्यनुप्रासः । तत्र ।

माधुर्य्यं व्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

श्रीजःप्रकाशकैस्त्रैस्तु परुषा,

उभयत्रापि प्रागुदाहृतम् [३२०, ३२१ पृ० ।]

कीमला परैः ॥ ३ ॥

परैः शेषैः, तामेव केचित् ग्राम्येति वदन्ति ।

उदाहरणम्,

अपसारय घनसारं, कुरु.हारं दूर एव, किं कमलैः ।

अलमलमालि ! मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाष्पा ॥

केषाञ्चिदेता वैदभीं प्रमुखा रीतयो मताः ।

एतास्त्रिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदभीं गौडी पाञ्चा-
ख्याख्या रीतयो मताः ।

वर्णानामप्यसकृत्वं कीध्यम् । प्रातश्चन्द्रवर्षनाञ्च न स्फुटरसभावादिरित्यतो न वृत्त्यनुप्रासः किन्तु वक्तुर्वेदग्ध्रमावव्यञ्जनाच्छेकानुप्रासः ।

एकस्यापीति । परी वृत्त्यनुप्रासः अपिशब्दादिति तथाच काव्यस्य स्फुटरस-
वत्त्वे एकस्यानेकस्य वाऽसकृत्त्वे वृत्त्यनुप्रासत्वं किन्त्वेनेकस्य सकृत्त्वे रसानुप-
कारकत्वात् सरसकाव्येऽपि न वृत्त्यनुप्रासत्वं किन्तु छेकानुप्रासत्वं नैव एकस्य सकृत्त्वे
तु नानुप्रासत्वमिति निष्कर्षः । भूतपूतैत्यत्र तु सरसां स्यान्नैकत्वम् उभयवैति ।
अनङ्गरङ्गेत्यादिकमुपनागरिकायां मूर्ध्निमित्यादिकश्च परुषायामुदाहृतमित्यर्थः अप-
सारयैत्यादि ।

अत्र सागुसारसत्वेन रीफस्य सप्तत्वाभावात् माधुर्य्यव्यञ्जकत्वं वैदभीं गौडी-

शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥४॥

शब्दगतोऽनुप्रासः, शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात्,
लाटजनवत्प्रभवाच्च लाटानुप्रासः । एष पदानुप्रास इत्यन्ये ।

पदानां सः,

स इति लाटानुप्रासः । उदाहरणम्,

यस्य न सविधे दयिता, दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।

यस्य च सविधे दयिता, दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥

पदस्यापि,

अपिशब्देन स इति समुच्चोयते । उदाहरणम्,

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।

सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥

वृत्तावन्यत्र, तत्र वा ।

नामः स वृत्त्यवृत्त्योश्च,

येति तेनोपनागरिकानुप्रासो वैदर्भीरितिः परुषानुप्रासो गौडीया कीसलानुप्रासः
पाञ्चाली । इत्यं वर्णानुप्रासस्य प्रभेदमुक्त्वा शब्दानुप्रासमाह ।

शब्दस्त्विति । शब्दः पदं पदनिष्पाद्य इत्यर्थः तात्पर्येति । तात्पर्यविषयान्वय-
मात्राभेदेऽपीत्यर्थः । मात्रपदात् पदार्थभेदव्यवच्छेदः पदार्थभेदे यमकत्वात् शब्दा-
र्थयोरिति शब्दधीरर्थधीयेत्यर्थः शब्दः पदम् । पदानामनेकपदानां यस्य नेति ।
अत्र पूर्वाहं तापकत्वात् तुहिनदीधितिरपि दवदहनः परार्हे तु दवदहनीऽपि
दुःखाजनकत्वेन तुहिनदीधितिरिति तात्पर्यविषयस्य अद्वैतविधेयभावेनान्वयस्य
भेदः पदार्थानाम्भेदः यस्येत्याद्यनेकपदानामयमनुप्रासः । पदस्यापीति एकपद-
स्यापीत्यर्थः अपिशब्देनेति । न च पदस्यापीत्यपिशब्देन पदानाम्प्रीत्यवमेक
समुच्चैनुसृष्टितं न तु भिन्नविभक्त्यन्तस्य स इत्यस्येति वाच्यम् । अपि शब्दान्मेत्यर्थात्
तत्रापि पदस्येति वच्यन्ताकाङ्क्षया स इति खभ्यत इत्यर्थः ।

वदनमिति । अत्र पूर्वाहं वदने सुधाकरं रूपयित्वा पुनस्तत्रैवावहति सुधाकरः

एकस्मिन् समासे, भिन्ने वा समासे, समासासमासयोर्वा
नाम्नः प्रातिपदिकस्य, न तु पदस्य, सारूप्यम् । उदाहरणम् ।
सितकरकररुचिरविभा विभाकरांकार ! धरणिधर ! कीर्त्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥

तदेवं पञ्चधा मतः ॥५॥

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।

यमकम्

समरसमरसोऽयमित्यादावेकेषामर्थवत्त्वे अन्येषामनर्थ-
कत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम्, इति अर्थे सतीत्युक्तम् ।
सेति सरो रस इत्यादिवैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थिता ।

कान्ति । अस्या वदनं तावत् कलङ्कशून्यं सुधाकरः कतु कलङ्केन विकलः शून्यो
भवेदित्यर्थः तथाच तत्कथमयं सुधाकर इति संग्रहः । यद्वा कलङ्केन विकलो निरुक्तः
सुधाकरः पुनः कतु भवेत् अस्या मुखे रूपणेऽस्य दूरपराहृतिरेव भवेदित्यर्थः । अत्र
सुधाकररूपैकपदमाचानुप्रासः । इत्थं विभक्त्यन्तस्य पदत्वेन पदघटितं द्विविधं
पदानुप्राससुक्ता समासपदेकदृशघटितं तं त्रिविधमाह उक्ताविति । उक्तिः समासः
तत्र त्रैविध्यमन्यत्रेति क्रमेणोक्तमप्युदाहरिष्यमाणं श्लोकस्य क्रमेण व्याचष्टे
एकस्मिन्निति । समासासमासयोरिति उच्यतेत्यस्य व्याख्या न तु पदस्येति
विभक्त्यन्तरूपपदस्य नेत्यर्थः । तस्य पूर्वीक्तवैविध्यानर्गतत्वात् ।

सितकरेति । व्याख्यातमिति प्राक् किन्तु पौरुषमेव कमलमधिष्ठानपक्षं यस्या
इति यत् पूर्वं व्याख्यातं तादृशार्थानभिप्रायेणोद्भूताहृतम् कमला कमलशब्दयोरर्थयो-
र्भेदेन तदंशे यमकस्यैव प्रसङ्गेः किन्तु पौरुषलक्ष्मीरेव लक्ष्मीर्वरिष्ठा इत्यर्थाभिप्रायेणोद्-
भूताहृतमिति मनन्यम् । पञ्चधेति पदानां पदस्य एकसमासे भिन्नसमासे समासा-
समासद्वयेत्येवं पञ्चधेत्यर्थः । यमकालङ्कारमाह ।

अर्थे सतीति । अनुप्रासवारणाय अर्थभिन्नानामित्यवश्यं वाच्यम् । तच्च समर-
समरसौत्यादिषु निरर्थकयोर्नरते मरते इति यमकिकवभासयोरव्याप्तमतीऽर्थे सतीति ।
अर्थासत्त्वे तु निरावाच्यमेव यमकमिति भावः । तथाच निरर्थकानामर्थे सकार्यभिन्ना-

पादतद्भागवृत्ति तद्व्यात्यनेकताम् ॥६॥

प्रथमो द्वितीयादौ [१] द्वितीयस्तृतीयादौ [२] ततोयच्चतुर्थे [१], प्रथमस्त्रिषु [१], अपीति सप्त । प्रथमो द्वितीये, ततोयच्चतुर्थे, प्रथमच्चतुर्थे, द्वितीयस्तृतीये इति हे । तदेवं पादजं नवभेदम् । अर्द्धावृत्तिः, श्लोकावृत्तिश्चेति हे । द्विधा विभक्ते पादे प्रथमपादादिभागः पूर्ववत् द्वितीयादिपादादिभागेषु, अन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिभेदाः, श्लोकान्तरे हि नासौ भागावृत्तिः । त्रिखण्डे त्रिंशत्, चतुःखण्डे चत्वारिंशत् । प्रथमपादादिगताख्यार्द्धादिभागो द्वितीयपादादिगते आद्यार्द्धादिभागे यम्यते, इत्याद्यन्वर्थतानुसरणेनानेकभेदम्, अन्तादिकम्, आद्यन्तिकम्, तत्समुच्चयः, मध्यादिकम्, आदिमध्यम्, अन्तमध्यं मध्यान्तिकं तेषां समुच्चयः । तथा तस्मिन्नेव पादे आद्या-

नाश्च सा पुनः श्रुतिरिति लक्ष्यद्वयं पर्यवसितम् उभयानुगमस्तु एकार्थभिन्नानामित्येवं बोध्यः । व्याचष्टे समरेति । अभीतत्वेन समरेऽसमरतुल्यरस इत्यर्थः । एकस्वेति समरसपदैकदेशसमरपदमत्र निरर्थकम् इदमुपलक्ष्यं द्वयोर्निरर्थकत्वं सतीत्यपि बोध्यम् । इत्यादिवैलक्ष्येनेति इत्यादितो वैलक्ष्येनेत्यर्थः ।

पादतद्भाग इति । तद्व्ययमकं पादवृत्ति तद्भागवृत्ति इत्यर्थः । तत्र पादवृत्तेरेकादशविधत्वं दर्शयति ।

प्रथम इति । प्रथमः पाद इत्यर्थः । द्वितीयादाविति आवर्तत इत्यर्थः । द्वितीये तृतीये चतुर्थे वेत्यर्थः । तथा चेदं त्रयं द्वितीयस्तृतीयादाविति द्वितीयस्य प्रथमे आठत्तिस्तु प्रथमस्य द्वितीये आठत्तिरूपैवेति पूर्वगणनाप्रविष्टत्वान्न गणिता एवमुत्तरत्वापि प्रथमस्त्रिषुपीति पदचतुष्टयं सममित्यर्थः । प्रथमो द्वितीये तृतीयेचतुर्थे इत्यनयोर्निर्लेनं बोध्यम् एवमुत्तरत्वापि । अर्द्धाठत्तिरिति प्रथमस्य तृतीये द्वितीयस्य चतुर्थे आठत्तिरूपमिदमित्यतः पादावृत्तिः श्लोकावृत्तिस्तु पूर्वश्लोकीयपादचतुष्टयस्यैव पुनरावृत्तिरूपेणैव इदमपि पादावृत्तिरूपं इत्यनेकादशधा पादावृत्तिमुक्त्वा भागावृत्तिमाह विधेति । पादस्य द्विधा विभक्तत्वे एकपादीयादिभागस्यान्वपादीयादिभागे

दिभागानां मध्यादिभागेषु, अनियते च स्थाने आट्टतिरिति प्रभूततमभेदम् । तदेतत्काव्यान्तर्गडभूतम् इति नास्य भेदलक्षणम् कृतम् । दिष्टात्रमुदाह्रियते,
सन्नारौभरणीमायमाराध्य विधुशेखरम् ।

सन्नारीभरणीऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥ [ए०पा०आ०]

विनाऽयमेनो नयताऽसुखादिना

विना यमेनोनयता सुखादिना ।

महाजनोऽदीयत मानसादरम्

महाजनोदौ यतमानसादरम् ॥ [अर्ध० आ०]

तथा एकपादीयान्यभागे पादयमनरीत्या यमने एकादश द्वैगुण्येन द्वाविंशतित्व-प्रसक्तावाह श्लोकान्तरे हीति अत उक्तं विंशतिरिति । पादस्य त्रिखण्डादित्वे भागप्रत्येवं रीत्या दशद्वयाऽनेकत्वमित्याह त्रिखण्ड इत्यादि । एवं सजातीयभागस्य सजातीयभागेष्वावृत्तिमुक्त्वा विजातीयभागेष्वावृत्त्याप्यनेकत्वमित्याह प्रथमपादादौति । अन्यथेतानुसारेणैषां नामान्याह अन्यादिकमिति । अन्यस्यादौ यमनेऽन्यादिकम् आद्यस्यान्वयमने चाद्यानिकम् उभयसत्त्वे तत्समुच्चय इत्येवंरीतिः सर्वत्र । इत्यं भिन्नपादे यमनमुक्त्वा एकत्रैव पादे एकभागस्यान्यभागे यमनमाह तथा तस्मिन्निवेति भागानियमिनाप्येकदेशे यमनमाह अनियते चेति इदञ्च भिन्नाभिन्नपादसाधारणं बोध्यम् । गडु विषमयन्त्रिः ।

सन्नारीति । त्वं विधुशेखरमाराध्य आराध्य देवादिकोऽत्र राधिः ततोऽनन्तरं त्वं पृथिवीं जय विधुशेखरं कौटुम्बं सती नारीर्दिभर्त्तिं पालयतीति सन्नारीभरणा तादृशी-मुक्तां याति यः पत्नीत्वेन प्राप्नोति तादृशम् आतीऽनुपसर्गात् कः । त्वं कौटुम्बः सन्ना चवसन्ना अरीषामिभा इतिनी यस्यात्तादृशी रथी यस्य तादृशः अमायी मायायुद्ध-रहितोऽकपटी वा अत्र प्रथमपादस्य तृतीयपादे यमनम् ।

विनाऽयमिति । अतं जटायुषं दृष्ट्वा रामं प्रति सञ्जखीप्तिरियम् । अयं विना विपुल्यः पुं'पत्नी जटायुः एमीऽपराधं विना यमेन अरमत्वर्थं मानसात् अदीयत अस्त्वत्प्रातः अन्वन्धसमनःसंयीनः कृतोऽनार्थतेत्यर्थः । यमेन कौटुम्बेन नयता

म त्वारभरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम् ।

सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥

सत्वारभरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम् ।

सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥ [श्लो० आ०]

अनन्तमहिमव्याप्तविश्वाम् वेधा न वेद याम् ।

या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥ [अन्त० भा० आ०]

यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम् । .

स्वपुरं प्रापयता असुखादिना प्राणखादनशीलेन सुखादिना सुखतत्कारणैः जन-
यता ह्रीं कुर्वता विना कीदृशः महाजनः तथा । महाजनीदी अजचंपणे नुद-
प्रेरणे इत्येताभ्यां महाचेपकचेपीत्यर्थः । महाप्रहर्तुरपि प्रहर्तुंति यावत् तन्नी
दनक्रियाया विशिष्यमाह यतमानेति । स्वरचणपरहंसार्थं यतमानस्य साद-
मवसादं राति ददाति तादृशनीदनशील इत्यर्थः । अत्र प्रथमी द्वितीये तृतीय-
चतुर्थे आहतः । श्लोकाहत्तिमुदाहरति ।

सत्वारभेति । प्रबन्धे राजान्तरवर्षानामन्तरं भरतराजवर्षानमिदं स तु भरती
राजा अवश्यं स्ववश्यतामप्राप्तं अरिम् अरिसमूहम् अवलं नाशितवलं विततारवं
विकृतार्त्तरवं सर्वदा अरणं त्यक्तारणञ्च अवलम्बिततारवम् आश्रिततरुत्वम् आनैषीत्
प्रापयामास सैन्यविक्रमनाशादिपूर्वकं वनतरुतले प्रेषयामासेत्यर्थः । राजा कीदृशः
अलसं यथा स्यात् तथा अवान् अगच्छन् अथे सत्वरगामीत्यर्थः । वा गतिमन्वययी
रित्यस्य रूपमिदं तथाऽस्थितः शत्रूणामस्थितचक्रः उपत्ययान्तस्य तच्छतेरूप-
मिदं पुनः कीदृशः अवश्यं नियतम् ।

सत्वारभे सात्त्विककर्कषणो यज्ञादेरारभे रतः न केवलं शत्रुमारणाचामसिक
इत्यर्थः । अत्र सत्त्वेति । पृषीदरादित्वात्तलीपत्नेन यमकमञ्चुषं तथा सर्वेषां
दारुणी हृदयविदारणी यी मानः स्वाधिक्यात् सर्वपूज्यत्वं तदिच्छः दानान्तरसम-
स्थितं परदारकत्वशीलं यस्य तादृशः । भागाहत्तिमुदाहरति अनेनेति । यदानत
इति च बुभुक्षं तामर्षात् दुर्गा अपरामि यां वेधा अपि न वेद न जानाति यतीऽनन्त-
महिमव्याप्तविश्वं यां च प्रचते मानवे मातेव दयां भजते तथा ।

यदानतो यस्मानानतः संशारी जनी न वस्य नीतेरत्ययं विप्रवं न यान्ति

शिवे हितां शिवेहितं चरामितां चरामि ताम् ॥ युग्मकम्]

सर स्वति प्रसादं मे, स्थितिं चित्तसरस्वति ।

सरस्वति ! कुरु क्षेत्र कुरुक्षेत्र-सरस्वति ! ॥

ससार साकन्दर्पेण कन्दर्पेण स सारसा ।

शरन्नवाना विभ्राणा नाविभ्राणा शरन्नवा ॥

मधुपराजि पराजित मानिनौ-

जनमनः सुमनः सुरभिन्त्रियम् ।

अधृत वारित वारिजविप्लवम्

स्फुटित-ताम्र-तताम्रवनं जगत् ॥

अयदानतः शुभावहविधिदानात् अयः शुभावहो विधिरिति कीषः । तां कौटुशीं चरेथ अमितां प्राप्ताम् अमगल्यर्थस्य रूपमिदम् अतएव शिवे महेशे द्रष्टितं काम-चेष्टा यस्यास्तादृशीं तथा शिवे कल्याणेऽस्माकं हितामनुकूलाम् । अत्राद्यश्लोके द्वितीयपादान्यभागस्य चतुर्थपादान्यभागे यमनं द्वितीयश्लोके तु तत्र तत्रैव पादं आद्यान्तिकम् ।

सरस्वतीति । अत्र परार्द्धस्यमाद्यं सरस्वतीति सम्बोधनं हे सरस्वति ! स्वति-प्रसादशीभनमतिप्रसादं मे मह्यं सर गच्छ तथा हे क्षेत्र ! कुरुक्षेत्र ! सरस्वति मच्छरीरात्मककुरुक्षेत्रस्थसरस्वतीनामनदि ! मम चित्तसरस्वति चित्तसागरं स्थितिं कुरु नद्याः सागरगामित्वोचित्यात् । सरस्वान् सागरीऽर्थव इति कीषः । अत्राद्यान्तिकयोरेत्यादिकयोश्च समुच्चयः ।

स सारसाकमिति । नवा नवीना शरत्कन्दर्परूपेण दर्पेण साकं सह ससार-आगता ससारसा सपद्मा सारसं सरसौरुहमिति कीषः । नवाना नवम् अनः शकटं यत्र तादृशी वर्षापगमे शकटप्रवणेः विभाषा वीणां पक्षिणां भाषः शब्दी यस्यां तादृशी तदानीं पक्षिशब्दबाहुल्यात् तथा शरं शरकाण्डं नाविभाषा अविभाषा न भाष तु विभाषैव तदानीं शरकाण्डोद्भवात् । अत्रान्वादिक्वाद्यान्तिकयोः समुच्चयः ।

मधुपेति । अर्थादसक्तकालीनं जगत् त्रियम् अधृत जगत्कौटुशं मधुपराज्या-अमरश्रेण्या पराजितं मानिनीजनानां मनी यत्र तादृशं मधुपर्येय्या सहीपक-

एवं वेचित्रासहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम् ।

वाच्यभेदेन भिन्ना यत् युगपद्भाषणस्मृशः ।

श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावचरादिभिरष्टधा ॥७॥

अर्थभेदेन शब्दभेद इति दर्शने काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते, इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यत् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपङ्गुवते, स श्लेषः । स च वर्णपद-लिङ्ग भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति-वचनानां भेदादष्टधा । क्रमेणोदाहरणम्,

अलङ्कारः शङ्काकर-नरकपालं, परिजनी

विशीर्णाङ्गो भृङ्गो, वसु च वृष एको बहुवयाः ।

अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वांमरगुरोर,

विधौ वक्त्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमौ ॥ [वर्ण०]

त्वात् तथा सुमनीभिः पुष्पैः सुरभिगन्धि तथा वारिती वारिजानां शिशिराधीनां विप्रबो विपद् यत्र तादृशं तथा तत्र विस्तरं तामश्च यत्र तादृशम् । अत्रा नियतं भावे तत्र तत्रैव पादे मध्यमकसमुच्चयः । श्लेषालङ्कारमाह ।

वाच्यभेदेनेति । तत्तावेवास्य प्रस्फुटा व्याख्या ।

अर्थभेदेनेति । नैयायिकमत एव एकस्य शब्दस्थानेकेऽर्थादर्शनविशेषे यावन्तोऽर्थासावन्त एव शब्दाः एकेनैव प्रयत्नोच्चार्यन्ते एकप्रयत्नोच्चार्यदीपाश्च भेदाग्रह इति मतं दर्शितमनेन । नन्दार्थभेदे उदात्तादिस्वरो भिद्यते तथाच स्वरभेदानुकूल-प्रयत्नभेदसावशाद्देयहः स्यादित्यत आह काव्यमार्गे इति भिन्नं स्वरूपमिति इयं श्लिष्यन्तीत्यस्य व्याख्या स्वभेदं न ग्राहयन्तीत्यर्थः सश्लेष इति तादृशश्लेषत्वमेव श्लेषालङ्कार इत्यर्थः अक्षवादिभिरिति व्याचष्टे स चेति तत्र पदयोरिकवर्णं कृत-वैतर्क्येऽपि व्याकरणकृत कार्यवशादैककल्प्यम् । वर्णश्लेषसमुदाहरति ।

अलङ्कार इति । वक्त्रे कुटिले विधौ चन्द्रे मूर्ध्नि स्थितवति सति सर्वांमरगुरोः स्थायी मंहेऽस्यापि इयमवस्था वक्ष्यते अमौ पुन विंशौ भाग्ये वक्त्रे प्रतिशुद्धौ मूर्ध्नि स्थितवति के । सर्वथैव तादृशावस्थाप्राप्तियोग्या इत्यर्थः । विधाविति शब्दैक्या-

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।
 विलसत्करेणुगह्वनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥ [पद०]
 भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्द्धिनी
 ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीतेहितप्राप्तये ।
 लावण्यैकमहानिधीरसिकतां लक्ष्मोदृशोस्तन्वती
 युष्माकं कुरुतां भवार्त्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥ [लिङ्ग०]
 एवं वचनज्ञेषोऽपि ।

द्विभुभाग्ययोरैकत्वाध्यासादिदसुपपादनैयं स्थायीरवस्थानिबाह्व अलङ्कार इति ।
 शङ्काऽऽचिन्तव्यशङ्का भङ्गिनामा विशौर्णाङ्गस्य कश्चित् परिजनः मतवया इह एको
 त्रपथ वसु धनमित्यवस्था । अत्र विधुविधिशब्दाभ्यस्वरूपैकवर्णभेदेऽप्यैक-रूप्यम् ।
 पदज्ञेषमाह पृथुकेति न्यूनाधिकवर्णकयोः पदयोरभेदेऽपि मिलनादैकरूप्यं
 तत्त्वम् ।

पृथुकेति । व्याख्यातमिदं दोषीज्ञासै । अत्र पृथुपृथुकादिपदानां न्यूनाधिक-
 वर्णकानां भेदेऽपि ऐकरूप्यं मिलनात् । लिङ्गवचनशेषयोरैकमुदाहरणमाह ।

भक्तौति । विभिन्नलिङ्गयोर्विभिन्नैकधादिवचनयोरैकरूप्यं तत्त्वद्वयम् । भक्ति-
 प्रह्वेति । हरेर्नेत्रे नेत्रद्वयं तस्य तनुर्वा युष्माकं भवार्त्तिशमनं कुरुतां पञ्चम्याः
 परस्त्रोपददिवचने आत्मनेपदैकवचने च रूपमिदम् । नेत्रयोस्तनीश विशेषणान्याह
 भक्तिप्रह्वेति । प्रह्वी गद्यः नेत्रपक्षे तत्कर्मकविलोकने तनुपक्षे तु तत्कर्तृकविलोकने
 प्रणयिनी वत्सला च नीलिति । नेत्रपक्षे आकारस्य वर्णस्य च तनुपक्षे तु वर्णस्यैव
 साध्यात् । ध्यानेति । नेत्रपक्षे समाधिनिरतैर्योगिभिर्ध्यानालम्बनतां धेयतां हितस्य
 प्राप्तये नीते तनुपक्षे तु तैरीहितस्य प्राप्तये तथा तां नीता नेत्रयोस्तनीश ध्येयत्वात्
 महानिधिमहाम्प्रथयी महानिधिमहाम्प्रथय रेफे विसर्गस्थानीयस्य रेफस्य लोपे दीर्घः
 लक्ष्मीदृशी रसिकतां तन्वती तन्वाना च उभयस्यैव लक्ष्म्या इषेण दृश्यमानत्वात् ।
 अत्र च महानिधि इति विना सर्वत्रैव नपुंसकस्त्रीलिङ्गयोरैकरूप्यं द्विवचनैक-
 वचनाकार्योरैकरूप्यन्तु सर्वत्रैव तदाह एष एव चेति अत्र च महानिधि इत्यत्र
 कुरुतामित्यत्र च लिङ्गज्ञेषरहितौ वचनज्ञेषः अरिसन्नान् चाद्यनुदित्यत्र वचनज्ञेष-
 रहितौ लिङ्गज्ञेष इत्यवधेयम् । भाषाज्ञेषमाह ।

महदेसुरसन्धन्ने तमवसमासङ्गमागमाहरणे ।

हरवहुसरणं तं चित्तमोहमवसरउ मे सहसा ॥ [भाषा०]

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि श्रेषु च वक्ष्यति ।

सामर्थ्यं कृदमित्राणां मित्राणाञ्च नृपात्मजः ॥ [प्रकृति०]

महदे इति । अर्थभेदेऽपि संस्कृतप्राकृतयोर्भाषयोरैकहृद्यं तत्त्वं भाषासमावेशे न नार्थभेदः । महदे अत्र संस्कृतप्राकृतयोर्विभिन्नपदविच्छेदः तथाहि संस्कृतपक्षे महदे इति सुरसन्धनिति मे इति तमिति अत्र इति समासङ्गमिति आगमाहरणे इति हरेति बहुशरणमिति तमिति । चित्तमोहमिति प्रसवे इति सहसेति । च पदविच्छेदः । तदर्थस्तु हे उमे ! हे महदे ! उत्सवदानि ! आगमस्य वेदस्याहरणे स्वायत्तीकरणे तं प्रसिद्धं समासङ्गं मे मम अत्र रच जगयेति यावत् । समासङ्गं कौहृशं सुरसन्धं सुरान् सन्धत्ते स्वसंसर्गिणः कुरुते इत्यतः कः सुरगणसहचरत्व-कारकमित्यर्थः । तथा तं प्रसिद्धं चित्तमोहस्यकालरूपेऽवसरे सहसा हर अपनय कौहृशं बहुशरणं निषिद्धवङ्गविषयगामिनम् । प्राकृतपक्षे पदविच्छेदस्तु मह इति देसु इति रसमिति धर्मे इति तमवसमिति आसमिति गमागमा इति हर इति शे इति हरवहु इति शरणमिति तमिति चित्तमोहमिति अवसरउ इति मे इति सहसेति च । तदीयं संस्कृतं यथा—

मम देहि रसं धर्मे समीवशानाशां गमागमाङ्गरणः ।

हरवधु ! शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसेति ॥

तदर्थश्च यथा हे हरवधु ! मम धर्मे रसं देहि गमागमात् संसारात् समीव-सानाशां नीऽचलकं हर त्वं मे शरणं चित्तमोहो मेऽपसरतु पञ्चायता सहसा शीघ्रमिति । अत्र सहसापदं भाषासमावेशः सर्वमन्वदर्थभेदाभावाद्भवः । प्रकृतिश्चेत्तमाह ।

अयमिति । प्रत्ययेक्ये प्रकृतिभेदेऽप्यैकहृद्यं तत्त्वं राजपुत्रे जाते ज्योतिर्निर्द-
शक्तिरियम् । अयं नृपात्मजः सर्वाणि शास्त्राणि हृदि वक्ष्यति अत्र बहु भातुः
श्रेषु पच्छित्तेषु वक्ष्यति च अत्र वक्ष्यतातुः प्रत्ययस्तु अन्वयवैकः तथाऽयमनिवाचां
निवाचाश्च सामर्थ्येन एकाव कृतीच्छेदने अन्वयं तु कृत्वा करणे प्रत्ययस्वेकः ।
प्रत्ययश्चेत्तमाह ।

रजनिरमणमौलिः पादपद्मावलोक-

क्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रः ।

प्रमथनिवहमध्ये जातुचित् त्वं प्रसादात्

अहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ॥ [प्रत्यय०]

सर्वस्वं हर सर्वस्य, त्वं भवच्छेदतत्परः ।

नयोपकारसामुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥ [विभक्ति०]

भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

रजनौति । प्रकृत्यैक्ये आख्यातकृतचितप्रत्ययभेदेऽप्यैकरूप्यं तत्त्वम् । महेश-
गणमध्ये तिष्ठासीः कस्यचिदुक्तिरियम् । अहं तत्प्रसादात् महेशप्रसादात्
जातु कदाचित् प्रमथनिवहमध्ये उचितरुचिर्योग्यदीप्तिः स्यात् । अहं कौटुम्बः
नन्दिता आनन्दकर्ता तथा रजनिरमणमौलि महेशस्य पादपद्मावलोकनरूपस्य
क्षणस्य उत्सवस्य समये पराप्तं प्राप्तमपूर्वसम्पत्सहस्रं येन तादृशः सहस्रमिति पाठे
तु स्यामिति क्रियाविशेषणं तथा सा प्रसिद्धा नन्दिता नन्दिनामगणाधिपता मे स्यात्
अवासधानुरेकः यात् यामप्रत्यययोर्भेदः सन्ध्यावैकरूप्यं तथा निन्दितेत्यत्र नदधातु-
रेकः कृतप्रत्ययात्तद्वितप्रत्ययस्त्राव्यवहितोत्तरत्प्रत्ययस्य च भेदेऽपि ऐकरूप्यं
विभक्ति श्लेषमाह ।

सर्वस्वमिति । सुप्तिप्विभक्तिभेदेऽपि नामधातोरैकरूप्यं तत्त्वं सर्वस्वमिति
शिवं प्रति भक्तस्य पुत्रं प्रति दक्षीरुक्तिरियम् । भक्तपत्ने हे हर ! त्वं सर्वस्य सर्वस्वं
भवस्य संसारस्य छेदतत्परः नयोपकारयोः साम्मुख्यं प्राप्ति र्यस्यात् तादृशं तनुवर्तनं
त्ररीरस्थितिमायासि आगच्छसि । दस्युपत्ते त्वं सर्वस्वं हर छेदतत्परो भव उप-
कारसाम्मुख्यं नय अपनय तद्विसृष्टी भवेत्यर्थः । आयासि परायासदायकं वर्तनं
स्थितिं तनु विस्तारय । अत हर भव नय आयासि इत्यत्र लुप्तसुप्विभक्तिः आया-
स्योति विना सर्वचलुप्ताख्यातविभक्तिश्च आयासीत्यदालुप्ताख्यातविभक्तिश्च रूपं
त्वेकम् ।

भेदाभावादिति । प्रकृत्यादेरित्यत्र प्रभृतिवाचक एवादिशब्दः तेन क्रमपरत्वा-
भावे तत्प्रभृतयोऽचरादयोऽपि भवन्तीत्यदोऽचरादेरित्यर्थः । अचरादेर्भेदस्या-
भावादसम्भवादित्यर्थः ।

नवमोऽपीत्यपिभिन्नक्रमः । उदाहरणम्,

योऽसक्तत्परगोत्राणां पञ्चच्छेदक्षणक्रमः ।

शतकोटिदतां विभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ॥

अत्र प्रकरणादिनियमाभावात् दावप्यर्थी वाच्यौ ।

ननु स्वरितादिगुणभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां, तदभा-
वादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणाञ्च शब्दानां बन्धेऽलङ्कारान्तरप्रति-
भोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये
गणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दालङ्कारः ? । उच्यते, इह दोषगुणा-
लङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः, सः अन्वयव्यतिरेका-
भ्यामेव व्यवतिष्ठते, तथाहि कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः
व्यर्थत्वादिप्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव श-
ब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते ।

नवमोऽपीति । स च समानवर्णकाखण्डपदरूपः ।

योऽसक्तदिति । यो राजा इन्द्रश्च परगोत्राणां शत्रुकुलानां प्रकृष्टगोत्राणां
प्रकृष्टाचलानाञ्च पञ्चस्य सहायस्य पतत्रस्य च छेदि चणात् क्रमः शतस्य कोटेश्च दादतां
शतकोटिना वज्रेण खण्डकताञ्च विभत् स विबुधानां पण्डितानां देवानाञ्च इन्द्रः
प्रभुः स राजते इत्यर्थः ।

अत्र शतकोटिदतामित्यंशे पदश्लेषः सर्वत्र अन्यत्राखण्डपदैर्नवमश्लेषः । नन्वे-
कार्थस्य प्रकरणनियन्तित्वेऽपरार्थे व्यञ्जनैव तथाचीह्नास्यकालकारवाक्यत्वादि बहु-
पमाभिविरेवायं न श्लेषालङ्कार इत्यत आह अत्रेति ।

ननु सभङ्गश्लेषः शब्दश्लेषः तत्र भङ्गेन विभिन्नप्रयत्नोच्चारितयोः स्वरभेदेन
भिन्नयोः श्लेषत्वात् अभङ्गशब्दस्तु एकप्रयत्नोच्चार्यै एक एव न श्लेषस्तदभेदादर्थात् श्लेष
एवास्ती तथा एतद्द्वयमपि अर्थालङ्कारान्तरं तत्प्रतिभोत्पत्तितत्त्वज्ञानोपपत्तौ हेतुः
ज्ञापको यस्य सादृश इत्यर्थः । अर्थालङ्कारान्तरज्ञानसाध्य इति कर्तुंशब्दाः । एवमेव
वारंवारलिखितार्थः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति भिन्नाभिन्नप्रयत्नोच्चार्यैः सक्तत्परः

इयञ्च पञ्जवाताम्बभास्वत्करविराजिता । (इत्यभङ्गः शब्दश्लेषः)
प्रभातसन्ध्ये वास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥ (इति सभङ्गः शब्दश्लेषश्च)

इति हावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दे श्लेषत्व-
मुपपन्नं, न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम् । अर्थश्लेषस्य तु सं विषयः,
यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना, यथा,

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।

अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

बोध्यम् । इदं परीक्तमर्थालङ्कारत्वे वीजमयुक्तं किन्त्वन्यव्यतिरेकानुविधानमेव
वीजमित्याह उच्यते ।

इत्यादि कष्टत्वं युतिकटुत्वं तदादिः शब्ददोषः गाढत्वमुद्धतवर्णविन्यासस्तदादिः
शब्दगुणः परीक्तः अनुपासादिः शब्दालङ्कारः तथा ध्यर्थत्वमपुत्रार्थत्वं तदादिरर्थ-
दोषः प्रौढत्वं पदार्थं वाक्यरचनेत्यायुक्तचतुर्विधप्रौढिरूपीजोगुणः परीक्तस्तदादि-
रशंगुणः उपमादिरर्थाङ्कारः तद्भाषेति । तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादित्यर्थः ।
एवञ्चामङ्गश्लेषत्वेऽपि अर्थालङ्कारज्ञानज्ञाप्यत्वेऽपि च शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधा-
यित्वात् शब्दालङ्कार एव श्लेष इति साधयितुमुदाहरति इयञ्चेति । स्वयञ्चेति क्वचि-
त्याहः । अत्र प्रथमगत्या पार्वतीविशेष्या आगतेति शेषः । कीदृशी प्रभातसन्ध्ये
उभयसाधारणं श्लेषविशेषणमाह पञ्जवेति । पञ्जववदाताम्बेण भास्वता दीप्यमानेन
करेण विराजिता पार्वती । सन्ध्या तु पञ्जवेष्वाताम्बेण भास्वतः सूर्यस्य करेण विरा-
जिता । अत्रार्द्धे भास्वच्छब्दकरशब्दयोरभङ्गत्वेनार्थश्लेषसंरक्तः । तथाऽस्वापे
सुखेनालभ्येदुरापे फले लुब्धानामौहितस्य वाञ्छितस्य प्रदात्री पार्वती । सन्ध्या तु
अस्वापे स्वापस्य निद्राया अभावे फले लुब्धे जने हितस्य जागरणस्य प्रदात्री ।
अत्रार्द्धे अस्वापेत्यत्र भङ्गाच्छब्दसंरक्तः । शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधानानु द्वयोरपि
शब्दश्लेषालङ्कारत्वमाह द्वयोरपीति । नन्वेवमर्थालङ्कारोच्छेद इत्यत आह अर्थ-
श्लेषस्य खेति ।

सौकेनेति । तुला मानतुला तस्याः कीटेरयभागस्य अवीन्नतिशब्दस्थाने
उच्छ्रायीत्यतनादिशब्दानामधीगतिशब्दस्थानेन धनपतनादिशब्दानाञ्च दानेकार्ध-
श्लेषत्वहादिः इत्यनियमेत्यादी पूर्वाङ्गेऽभङ्गश्लेषत्वेनार्थश्लेषत्वम् । तदुक्तं निष्पिञ्च

न च अयमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः, अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरूपमा । तथाहि यथा, कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितरामित्यादौ गुणसाम्ये, क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा उपमा, तथा, सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुविम्बमिवेत्यादिशब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव । तथाह्युक्तं रुद्रटेन स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यम्, इहापि सम्भवत इति । न च कमलमिव मुखमित्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति वक्तुं युक्तम्, पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः ।

शब्दश्लेषले साधिते उपमाज्ञानशैत्यलेनार्थश्लेषत्वमपि तदुक्तं खण्डयति नचाय-
 लुपमेति । अयम् इयञ्चेत्यादौ श्लेषो न चीपमाज्ञानशायः किन्तु श्लेषज्ञानशायैवोपमा
 इत्याह अपिलिति । श्लेषाधीनमुभयवाचकशब्दस्वरूपसाधर्म्यज्ञानं तेन चीपमाज्ञान-
 मित्यर्थः । उभयवाचकैकशब्दोऽपि साधर्म्यं भवतीति साधयितुमाह तथा हीति
 कचति दीप्यते गुणसाम्ये इति मनोज्ञत्वमत्र गुणः कचनं क्रिया विवचावशादेकेन
 उभयेन वा साम्यं दृष्टान्तयित्वा शब्दसाम्यं दृष्टान्तयति तथा सकलकलमिति ।
 सकला कला यस्य चन्द्रविम्बं तादृशं पुरन्तु कलकलशब्दसहितं अत्र उभयवाचकैक-
 शब्दोऽपि साधर्म्यं भवतीत्यर्थार्थं रुद्रटोक्तं प्रमाणयति । तथा ह्युक्तमिति इहापि
 शब्दालङ्कारमध्येऽपि उपमासमुच्चयौ सम्भवत इत्यर्थः । तत्रोपमायां सकलकल-
 मित्यादिद्विश्रितमेव समुच्चये तु तवाधरे च रागोऽभूदधुना हृदये च मे इति बोध्यम् ।
 अत्र हि रक्तिमानुरागयोः श्लिष्टं रागपदमेव साधर्म्यम् । ननु मनोज्ञत्वं कथनञ्च
 व्यक्तिभेदेन कमलमुखयोः विभिन्नार्थकं साधर्म्यं मुभयोरिति तदुभयवाचकं मनो-
 ज्ञादिपदमेव साधर्म्यं शब्दसाधर्म्यं च श्लेष एवालङ्कारः उपमा तु तत्र नालङ्कारः
 किन्तु श्लेषघटकतयैवोपपत्तेः उपमालङ्कारस्तु अनुपाचमनोज्ञत्वादिके कमलमिव
 मुखमित्यादावेव स्वतः उपमाश्लेषयोरेकत्र समावेश एव नास्ति कथं श्लेषज्ञान-
 शायैवोपमेत्याशङ्कते न चेति पूर्णोपमाया इति । उपमानोपमेयसाधारणधर्म-
 वादीनां अनुपासुपादानि पूर्णोपमा साधारणधर्मानुपादान एव उपमास्वीकारे तु
 तन्निर्विषयत्वापत्तिरित्यर्थः । तथाच तन्निर्विषयत्वापत्तिर्भीत्या साधारणधर्मानुपादानेऽपि

देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।

त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥

इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलङ्कारविविक्तोऽस्ति विषय इति, द्वयोर्योगि सङ्कर एव । उपपत्तिपर्यालोचने तु उपमाया एवा-
यं युक्तो विषयः, अन्यथा विषयापहार एव पूर्णोपमायाः स्यात् ।

उपमा स्त्रीकार्या मनीञ्जत्वादिनाऽनुगमेन मनीञ्जत्वादीनां साधर्म्यत्वं भविष्यति तथा चानुपात्तसाधर्म्यान्तरेण कलकलमित्यादौ श्लिष्टशब्द एव साधर्म्ये तथाच श्लेषज्ञान-
ज्ञाप्यै वीपमा श्लेषस्तु तत्र नालङ्कार इति साधितम् । ननु क्वचित्साधर्म्ये ज्ञाते उपमा
ज्ञायते क्वचिद्दिवादिना उपमायां ज्ञातायां तदुपपदैकतया साधर्म्ये ज्ञाश्रित इत्य-
विनिगमना तथाच कथम् इयञ्चेत्यादौ नियतश्लेषज्ञानज्ञाप्यत्वमुपमाया इति चेदुप-
माया अविनिगमनायां द्वयोरिवालङ्कारत्वमस्तु श्लेषस्य शब्दस्य उपमा त्वर्थस्यालङ्कारी-
ऽस्तु तथाच इयञ्चेत्यादौ ङावेवालङ्कारौ सतामिति हृदयेन श्लेषस्यापि स्वतोऽलङ्का-
रत्वं साधयितुमुपमा असङ्कीर्णं श्लेषं दर्शयति ।

देव ! त्वमेवेति । हे देव ! लोकत्रयात्मकः पातालादिक्रमेण दर्शयति अल-
मत्यर्थं पाता पालकः एवं श्लेषात् पाताललोकः तथा आशानामर्थिप्रत्याशानां त्वं
निबन्धनमूलं श्लेषादाशानां दिशां निबन्धनं ज्ञापकः भ्रूलोक इत्यर्थः । पृथिव्यामेव
भ्रमतः सूर्यस्योदयेन दिङ्निबन्धनात् स्वर्गपातालयोर्नित्यप्रकाशत्वेन सूर्यादया-
भावाद्दिङ्निबन्धनाभावात् तथात्वम् । चामरमरुतां चामरौयवायूनां भूमिराश्रयः
चामरवीज्यमानत्वात् श्लेषादमराणां मरुद्गणानाञ्च त्वं भूमिराश्रयः स्वर्गलोकयेत्यर्थः
त्वञ्चेति चकारस्थान्यश्लेषमन्वयात् ।

इत्यादिः शब्दश्लेषस्य चेति । उपमा सङ्कीर्णस्येति श्लेषः । चकारादुपमाया अपि
ज्ञेयासङ्कीर्णः कमलमिव सुखं मनीञ्जमित्यादिरेव विषय इति सूचितम् । मनीञ्जत्वादे
र्मनीञ्जत्वादिनाऽनुगमेन साधर्म्यात् तथाच पृथक्सिद्धयोः शब्दार्थालङ्कारयोरनयोः
इयञ्चेत्यादौ सङ्कीर्णत्वमेवास्तु तथाप्यच्छमेव श्लेषस्य शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधानान्
शब्दालङ्कारत्वमित्यभिप्रायेणाह । द्वयोर्योगि इति । ननु द्वयोरप्यलङ्कारयो द्वयोर्योगे
वक्ष्यमाणः सङ्करालङ्कार एवेत्ययति न तत्रैकस्यालङ्कारत्वं तथाच कमलमिव सुखं
मनीञ्जमित्यत्र श्लेषासङ्कीर्णपूर्णोपमासत्त्वेऽपि पूर्णोपमायाः श्लेषः सङ्कीर्णविषयाप-

न च, अविन्दुसुन्दरी नित्यं गलङ्गावस्थविन्दुकेत्यादौ विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः, अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुर्विरोधः, नह्यत्रार्थद्वयप्रतिपादकः शब्दश्लेषः, द्वितीयार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावात् । न च विरोधाभास इव विरोधः, श्लेषाभासः श्लेषः, तदेवमादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलङ्कारान्तरमेव । तथा च,

हार एव स्यादित्यत आह उपपत्तीति । पूर्वोपमायाः श्लेषसङ्कीर्णविषयानपहार एवोपपत्तिः अन्यथेति । श्लेषसङ्कीर्ण इयञ्चेत्यादौ च सङ्करापत्त्या पूर्वोपमानङ्गीकार इत्यर्थः । विषयापहारः श्लेषसङ्कीर्णविषयस्यापहारः तदसङ्कीर्णस्तु कमलमिव मुखं मनोज्ञमित्यादिरेव विषयीऽस्तीत्यवधेयम् ।

न च श्लेषसङ्कीर्णपूर्वोपमास्वीकारि सैवानुपपत्तिः सङ्करालङ्कारस्यैवोपपत्तेरिति वाच्यं श्लेषोपमाघटकत्वेनालङ्कारत्वाभावात् सङ्करालङ्कारानुपपत्तेरिति भावः । ननु श्लेषसङ्कीर्णोपमानिविषयत्वापत्त्या मास्तु उपमालङ्कारसङ्करस्थले श्लेषोऽलङ्कारः किन्तु श्लेषघटिता पूर्वोपमैवास्तु । श्लेषस्यालङ्कारान्तरसमावेशे तु तदलङ्कारज्ञानज्ञाप्यः श्लेष एवार्थालङ्कारीऽस्तु अलङ्कारान्तरस्तु तद्व्याहकतथैर्वापात्तमस्तु न त्वलङ्कारतयैत्यतस्तदपि खण्डयति न चाविन्दुसुन्दरीति । अस्तु प्रतिविक्षिप्त इन्दुरविन्दुसुन्दरी सुन्दरी गलन् लावण्यविन्दुर्गम्यास्तादृशी च रोमकूपटस्थमानस्य दीप्यमानत्वस्य विन्धाकारत्वेन विन्दुत्वाभ्यासः अत्राविक्षिप्तत्वं विन्दुशून्यत्वम् ।

श्लेषलभ्योऽर्थः तमादाय विरोधः स च श्लेषज्ञानज्ञेय एव न तु विरोधज्ञानज्ञेयः स्यादिति ज्ञेयः श्लेषशब्दार्थः शब्दानुभवविषयः स्यात् तस्याविन्दुभाववाधात् तदनुभव एव नेत्यर्थः । प्ररीक्षोऽनुभवः नन्वेवं कथमत्र श्लेषज्ञानज्ञाप्योऽपि विरोधज्ञानानुभवाभावादित्याभासरूपविरोधस्त्वयीष्यते तद्वत् मयापि आभासरूपः श्लेषोऽलङ्कारी वाच्यः स एव विरोधाभासज्ञानज्ञाप्यः स त्वर्थालङ्कारः स्यादित्यत्राह न च विरोधाभास इवेति । आभासरूपस्य विरोधस्य निश्चितत्वानुभवात् सर्वैरेव विरोधाभासोऽलङ्कारतयाऽभ्युपगम्यते तद्वैचित्र्यनिर्वाहकतयैव श्लेष उपादीयते तादृशश्लेषस्तु आभासरूपी न केनचिदलङ्कारतयाऽभ्युपगम्यते अती वैचित्र्यत्वाभावादित्यर्थः । एवञ्च श्लेषस्य विरोधज्ञानज्ञाप्यत्वे खण्डिते अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णस्थलेऽपि तदलङ्कार-

सहंशमुक्तामणिः । [१]

नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोकी देव ! महान् भवान् । [२]

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तपुरःसरः ।

अहो देवगतिस्त्रिधा तथापि न समागमः ॥ [३]

आदाय चापमचलं, कृत्वाऽह्नीनं गुणं विषमदृष्टिः ।

यश्चित्तमच्युतशरी लक्ष्यमभाङ्गीवमस्तस्मै ॥ [४]

घटकतयैव श्लेषत्वाभास उपादीयते अलङ्कारान्तरमीवालङ्कारी न श्लेष इत्यत आह तस्मादेवमादिष्विति । अत्र चालङ्कारमित्यस्य विशेषणतया श्लेषप्रतिभीत्यसिद्धेतिरिति यदुक्तं यद् यथोक्तं बहुव्रीहिणा अनुपपन्नं पुलिङ्गानुपपत्तेः तत्पर्यये तु श्लेषज्ञानज्ञाप्य-त्वरूपोऽर्थो न घटते अतीऽत्र हेत्विति पाठमेव कल्पयति चक्रवर्ती । तादृशपाठस्तु न कापि पुस्तके दृश्यते इत्यतीऽत्र हेतुपदको हेतुः कारणं किं वेत्यत्रेव काश्चेपरमेव तथा अलङ्कारान्तरपदमपि अलङ्कारान्तरज्ञानपरं तथा चालङ्कारान्तरज्ञानं श्लेषप्रति-भीत्यसिद्धयमित्यर्थः तथाच तत्पुरुषिणापि विवक्षितार्थसिद्धिः तथात्वञ्च परम्परित-रूपकालङ्कारेऽपि दर्शयति ।

सहंशति । सहंशः सत्कलमेव सहेणः तत्र मुक्तामणेः वंशेऽपि मुक्तात्पत्तेः अत्र परम्परितरूपकम् एकदेशविवर्त्तीति परीक्षनाम्ना स्वीकृतं परम्परितरूपकमेवोक्तं नाल्पः कविरिति श्लोकः ।

पद्यं यश्च अन्यकवेः स्वल्पश्लोकीः पद्यं तव तु न स्वल्पं यश्च इत्यर्थः ।

अत्र श्लेषव्यतिरेकः । अनुरागिति । सन्ध्या सा दिवसस्य अनु पश्चाद्ग्रागवती रक्तिमवती दिवसस्तु तस्याः पुरःसरः पूर्ववर्त्ती श्लेषादनुरक्तनायिकायै सरनायक-लाभः तथाप्यसमागमे विद्यायादाह ।

अहो इति । अत्र श्लेषसमासोक्तिः ।

आदायेति । तस्मै विषमदृष्टये हराय नमः यो विषमदृष्टिः अचलं हिमालयं चापमादाय अह्नीनं सर्पराजं वासुकिं गुणं कृत्वा अच्युतो विष्णुः शरी यस्य तादृशः सन् अच्युतं त्रिपुररूपं शरव्यमभाङ्गीत् वभञ्ज इति चित्तं पुराणसिद्धोऽयमर्थः । अत्र च श्लेषात् अचलह्नीनं चापमादाय गुणञ्च ह्नीनं विभ्रं कृत्वा विषमदृष्टिरख्यसिद्धः शरी अचसङ्गमभाङ्गीदिति श्लेषविरोधः ।

इत्यादावेकदेशविवर्तिरूपक-श्लेषव्यतिरेक-समासोक्ति-वि-
राधत्वमुचितम् न तु श्लेषत्वम् ।

शब्दश्लेषः इति चोच्यते, अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यते इति
कोऽयं नयः । किञ्च वैचित्र्यमलङ्कार इति, य एव कविप्रति-
भासंरन्ध्रगोचरस्तत्रैव विचित्रता, इति सैवालङ्कारभूमिः ।
अर्थमुखप्रेक्षितत्वमेतेषां शब्दानामिति चेत् अनुप्रासादीना-
मपि तथैवेति तेऽप्यर्थालङ्काराः किं नोच्यन्ते ? रसादिव्यञ्जक-
स्वरूपवाच्यविशेषसव्यपेक्षत्वेऽपि ह्यनुप्रासादीनामलङ्कारता ।
शब्दगुणदोषाणामप्यर्थापेक्षयैव गुणदोषता । अर्थगुणदोषाल-
ङ्काराणां शब्दापेक्षयैव व्यवस्थितिरिति तेऽपि शब्दगतत्वेनो-
च्यन्ताम् ।

विधौ वक्त्रे मूर्ध्नीत्यादौ च वर्णादिश्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वे-
ऽर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि प्रसज्यतामित्येववमादि स्वयं विचार्यम् ।
तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥८॥

इत्यादाविति । उक्तोदाहरणेषु यथासंख्यमिदमलङ्कारचतुष्टयं एकदेशविवर्ति-
रूपकं परम्परितरूपकं श्लेषेति व्यतिरेकादितयान्वितं तथाच श्लेषव्यतिरेकं श्लेष-
समासोक्तिः श्लेषविरोधत्वञ्चेति ज्ञेयं नयो मतं ननुपाधिभेदादुभयमुच्यते इत्यत आह
प्रतिभासंरन्ध्रः प्रतिभापय्यामिः । अलङ्कारभूमिरलङ्कारत्वज्ञानस्य विषयः अतोऽव
किञ्चेति । श्लेषघटिते सर्वत्रैवार्थालङ्कार एव विचित्रतेति स एवालङ्कार इति भावः ।
ननु अनुप्रासस्यार्थापेक्षेव नालीत्यत्राह रसादीति । वृत्त्यनुप्रासस्य रसनिष्ठगुणरूपार्थ-
व्यञ्जकत्वं लाटानुप्रासस्य तु वाच्यार्थबोधकत्वादित्यर्थापेक्षः एवञ्चार्थापेक्षा विचार्यत्व
गुणदोषादावप्येवमेव व्यवस्था स्यादित्याह शब्दगुणदोषेति । एकप्रयत्नोच्चार्यत्वे-
ऽर्थश्लेषत्वं यदुक्तं तदपि वक्ष्यंति चेदिति व्याप्तमित्याह ।

विधाविति । अलङ्कारसामान्यस्यैव चित्रत्वेऽपि चित्रसंज्ञकमलङ्कारविशेषमाह
तच्चित्रमिति खड्गाद्याकृतीति खड्गाकारादीत्यर्थः । तेन कस्याप्यनाकारे सर्वती-
भद्रादी नाव्यामिः । तत्र खड्गवन्धमाह ।

सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः खड्गमुरजपद्माद्याकार-
मुक्तासयन्ति, तच्चित्रं काव्यम् । कष्टं काव्यमेतदिति दिष्टात्रं
प्रदर्शयते । उदाहरणम्,

मारारिशक्ररामेभमुखैरासारं हसा ।

सारारब्धस्तवा, नित्यं तदार्त्तिहरणक्षमा ॥

माता नतानां, सङ्घट्टः श्रियां बाधितभ्रूसमा ।

मान्याथ, सीमा रामाणां, शं मे दिश्यादुमादिमा ॥

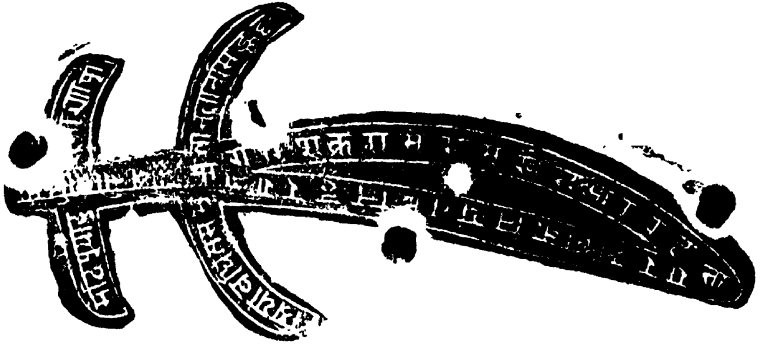
(खड्गबन्धः)

मारारोति । श्लोकद्वयेनाधान्वयी बन्धश्च चट्टिजा इति पाठभेदादट्टिजा वा
तादृशी उमा मे मम शं कल्याणं दिश्यात् आदिशतु कीदृशः मारारिः कामारिः
महेशः शक्र इन्द्रः रामा दाशरण्यादिरामवयं इभमुखी गणेशसैरासारं हसा कश्च-
ट्टिरित्यासारं यथा स्यात्तथा नित्यमारब्धस्तवा यतस्तेषामार्त्तिहरणक्षमा या आर्त्तिः पीडा
नतानामाश्रितानां माता श्रियां शोभानां सङ्घट्टी यन्मणस्थानं शोभावाङ्मूलात् बाधितः
सम्भ्रमो भयं यथा तादृशी मान्या अथ समुच्चये रामाणां स्त्रीणां सीमा आधिक्यकाष्ठा-
पन्ना । अत्र मुष्टेरुपर्यधः आखाद्यवान् खड्गो लेख्यः ततोपरि शाखाचतुष्पथ-
मध्ये प्राथमिकमाकारो लेख्यः खड्गवामे च राशौत्यादय उपर्युपरिक्रमेष चतुर्दश-
वर्णाः खड्गोपरि साकारस्तदन्तिमः ततस्तमेव साकारमारभ्य खड्गदक्षिणे रारब्धे-
त्यादयश्चतुर्दशवर्णाः चान्ता लेख्याः । चतुष्पथमध्यगी माकारस्तदन्तिमः ततस्तमेव
माकारमारभ्य खड्गदक्षिणशाखायां तेषां सप्तवर्णाः खड्गवामशाखायाञ्च
श्रियामित्यादयः सप्तवर्णाश्चतुष्पथमध्यगी माकारस्तदन्तिमः ततस्तमेव माकारमारभ्य
अधीऽधःक्रमेण व्याधसौ इति द्वयो वर्णा मुष्टौ लेख्याः । अधश्चतुष्पथमध्ये च माकार-
स्तदन्तिमः ततस्तमेव माकारमारभ्य खड्गदक्षिणशाखायां रामाणां श्रमिति चत्वारो
वर्णाः वामशाखायाञ्च मे दिश्यादु इति चत्वारो वर्णाः चतुष्पथमध्यगी माकारस्तद-
न्तिमः ततो मुष्टेरधःस्तद्वक्त्रे दिमा इति द्वौ वर्णा । एव खड्गबन्धः ।

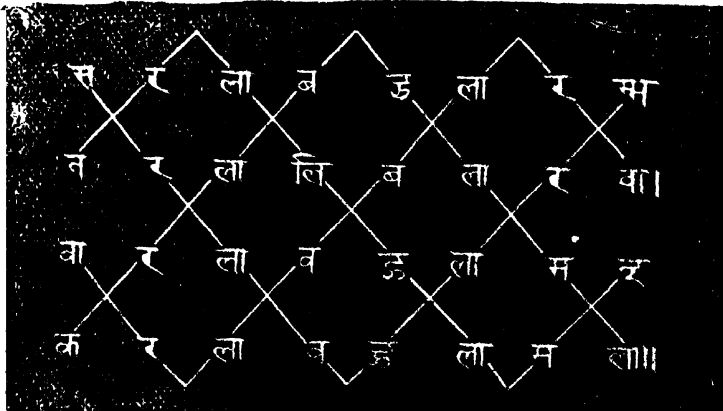
सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा ।

वारलाबहुलामन्दकरलाबहुलामथा ॥

(सुरजबन्धः)



सुरजबन्धमाह शरलीति । अत्र प्रबन्धगम्या शरत् विशिष्या । शरत् कौटुशी सरला सरकाष्ठीङ्गमवती लाः आदाने तथा बहुलारम्भाणां तरलानामलिबलानामारवी यस्यां तादृशी वारला हंस्यस्ता बहुला यस्यां एतादृशी अमन्दाः परचक्राक्रमये सीयोगाः करं राजयाज्ञभागं गृह्णन्तीति करला राजानी यस्यां तादृशी बहुले कृष्णपत्रेऽप्यमला । अत्र पादचतुष्टयं पङ्क्तिचतुष्टयेन लेख्यं षट्मुरजास्तवीत्यन्ना द्रष्टव्याः । अत्र सुरजषट्कोत्पत्तिर्दृशितरेखया बीध्या ।

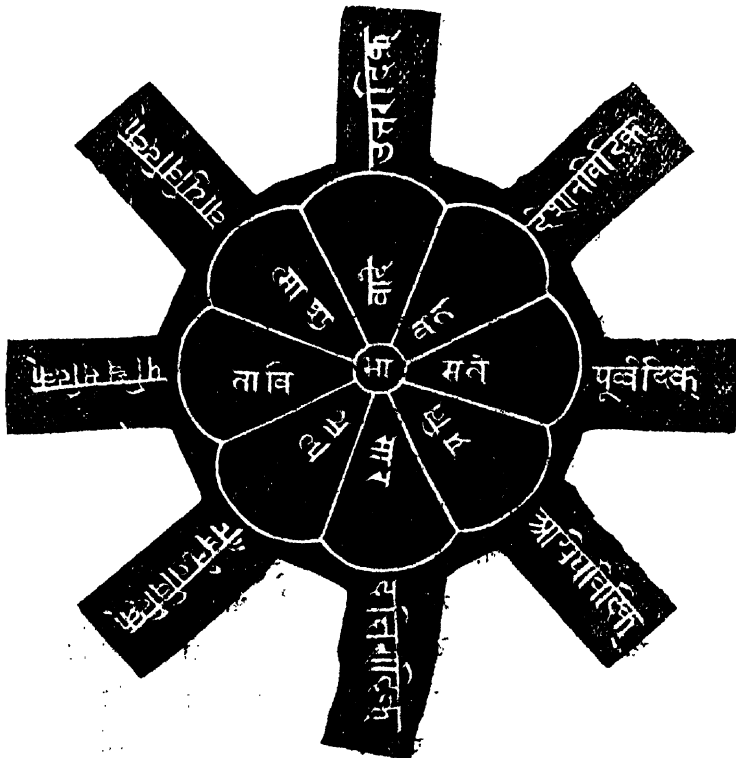


भासते प्रतिभासार ! रसाभाता हताविभा ।

भावितात्मा, शुभा वादे, देवाभा वत ते सभा ॥

(पद्मबन्धः)

पद्मबन्धमाह भासते इति । हे प्रतिभासार ! वत ह्ये तव सभा भासते दीप्यते । कौटुशी देवाभा देवतुल्यदीप्तिः रसाभाता रसेराभाता दीप्ता हताविभा अविभा विभाविरहः हततत्का विभावतीत्यर्थः । भावितात्मा प्रवर्तितवृद्धिः आत्मा यत्रो धृतिबुद्धिरिति कोषः । वादे उदयाहे शुभा । अवाष्टदिक्षु वितताष्टदलं पद्मं लेख्यं तत्र कणिकायामाद्यी भाकारी लेख्यं ततो दले निर्गमप्रवेशरीत्या ही ही वर्षी लेख्यौ किन्तु दिग्दर्क्षु निर्गमः प्रवेशश्च तत्र च प्राच्यदलं आदौ निर्गमः शोकान्तप्रवेशः दक्षिणीत्तरदलयोः निर्गम्येव प्रवेशः पश्चिमदले तु प्रतिश्वेव निर्गमः आग्नेयवायव्यदलयोः प्रवेश एव नैऋतेशानयोस्तु निर्गम एव अस्य संस्थानं लिखितैव दृश्यते यथा ।



रसासार ! रसा सारसायताच्च ! क्षतायसा ।

सातावात ! तवातासा रक्षतस्वस्वतक्षर ! ।

(सर्वतोभद्रम्)

सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्य-
रूपतां दधतीति न प्रदर्शयन्ते ॥

पुनरुक्तवदाभासी विभिन्नाकारशब्दगा ।

एकार्थतेव,

र सा सा र र सा सा र
सा य ता क्ष क्ष ता य सा
सा ता वा त त वा ता सा
र क्ष त स्व स्व त क्ष र

सर्वतोभद्रबन्धमाह रसासारेति । हे रसासार ! भूमौ सुख्य ! हे सारसाय-
ताच्च ! पद्मदीर्घलीचन ! हे सातावात ! साते सुखे अवात ! वातवद-
चक्षल ! हे अलीलुपेति यावत् क्षतक्षर ! अनल्पद ! तक्षलक्षतनूकरणे राक्षा-
दाने इत्यनयोरुप तव तु रसा पृथ्वी अतासाऽनुतप्ता अस्तु तुशब्दी राजान्तरव्यव-
च्छेदे । सारसं सरसीरुहमिति शर्मसातसुखानि चेति कौषी । तसुदसु उपतापे इति
धातुः । रसा कौटुशी क्षतायसा क्षत आय उपचयी येन स क्षतायस्तं स्थिति अन्नं प्राप-
यति तादृशी षीऽन्त कर्मणि इति धातुः । तव कौटुशस्य रक्षतः पालयतः । अत्र
पङ्क्तिचतुष्टयेन लिखनम् अनुलोमविलोमाभ्यामुपर्यधी वर्षक्रमेण अध उपरि क्रमेण
च पाठः । पुनरुक्तवदाभासालङ्कारमाह ।

पुनरुक्तेति । विभिन्नाकारशब्दगामिनी एकार्थतेवेत्यर्थः । क्ष च शब्दस्या-
लङ्कार इत्यर्थः । मुखे आपाततः शब्दस्य इति व्यापष्टे स च शब्दस्येति अरिबभेति ।
अवनितलतिलकी भवान् सदाऽनन्या परममनराहित्येन भातितरां स कौटुशः अरि-
क्षतनुरगपादातः रथादिरङ्कितोऽपि सन् सङ्घसाऽरिबधदा ईडा यस्त वाङ्मयरीरः
समेव सङ्घसाऽविधातकत्वात् तथा स्थिरतरायामनः पर्वतः । तत्र ईङ्मयरीर-
क्षतसारविदानव्याजपदानि पुनरुक्तप्रावाचि ।

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन सुखे भासनं
पुनरुक्तवदाभासः । स च,

शब्दस्य,

सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः । उदाहरणम्,
अरिवधदेहशरीरः, सहसा रथिसूततुरगपादातः ।

भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ॥

चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः ।

तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्त्तिनः ॥

तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ ९ ॥

उदाहरणम्,

तनुवपुरन्धोऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तस्वरनखरः ।

तेजोधाम महःपृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥

सभङ्गाभङ्गशब्दयोः दर्शयित्वाऽभङ्गशब्देऽपि दर्शयति ।

चकासतीति । तस्य राज्ञः पार्श्ववर्त्तिनो विबुधाः पण्डिताश्चकासति दीप्यन्ते ।

कौदशाः अङ्गने आरमन्ति तादृशाः सुखित्वादप्रवासिन इत्यर्थः । कौतुकस्य
प्रहेलिकाद्युक्तादेवानन्दस्य च हेतवः सुमनसः शीभनचित्ताः । अवाङ्गनारामा-
कौतुकानन्दसुमनोविबुधपदानि पुनरुक्तप्रायाणि । शब्दमात्रमननमुक्त्वा शब्दतदर्थ-
गतमप्येवमाह ।

तथा शब्दार्थयोरिति ।

तनुवपुरिति । असौ हरिः सिंहः तनुवपुरन्धशरीरोऽपि तेजोधाम तेज-
सामाश्रयः । कौदशः महःपृथुमनसां तेजःप्रफुल्लचित्तानां शन्यी विलसच्चन्द्रः प्रभुः
जिह्वंजंयश्रीलः करिकुञ्जराणां हस्तिश्रेष्ठानां रुधिरेश रक्तः शीघ्रः खरः प्रचञ्चो
तङ्करी यस्य तादृशः ।

अत्रैकस्मिन् पदे परिवर्तिते नालङ्कार इति शब्दान्त्रयः,
अपरस्मिंस्तु परिवर्तितेऽपि स न ह्यीयते इत्यर्थानिष्ठ इत्युभया-
लङ्कारोऽयम् ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दालङ्कारनिर्णयो नाम
नवमः उल्लासः ॥

दशमः उल्लासः ।

अर्थालङ्कारानाह,

साधर्म्यमुपमा भेदे,

उपमानोपमेययोरेव न कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं
भवतीति तयोरेव समानधर्मेण सम्बन्ध उपमा । भेदग्रहण-
मनन्वयव्यवच्छेदाय ।

अत्रैकस्मिन्निति । तनुकुञ्जररक्तधामहरिजिह्वुपदानि परिदृश्यन्तमाशि वपुरादि-
पदानि तु परिदृष्टिचमाशि यद्यपि अरि वध देहेत्यादावपि शरीरादिपदानि
परिदृष्टिचमाशीत्यविवक्षितथापि दानव्यागपदधीरेकस्यापि परिदृश्यन्तत्वात्तदंश एव
शब्दमालालङ्कारोदाहरणं तदिति मन्वयम् ।

इति नवमः शब्दालङ्कारप्रतिबन्धः ।

उपमालङ्कारानाह ।

साधर्म्यमिति । भेद इति । उपमानोपमेययोर्भेदसत्त्वे इत्यर्थः ।

उपमानोपमेयलाभश्च साधर्म्यपदार्थवत्तादिति व्याचष्टे ।

उपमानोपमेययोरेवेति । न कार्यकारणयोरेवेति उपमानोपमेयत्वेनाविचिन्त-
नीरिति शेषः । उपमानोपमेयत्वेन विवक्षितयोस्तु कार्यकारणयोरेपि सम्बन्ध-
व्युपमा यथा पुत्रं कर्मस्वात्मवृत्तानुसृष्टं भवन्तनीचो भवतः पितृच यथा वा अश्वि-
रिव मातरित्यत्र यद्दशाश्वे साधर्म्यपदार्थानाह तयोरेव समानेति । अत्राश्वः

पूर्णा लुप्ता च,

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपसमाप्रतिपादकानामुपादाने
पूर्णा, एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता ।

साऽग्रिमा ।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥१॥

अग्रिमा पूर्णा ।

यथेवादिशब्दा . यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्य-
प्युपमानविशेषणान्ये ते, तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव
षष्ठौवत्सम्बन्धं प्रतिपादयन्ती तत्सङ्गावे श्रौती उपमा ।

चन्द्र इव मुखमित्यादी चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यान्वयो मुखमित्येव हि प्रतीतिसत्त्वं
च चन्द्र प्रतियोगिकसादृश्यस्य इवशब्दार्थत्वेऽपि चन्द्रनिष्ठं यत् सादृश्यप्रतियोगित्वं
शैवीपमा साधवात् न तु सादृश्यांशोऽपीत्यभिप्रायेण सम्बन्धपर्यन्तामुपादानं एतच्चाद्यं
उपमायाः श्रौतार्थत्वविभागेन व्यक्तीभविष्यति ।

न च सादृश्यमेव इवशब्दार्थः प्रतियोगितांशः सम्बन्धमव्यांशेयैव लब्ध इति
वाच्यम् । अन्वयानामन्विताभिधायित्ववादिनामेषां मैत चन्द्रप्रतियोगित्वविशिष्ट-
सादृश्यस्यैव इवादिशब्दवाच्यत्वात् । एतच्चाद्यं व्यक्तीभविष्यति तथा च समा-
नेन धर्मैश्च तयोरेव सम्बन्ध इति नाम्बयः किन्तु तयोरेव समानेन धर्मैश्च उच्य-
माननिष्ठसादृश्यप्रतियोगितार्थः सम्बन्ध उपमा इत्येवार्थः । अनन्वयेति । नित-
म्बिनीव इत्यादावुपमाशोपमेययोरभेदोऽनन्वयनामालङ्कारो बन्ध्यते तदुपावर्तनाये-
त्यर्थः । अस्या हेविध्यमाह पूर्णा लुप्ता चेति लोप इति । अनुपादान
इत्यर्थः । साऽग्रिमिति सूत्रेकदेशपूर्णा लुप्तयोरग्रिमोक्ता पूर्णा इत्यर्थः । पूर्णैव द्विषि-
षेत्याह श्रौत्यार्थीति । श्रौती शब्दवाच्या आर्षी तु शब्दवाच्यत्वेऽपि अर्थवत्स-
म्बन्धाद्विषयैव सा वाक्यसमासतद्धितगामित्वमिदात् षड्विधेत्याह भवेद्वाक्य इत्यादि ।
अत्र श्रौती वाच्यति ।

अश्वेत्यादि । यथेववादीत्येव पाठः । आदिशब्दादशब्दपरिप्लवः क्वचिन्तु अश्वे-
नाशब्दा इत्येव पाठश्चिह्नति इ च न कश्चिदः तदा आशब्दापरिवहापत्तेः एव

तथैव “तत्र तस्यैव” [५।१।११६ पा० सू०] इत्यनेनेवार्थे
विहितस्य वतेरुपादाने ।

इवादीऽव्ययशब्दा यत्परा यत्परभावेनैव स्वार्थान्वयानुभावका इत्यर्थः न तु यत्परा
इति नियमः यथा शब्दे तथा नियमाभावात् यथा चन्द्रस्यैव मुखमित्येवमपि प्रवी-
गात् । अन्यस्य तु चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्याश्रयत्वरूपस्य चन्द्रपरभावेनैव बोधकाः
उपमाने चन्द्रे या सादृश्यप्रतियोगिता सैवोपमानता उपमा चेति तयोरभेदादुप-
मानताप्रतीतिरित्युपमाप्रतीतिरित्येवार्थः । अन्यथा उपमायाः श्रौतत्वसाधने
उपमानताप्रतीतिकथनानुपयोगात् प्रतीतिरितीत्यस्य तत्संज्ञावे श्रौतीत्ययेऽन्वयः ।

ननु तस्यैवोपमानताप्रतीतिरित्युक्त्याऽन्यस्योपमानता न प्रतीयत इत्येवार्थो
लभ्यते तच्च कथमुपमायाः श्रौतत्वसाधकं तुल्यादिपदीपादाने यवार्थत्वमुपमाया
वक्ष्यते तत्राप्यन्यस्योपमाप्रतीत्यभावेनाविशेषादिति चेन्न तस्योपमाप्रतीतिरेवेत्येव-
मैवकारयोजनया उपमाप्रतीत्ययोगव्यवच्छेदलाभात् तुल्यादिपदीपादाने च उपमा-
प्रतीत्ययोगोऽप्यत्र दर्शयिष्यते । तथा च अच्छब्दीपादानेऽर्थान्वयबाधोपस्थितिं विना
संप्रतीत्यवश्याभावरूपो यत्प्रतीत्ययोगव्यवच्छेदः सोऽर्थसंज्ञाच्च एवेति व्याप्तिप्रदर्शन-
मनेन कृत्वा उपमायाः शब्दवाच्यत्वं बाधितम् । अर्थान्तरबाधोपस्थित्या लक्ष्यार्थ-
प्रतीत्ययोगव्यवच्छेदे सत्यपि तु लक्ष्यार्थो न वाच्यः । अत्र चन्द्र इव मुखमित्यत्र
चन्द्रनिष्ठायाः सादृश्यप्रतियोगितारूपाया उपमाया इवादिशब्दवाच्यत्वं साधयितुं
वाक्यमध्य एवानुपपत्तिमुद्भाव्य समाधातुमाह यद्यपौति । एते इवादी यद्यप्युप-
मानविशेषणानि उपमानान्वितार्थका इत्यर्थः । यथाश्रुतेतिवाच्यर्थस्य सादृश्यस्योप-
मानचन्द्रादिप्रतियोगिकत्वादुपमानविशेष्यत्वे न तदीयविशेषणत्वासम्भवात् उपमानं
विशेषणं येषामिति बहुत्रोहो तूपमानविशेषणा एते इत्येवं निर्देशस्यैवापत्तेः । तथा च
विशेषणविशेष्ययोश्चन्द्रसादृश्ययोर्नामार्थयोर्भेदे नाम्नयो बोधुमिव न शक्यते चन्द्र
इवेत्यत्र प्रथमासत्त्वेऽपि प्रकारीभूतविभक्त्यर्थानुपस्थितेः भेदेन नामार्थसौरन्वयबीधे
त्र प्रकारीभूतविभक्त्यर्थोपस्थितेस्तन्मत्वादिति यद्यपीत्याशङ्कार्थः । समाधत्ते तथापौति ।
चन्द्रस्य सादृश्यमित्यत्र षष्ठीविभक्त्यर्थोऽपि प्रतियोगिता सा चन्द्र इवेत्यत्र इवाद्यव्यय-
शब्दे नोच्यत इत्यतः प्रकारीभूतविभक्त्यर्थबोधक इवादिशब्दादिरित्येति शब्दशक्तौ-
त्वाद्दिर्यः । शब्दस्य इवाद्यव्ययशब्दस्य शक्तिरभिधास्या इति सान्प्रतिज्ञा श्रुत्यैव शब्द-
मात्रेणैव चन्द्रस्य सादृश्यमित्यत्र षष्ठीवत्सादृश्यप्रतियोगिनाम्बु सन्मन्त्रिवाद्यः

तेन तुल्यम् सुखमित्यादावुपमेय इव, तत्तुल्यमस्येत्यादी
चोपमान एव, इदञ्च तच्च तुल्यमित्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दा-

प्रतिपादयन्तीत्यतस्तद्व्याप्तेः श्रौतीत्यर्थः तैस्तस्मिन्निपादने च तत्सङ्घावे प्रतीत्ययोगव्यव-
हारेणो हेतुर्दक्षितः । एवमेव घटी नेत्यादावपि घटप्रतियोगिकाभाव एव भवति
इत्यन्विताभिधानसिद्धात् । नैद्याधिक्यास्तु निपातितारिक्तानामार्थयोर्भेदान्वय-
बोध एव प्रकाराभेदात्प्रतिपक्षितेस्तत्त्वमतीत्यत्र तदुपस्थितिं विनाप्यन्वयबोध
इत्याहुः । मीमांसकमतानुगामिन आलङ्कारिकास्तु तदुपेक्षते न च किमत्र तदुपेक्षा-
वर्जमिति वाच्यम् । निपाताव्ययार्थारिक्तावशिष्यदानमीरवमेव । अन्यच्च यदि
सादृश्यं प्रतियोगिताऽभावप्रतियोगि तेन इवादिनञ्जीवांश्चैव स्यातां तदा चन्द्रस्य
सादृश्यं चन्द्रस्य सात्यं चन्द्रस्य सङ्गश्चन्द्रस्य सत्त्वं इत्यादय इव चन्द्रस्यैव सुखमित्या-
दयोऽपि प्रयोगाः स्तुः एव' घटस्थाभाव इत्यादय इव घटस्य न इत्यादयोऽपि प्रयोगाः
स्तुः । इवादिनञ्जादीनां सादृश्यभावमभावमात्रं प्रति च वाचकत्वे सादृश्यादिपदै-
रभावादिपदैश्च समानार्थत्वं न ततः 'षष्ठ्यर्थात्वाभिन सादृश्यादिपदयोग इव इवादि-
पदयोगेऽपि षष्ठीप्रसक्तः । इवादेः षष्ठ्यर्थात्वाचकत्वे तु युक्त एव तत्र प्रउपप्रयोगः ।
अव्ययशब्दानां व्युत्पत्तिवैलक्षण्यत्वात्तद्योगि षष्ठी न भवतीति चेदेवं व्युत्पत्त्यन्तरकल्पने
शंभिरिति रङ्गस्यम् । एवञ्चाव्ययपदानामन्वितान्विताभिधायित्वं गानव्ययतुल्यादि-
पदानामिति स्थिते वाच्य एव वाक्यार्थ इति त्वन्विताभिधानवादिन इति यत्
प्रागुक्तं तन्मीमांसकैकदेशिनामेव मतमिति बोध्यम् । इवार्थकस्य वतेरुपादानेऽपि
उपमा श्रौतीत्याह तथैवेति तत्र तस्यैवेति पाणिनिपुत्रं तत्रैव तस्यैव धर्म इति तदर्थः
सप्तम्यान्तु षष्ठ्यान्ताहा विहितस्य वतेरुपादाने तदत् इवाद्युपादानवदित्यर्थः तथाच
तदुपादानेऽपि श्रौतीत्यर्थः तुल्याद्यनव्ययपदानान्तु न वाच्या उपमा तत्सङ्घावे
सादृश्यप्रतियोगितारुपाया उपमायाः प्रतीत्ययोगस्यापि सत्त्वादिति दर्शयति ।

तेन तुल्यमित्येति । उपमेय एव तुल्यादिपदानां विश्रान्तिरित्ययमिदंत्वयः । एव-
मपरद्वयेऽपि बोध्यम् । विश्रान्तिं विशिष्यतया प्रतीतिः । विशिष्यता चोपमेयस्यैव
भवतीत्यतीऽपरद्वयोपमानता प्रतीतिरिति भङ्गा उक्तम् । तथाच तुल्यादिपदीपादाने
उपमेयत्वाप्रतीतिरव्यवस्थितत्वमुख्येनोपमानताप्रतीतिरव्यवस्थितत्वमेव दर्शितम् । अन्य-
च्च उपमेय एव उपमेयता उपमान एव च उपमानतैव प्रतीयते तथापि अन्यत्र-

नां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादिपदोपादाने आर्थी, तद्वत्, "तेन तुल्यम् क्रिया चेत् वतिः" [५।२।२१५ पा० सू०] इत्यग्रेण विहितस्य वतेः स्थितौ ।

‘इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च’ इति नित्यसमासे इवशब्दयोगे समासगा । क्रमेणोदाहरणम्,

स्वप्ने ऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति ।

प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥ [वा० श्रौ०]

स्थितत्वप्रदर्शनार्थमिदं दर्शितम् । तत्तुल्यमस्येतीति तच्चन्द्रविम्बं पद्मं वाऽस्य मुखस्य तुल्यमित्यर्थः । नचेदृशप्रयोगे चन्द्रविम्बमुपमेयमेव तत्कथमुपमाने उपमेयता-प्रतीतिरित्युक्तमिति वाच्यम् । प्रसिद्धा यव तत्रैव उपमानतायां तात्पर्यं तत्राप्येवं प्रयोग इति भावात् । इदञ्चेति इदं हस्तस्य पद्मं तच्च स्मर्यमाणं तस्या मुखमित्यर्थः । एवञ्चोपमेयतायाः प्रतीत्यन्वयस्याप्रदर्शनेनैव उपमानतायाः क्वचिदुपमाने क्वचिदुपमेये क्वचित्तु न कापि प्रतीतिरिति दर्शयता तुल्यादिपदोपादाने उपमा-प्रतीत्ययोगोऽपि दर्शितः । इत्युपमा तात्पर्यालोचनगम्यैव न वाच्या इत्याह साम्यपर्यालोचनवेति साम्यं समानेन धर्मण सम्बन्धः सादृश्यप्रतियोगितारूपा उपमा तस्याः पर्यालोचनयैव तदनुयोगिन्यास्तुल्यतायाः प्रतीतिरित्यतः साधर्म्यस्य समानेन धर्मण सह सम्बन्धरूपाया उपमाया आर्थत्वादित्यर्थः । एवं तुल्यार्थकत्वमुपादानेऽपि आश्रीत्याह तद्वदिति तेन तुल्यमिति पाणिनिवृत्तम् । तेन विहितस्य वतेः स्थितौ उपदानेऽपि तदनुत्यादिपदोपादानवदार्थोत्थः । अन्यथेन सह समासाभावात् श्रौत्याः समासगामित्वं दर्शयति इवेनेति इदं पाणिनिवृत्तं पूर्वपदेति असमासकाले य उदात्तादिस्वरः स समासकालेऽपि तादृशस्वरत्वञ्चेत्यर्थः । क्रमेणेति श्रौत्यार्थो-र्वाकादित्रयगामित्वक्रमणेत्यर्थः ।

स्वप्नेऽपीति । स्वप्ने निद्रा निद्रितापि जयश्रीस्वामालिङ्गति षष्ठीत्यर्थः । चक्रवर्ती तु स्वप्ने निद्रादशायां विषयानुभवः स च राज एव स्वप्नप्रदशायामपि राजा स्वविजययियं पश्यतीत्यर्थ इत्याह तत्र निद्रादशापि तादृशस्वप्नप्रदर्शनसम्भवात् ।

चकितहरिणलोललोचनायाः
 क्रुधि तरुणारुणतारहारकान्ति ।
 सरसिजमिदमाननञ्च तस्याः
 सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ॥ [वा० आ०]
 अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानाम्,
 दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।
 शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो
 लक्ष्मीर्विलासभवनेर्भुवनं बभार ॥ [म० श्री०]

तावता राज्ञ उक्तप्रसंभाभात् । स्वाधीनेति स्वाधीनत्वेन पत्युरपवासित्वं दर्शितम् ।
 तेन सा यथा निद्रितापि कान्तं न मुञ्चतीत्यर्थः प्रभावः पौरुषं तस्य प्रभवं जनकं
 राजानं कान्तन्तु प्रकृतस्थानुरागस्य प्रभवम् । अत्र यथा शब्देन सह समासाभावा-
 हाक्यगा श्रीती उपमेयादिसत्पुष्ट्युपादानात् पूर्णा विजयश्रीस्वाधीनपतिकयो-
 रूपमेयोपमानधीरसीचनं साधस्यै राजकान्तधीरुपर्ययोपमानयोः प्रभावप्रभवत्वम् ।
 वाक्यगामार्थी पूर्णामाह ।

चकितेति । क्रुधि क्रोधे तस्या आननम् इदं हलस्यरक्तसरसिजञ्च सममिति
 अर्थात् मन चेतसि सम्मदं विधत्ते सुखपद्मयोर्विशोरपि विशेषणमाह तरुणेति
 तरुणस्यारुणस्य सूर्यसारथेरिव तारा उज्ज्वलाहारिणी कान्तिर्द्रस्य सुखं तादृशं
 सरसिजन्तु तरुणसूर्येण तादृशकान्तिकम् अत्र समशब्दाद्वाक्यगा अर्थी पूर्णा ।
 समासे वाक्यगा श्रीती पूर्णामाह ।

अत्यायतैरिति । या राजा चतुर्भिः सामदानविधिभेदरूपैरुपायैरदी रुवनं
 सदा बभार पालयामास । शौरिर्विष्णुश्चतुर्भिर्भुजैरिव उपायभुजयोर्विशेषणान्याह
 अत्यायतैरित्यादि उपायानां सततानुष्ठानमेवायतत्वं भुजानामाजानुलम्बितत्वम्
 उद्धतानामुद्धतानां जनानाम् असुराणाञ्च नियमः शान्तिः उपायानामनुष्ठानप्रकर्ष
 एव प्रभा भुजानान्तु कान्तिसाभिर्दिव्यैरुत्कृष्टैश्चित्रैः प्रभाभिरिति क्वचित्पाठः
 अनपायो विघ्नाभावः । तन्मयैस्तद्विशिष्टैः लक्ष्मीः सम्पत् करस्था लक्ष्मीः च तथा
 विखासस्तस्मा विलासश्च तस्य भवनेरुत्पादकैः । अत्र इवेन नित्यसमासात् समा-
 सगा श्रीती पूर्णा । समासगामार्थी पूर्णामाह ।

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु

प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।

सुरतरुसदृशः स भवान्

अभिलषणीयः क्षितौश्वरो न कस्य ॥ [स० आ०]

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् । [त० श्रौ०]

दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् [त० आ०]

स्वाधीनपतिक्ता काज्जं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूः, तथा, जयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यं, वैचित्र्यञ्चालङ्कारः, तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः, न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः, अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव । रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थोऽलङ्कारान्तरञ्च सर्वत्राव्यभिचारीत्यगणयित्वैव तदलङ्कारा उदाहृताः । तद्रहितत्वेन तु उदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनौयम् ॥

अवितथेति । स प्रसिद्धः क्षितौश्वरी भवान् कस्यार्थिनी न अभिलषणीयेः कीदृशः अवितथस्य मनोरथस्य यत्पथं विषयस्तत्प्रथनेषु तज्जानेषु सत्सु प्रकृष्टेन गुण-गरिमणाऽर्थिभिरेव गीतश्रीः सुरतरुः कल्पतरुस्तत्सजलस्यैतादृशविशेषणकत्वान् । अत्र समासस्य सदृशपदात् समासगा आर्धी पूर्णा तद्धिते श्रौतीमार्थीश्च पूर्वामाह ।

गाम्भीर्येति । गङ्गाया भुजङ्गस्य कामुकस्य समुद्रस्यैव सत्यं यस्य गाम्भीर्य-गरिमा स राजा समरे दुरालोको निदाघीयेन अम्बररत्नेन सूर्येण तुल्यः । अत्र पूर्वार्द्धे षष्ठ्यानादिवाच्ये वतिवति तद्धिते श्रौती गाम्भीर्यगरिमा साधारणधर्म इति पूर्वा परार्द्धे तु तुल्यार्थे वतिवति तद्धिते आर्धी पूर्णा । सालङ्कारस्य चित्रत्वाच्चित्र-खचये चाव्यङ्ग्यलक्ष्यीकत्वादेव व्यङ्ग्यसंस्पर्शेन कथञ्चिदं चित्रमित्याशङ्कते ।

स्वाधीनेति प्रतीयमानेति । तादृशव्यञ्जेन विनेत्यर्थः । न हि नीलजाति-र्गाम्भिव्य क्ली वैचित्र्यविशेषानुभव इति भावः । वैचित्र्यञ्चालङ्कार इति तथापि

तद्वत् धर्मस्य लोपे स्यात्,
न श्रौतौ तद्धिते पुनः ।

धर्मः साधारणः तद्धिते कल्पवादी चार्थैव । तेन पञ्च ।

उदाहरणम्,

धन्यस्यानन्यमामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।

करणीयं वचस्ये तः ! सव्यं तस्यामृतं यथा ॥ [वा० श्री०]

तादृशवैचित्र्यरूपालङ्कारध्वनिरेवायमित्याशङ्कार्थः समाधत्ते तथापीति । येन चारुताः
ऽनुभूयते तेनैव व्यवहार इत्यन्वावाचीपमालङ्कारवशादेव चारुताप्रतीत्या तादृशः
व्यवहार इत्यर्थः । नन्वत्र शृङ्गारानुभवादपि चारुता प्रतीयत इत्यादिरसध्वनिरेव
किमयं न स्यादित्यत आह रसादीति तदपेक्षयाऽप्यत्र वाचीधर्मैव चारुताधिक्य-
प्रतीतिरिति भावः । इत्यगणयित्वैवेति व्यञ्जसत्वमगणयित्वैवेत्यर्थः । व्यञ्जसत्त्वं
मात्रं न ध्वनिस्त्रयोजकं किन्तु चारुता प्रयोजकपुरस्फूर्तिज्ञहस्त्वमेव तत्प्रयोजक-
मिति भावः । तदलङ्काराः काव्यालङ्काराः पूर्वापरिति पूर्वमव्यञ्जमित्युक्तमिदानीं
स व्यञ्जमुदाहृतमित्येवं विरुद्धाभिधानं नाशङ्कनीयमित्यर्थः । स्फुटव्यञ्जराहित्य-
स्यैव तत्र व्याख्यातत्वादिति भावः । इत्थं षड्विधां पूर्णासुक्ता अनविश्रतिविधां
सुप्ता वक्तुमादी पञ्चविधां धर्मसुप्तामाह ।

तद्वदिति । श्रौत्यार्थीः पूर्णथीर्वाक्त्वाद्विचयगामित्ववदित्यर्थः । एवञ्च तद्वत्
षड्विधत्वप्रसक्तावाह न श्रौतीति न तु पुनस्तद्धिते श्रौतीत्यर्थः । धर्मसुप्तां धर्मि-
निष्ठसम्बन्धबोधिकायाः षष्ट्याः सप्तम्या वाऽभावेन ततो विहित इवार्थे वति न
सम्भवति इत्यतस्तद्धितान्तरे कल्पप्रत्ययादौ न श्रौतीत्याह तद्धिते कल्पवादाविति
वाचिनिमते प्रकारानुबन्धः कल्पप्रत्ययः आदिना तुकार्थैकवतेरपि परिग्रहः ।
तत्र वाक्यगां धर्मसुप्तां श्रौतीमाह ।

धन्यस्येति । ईं चेतः ! अस्यतमिव तस्य वचः करणीयं सत्यमवश्यं तस्य
कीदृशस्य धन्यस्य अनन्यसाधारणं यत्सौजन्यं तदुत्कर्षशालिनः । अत्र मधुरत्वं धर्मो
लुप्तः करणीयस्तु अस्यते वाचात्र साधारणं यथाशब्देन सूत्र समासाभावादाकस्मा
श्रौती । वाक्यगां धर्मसुप्तामार्थमाह ।

आकृष्टकरवालोऽसौ सम्पराये परिभ्रमन् ।

प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥ [वा० आ०]

करवाल इवाचारः [स० श्री०]

तस्य वागमृतोपमा । [स० आ०]

विषकल्पं मनो वेत्सि, [अ० आ०]

यदि जीवसि तत्सखे ! ॥

उपमानानुपादाने

वाक्यगाऽथ समासगा ॥ २ ॥ [२]

सञ्जलकरणपरिवीसामसिरिविञ्चरणं च सरसकव्यस्य ।

दौसद् अह वा णिममद् सरिसं अंसंसमेत्ते ण ॥

आकृष्टेति । सम्पराये युद्धे अथ नारकत्वधर्मो लुप्तः दृष्टत्वमतीन्द्रिये कृतान्ते
वाधान साधारणम् असमासे समपदादाक्यगा आर्थी । समासे त्रैतीमार्थी तद्विते
व्याधीनकवैव धर्मलुप्तमाह ।

करवाल इवेति । हे सखे ! यदि जीवसि तत्तदा इदं वेत्सि तत्किमित्याह
करवाल इवेति अत्रेवेन नित्यसमासगा त्रैती छेदकत्वं धर्मो लुप्तः वागमृतोति अत्र
समासगा आर्थी मधुरत्वं धर्मो लुप्तः विषकल्पमिति अत्र तद्विते आर्थी तापकत्वं
धर्मो लुप्तः एव विषवदिति करणात्सुखार्थकवतावपि बोध्यम् । इति धर्मलुप्ताः
पञ्च । द्विविधानुपमानलुप्तमाह ।

उपमानेति । यादृशशब्देनोपमानस्त्रीपादाने तदुत्तरवर्तिना इवादिना उप-
मानता प्रत्याययितुं शक्यते तादृशशब्देनोपमानानुपादाने इत्यर्थः । तेन सम-
सदृशपदेनोपादानेऽप्यनुपादानमेव तदुत्तरनिवाचसम्भवात् ।

सञ्जलेति ।

सकलकरणपरिविञ्चामश्री वितरणं न सरसकाव्यस्य ।

दृश्यतेऽथवा निश्चयते सदृशमंशंशमात्रे वेति ॥ संस्कृतम् ।

सकलकरणपरिविञ्चामश्रीः सर्वेन्द्रियस्कीतता तद्वितरणं तज्ज्ञापकमन्त्रा-
न्नाद्येषां सरसकाव्यस्य सदृशं न दृश्यते नावया निश्चयत इत्यर्थः । अत्र सदृश-

कव्यस्येत्यत्र कव्यसममिति सरिसमित्यत्र च शूर्णामिति पाठे एषैव समासगा ॥

वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।

कर्मकर्त्रीर्णमुलि [६]

वाशब्द उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे षट्, समासेन कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचा, कर्तुः क्यङा कर्मकर्त्रीरुपपदयोर्णमुला च भवेत् । उदाहरणम्,

ततः कुमुदनाथेन कामिनौगण्डपाण्डना ।

नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्रे दिगलङ्कता ॥ [द्वयोः स०]

पदं न तुल्यगुणपरं नापि किञ्चिद्भूतगुणोपमेयपरं तदधिकगुणोपमानदर्शनासम्भावनानिवृत्त्या सरसकाव्यप्रशंसानुपपत्तेः किन्तूपमानपरमेव तथा च समासकाव्यस्थोपमानं न दृश्यते इत्यर्थलाभेन सरसकाव्यमनुपमेयमेव भवति तथा च सदृशपदेनोपमानीपादानेऽपि नीकुरूपेण तदुपादानं तदुत्तरमिवाद्यसम्भवात् । न चैवमत्र सदृशशब्दस्थोपमानपरत्वे सादृशार्थकपदाभावादिलुप्तत्वप्रसक्तिरिति वाच्यम् । उपमानत्वस्यैव सादृश्यप्रतियोगित्वरूपत्वेन तदर्थकसदृशपदस्यैव सत्त्वात् न चैवं सादृश्यप्रतियोगितारूपीपमाऽभिन्नस्थोपमानत्वस्य सदृशपदादेव लामि उपमायाः श्रौतत्वं स्यादिति वाच्यम् । उपमानस्य विशेष्यभूताया एव प्रतियोगिताया उपमानत्वात्सादृश्यपदेन प्रतिपादाने तु पदार्थतावच्छेदकविधया उपमानविशेष्यत्वादेव सदृशपदस्य उपमाने छादयिकत्वेन श्रौतत्वामावाप्तं अत्र सकलित्यादिकमुभयधर्मैः सदृशपदेन सङ्ग समासस्याभावादाकाना चार्थी कव्यस्येत्यत्र समपदप्रक्षेपे सदृशपदपौनःपरिहरति सरिसमित्यत्रेति । इत्युपमानलुप्ते इ । षड्विधामिवादिमुक्तामाह ।

वादेरिति । षट्कं व्याकुर्वते समासेति । पाणिनिमते कश्च क्यङौ कलापमते विघ्नयायी । कर्मकर्त्रीरिति कर्मणि कर्त्तरि वा उपपदे इत्यर्थः पाणिनिमते षमुल् कलापमते अम् ।

ततः कुमुदेति । अत्र दशमेव पाठो भेति समासेति

तथा,

असितभुजगभीषणासिपत्नो

रुहरुहिकाहिताचित्तघूर्णभावः ।

पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः

प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥ [बहूनां स०]

पौरं सुतीयति जनं, समरान्तरेऽसौ [क० क्यच्]

अन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचञ्चुः । [अ० क्यच्]

नारीयते समरसीन्नि कृपाणपाणेः [क्यङ्]

आलोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥

सृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे । [कर्म० यमुल्]

स पुनः पार्थसञ्चारं सञ्चरत्यवनीपतिः ॥ कर्त्त० यमुल्]

एतद्-

द्विलोपे क्विप्समासगा ॥ ३ ॥ [२]

असितेत्यादिरासीदित्यर्थः । रुहरुहिका उत्साहपरम्परा तथा आहिती जनितश्चित्तघूर्णभावो यस्येति विग्रहः उद्गता कपोले कान्तिरर्थाच्छीशिमा यस्य तादृशः अत्रासितभुजग उपमानं भीषणत्वं घर्मः असिपत्नमुपमेयं त्रिभिः समासे वादिलोपः । क्यङ् इत्ये क्यङि चैकमुदाहरणमाह ।

पौरमिति । असौ राजा पौरं जनं सुतमिवाचरति समरान्तरेऽन्तःपुर इव आचरति निर्भयत्वात् अत्रयोः कर्माधाराभ्यां क्यच् तथा समरसीन्नि कृपाणपाणेस्तस्य चरितान्यालोक्य सपत्नसेना नारीयते नारीवाचरति भीरुत्वात् अच कर्तुः क्यङ् आचारे क्यङ् । क्यङ् इत्यर्थः साधर्म्यम् इवादिभ्यु लुप्तः न तु इवार्थविशिष्ट एवाचार-स्यच् क्यङ् इत्यर्थः तदर्थेऽननुशासनात् । यमुल् इत्यनेकत्वैवोदाहरति ।

सृधे इति । परे शत्रवः तं सृधे युद्धे निदाघघर्मांशुदर्शनैव पश्यन्ति अत्र कर्मण्युपपदे यमुल् स पुनरवनीपतिः पार्थसञ्चारमर्जुनकर्त्तृकसञ्चारेणैव सृधे सञ्चरति अत्र कर्मण्युपपदे यमुल् । इति इवादिभ्योः षट् ।

एवमेकलुप्तास्त्वथोदश । पञ्चविधां द्विलोपां विभ्रञ्जुरादी घर्मेवादिभ्यो द्विविधा-

एतयोर्धर्मवाद्योः । उदाहरणम्,
सविता विधवति, विधुरपि
सवितरति, तथा दिनन्ति यामिन्यः ।

यामिनयन्ति दिनानि च

सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥

[क्षिप्त्वा]

परिपन्थिमनोराज्यशतेरपि दुराक्रमः ।

सम्परायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥

[स०]

धर्मोपमानयोर्लोपे

वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

[२]

माह एतद्विहिते इति । मन्थीकृतमुपमानं विहायात्र तात्पर्यवशात् पूर्वापरयोर्धर्मवाद्योरेवैतत्पदेन परामर्शस्तद्व्याचष्टे धर्मवाद्योरिवि लुप्तया चाद्येः क्षिप्त्वात्परिभाषाक्षिप्त्वा समासगा चेत्यर्थः ।

सवितेति । अत्र मुखदुःखेति इत्येव तयोः साहित्ये किमु तात्पर्यवशात्तयोर्बशीकरणैकक्रियान्वयरूपसाहित्य एव तथा च सुखेन दुःखेन वशीकृते मनसोत्थेवार्थः तत्र सुखवशीकृते मनसि सवितेति दिनन्तीति च विधवति विधुरिवाचरति दिनन्ति दिनानौव आचरन्तीति सन्तीषात् प्रकाशमयत्वेनोपलभ्यमानत्वात् दुःखवशीकृते मनसि तु विधुरपीति यामिनयन्तीति च सवितरति सविते वाचरति तापकत्वात् यामिनयन्ति यामिन्य इवाचरन्ति तमीमयत्वेनोपलभ्यमानत्वात् अत्राचाररूपधर्मवाचकास्यायेरिवादेश लोपः । समासगामाह ।

परिपन्थीति । मनोराज्यं मनोरथश्च सम्परायं युद्धम् । अत्र राजा कुञ्जर इवेति समासे इवादे बंशवस्त्रधर्मस्य च लोपः । न चात्र राजा एव कुञ्जर इति रूपकमेव नोपमंवेति न्यायम् । उपमाभिप्रायेणैवीदाहृतत्वात् अत्रैतार्थकत्वं तु बहिष्काश राजा चन्द्रमा इत्यादाहार्यं चन्द्रेऽपि परिपन्थीत्यादिरन्वयनोभयधर्मत्वाभावात् । अन्वदिविधां हिलुप्तमाह ।

धर्मोपमानयोरिति । इत्थौ समासे उपमानलोपश्च पूर्ववत्सदृशादिपदेनोपमानीपादात् बोध्यः । दृष्ट्वास्तेति

टुण्डुसन्तो मरिहिसि कण्ठककलित्वाहं केभद्रवणाहं ।

मालङ्कुसुमसरिच्छं भमर ! भमन्तो ण पाविहिसि ॥

कुसुमेण सममिति पाठे वाक्यगा ।

अथचि वाद्युपमेयामे, [१]

आसे निरासे ।

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।

रूपाणोदयदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥

अवात्मा उपमेयः ।

विलोपे च समासगा ॥ ४ ॥ [१]

तयाणाम् इवादिधर्मापमानानाम् । उदाहरणम्,

तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासविलम्बविग्रहा ।

स्मरशरविमराचितान्तरा सृगनयना हरति मुनेर्मनः ॥

टुण्डुनायमानो मरिष्यसि कण्ठककलितानि केतकीवनानि ।

मालतीकुसुमसदृश भमर ! भमन्नपि न प्राप्स्यसि ॥ इति ।

केतकीवनानि प्राप्येति शेषः । टुण्डुत्रिन्यव्यक्तमृदानुकरणम् । अत्रापि मालतीकुसुमत आधिक्यलाभाय सदृशपदमुपमानपरमेव तथात्वे चीपमानानुपादानमिवायलीपश्च पूर्ववदेव बोध्यः शीरभश्च धर्मा लुप्तः । एकविधामन्वां हिलुभाभाह् क्वचीति ।

अरातीति । स राजा अरातीत्यादिना रूपाणेत्यादिना च विभ्रष्टः सन् सहस्रायुधीयति सहस्रायुधमिवात्मानं मन्यत इत्यर्थः । तदाह अवात्मा उपमेय इति स च लुप्त इत्युपमेयस्य इवादेश लोपः । इति हिलुभाः पक्षः । त्रिलुभामेकविधामाह ।

विलापे चेति । तरुणिमनीति सृगनयना मुनेरपि मनो हरति नयते कीदृशी तरुणिमनि तारुण्ये सति कृतावलोकना अर्थात् युनि ललितविलासिन विश्लेष्य प्रामथरीरा कारशरस्य विसरेण पातेनाचितमनस्ता अत्र सृगनयनमिव नयनं यस्या

अत्र सप्तम्युपमानेत्यादिना यदा समासलोपो भवतः,
तदोदाहरणम् ।

क्रूरस्य आचारस्यायःशूलतयाऽध्यवसायात्, अयःशूलेना-
न्विच्छतीत्यायःशूलिकः इत्यतिशयोक्तिः न तु क्रूराचारोपमेय-
तेऽप्यधर्मेवादीनां लोपे त्रिलोपेयमुपमा ।

एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ॥

‘अनयेनेव राज्यञ्चो दैन्येनेव मनस्विता ।

मन्त्रौ सायं विषादेन पाश्चिनीं च हिमाम्भसा ॥

इत्यभिन्ने साधारणे धर्मं,

ज्योत्स्नं च नयदानन्दः सुखेव मदकारणम् ।

प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितस्विनी ॥

इति भिन्ने च तस्मिन्, एकस्यैव बह्वुपमानोपादाने मालोपमा
यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्वे, पूर्ववदभिन्नभिन्नधर्मत्वे

इति समासि सप्तम्युपमानलोपः । पूर्वपदप्रकृति स्वरत्वञ्चेति पाणिनिमुक्तेषु उप-
मानोभूतनघनपदलोप एवं दीर्घ्याच्चाङ्ग्यादिधर्मस्थेवादीर्लोप इति विलुप्ता । अत्र
च कलापमते षडपदर्भेव तन्नयने साक्षणिकं न तु त्रिलोप इत्यती मत्वमदं सूचयन्नाह
यदेति यन्मते इत्यर्थः ।

अत्र षडनयनेत्यत्र त्रिलोपाभावपक्षे अयःशूलिक इत्यत्र त्रिलोपं केचित्सुदुस्तत्र
चातिशयोक्तिरेवाङ्गहारी नापमेत्याह ।

क्रूरस्त्विति । अयःशूलेनेति क्रूराचाररूपेऽयःशूलेनेत्यर्थः । अतिशयोक्ति-
रिति उपमानेनायःशूलिक क्रूराचारस्याध्यवसानरूपा अत्र त्रिलोपोपमा निरस्यति
नत्विति एवमेकोनेति एकलुप्तास्त्रयोदश विलुप्ताः पञ्च विलुप्ता चैकेति (१८)
मुक्ते मालोपस्यारसभोपमयोर्विशेष्यानुक्ते वीर्यं वक्तुं द्विविधा मालोपमा रस-
नीपमाद्याह ।

अनयेनेति । अत्र सा उपमेया इत्यभिन्ने इति स्नानरूपैकधर्मस्यैव सर्वोप-
मानसाधारणत्वात् ।

ज्योत्स्नं वेति । नयनानन्दसञ्जनिका सुदुसारीया लक्षणा अत्र प्रथममानं

अनवरतकनकवितरण-

जलजलवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः ।

भञ्जितिरिव मति र्मतिरिव

चेष्टा चेष्टैव कौर्त्तिरतिविमला । [अभि०घ०]

मतिरिव मूर्त्ति मधुरा, मूर्त्तिरिव सभा प्रभावचिता ।

तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् । [भि०घ०]

इत्यादिका 'रसगोपमा च' न लक्षिता, एवंविधवैचित्र्य-
सहस्रसम्भवात्, उक्तभेदानतिक्रमाच्च ॥

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।

अनन्वयः,

उपमानांतरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः । उदाहरणम्,

नयमानन्दत्वादयो विभिन्ना धर्मा इति भाषा तु न लक्षितेत्यर्थेऽनन्वयः । रसगोपमा-
नाह यद्योत्तरमिति पूर्वोपमायां यदुपमेयम् उत्तरीपमायां तस्योपमानत्वं इत्यर्थः ।

अनवरतेति । तस्य भञ्जितिरिव मतिरतिविमलैवेवमुत्तरीत्तरमन्वयः । तस्य
कौटुम्बस्य अनवरतं कनकवितरणार्थे भूतानो जलानो लवेन कण्ठेन तरङ्गिताकारत्वा
पर्यंततयो बल तादृशस्य । अत्रातिविमलत्वं प्रत्युपमानमभिप्री धर्मः ।

मतिरेवेति । प्रभावेण चिता प्रभवाऽवचितेति च शीघ्रम् । तस्य नृपस्य
जयश्री जेतुं परेषां न शक्या एव । न लक्षितेति विशेष्ये न लक्षितेत्यर्थः । विलोप
च समासमेत्वानुक्तमालोपमासमुच्चयपरेण चकारेण तु लक्षितेवेति भावः ।
अतएवापि भाषा तु पूर्ववदिति मालीषमा तुल्यतया भाषारूपकं स च एव सत्यते
अन्वया मालोपमाया उक्तिरुद्भिर्हितत्वं न तनुल्यतया सूत्रता कथनासम्भवात् उक्त-
भेदेति पूर्वोपमायामिवात्मभावात् । अनन्वयालङ्कारमाह ।

उपमानेति । एकवाक्येन इत्यनेन दर्शितरसगोपमाया दर्शयिष्यमालोपमानीप-
मेययोश्च व्यावृत्तिसात्र वाक्यद्वयमामित्वात्तद्वयस्य उपमानात्तरिति अलङ्कारशाना-
नन्तरज्ञानकथनमिदं नत्वन्वयस्य अन्वयविवरणमिदम् अपदायत्वात् एवमुत्तरमापि
शीघ्रम् ।

न केवलं भाति नितान्तकान्ति नितम्बिनी सेव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥

विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥ ५ ॥

तयोरुपमानोपमेययोः, परिहृत्तिः अर्थात् वाक्यद्वये, इत-
रोपमानव्यवच्छेदधरा उपमेयेनोपमा इति उपमेयोपमा ।

उदाहरणम्,

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा, विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति वत यस्य ।

सम्भावनमयोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

समेन उपमानेन । उदाहरणम्,

न केवलमिति । नितान्तकान्ति नितम्बिनी न केवलं मेव नितम्बिनीव भाति
अपि तु ते अनुभूतास्तद्विलासा अपि तद्विलासा इवेत्यर्थः । विलासाः कीदृशाः विला-
सायुधस्य कामस्य लासानां लोलानां वासा आश्रया अपि त्वित्यर्थं यावदिति । रूपके
भेदेऽभेदारीप इवावाभेदे भेदारीपस्यत इवार्थं उपपद्यते । उपमेयोपमानुदाह-
माह ।

विपर्यास इति । परिहृत्तिरिति पूर्ववाक्योपाक्षीपमानत्वोपमेयत्वयोः परवाक्ये
वैपरीत्यमित्यर्थः । वाक्यान्तरं विभा तदसम्भवादाह अर्थादिति ।

कमलेवेति विभातीति सर्ववान्वयः । स एव च सर्वत्र साधारणी धर्मः । उत्-
प्रेक्षालङ्कारमाह सम्भावनमिति । तथाहाद्ये उत्कटकीटिकः संज्ञकः सम्भावनं
प्रकृतस्योपमेयस्य समानोपमानेन प्रकृतञ्चात्र विविधं प्रकृतस्य कारणं कार्यं, प्रकृत-
मेव च एवञ्च प्रकृतकारणसमेन प्रकृतकारणस्य प्रकृतकार्ये समेन तु प्रकृतकार्यस्य
प्रकृतसमेन प्रकृतस्य च सम्भावनमित्यर्थः । तत्र प्रकृतकारणसमेन प्रकृतकारणस्य
सम्भावनमाह उक्तं परमिति । जातिवेरी प्रकृतजातीयस्यैव वैरीत्यर्थः । स्वभावे त्वरीति-
वार्थः । तस्येन्दोः सौन्दर्यदोषोऽनया नायिकया वक्रकान्त्या प्रसभं वलात् प्रकृति-
नोत् इति उदाहृतेति मन्वे इत्यर्थः । अत्र पादयोः पद्मलक्ष्म्या पतनं प्रकृतं तत्कारणञ्च
वादयोः पद्मलक्ष्म्योभाजनकः पुष्पादिभेदः तत्समेन दर्पेण मन्वे सम्भावनं पद्मलक्ष्म्याः

उभोर्षं यो मम न सहते जातिवैरी निशायाम्-
इन्दोरिन्द्रीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।

नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्थेति हर्षात्
लग्नां मन्ये ललिततनु ! ते पादयोः पद्मलक्ष्मीम् ॥

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, वर्षतौवाञ्जनं नभः । इत्यादौ व्याप-
नादिलेपनादिरूपतया सम्भावितम् ।

स सन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥ ६ ॥

भेदोक्तौ यथा,

अयं मार्त्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः समभिरितः,
ज्ञानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
ज्ञान्तः किं ? साक्षात्प्रहृषवह्नोऽसाविति चिरम्
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥

पादपतनकारित्वेन समता । प्रकृतसमेन प्रकृतसम्भावनाह लिम्पतीदिति अत्र
तमसोऽङ्गव्यापनं प्रकृतं तत्समेन लेपेन सम्भावितम् आच्छादकत्वं लेपव्यापनयोः
साध्यं द्वितीये न तमसोऽधःसम्बन्धः प्रकृतस्तत्समेनाञ्जनवर्षणेन सम्भावितः भूतलस्य
नीलत्वदर्शकत्वं हयोः साध्यम् । कार्योत्प्रेक्षायां निर्वृत्तजनुभिर्मेघैः सवितुः
सख्यौभयोः । बहिर्णवी दिग्भागाः प्रतापमेव रोचिता ॥ इत्युदाहरणम् ।

अत्र हि भेदोक्तिर्दिग्भागीचनस्य कार्यं जगदीश्वर्यं तत्समेन प्रतापेन सम्भावितं
रोचनजन्यत्वेन धर्मैश्च सम्यक्ता । सम्बन्धेऽसंशयलङ्कारावाह स सन्देह इति भेदोक्ताः
विति संशयानन्तरं तद्वाक्यैकधर्मोक्तावित्यर्थः ।

अयमिति । त्वामाजौ समालोक्य प्रतिभटाः शत्रुवीराभिरमिति विकल्पान्
विदधति विकल्पानाह अय इमिति स खल्विति । व्यावर्त्तकधर्मः इती गतः युक्तौ वा
ज्ञानुचिति सर्वा इत्यादिसङ्गावर्त्तकी धर्मः एष ज्ञानुः ? सर्वा दिशोः न प्रसरति
बाहुभिर्मण्डदिङ्मात्रप्रसारित्वान् अयन्तु सर्वदिक्प्रसारी न सं इत्यर्थः । ज्ञान्तः
किमिति अत्र महिषवाहनत्वं व्यावर्त्तकम् । अत्र व्यावर्त्तकधर्मोक्ताः संशयितुः

भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो, यावद्विश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः । यथा,

इन्दुः किं ? क कलङ्कः ? सरसिजमेतत् किमम्बु, कुत्र गतम् ? ।
ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि ! निश्चितं परतः ॥

किन्तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्घटेन । तदनुक्तौ यथा,

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ?

शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो ? मामी नु पुष्पाकरः ? ।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्ननोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ? ॥

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।

अतिसाम्यात् अनपङ्गुतभेदयोः अभेदः ।

निश्चयो व्यक्तः स चावाच्यत्वादस्पष्टत्वेन गतीभूतस्तथा च तद्गर्भोऽयमिव वाच्यः निश्चयान्तोऽप्ययमलङ्कारः स्वीकृत इत्याह भेदोक्तावित्येति निश्चयान्तो वाच्यनिश्चयान्त इत्यर्थः ।

इन्दुः किमिति । अत्र निश्चितमित्यनेनोक्तौ निश्चय इति शेषः । तर्हि प्रामाणिकेन भट्टोद्घटेन कथमुपेक्षित इत्यत्राह ।

किन्त्विति । न प्रतीयमानो न व्यक्तः तथा तत्रैव वैचित्र्यानुभव इति तेषां भावः । भेदकधर्मानुक्तौ तु संशयालङ्कारमाह तदनुक्ताविति ।

अस्या इति । तु भीः अस्याः सृजनविधौ लङ् तर्कयामि किं चन्द्रः प्रजापतिः अष्टा अभूत् यतः कान्तिप्रदः कान्तिमस्वादेव तत्पदत्वं सम्भाव्येदमुक्तं शृङ्गारैकरस इति मदनपुष्पाकरमासयो ह्यीरुपि विशेषणं मदनयैतमासी वा किं अष्टेत्यर्थः । ननु विधिदेव कथं नास्याः स्रष्टेत्यत्राह वेदेति मुनिर्मननशीलो यतः पुराणो जीर्णो न तु स भास इत्यर्थः । अत्र विधे निर्मातृत्वव्यावृत्तिरपि संशयवैधेयतो व्यावृत्तकधर्मस्यानिश्चयान् संशयानुवृत्तिरित्यतो न स सन्देहः । रूपकालङ्कारमाह ।

तद्रूपकमिति । उपमानाभिन्नत्वेनोपमेयस्याहार्थनिश्चय इत्यर्थः । तत्र रूपक-

समस्तवस्तुविषयम्, श्रौता भारोपिता यदा ॥७॥

भारोपविषया इव भारोप्यमाणा यदा शब्दोपात्ताः तदा
समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्तवस्तुविषयम् । भारो-
पिता इति बहुवचनमविवक्षितम् । यथा,

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यस्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।

ह्रीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले

न्यस्तं सिद्धान्ननपरिमलं लाञ्छनस्य च्छूलेन ॥

अत्र पादद्वये अन्तर्धानव्यसनरसिकत्वमारोपितधर्म एवेति
रूपकपरिग्रहे साधकमस्तीति तत्सङ्कराशङ्का न कार्या ॥

रूपकभयनिर्देशे सति समस्तवस्तुविषयनाम भवेदित्याह समस्तेति श्रौताः शब्दो-
पात्ताः ।

भारोपिता इत्यभारोप्यमाणादिति च तैत्तिरीयवन्तावारोप्यमाणाभारोपविषयी
हावपि तैत्तिरीयै बह्वचनन्तु अविवक्षितमित्याह भारोपविषया इवेत्यादि । ज्योत्-
स्ना इति इयं रात्रिरेव कापालिकी कपान्नत्रतधारिणी योनिनो अन्तर्धानव्यसनरसिका
सतो ह्रीपात् द्वीपं भ्रमति अन्तर्धानमदृश्यत्वं तदर्थे व्यसनं व्यापारः तस्यानयीमाह
दधतीति चन्द्रात्मके मुद्राकपाले भिक्षापात्रे लाञ्छनस्य च्छूलेन व्यस्तं सिद्धान्नस्य परि-
मलं चोदं दधती सिद्धान्नमदृश्यत्कारकमन्नं तस्याः कापालिकत्वोपयुक्तनिर्गम्य-
इयमाह ।

ज्योत्स्नेति विभ्रतीति च ज्योत्स्नात्मकभस्मच्छुरणेन धवला तारकास्थीनि
दधतीति च कापालिक्या भस्मास्थिधारणात् ननु रात्रिः कापालिकी वा ज्योत्स्ना
भस्मेव तारका अस्थीनोव चन्द्री मुद्रा कपालमिवेति च पुरुषव्याघ्रादिस्वभासेनापमा-
लङ्कार एवायं न रूपकमित्यवाह ।

अत्रेति । भारोपितायाः कापालिक्या एवान्तर्धानव्यसनरसिकत्वं धर्मो
नत्वचेतनयोः कापालिक्युपमितयो रात्रेरिति द्वितीयपादे रूपकसिद्धौ तदज्ञात्
प्रथमद्वितीयपादयोरपि रूपकसिद्धिरित्यर्थः । रूपितायाः कापालिक्यां भस्मच्छु-
-

श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्त्ति तत् ।

केचिदारोप्यमाणा शब्दोपात्ताः, केचिदर्थसामर्थ्यादवसेयाः
इत्येकदेशविवर्त्तनात् एकदेशविवर्त्ति । यथा,

जस्य रणंतउरण करे कुणंतस्य मण्डलग्गलस्यं ।

रससंमुह्वी वि सहसा परंमुह्वी होइ रिउसेणा ॥

अत रणस्यान्तःपुरत्वमारोप्यमाणं शब्दोपात्तं, मण्डलाग्र-
लताया नायिकात्वं, रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वम् अर्थे-
सामर्थ्यात् अवसीयते इत्येकदेशे विशेषेण वर्त्तनात् एकदेश-
विवर्त्ति ।

साङ्गमेतत्,

उक्तद्विभेदं सात्रयवम् ॥

ज्योत्स्नाया अस्थितुल्यतारकाणां कपालस्य मुद्रातुल्य चन्द्रस्य च वाधात् । एकदेश
विवर्त्तिरूपकमाह ।

श्रौता इति । अङ्गाङ्गिभावापन्नेष्वनेकेषु रूपकेषु अन्विष्टरूपमाणाः शब्दोपात्ताः
केचिद्व्यजाणा अर्थवत्तलभ्या इत्यर्थः । अत्र चाङ्गाङ्गिभावापन्नानेकरूपकाभिप्रायैश्च
केचिदिति । वृत्तो बहुवचनं यदि त्वेकमेव रूपकं तत्रापि तुल्यन्यायान् रूप्यमाणा
शब्दे इवं बोध्यं यथा गुणसिन्धु रित्यत्र रूप्यमाणं गुणस्य जलत्वमाप्यम् । अस्मिन्ति

यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वती मण्डलाग्रलतायां ।

रससंमुह्वस्यपि सहसा पराङ्मुह्वी भवति रिपुसेना ॥

यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वती मण्डलाग्रलताया नायिकाया अन्तःपुरे करणद्वारा-
द्विपुसेनायाः परनायिकायाः अङ्गाररससंमुह्वस्य अपि लज्जया पराङ्मुह्वत्वम् ।
एकदेशे अङ्गाङ्गिरूपिकायाः अङ्गरूप्यरूपकयोश्चैकदेशो बोध्यः । तत्र यस्मिन्-
चित्स्यैकदेशोऽपि बोध्यः । विवर्त्तनं शाब्दत्वम् उक्तं द्विभेदमिति समस्तवक्तृविषय-
नेकदेशविवर्त्ति च इत्युक्तं द्विभेदमुक्तीदाहरणद्वये साङ्गमवयवविशिश्टमित्यर्थः । अत्र-
यवो धर्मः श्लोकद्वये रूपितकापालिकान्तःपुरयो भङ्गादिनायिकाप्रतिनायिका-
रूपकद्वयमेवत्वान् उदाहरणान्तरे त्वनयो निरङ्गत्वपि सम्भवतीत्याह ।

निरङ्गन्तु शुद्धम्,

यथा,

कुरङ्गौवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वानिषु यत्.
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्रयति यत् ।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति, तदहो वेद्यभिनवाम्
प्रवृत्तोऽस्याः सेतुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ॥

माला तु पूर्ववत् ॥ ८ ॥

मालोपमायामिवैकस्मिन् बहव आरोपिताः । यथा,
सौन्दर्यस्य तरङ्गिणो, तरुणिमोक्षषस्य हर्षोद्गमः,
कान्तेः कार्मणकर्म, नर्मरहसामुल्लासनावासभूः ।
विद्या वक्रगिरां, विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया,
वाणाः पञ्चशिलीमुखस्य, ललनाचूडामणिः सा प्रिया ॥

निरङ्गन्विति । निरङ्गन्वितं इयं शुद्धमित्यर्थः । नत्वेतद्व्यभिन्नं तृतीयरूपं
शुद्धमित्यर्थः । तस्य शुद्धं समस्तवस्तुविषयमुदाहरति ।

कुरङ्गीति । अहो विस्मये तत्तस्मात् अहं वेद्मि जानामि अस्या हृदि नायक-
विषयप्रसङ्गपां लतिकां सेतुं मनसिजः प्रवृत्तः यद्व्यख्यादियं गीतध्वनिषु अर्थान्नायक-
विषयेषु अङ्गानि स्तिमितयति निश्चलयति कान्तस्वीदन्तं वाक्तां श्रुतमपि पुनर्यत्
प्रश्रयति अनिद्रमिति निद्रां विनापि भावनयाऽन्तर्निद्रातीत्यर्थः । यथा अन्तः
गृह्याभ्यन्तरेऽनिद्रं निद्रारहितं स्वपिति श्रेते इत्यर्थः विरहात् । अथ रूप्यरूपके
श्रौते इति समस्तवस्तुविषयं न तु साङ्गं तदङ्गपञ्चवादिरूपलाभात् शुद्धमेव एकदेश-
विवर्त्तितं शुद्धस्य गुणसिन्धुरित्यादिकमेवोदाहरणम् । मालारूपकमाह ।

माला त्विति । पूर्ववदिति विसोपे च समास इत्यत्र अकारसमुच्चितमाली-
पमावदित्यर्थः ।

सौन्दर्यस्येति । हर्षोद्गम उद्गती हर्षः क्लिष्टतभावत्वात् कामंशकर्म मूलका
कान्तिजनकत्वान् नर्मरहसां रहस्यनर्मसां राजदनादिसमासात् पूर्वनिपातः । वक्र-
गिरां जनिका विद्या प्रावीण्यं प्रकर्षः तस्य साक्षात्क्रिया यस्यां तादृशी अर्थाः ।

नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।

तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥६॥

यथा,

विद्वन्मानसहंस ! वैरिकमलासङ्कोचदौमद्युते !

दुर्गामार्गणनीललोहित ! समित्स्वीकारवैश्वानर ! ।

सत्यप्रौतिविधानदक्ष ! विजयप्राग्भावभोम ! प्रभो !

साम्राज्यं वरवीर ! वत्सरशतं वैरिश्चमुञ्चेः क्रियाः ॥[श्लि०प०मा०]

अत्र मानसमेव मानसम्, कमलायाः सङ्कोच एव कमला-
नामसङ्कोचः, दुर्गाणां मार्गणमेव दुर्गायां मार्गणं, समितां
स्वीकार एव समिधां स्वीकारः, सत्ये प्रौतिरेव सत्यामप्रौतिः,
विजयः परपराभय एव विजयः अर्जुनः एधमारोपणनिमित्तो
हंसादेरारोपः ।

रूपकं नास्ति अत्र च सौन्दर्यस्यैत्यत्र जलस्थार्थत्वादेकदेशविवर्तितं शुद्धं सर्वमन्यत्
समस्तवस्तुविषयं शुद्धं मालास्वरूपम् । परम्परितरूपकमाह ।

नियतेति । नियतं प्रकृतं प्रकृतरूपकनिर्वाहकं यदप्रकृतरूपकं श्लिष्टे रूप्यरूपकी-
भयवाचके पृथग्भयवाचके वा शब्दे दृश्यते तद्विधिविधं परम्परितरूपमित्यर्थः । तत्र
श्लिष्टशब्दे उदाहरति ।

विद्वन्मानसेति । प्रभो इत्यन्तं सर्वं सम्बोधनम् एव वरवीरिति च हे तादृश !
उच्चैः साम्राज्यं वैरिश्च विरिश्च ब्रह्मणो वत्सरशतं क्रियाः कुर्या इत्यर्थः । क्रिया
इत्याशिवि रूपं सम्बोधनगणार्थस्तु उच्यतेव स्पष्टः । तत्र दौमद्युतिः मूर्खः तत्र ताप्य-
वशात् समासावङ्कुर्योरपि विद्वद्वैरिपदार्थयोस्त्यागेनैव मानससरसः कमलाना-
मसङ्कोचस्य च श्लिष्टपदादुपस्थितौ तद्रूपं दुर्गाणामामार्गणमिति दुर्गे विनैव योद्धु-
त्वात् सत्यामप्रौतिरिति तन्पिता दक्षे च यज्ञे मङ्गलस्य निन्दितत्वात् विजयोऽर्जुन
इति विजयापरनामकत्वात्तस्य तथाच परपराभवस्य प्राग्भावः पूर्ववर्तिता कार-
णता सेवार्जुनात् पूर्वजन्म तत्र भीमसेनसत्त्वार्जुनञ्चोपत्वात् । एवमादीति एव-
माचारोपणं निमित्तमुपायो यस्य प्रकृतं हंसादेरारोपसाहचर्य इत्यर्थः । मनसि हंसस्य

यद्यपि शब्दार्थालङ्कारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च, तथापि प्रसिद्धानुरोधोक्तः, एकदेशविवर्ति होदमन्वीरभिधीयते ।

भेदभाजि यथा,

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतु विपहारिधेः

पूर्वाद्भिः करवालचण्डमहसो, स्त्रीश्लोपधानं त्रियः ।

सङ्गामामृतसागरप्रमथनक्रीडात्रिधौ मन्दरो,

राजन् ! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥ [अश्ली० प० मा०]

अत्र जयादे भिन्नशब्दवाच्यस्य कुञ्जरत्वाद्यारोपे भुजस्य आलानत्वाद्यारोपो युज्यते ।

“अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगन्मय ! ।

स्तूयते देव ! सहंशसुक्ताख्यं न कै भवान् ॥ [श्लि० प० के०]

कमलायाः सङ्कोचे सूर्यस्य दुर्गाणाममार्गणे गौलीलोहितस्य समितां युद्धानां स्त्रीकारे वैशानरस्य सख्ये प्रीतिविधाने दक्षप्रजापतेः समितां स्त्रीकारे वैशानरस्य परपराभवे भीमसेनस्य च भ बाधस्तथापि तत तत्र तेषामुत्कटप्रसिद्धिबाधात् तात्पर्यविषयप्रसिद्ध-
तहाधी बोध्यः । अत्रोक्त इति अर्थालङ्कारमध्ये उक्त इत्यर्थः । प्रसिद्धिं दर्शयति एकदेशेति । एकदेशः प्रकृतहंसादीरुच्यमायस्तादृशार्थांश्च विवर्तिपर्याप्ततात्पर्यक-
मित्यर्थः ।

आलानमिति । हे राजन् । हे वीर ! वैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजो राजति भुजे इत्यानाह आलानमिति आलानं बन्धनक्षत्रः विपहारिधेस्तारकी इशदां सेतुः चण्डमहसः सूर्यस्य उपधानं शिरःस्थापनतूलराशिः अत्रात्रि गृह्यरूपकमेव न पर-
न्परितं भिन्नशब्दवाच्येति इत्येवंप्रकाशकशब्दभेदात् युज्यते इति जयादी कुञ्ज-
राद्यारोपं विना जयादीरालानसम्बन्धागुपपत्तेरित्यर्थः । श्लिष्टाश्लिष्टवाचकहवे मात्वा-
परम्परितइयमाह ।

अलौकिकेति । निरदधीति च प्रकृतैकरूपकोपायरूपकान्मानैकत्वे मात्वा-
परम्परितरूपकं विदग्धानसेत्यादावालानमित्यादौ च प्रकृतरूपकान्मानैकत्वं
तत्तद्रूपकोपायरूपकान्मानैकैकत्वमेव उपायता च साचात्परम्पराभ्यां विवर्चिता तत्र
साचादुपायानैकत्वे श्लिष्टे उदाहरति अलौकिकेति । सहंशः सत्कुञ्जमेव सहेषः

भिरवधि च निराश्रयश्च यस्व

स्थितमनिवर्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।

प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्त्ति-

र्जयति चतुर्दशलोकवस्त्रिकन्दः ॥ [अश्लि०प०के०]

इति च अमालारूपक्रमपि परम्परितं द्रष्टव्यम् ॥

किसलयकरै र्ततानां, करकमलैः कामिनां मनो जयति ।

बलिनोनां कमलमुखैः, मुखेन्दुभि र्घोषितां मदनः ॥

इत्यादिरशनारूपकं न वैचित्र्यवदिति न सञ्चितम् ॥

इं देव । तत्र मुक्तारबं भवान् कै नं सूयते अत्र प्रकृतमुक्तारवरुकरसाधकमेकं कुम्भे
वंगुण्यकं एवम् अलौकिक इत्यपि शम्भोधनान्तरं अलौकिकोऽन्यलौकसाधारण्यो यो
महालोको ब्रह्मादृष्टिपातः स एवलौकिकमहाज्योतिस्तेन प्रकाशितजगत्त्रयः अत्र
जगत्पदं मुक्तामण्डितजगत्परं मुक्ताज्योतिषा तस्यैव प्रकाशनात् जगत्त्रय इति स
विसर्गेपाठस्तु प्रामादिक एव । मुक्तारबे लिङ्गभेदात्तदनन्वये परम्परितमालात्वानुपपत्तेः ।
अत्र कुले मुक्तारबत्राभाद्राञ्च तद्रूपं बाधितमित्यतः सत्कुले सद्देश्वारोप एकस्तदु-
पायः । दृष्टिपाते ज्योतिषारोपीऽपरस्तदुपायः । ज्योतिर्विना मुक्तारीपस्याचमत्कारित्वात्
वंशालीकपदे श्लिष्टे वाचके । भिन्नवाचके तु साक्षात्परम्पराभ्यामुपाययो र्मांलामाह ।

निरवधीति । भवानिह जगति स प्रसिद्धः कूर्ममूर्त्तिं र्जयति कौदृशः चतुर्दश-
लांका एव उपर्यधोभावेन दीर्घत्वाद्बलि र्तता तस्याः कन्दी मूलं पालनेन यज्ञेन च
उदरवरचषाद्राञ्च आधारत्वेन कूर्ममूर्त्तेश्च मूलत्वात् प्रतिस्तीके एकैककूर्मेश्च तत्तल्लोक-
धरणात् साक्षात्परम्पराभ्यामेककूर्मेश्वैव वा यस्व कूर्ममूर्त्तिरूपस्य भवतः स्थितं
स्थितिर्निरवधिराजत्वपदे स्थितः पितृपितामहादिकमेषावधिश्यन्त्वात् कूर्ममूर्त्तिं
स्थितिस्तु विसारावधिश्यन्त्या तथा अनिवर्तितः कौतुकस्य वृत्त्यगोतयूतप्रहेलिकादेः
प्रपञ्चो यत्र राशः स्थितं तादृशं कूर्ममूर्त्तेस्तु अनिवर्तितकौतुकः प्रपञ्चो वपुर्विसारी
यत्र तादृशम् अत्र कौतुकं विषयः । निराश्रयं परोपष्टम्बरहितं राशः स्थितं कूर्ममूर्त्ते-
स्वाधाररहितम् । अत्र राशि कूर्ममूर्त्ते रूपं प्रकृतं तत्र लोकाश्रयत्वे नैवीपपद्यते
इत्यतस्तदृष्टयितुं मूलार्थकस्य कन्दस्य रूपं साक्षात्तदुपायः लीकानाञ्च कन्दाभावात्
तेषु ब्रह्मारीपञ्चमपरः परम्परया तदुपाय इति साक्षात्परम्पराभ्यामनेकीपायरूपक-

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपङ्कतिः ।

उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत् स्थाप्यते, सा त्वपङ्कतिः । उदाहरणम्,

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये !

कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।

अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे

रतिश्रान्ता श्रेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥ [वा०अप०]

इत्थं वा,

वत सखि ! कियदेतत्पश्य वैरं स्मरस्य,

प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथाहि ।

उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन

प्रतिविशिखमनेनोद्विङ्कितं कालकूटन् ॥ [प्र०अप०]

माला कूममूर्त्यांरीपे कन्दारीपस्तत्र च वल्लारोप उपाय इति परम्परामालारूपक-
मिति ज्यायाम् पाठः । मालारूपकमपीति क्वचित्पाठे परम्परितमपि मालारूपक-
मित्येवमपिकारयोजना । रश्नारूपकानुक्तिवीजं वक्तुं तद्दर्शयति किञ्चलयेति
एतैरेतैः कामिनां मानो जयति कैः कैरित्यत्राह किञ्चलयेति एषामुद्दीपकत्वाद्देते-
र्जयः करकमलैरित्यत्रापि योषितामित्यस्यान्वयः । अत्र किञ्चलयेषु कराः करेषु
कमलानि तेषु मुखानि तेषु इन्दुवो रसनारीत्या रूपिताः । अपङ्गुल्यलङ्कारमाह ।

प्रकृतमिति । स्थाप्यत इत्यत्र तत्स्थाने इति बोध्यम् । एवञ्च निषेधपूर्वकत्व-
मेव रूपकादस्य भेदः ।

अवाप्त इति । पूर्वचन्द्रे कलङ्कं दृष्ट्वा पार्वतीं प्रति महेशस्वीक्तिरियम् । 'हे शैल-
तनये ! परिणतरुचः पूर्वद्योतस्य, शशाङ्कस्य वपुषि प्रागल्भ्यमवाप्नो, दृश्यमानोऽयं
पदार्थो नैव कलङ्को विलसति तत्कीडयमित्यत्राह । अमुष्येति अहं मन्ये अमुष्य
चन्द्रस्य रजनिरूपा रमणीयममुष्योरसि रतिश्रान्ता सती माढं श्रेते तदुरःशयने
हेतुमाह विगलदिति शिशिरे शीतले । निषेधस्यान्यथाप्रत्यायनेऽप्याह ।

इत्थं वेति वत सखीति । वत खेदे पश्य प्रियविरहकृशेऽस्मिन् कामिनीके

अत्र हि न सभृङ्गाणि सहकाराणि, अपितु सकालकूटाः
शरा इति प्रतीतिः एवं वा,

अमुष्मिन्नावस्थान्तरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वभ्रुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।

यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिबपुः ॥ [प्र०अप०]

अत्र न रोमावलिः, धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः । एवमियं
भङ्गान्तरैरप्युच्यते ॥

श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यवानेकार्थता भवेत् ॥ १०

एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः. स श्लेषः
उदाहरणम् ।

अस्मिन् कियद्दरं विलक्ष्यमेव वैरमित्यर्थः । यत् उपवनसहकारपुष्पेषु उद्भासितां
भङ्गाणां क्लेशेन तत् पुष्परूपं विशिखं प्रति अनेन अरेण कालकूटमुद्भितं दत्तम् ।
अत्र श्लेषपदात् भङ्गनिषेधप्रतीतिरित्याह ।

अचेति । अन्यथापि निषेधप्रतीतावाह ।

एवं वेति अमुष्मिन्निति । मृगदृशोऽमुष्मिन् लावण्यरूपा मृतस्य सरसि पृथु-
जघनभागे शर्वेण महेशेन भ्रुष्टो दग्धः ज्वलदवस्थ एव निपतितः यस्य अङ्गाङ्गाराणां
प्रशमस्य पिशुना मूचिका इयं धूमस्य शिखा नाभिरूपे कुहरे नरे रोमावलिरूपं वपुः
परिणमति क्लीन ज्वलदङ्गाराणां निर्वाणे धूमोद्गमात् जघने निर्वाणे च नाभि-
च्छिद्रेण तद्दुःखमिति । एवमिति ।

यदस्यं यामासु बलीकृतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममस्त्रिम ।

तदेव मत्वा म्रितितं सुधान्धुषी दधाति पद्मीभवदङ्गतां विधी ॥

इत्यत्र एवकारादङ्गनिषेधप्रतीतिः । अर्थश्लेषाङ्गारमाह ।

श्लेषः स इति । एकस्मिन्नर्थे वाक्ये सति लक्षणावशादन्यान्वितार्थान्तरेण यवाने-
कार्थता भवेदित्यर्थः । एकस्मिन् विशिष्ये वाच्यार्थोऽन्वयिन् विशिष्ये तु लक्ष्यार्थो-
ऽन्वेतित्यर्थः । यद्यपि स्त्रीकीनीमतिभायातीत्येवास्तीदाहरणमुक्तं तथापि लीलाभ्या

उदयमयते, दिङ्मालिन्धं निराकुरुतेतराम्,
 नयति निधनं निद्रामुद्रां, प्रवर्त्तयति क्रियाः ।
 रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्त्तनकर्त्तनम्
 वत वत लसत्तेजःपुञ्जो विभाति विभाकरः ॥
 अत्राभिधाया अनियन्त्रणात् हावप्यकर्मभूषौ काव्यौ ।

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः,

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात् न तु
 विशेष्यस्य सामर्थ्यादापि यत् अप्रकृतस्यार्थस्याभिधानं, सा सम-
 सेन सङ्घे पेरार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः ।

उदाहरणम्,

लहिऊण तुम्ह वाहुपफसं जीए स कोवि उल्लासो
 अअलच्छो तुह विरहे ण ह्ज्जला दुब्बलणं सा ॥

दम्बदप्युदाहरति उदयमयते इति विभाकरनामा राजा दूर्यश्च विभाति उभयविशे-
 षणान्वाह ।

उदयमिति । उदयमुन्नतिमुदयगिरिश्च अयते प्राप्नोति दिश्यानां दिशाश्च
 मालिन्धं दैन्यमन्धकारश्च निद्राः निष्यन्दता निद्रैव च तद्रूपं मुद्रां परिपाटीं तच्चिह्नं
 चक्षुर्मीलनश्च क्रियाः प्रसभव्यवहारात् आलीकसाध्यसमस्तक्रियाश्च स्वैराचारः शास्त्री-
 ङ्गनेन यथेष्टाचारः चौराभिसारिकाक्रियाश्च तेजः श्रेय्यं ज्योतिश्च । अत्र विशेष्य-
 इयेऽन्विता वाच्यलक्ष्यायाः स्वयमवधेयाः । ननु प्रकरणावशादिकार्यबीधेऽन्वार्थे व्यञ्ज-
 नेन न लक्षणा इत्यत उपमाभ्यनिरेवायमित्यताह । अथेति समासोक्त्यलङ्कारमाह ।

परोक्तिरप्रकृतव्यञ्जनं भेदकैर्किंशेषणैः श्लिष्टैर्वाच्यव्यञ्जीभयान्कितैः नलनेकार्थै-
 रेव एवञ्जीपमाध्वनावतिप्रसक्तावाह न तु विशेष्यस्येति । उल्लासोन्वादी तु विशेष्यं
 देवपदमप्युभयार्थकम् अभिधानमत व्यञ्जनं संश्राव्युत्पत्तिमाह समासेनेति । लहि-
 ऊणपेति ।

लक्ष्मा तव वाहुपफसं यस्याः स कोऽप्युल्लासः ।

जयलक्ष्मीशव विरहेऽन खलुज्जला दुर्बलानां सा इति ॥ संकृतम् ।

अत्र जयलक्ष्मीशब्दस्य केवलं कान्ताञ्चकत्वं नास्ति ।
निदर्शना ।

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥ ११ ॥

निदर्शनं दृष्टान्तकरणम् । उदाहरणम्,

ऋ सूर्यप्रभवो वंशः, ऋ चाल्पविषया मतिः ।

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ [वा०नि०]

अत्र उडुपेन सागरतरणमित्यस्य सूर्यवंशवर्णनमि-

त्युपमायां पर्यवस्यति : यथा वा,

उदयति विततीर्ध्वरश्मिरञ्जौ

अहिमरुचौ, हिमधान्नि याति चास्तम् ।

वहति गिरिरयं विलास्विघण्टा-

द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलौलाम् ॥ [प०नि०]

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्धो वहतीति तत्सदृशीमित्युप-
मायां पर्यवसानम् ।

देवाद्भवेन्नजितं नृपतिं प्रति कस्वञ्चिदुक्तिरियम् । अत्र निकटदृष्टगतया उत्तम
नायकविरहिण्या नायिकायाः प्रतीति वाङ्मयशलाभाद्युभयान्वितविशेषसामर्थ्यात् ।
अतीपमां निरस्यति अचेति । निदर्शनालङ्कारमाह अभवन्निति बाधितोऽन्वय इत्यर्थः ।
उपमापरिकल्पनञ्च क्वचिल्लक्षणया क्वचिदाश्रयति बोध्यम् ।

निदर्शनमिति । तथाच अश्वर्थेऽक्षप्रत्ययान्निदर्शनपदमिति वाच्यम् । तदंश
दृष्टत्वादेव तन्निदानस्य रघुवंशवर्णनसागरतरणयोरुपमानोपमेयभावकल्पनस्यैव
प्रकृतोदाहरणत्वात् । रूपकासङ्कीर्णमप्युदाहरति । यथा वा

उदयतीति । गातःकाले रैवतकगिरिवर्णनमिदम् । अहिमरुचौ सूर्यं उद-
यति हिमधान्नि चन्द्रेऽस्मात् याति सतीत्यन्वयः । विततेत्युभयविशेषणं गिरिः रैवतकः
परिवारितो वेष्टतः अत्र लीलामन्धोऽभिज्ञानेदात् तत्सदृशश्रीलालक्षण्यर्थः । मान्दः
निदर्शनामपि रूपकासङ्कीर्णमाह ।

दीर्घ्यां तितोर्षति तरङ्गवतीभुजङ्गम्,
आदातुमिच्छति करे हरिणाङ्गवम्बम् ।
मेरुं लिलङ्गयिषति ध्रुवमेष देव !

यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममातनोति ॥

इत्यादौ मालारूपाप्येषा द्रष्टव्या ॥

स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा ।

क्रिययैव स्वस्वरूपस्वकारणयोः सम्बन्धो यदवगम्यते, सा
अपरा निदर्शना । यथा,

उन्नतं पदमवाप्य यो लघुः, हेलयैव स पतिदिति ब्रुवन् ।

शैलशेखरगतो दृषत्क्षणश्वारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥

अत्र पातक्रियया पतनस्य, लाघवे सति उन्नतपदप्राप्ति-
रूपस्य च सम्बन्धः ख्याप्यते ।

अप्रस्तुतप्रशंसा सा, या सैव प्रस्तुताश्रया ॥ १२ ॥

दीर्घ्यामिति । तरङ्गवत्या नद्या भुजङ्गं कामुकं समुद्रं हि देव ! यस्ते गुणान्
गदितुमुद्यममातनोति स एवमेवं कुरुते इत्यर्थः । तत्करणञ्च बाधितमती दीर्घ्यां
सागरतितोर्षादिरिव गुणगणनाद्यम इत्युपमाकल्पनं व्यञ्जनया । तिङन्ति च न
रूपकमिति तदसङ्करः । अन्यविधां निदर्शनामाह ।

स्वस्विति । स्वकार्यं स्वहेतुस्तत्कारणं तयोः कार्यकारणभावरूपस्यान्वयस्य
कार्यरूपक्रिययैवोक्तिः प्रत्यायनमित्यर्थः ।

उन्नतमिति । यो जनो लघुः स उन्नतं पदमवाप्य हेलयैव अथब्रूनेव पतिदित्यर्थं
ब्रुवन् प्रतिपादयन् शैलशेखरगतो दृषत्क्षणी मारुतधुतः सन् चाधः प्रततीत्यर्थः ।

अवेति । पतनस्य कार्यस्य लाघवे सति उन्नतपदप्राप्तिरूपस्य तत्कारणस्य च
सम्बन्धः कार्यकारणभावरूपः पातक्रियया ख्याप्यत इत्यर्थः । अप्रस्तुतप्रशंसाकथनं
सैव तन्नामिकैव प्रस्तुताश्रया प्रस्तुतव्यञ्जिका आक्षेपः प्रत्यायनम् । अस्यालङ्कारस्य
अन्वयान्वापदेशसंज्ञा । अस्याः पञ्चविधत्वमाह ।

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुत-
प्रशंसा ।

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ १३ ॥

तदन्यस्य कारणादेः । क्रमेणोदाहरणम्,

याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि ! पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृतं
नो कार्या, नितरां कृशामि कथयत्येवं सवासे ययि ।

लज्जामत्यरतारकेण निपतापीताशुणा चक्षुषा

दृष्ट्वा मां, हसितेन भाविमरणीत्साहस्तया सूचितः ॥

अत्र प्रस्थानात् किमिति निवृत्तोऽसीति कार्यं पृष्ट कारण-
मभिहितम् ।

राजन् ! राजसुता न पाठयति मां, देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः-

कुजे ! भोजय मां, कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ? ।

इत्थं नाथ ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्चरात्

चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥

कार्यं इति । कारणादेरिति कार्ये प्रस्तुते कारणस्य कारणं प्रस्तुते कार्यस्य
सामान्ये प्रस्तुते विशेषस्य विशेषे प्रस्तुते सामान्यस्य तुल्यं प्रस्तुते तुल्यान्तरस्याभि-
धानमित्यर्थः । तत्र कार्ये प्रस्तुते कारणाभिधानमाह ।

याता इति । प्रस्थानान्निवृत्तोऽसीति पृच्छन्तं प्रति प्रस्थानती निवृत्तस्याक्ति-
रियम् । सवासे मयि एवं कथयति सति निपतदेव पीतं संवतमथ, येन तादृजेन
चक्षुषा मां दृष्ट्वा तथा मप्रियया हसितेनैव भाविमरणीत्साहो मरणहेतुश्रवणकारण-
चिन्ताकरणाश्रयासात् हसितेन सूचित इत्यर्थः ।

अत्रेति किमितीति । निवृत्तेरेव प्रश्नः न तु तत्कारणस्य तत्कार्यस्य वा
तत्कारणमिति मरणीत्साहसूचनरूपं निवृत्तिकारणमित्यर्थः । कारणं प्रस्तुते
कार्यकथनमाह ।

राजमिति । शुकजयोद्यतं राजानं प्रति शत्रुपलायने प्रतिपाद्यं तन्मन्त्रिष-

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य-
गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् ।

एतत् तस्य सुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्त्यदस्मादपि ।

अङ्गुल्यलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः

कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नार्त्तः शुचा ॥

अत्रास्थाने जड़ानां ममस्वसम्भावना भवतीति सामान्ये
प्रस्तुते विशेषः कथितः ।

सुहृद्बधूवाप्यजलप्रमार्जनम्

करोति खैरप्रतियातनेन यः ।

स्तत्कार्यकथनमिदम् । तत्रारिभबनेऽध्वगैः पञ्चराम्युक्ती राजशुको राजपीषितः
शुकः शून्यवडभी चित्रस्थानतलीक्य एकैकमेवमाभाषत इत्यर्थः । शून्यपुरमध्ये वर्त्म-
प्रवृत्त्याऽध्वगैः शुकमोचनं चित्रस्थकडमालीक्य किं किमाभाषत इत्यत्राह राज-
त्रिति । कुञ्जा भोजननियुक्ता काचित् । कुमारेति तत्काले तस्यापि भोजन-
नियमात् अचेति । कार्यं पलायनस्य शृङ्गाभाषणरूपम् । सामान्ये प्रस्तुते
विशेषाभिधानमाह ।

एतन्नख्येति । जड़सामान्यप्रस्तावे जड़विशेषस्य कृत्यं कस्यचिन्मुखात्
श्रुत्वा कथयन्तं प्रति तदधिकमपि तत्कृत्यं जानतः कस्यचिदुक्तिरियम् । स
जडः कमलिनीपत्रे वारिणः कणं यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त एतत् कथयतस्तस्य
सुखादेतत्कियत् श्रुतमिति शेषः । अस्मादन्यदपि तत्कृत्यं शृणु स जडः तस्मिन्
वारिणः कणे धरणाथं प्रयुक्तयाऽङ्गुल्यलघुक्रियया आदीयमाने सर्वत्र प्रविल-
यिनि सति स मुक्तामणि मंम स्यात्तादुड्डीय कुत्र इत्यार्त्तः शृङ्गा निशि निद्रां
नाप्रीतीत्यर्थः ।

अत्रेति । जड़सामान्यत्वैवास्थाने मङ्गलसम्भावना भवतीत्येवं जड़सामान्य-
प्रस्तावः विशेषस्तादृशजड़विशेषः । विशेषे प्रस्तुते सामान्याभिधानमाह ।

सुहृदिति । श्रीकृष्णं इत्युं कालयवनमुद्देजयतस्तन्मनिषः उक्तिरियम् ।

स एव पूज्यः, स पुमान्, स नीतिमान्,
सुजीवनं तस्य, स भाजनं त्रियः ॥

अत्र कृष्णं निहत्य नरकासुरबधूनां यदि दुःखं प्रथमयसि
तत् त्वमेव श्लाघ्य इति विशेषे प्रकृते सामान्यमभिहितम् ।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः श्लेषः, समा-
सीक्तिः, सादृश्यमात्रं वा तुल्यात् तुल्यस्य द्वाद्येपे हेतुः ।

क्रमेणोदाहरणम्,

पुंस्त्वादपि प्रविचलेत् यदि यद्यधोऽपि

यायात्, यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।

अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयम्

केनापि दिक् प्रकृतिता पुरुषोत्तमेन ॥ [श्लो ० हे ०]

श्रीकार्यः स्पष्ट एव प्रतियस्तनं नियतनम् । अत्र श्रीकृष्णहृदने वैरनिर्वातनः
धन्यतया प्रस्तुते धन्यविशेषे कालयवने यत्तद्ग्रां सामान्यमुक्तमित्याह ।

अत्रेति श्लेष इति । अप्रकृतवाचकशब्दश्लेष इत्यर्थः । समासीक्तिरिति समा-
सीक्तिच्छायेत्यर्थः अप्रकृतकथनेनैवात्र प्रकृतप्रत्यायनादेतद्वैपरीत्यघटितायाः समा-
सीक्तेरसम्भवात् कार्यैव तच्छाया च प्रकृतान्वितविशेषणवत्त्वात्सादृश्यमात्रमिति ।
मात्रपदादुभयान्वितविशेषणवत्त्वावच्छेदः श्लेषे तदुदाहरति ।

पुंस्त्वादपीति । सपदापहृतं राज्यमुद्धर्तुं कश्चिन्नृपमुद्देश्यतस्तन्माक्रुच उक्ति-
रियम् । पुंस्त्वात् पुरुषभावात् यदि प्रविचलेत् स्त्री यदि भवेदित्यर्थः । तथाऽपि
पातालमपि यदि यायात् तथा प्रणयने याचने याचननिमित्तं यदि महान्न स्यात्
स्वर्गः स्यात्तदपि विश्वं संसारमुद्धरेदितिदृशीयं दिक् अर्थ प्रकारः केनाप्यनिर्वच-
नीयेन पुरुषोत्तमेन स्वर्गपुरुषश्रेष्ठेन नारायणेन प्रकृतिता दर्शिता असुरापहृतं
विश्वमुद्धर्तुं नारायणेन मीढिनीरूपस्त्रीत्वप्राप्तेः अस्त्रप्रतं विश्वमुद्धर्तुं
वराहसूर्त्या पातालगमनात् बलिदेत्यापहृतं विश्वमुद्धर्तुं पादत्रयभूमियाचन-
निमित्तं वामनसूर्त्या स्वर्गत्वप्राप्तेः । अत्र प्रकृतनारायणकथनात् श्लेषविशेषण-
वशात् प्रकृतराजप्रत्यायनं तथाहि पुंस्त्वात् पौरुषात् यदि प्रविचलेत् यदि अर्धे
कीचत्वमपि यायात् याचननिमित्तं यदि महिमयव्योऽपि स्यात् तदपि स्वर्गं सपदा-

येनास्यभ्युदितेन चन्द्र ! गमितः क्लान्तिं, रवी तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्तुमेव, न पुनस्तस्यैव पादग्रहः ।

क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि, ततः किं लज्जसे नो मनाक् ?

अस्त्वेवं जङ्घामता तु भवतो यद्गोच्छि विस्फूर्जसे ॥ [स-हे०]

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः,

किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।

चारोक्तस्य, वङ्गवादहने हुतस्य

पातालकुच्चिकुहरे विनिवेशितस्य ॥ [सा-हे०]

पङ्क्तं विश्वमध्यक्षरेदित्यं प्रकारः केनाप्यन्येन पुरुषश्रेष्ठेन प्रकटितः तथाच
भवतापि तादृशभावेन स्वराज्यमुद्दिश्यतामिति भावः । न चात्र समासीक्लिच्छाया-
पीति वाच्यम् । विश्लेष्यवाचकपुरुषोक्तमपदस्याप्यत्र श्लिष्टत्वेन तच्छायाया अभावात्
नाप्यपमाश्वमित्वं प्रकृतस्यैवाव व्यङ्गत्वादप्रकृतीपमान एव तत्त्वात् । समासीक्लि-
च्छायामाह ।

येमासीति । हे चन्द्र ! अभ्युदितेन येन रविणा क्लान्तिं गमितोऽसि तत्र
रवी ते. प्रतिकर्तुमेव युज्येत न पुनस्तस्यैव पादानां रश्मीनामेव चरन्तानां ग्रहः
रूपपक्षे चन्द्रस्य सूर्यरश्मिप्रवेशात् यदि क्षीणेन स्वया एतदनुष्ठितं तत् किं मनामपि
नो लज्जसे इदमप्यस्तु श्लिष्टोच्छि विस्फूर्जसे निर्लज्जतया दीप्यसे इदनु तव जङ्-
घामता शीततेजस्कृतैव वाच्यतासम्बन्धेन जङ्घपदाश्रयता । अत्र शत्रुपदसेविनी
निर्लज्जतया देदीप्यमानस्य पुरुषस्याप्रकृतचन्द्रवर्णनात् प्रतीतिः तत्र श्रीभयान्विता-
भ्युदयादिविश्लेषणादिविश्लेष्यचन्द्रपदस्याश्लिष्टत्वाच्च समासीक्लिच्छाया हेतुः पादग्रहोच्छि
तु श्लेष एव । सादृश्यमात्रे त्वाह ।

आदायेति । दुरर्णवेन दुर्गत्तेनार्णवेन अत्र सर्वस्याकृष्टधनस्य असहायिनः पुंसः
प्रतीतिसत्त्वं च वारिग्रहणादिरर्णव एवान्वयान्न समासीक्लिच्छाया हेतुः किन्तु तदाश्रितं
परत आकृष्टीपादेय वस्तुकत्वरूपविश्लेषणवत्त्वमेव । सादृश्यमात्रेण व्यङ्गनञ्च
कचिहाचार्ये व्यङ्ग्यार्थभेदानारीपात् कचिहाचार्ये व्यङ्ग्यार्थभेदारीपात् कचिन्तु
विश्लेषणविशेषाश्रयतदारीपादित्वाह इत्यञ्चेति । नव तदभेदानारीपे यद्यप्यादा-
येत्यादिकमेवीदाहरणं तथापि सौख्यभ्यादन्यदप्युदाहरति ।

इयञ्च काचित् वाच्ये प्रतीयमानार्थानध्यारोपेणैव भवति ।

यथा,

अध्वेरभःस्थगितभुवनाभोगपातालंकुचेः

पोतोपाया इह हि बहवो लङ्घनेऽपि क्षमन्ते ।

आहो ! रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्, तदानीम्

की नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥

काचिदध्यारोपेणैव । यथा,

कस्त्वं भोः ? कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाकोटकम्,

वैराग्यादिव वक्ति ? साधु विदितं, कस्मादितं ? कथ्यते ।

वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,

न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥

क्वचित्तु अंशेष्वध्यारोपेण । यथा,

अध्वेरिति । अध्वसा जलन स्थगितावाच्छादितः भुवनाभोगपातालकुची
येन तादृशस्याध्वे लङ्घनेऽपि इह लोके पोतोपायात् इहन्नोकीपायात् बहवो जनाः
क्षमन्ते आहो पश्चान्तरं अयमेव दैवात् कथमपि रिक्तो जलशून्यो भवेत् तदा नाम
सम्भावनायाम् अस्यावटकुहरस्य गतगुहाया आलीकनेऽपि कः कल्पः समर्थः स्यात्
अत्र सम्पत्कालेऽधिगम्यो विपत्कालेऽधृष्यथ पुरुषः सादृश्यमावादाशः वार्ध्वं समुद्रे
तस्य च लाभादारीपः । वाच्यार्थे व्यङ्ग्यार्थमिदारीपे त्वाह ।

काचिदिति । पथिकशाकोटकयोश्चिन्तिप्रव्युत्थी इमे तत्र ।

कस्त्वं भी इति । पथिकस्य कथायामित्यादि शाकोटकमित्यन्तं शाकोटकस्य
वचोत्थनं पथिकस्य साधु विदितमिति शाकोटकस्य कस्मादिति पथिकस्य इदं
मित्यादि सर्वं शाकोटकस्योक्तिः न च्छायापीति भूतावासत्वात् । अत्र दिक्, रत्नव्या-
र्थिकः पुरुषः सादृश्यव्यशः शाकोटकेऽभेदेनारीप्यते तदारीपं विना शाकोटकस्य
वक्तृत्वाप्रतीतेः न च व्यङ्ग्यप्रत्यायकी वाच्यार्थः । प्रतीतव्यङ्ग्यार्थारोपेणैव च प्रत्या-
यक इत्यन्वीन्यायश्च इति वाच्यम् । आदौ उक्तिप्रत्युक्तिमहिम्ना मनुष्यत्वे प्रतीतस्य
व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यशाकोटके आरोपे दिक्, कत्वादिना रूपेण पश्चाद्गङ्गनेऽन्वीन्यायवा-
भावात् ।

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलम्,
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा ।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे ! यंहारणोऽद्याप्यसौ
अन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः ! क एष ग्रहः ? ॥

अत्र रसनाविपर्यासः शून्यकरत्वञ्च भ्रमरस्यासेवने न
हेतुः, कर्णचापलन्तु हेतुः, मदः प्रत्युत सेवने निमित्तम् ॥
निगौर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं, यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥१३॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।

विज्ञेयातिशयोक्तिः सा,

उपमानेनान्तर्निगौर्यस्य उपमेयस्य यदध्यवसानं सैका ।

यथा,

कमलमनमसि कमले च कुवलये तानि कमलकलिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥

सोऽपूर्व इति । अप्रिशापाहा वनस्य रसनापराहतेः मदेन विस्मृत स्वपरप्रकारा
अस्य दृक् । अत्र कर्णचापलाशमात्रे भ्रमरस्य वारणसेवनानौचित्योक्तिसम्भवा-
त्तदंशे अङ्गापुरुषौ भ्रमरवारणयोर्नारीष्यते अन्यत्रांशे तु भ्रमरस्य वारणसेवनानौ-
चित्योक्त्यनुपपत्तिसदंशे सेवकसेव्यपुरुषौ भ्रमरवारणयोरारोष्यते तत्र रसनाविपर्य-
यांशे दुर्मुखः कर्णचापलांशे कर्णकथास्तपरायाही दृश्यंशेऽविवेचकः शून्यकरत्वांशे
निर्भनः पुरुषो वारणे सेवकपुरुषश्च भ्रमर आरोष्यते । अतुर्विधमतिशयोक्त्यलङ्कार-
माह ।

निगौर्येति । तत्र निगौर्यादिरूपानेकामतिशयोक्तिं व्याचष्टे ।

उपमानेनेति । उपमानं परपदार्थः उपमेयं प्रकृतपदार्थः । तस्योपमानेनान्त-
र्निगौर्यं तदुक्तिमद्विज्ञैव उपमेयस्य लाभे स्वशब्देनानुक्तिः ।

कमलमनमसीति । कुवलये नीलोत्पलद्वयं तानि कमलनीलोत्पलद्वयानि ।

अत्र सुखादि कमलादिरूपतया अध्वसितम् ।
 यच्च तदेवान्यत्वेनाध्वस्रीयते, सा अपरा । यथा,
 अक्षं लउहत्तणं अखब्ब अ काइ वत्तण्णाभा ।
 सामा सामखपभावइणो रेहब्बि अ ण होइ ॥

‘यद्यर्थस्य’ यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्ती यत् कल्पनम्
 अर्थात् असम्भविनीऽर्थस्य, सा तृतीया । यथा,
 राकायामकलङ्कश्चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
 तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥
 कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्ती चतुर्थी ।
 यथा,
 हृदयमधिष्ठितमादौ मालव्याः कुसुमचापवाणेन ।
 चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ॥

अत्रोपमानीभूतकमलादेरुक्ती वा अत्रुक्तरखादेस्तदर्थेन प्रतीतिः साचेत्याद्यंशे तु
 विरीषाखकार एव । प्रकृतेत्यादितृतीयामतिशयोक्तिं व्याचष्टे यश्चेति । अक्षमिति ।
 अन्यज्जावयमन्येव कापि वर्त्तनञ्चाया ।

श्यामा सामान्यप्रजापते रिक्षैवच न भवतीति ॥ संस्कृतम् ।

लउहत्तणं लादख्ये देशी वर्त्ततेऽनेनेति वर्त्तनं इरीरं श्यामा शीतकाले भवे-
 द्दुष्वा शीमे च सुखशीतला । सर्वावयवशीभाष्या सा श्यामा परिकीर्तिता इति
 परिभाषितो नायिकाविशेषः । रेखा शिष्यं अच लावण्यादौ तदन्वत्वेनाध्यासः ।
 तृतीयामतिशयोक्तिमाह ।

यद्यर्थस्येति । राका पीरंमासी तवांमृतांशीसुन्दस्य वपुर्यदि अकलङ्कं भवे-
 दित्यर्थः । साम्यं स्वसमानाकारसत्त्वं स एव पराभवः । कार्यकारणयोरित्यादि
 चतुर्थीमतिशयोक्तिमाह ।

कारणस्येति पूर्वमुक्ती पूर्वोपपत्तौ नीती ननुक्ती पूर्वत्वम् ।

हृदयमित्यादि । अपिमित्रे राजनि इत्या उक्तिरियम् । मालव्या मालवराज-
 पुत्रया लोचनविषयं तस्या लोचनविषयता भजता त्वया चरमं हृदयमधिष्ठितमित्य-
 न्वयः । अत्र राजानं दृष्ट्वा मालवी कामवाचभिः हृदया जाता इत्यती राज्ञा तदीव-

प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ १५ ॥

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

साधारणी धर्म उपमेयवाक्ये, उपमानवाक्ये च कथित-
पदस्य दुष्टतयाऽभिहितत्वात् शब्दभेदेन यत् उपादीयते,
सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा । यथा,

देवोभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा ।

न खलु परिभोगयोग्यं देवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥

यदि दृष्टव्यमनलोऽत्र किमद्भुतम् यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ।

नवणमम्बु सदैव महोदधेः, प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥

इत्यादि मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या । एवमन्वत्त्रापि अनु-
मत्तव्यम् ।

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिदिम्बनम् ॥१६॥

हृदयाधिष्ठानं कारणं कामवाणेन हृदयाधिष्ठानं कार्यं तयोः पौर्वापर्यविपर्यये-
षीत्यत्र त्वे नीक्रा बोधितार्थाप्यह्यर्थज्ञानं जनयति कारणस्य शीघ्रकारित्वं तद्व्यक्तम् ।
अत्र चक्रवर्ती कार्यकारणयोः समकालत्वं नीक्रावपि पौर्वापर्यविपर्ययबाह्यमलङ्कारः
यथा ।

समसमैव समाकालं इदं द्विरदगामिना ।

तेन सिंहासनं पितरा मञ्जुलक्ष महीचिताम् ॥

इत्यत्रेत्याह तत्र । समकालीन्यसकत्वं धृतीति चासिं तनुते च कीर्त्तिसम्बन्धा-
दाविव समुच्चयालङ्कारस्यैव वदन्माश्रयत्वात् । प्रतिवस्तूपमालङ्कारमाह । प्रतिवस्तुति
सामान्यस्य साधारणधर्मस्य शिषा शब्दभेदेन वाक्यार्थस्य उपमानवाक्यार्थस्य ।

देवीभावमिति । देविनीभावं प्राफुरणीं द्रौपदीं शीघ्रतां पाण्डवानामिय-
रुक्तिं देवीं कृताभिधेका परिवारपदं परिचारिकाव्यवसायं परिभोग उपभोगः
रत्नमम्बु तदुपयोगः देवतरूपं देवताप्रतिमा तदङ्कितं मालाद्विरक्तम् । अत्र देवी
उपमेया उक्तवस्तूपमानं तस्मिन् परीपभीनाधीन्यत्वं साधयेत् तत्र कथमित्यादि ।

एतेषां साधारणधर्मादीनां दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स
दृष्टान्तः ।

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वातिं मनो मनोभवञ्चलितम् ।

आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥

एष साधर्म्येण । वेधर्म्येण तु

तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं छपाशान्तिकमानिनोपतः ।

भटाः परेषां विशराहतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांशवः ॥

सकृद्दृष्टिस्तुं धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।

सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दोषकम् ॥१७

अत्रित्यादिशब्दभेदिनीपाठम् । आशास्वामिमानाह दृष्टान्त इति । एतेषां सर्वेषां
साधारणधर्मोपनीयोपमानानां प्रतिबिम्बनं प्रविधानेनैव नम्यत्वम् ।

त्वयि दृष्ट एवेति । निवतिं ज्वालाशब्द भवति तत्र दृष्टान्तमाह ।

आलोके हीति । आलोके दर्शने हिमांशो दृष्टे सतीत्यर्थः । कुमुदतीनाधि-
काशा हिमांशुनायकस्य कुमुदं मनस उपमानं निवासविकासी भावाभावदोषो
नापातती मनःकुमुदयोः साधर्म्यतया भासते तत्रच मनःकुमुदयोनायिकाकुमु-
दत्वात्तद्दृष्टयोनायकहिमांशोरुपनीयोपमानभावी नापातती भासते प्रविधानेन
तु निवासविकासाभ्यां तयोः स्वीतत्वेन चञ्चै सर्वधर्मोपमानभावः प्रतीयत
इति भवति प्रतिबिम्बनम् । प्रतिबलूपमायानु उपभोगयोग्यत्वमविकृद्दमुपात्ताभ्या
शब्दाभ्यामापातत एव प्रतीयत इत्यतो न तत्र प्रविधानमन्यत्वम् । एष साधर्म्येति ।
द्विजितीदाहरणे इतोः स्वीततारूपतया पर्यवसितेन साधर्म्येणायमसंहारः प्रदर्शितः
वेधर्म्येण चायं भवतीत्याह वेधर्म्येण चेति तदुदाहरति ।

तवाहव इति । साहसकर्मणा शर्मं यत्र तादृशत्व तवाहवे युद्धे परेषां शत्रूणां
भटा वीरा विशराहतां द्विजि विचित्रत्वमगुः प्रापुः तत्र दृष्टान्तमाह दधतीति ।
चच स्थिरताविशराहते परस्परवेधर्म्ये सति पांशुनामतिविशराहता प्रविधानेनैव
शब्दा इत्यतः पांशुभटवीरुपमानोपनीयभावप्रतिबिम्बनम् । दोषकालकारमाह ।

सकृदिति । इतिदृष्टान्तं प्रकृताप्रकृतात्मनामुपमानोपनीयानां धर्मक साधा-

प्राकरणीकाप्राकरणिकानाम् अर्थात् उपमानोपमेयानां धर्मः क्रियादिः, एकवारमेव यदुपादीयते, तत् एकस्वस्वेव समस्तवाक्यदीपनात् दीपकम् । यथा,

किञ्चपाणं धनं चाभ्राणं फणमणी केसराद् सीहाणम् ।

कुत्रवालिप्राणं अत्यणा कुतो ष्छिप्यन्ति अमुञ्चाणं ॥

कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिर्दीपकम् । यथा,

खिद्यति कूणति वेल्लति विचलति,

निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।

अन्तर्नन्दति बुम्बितुमिच्छति

नत्रपरिणया बधूः शयने ॥

मालादीपकमाद्यञ्चेद् यथोत्तरगुणावहम् ।

पूर्वेण पूर्वेण वस्तुना उत्तरमुत्तरं चेदुपक्रियते, तत् माला-
दीपकम् । यथा,

रश्मिस्तस्य सकृदुपादानमित्यर्थः । अतोपमाप्रतिपादकेवाद्यनुपादानेऽसमासे च सतीति बोध्यम् । तेन च द्र इवाद्वादनं सुखं चन्द्रमुखोत्पन्नं च नादिव्याप्तिः । किञ्चपाणीति ।

कृपणाणां धनं नागानां फणमणिः केसरशिखाः सिंहाणाम् ।

कुलपालिकानां जनाः कुतः सख्यतोऽस्ततानाम् ॥ इति संस्कृतम् ।

अस्ततानां मरश्ममप्राप्तानाम् । तत्र कृपणधनमुपमेयं नागफणमस्त्रादय उपमानानि अशक्यस्यैवं साधस्यै सकृदुपात्तम् एवं कृपणादोनामप्यस्तत्वम् । सैव क्रियास्त्रिति बह्वीषु क्रियासु कारकस्यैव सकृद्वृत्तिरेवेत्यर्थः तदुदाहरति ।

खिद्यतीति । कूणति संकुचति वेल्लति कल्पते विचलति शय्यास्ती बहिर्भवति निमिषति अक्षुर्भूयति विलोकयतीत्यादिवच्यं किञ्चिदुद्दिश्योवनात् चाद्य बह्वीषु क्रियासु बधूः कर्तृकारकमेकम् । मालादीपकालङ्कारमाह ।

मालेति । आद्यमित्यत्र आद्याद्यमित्यर्थः आद्यं प्रथमीपातं वस्तु यद्युत्तरस्य गुणावहमुत्तरस्य क्रियाजनकमित्यर्थः । उपकारो हि क्रियाजननम् ।

मङ्गामाङ्गणमागतेन भवता चापि समारोपिते,
 देवाकर्णय येन येन सहसा यत् यत् समासादितम् ।
 कोदण्डेन शराः, शरीररिशिरस्तेनापि भूमण्डलम्,
 तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला, कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥

नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ १८ ॥

नियतानां प्राकरणिकानामिव, अप्राकरणिकानामिव वा ।

क्रमेणोदाहरणम्,

पाण्डुं चासं वदनं, हृदयं मरुतं, तत्रालसञ्च ययुः ।

आवेदयति निताक्तं क्षत्रियरोगं मखि ! हृदन्तः ॥ [प्रा०]

कुमुदकपलनीलनीरजालिल्ललितविलासजुषोऽशीः पुरः का ।

अमृतममृतरश्मिरखुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥ [अप्रा०]

मङ्गामाङ्गणिति । अत्राद्येन कोदण्डरूपवस्त्रना उत्तरेषां शराणां सास्य, ख्या-
 सादनक्रियाजनने एवं शरीररिशिर इत्यादि गतिः । अत्र चाभवत्प्रयोगदोषपरि-
 हाराय द्वितीयचरणपरावृत्तिः आकर्णनक्रियानपादानात्तदीयकर्माकाङ्क्षाविरहस्य
 सास्य, ख्यासादानान्वयस्य निराबाधत्वात् । तुल्ययोगितायाद्वारमाह ।

नियतानामिति । प्राकरणिकत्वं नैवाप्राकरणिकत्वं नैवा नियतानामित्यर्थः ।

तेन प्राकरणिकाप्राकरणिकमिथेनो दीपकमेव पश्येत्पश्यति ।

पाण्डु, चासमिति । सालर्तं प्रति लज्जिकाया उक्तिरियम् । चासं क्षीणं ह-
 मखि ! तव पाण्डु, चासवदनादिकं कर्तुं तव हृदन्तः क्षत्रियरोगमखिन्नुं चेत्
 शरीरेऽधिकस्य रोगमावेदयति उपपद्यति मरुतं सखेटद्रवम् । अत्र प्रकृतमात्मतः-
 विप्रलम्भानुभावत्वेन प्रकृतानां पाण्डु, चासवदनादीनाम् आवेदयतीत्ये कर्त्तव्यान्वयः ।

कुमुदकमिति । कुमुदादीनाग्रानिः यणी ललितविलासजुषोऽस्या हृदः
 पुरः का निकृष्टेवैत्यर्थः । अत्राप्रकृतानामिव कुमुदादीनां का इत्येकधर्मान्वयः ।
 अमृतमिति तदाननस्य उपमागोकरणत्वे एकत्रयवसायेऽस्त्यदिक् प्रतिहतम् अमृत-
 तया बहिष्कृतम् । अत्राप्यप्रकृतानामिव अमृतादीनां प्रतिहतमित्थे कक्षियान्वयः ।
 व्यतिरेकालङ्कारमाह ।

उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

अन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यम् ।

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयोभूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।

विरम प्रसौद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्त्ति यातन्तु ॥

इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति यत्केनत्तिदुक्तम्
तदयुक्तम् अत्र यौवनगतास्यैर्याधिक्यं हि विवक्षितम् ।

हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये, साम्ये निवेदिते ॥१६॥

शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते, श्लिष्टे तद्वच्चिरष्टधा ।

व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम्, उपमानगत-
मपकर्षकारणं, तयोर्द्वयोरुक्तिः, एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्य-
नुक्तित्रयम् एतद्देदचतुष्टयमुपमानोपमेयभावे शब्देन प्रति-
पादिते आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदाः, आक्षिप्ते

उपमानादिति । उपमानादन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यमित्यर्थः । स एव
व्यतिरेकनामैव स इत्यर्थः । क्षीणः क्षीण इत्यादावुपमानस्य चन्द्रस्य उपमेययौवना-
पेक्षया आधिक्यमनादुपमेयापेक्षया उपमानस्याधिक्येऽप्ययमलङ्कार इति केषाञ्चि-
न्मतं निराकरोति ।

क्षीण इति विरमेति । मानादिरमेत्यर्थः । यातं गतं यौवनन्तु अनिवर्त्तीत्यर्थः ।
अत्र चन्द्रस्योपमानस्य पुनः पुनर्द्वया अतादृशादुपमेयायौवनादाधिक्यमिति तेषां
भ्रमः । वस्तुतस्तूपमेयस्य यौवनस्यैवाधिक्यमत्रापि घटयति अत्रेति विवक्षितम् अवा-
स्यैर्यं तच्च पुनः पुनर्द्वयमिदमप्यन्यनिवर्त्तिनी, यौवनस्यैवाधिक्यमित्यर्थः । अस्य
त्रिगुणाष्टरूपं चतुर्विंशतिप्रभेदत्वमाह ।

हेत्वोरिति । उपमानेऽपकर्षस्य उपमेये उत्कर्षस्य यौ हेतुं ज्ञापकी तयोर्द्वयो-
रप्युक्तिरेकतरस्यानुक्तिर्द्वयोरुपपदमुक्तिश्च इत्यनुक्तित्रयं तच्चतुष्टयस्य एकैकस्मिन्
साम्ये समानधर्मसम्बन्धरूपे औपम्ये शब्देनार्थेन वा निवेदिते प्रतिपादिते इत्यर्थः ।
उपमालङ्कारोक्तरीत्या उपमायाः त्रीतले आर्थत्वे वा इत्यर्थः । अथ सत्सुत्रये उप-
मानोपमेयभावे आक्षिप्ते च इत्यर्थः । इत्यं हेतुद्वयोक्तानुक्तित्रयाभ्यां चतुर्विंशतीव-

चौपम्ये तावन्त एव, एवं द्वादश । एते श्लेषेऽपि भवन्तीति
चतुर्विंशति भेदाः । क्रमेणोदाहरणम्,

असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे ।

अन्यतुच्छजनस्येव न स्यादस्य महाधृतेः ॥ [अश्ले ०शा०]

अत्रैव तुच्छेति महाधृतेरित्यनयोः पर्यायेण युगपद्वाऽनुपा-
दानेऽन्यत् भेदत्रयम्, एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम् । अत्रैवशब्दस्य
सङ्गावाच्छब्दमौपम्यम् ।

असिमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे ।

नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः ॥ [अश्ले ०आ०]

अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यार्थमौपम्यम् ।

इयं सुनयना दासीकृततामरसञ्चिया ।

मानीपमैयभावस्य श्रौतत्वार्थत्वाच्चित्तत्वे स्तैगुण्ये द्वादशविधत्वमुक्तम् अतएव द्वादश
श्लेषेऽपि भवन्तीत्यतस्त्रिगुणादरूपचतुर्विंशतिरित्याह चिरदधेति तत्तस्मात् श्लेषः
कचित्साधर्म्यंश्च क्वचिच्च व्यतिरेकप्रतियोग्यंश्च बोध्यः । एवमेव व्याचष्टे व्यतिरेक-
स्येति एकतरस्येति अनेनानुक्तिद्वयमुक्तं हयोरनुक्तिश्चैकेत्यनुक्तिद्वयं क्रमसंज्ञात्ताविति
इत्थं युक्तौ सत्यां क्रमेण चत्वारश्चत्वार इत्यर्थः । चत्वार इत्यत्र बोधार्थस्य विवक्षित-
त्वात् तेनाष्टावित्यर्थः । तावन्त इति चत्वार इत्यर्थः । तेन द्वादशक्रमेणेति हेतु-
हयोरनुक्तिद्वयक्रमेण शब्दाद्यांश्चिर्मापम्यक्रमेणेत्यर्थः ।

असिमात्रेति । प्रभूतानामरीणां पराभवे कृते सतीत्यर्थः अथो गर्वः । अत्र
अन्यतुच्छजन उपमानं राजा उपमैयः उत्कर्षनिकर्षहेतुो महाधृतिवत्तुच्छतयो-
रनुक्तिः इवकाराच्च साध्यं श्रौतम् ।

अत्रैवानुक्तिद्वयं दर्शयति । अत्रेति एवमिति एव रीत्या आर्थोपम्याच्चिर्मा-
पम्ययोः श्लेषस्वरूपीयपीड हेतुहयोरनुक्तिदाहरणमेव दातव्यं तस्यैवानुक्तिद्वयमुक्तमित्यर्थः ।
हेतुोदक्तावार्थोपम्यमाह ।

असिमात्रेति । एवमिति अत्र साधारणधर्मविशेष्यकत्वाभावात्प्रिष्ठसम्बन्ध-
बोधिकायाः षष्ठ्याः सप्तम्या वाऽसम्बन्धेन तदन्ताद् वतेरनुत्पत्त्या इवार्थे वतेरभावादर्थ-
मौपम्यम् अनुक्तिद्वयस्यापि पूर्वबोधीष्वम् । हेतुोदक्तावाचिर्मापम्ये उदाहरति ।

अननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥ [अस्ते० आक्षि०]

अत्रेवादितुल्यादिपदविरहेण आक्षिप्तैवोपमा ।

जितेन्द्रियतया सम्यग्बिद्यावृद्धनिषेविणः ।

अतिगाढगुणस्यास्य नाञ्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥ [स्ते० शा०]

अत्रेवार्थे वतिः, गुणशब्दः श्लिष्टः, शाब्दमीपम्यम् ।

अखण्डमण्डलः ओमान् पश्यैष पृथिवीपतिः ।

न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥ [स्ते० आ०]

अत्र तुल्यार्थे वतिः, कलाशब्दः श्लिष्टः । मालाप्रतिवस्तु-
पमावन्मालाव्यतिरेकोऽपि सम्भवति, तस्यापि भेदा एवमूह्याः-
दिङ्मात्रञ्चोदाङ्गियते, यथा,

इयमिति । दासीकृता तामरमस्य पद्मस्य शीरेण तादृशनाकलङ्केनामनेन कल
ङ्किनमिन्दुमियं सुमयना जयतीत्यर्थः । शिश्वेति बहुव्रीहौ भासितपूर्वकत्वात्
पुण्यङ्गावः अनाकलङ्कित्वयो ह्यन्वीकृतिः अनुक्तिवयमवापि पूर्ववहोध्यम् । एतान्
द्वादश श्लेषेऽप्याह ।

जितेन्द्रियतया । सम्यग्बिद्यावृद्धिनिषेवित्वे जितेन्द्रियत्वं हेतुः जिते-
न्द्रियत्वे चातिगाढगुणत्वं हेतुः भङ्गुरा नश्वराः ।

अत्रेवार्थे इति । अत्रेवादित्यत्रान् गणशब्द इति अङ्गपक्षे गुणरन्तुः पुरुष-
पक्षे दिनयादिः गुणवत्त्वरूपसाधर्म्यांशेऽत्र श्लेषः गुणगतातिगाढत्वभङ्गुरत्वे उत्कर्ष-
निकर्षहेतु हेतुनक्तिवय पूर्ववहोध्यम् । हेतुविकृतार्थोपम्ये श्लेषे आह ।

अखण्डेति । मण्डलं राज्यं विश्वञ्च कला देवध्यां चन्द्रपीडशांशश्च । तुल्यार्थे
इति धर्मविशेष्यकत्वाभावात् प्रष्टव्यत्वात्तदनुत्पत्त्या तेषां तुल्यमित्यर्थे तदुत्पत्तेः श्लिष्ट इति
कलावत्त्वसाधर्म्यांशे श्लेषः कलावैकल्याखण्डमण्डलवत्त्वे निकर्षोत्कर्षे हेतु तयो-
रनुक्तिवयमेवमूह्यम् । इत्यसार्थोपम्यं समाप्य तत्रैव मालासम्भवं दृष्टा तद्दो-
हर्तुमाह ।

अत्रेति । मालाव्यतिरेकोऽपीति आर्षोपम्यमालाव्यतिरेकोऽपीत्यर्थः । अय-
मेवोदाहरणक्रमः व्युत्क्रमलिखनत्वात् क्वचित्पुस्तके हेयमेव आर्षोपम्यं सजाप्यैव
तस्मात्वाद्या दर्शयितुमौचित्यात् ।

हरत्रय विषमदृष्टिहरिवन्न विभो ! विधूतविततउषः ।

रविवन्न चातिदुःसह कस्तापितभूः कदाचिदसि ॥

अत्र तुष्यार्थे वतिः, विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः । [श्ले०आ०मा०]

नित्योदितप्रतापेन त्रियामामौलितप्रभः ।

भास्वतानेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥ [श्ले०आदि०]

अत्र आक्षिप्तैवोपमा, भास्वतेति श्लिष्टः । यथा वा

स्वच्छात्मतागुणसमुद्भसितेन्दुविम्बम्

विम्बप्रभाधरमक्तत्रिमह्वद्यगन्धम् ।

यूनामतीव पिवतां रजनीषु यत्र

दृशां जहार मधु नाननमङ्गनानाम् ॥ [श्ले०आदि०]

हरवदिति । विषमदृष्टिर्युग्मदृष्टिस्त्रिलोचनः त्वं न तादृशः सानुरागं विना रागस्वरूपविषमदृष्टिविरहात् विभा इति सम्बोधनं हरिः कम्पितवृषासुरः त्वं तादृशी न विततस्य विस्मृतस्य वृषस्य सुकृतस्य त्वयाऽपालितत्वात् रविदुःसहकर-
तापितभूतस्यः त्वं न तादृशी दुःसहं करेण राजयाज्ञभागेन त्वया भूमिह-
लीकस्यातापितत्वात् ।

अत्र व्यतिरेकप्रतियोगिविषमाद्यंशे श्लेषः । अत्र निकर्षहेतीविषमदृष्टित्वस्य श्लेषादेरभावः एतद्विषमदृष्टित्वमगुक्तं तदुक्तौ तु हेतुद्वयोक्तिः निकर्ष-
हेतुनुपादानन्तु अत्र न सम्भवति तदाश्लेषासम्भवात् एवमिति अनया हेतुद्वयो-
क्त्यगुक्तिवयरोत्या । श्लेषे हेतुद्वयोक्तावाक्षिप्तोपम्ये आह ।

नित्योदिनेति । भास्वता दीप्यमानेनानेन भूपेन भास्वान् रविवत्र निर्जित इत्यर्थः । निर्जये हेतुमाह त्रियामेति । अत्र हेतुद्वयोक्तिः एवं जातीयस्येति प्रथ-
गुपादाने उभयत्रीपादाने भास्वत्पदस्योभयत्रीपात्तत्वात् श्लिष्टपदमन्वचैकत्वं च प्रयुज्यते तथाच तद्वर्षादपि प्रमेदान्तरसम्भवी बोध्यः ।

स्वच्छात्मतागुणेति । अत्र पुरे रजनीषु अतीव पिवतां यूनां दृशां मधु कर्तं जहार अङ्गनानामाननन्तु कर्तं न जहार युवानो मधुपाने विदृशा बभूवुर्नत्वङ्गना-
धरपाने इत्यर्थः । मज्जाननयोर्द्वयोर्विशेषणान्वाह स्वच्छात्मनेति । स्वच्छस्वभावता-
गुणेन मधुनेन्दुप्रतिविम्बोक्तासः आननन्तु स्वच्छस्वभावतागुणेनीलसितेन्दुमच्छब्द-

अत्रेवादीनां तुल्यादीनाञ्च पदानामभावेऽपि श्लिष्टविशेष-
शास्त्रिभैवोपमा प्रतीयते । एवं जातीयकाः श्लिष्टोक्तियोग्यस्य
पदस्य पृथक् उपादानेऽन्येऽपि भेदाः सम्भवन्ति, तेऽपि अनर्थैव
दिशा द्रष्टव्याः ।

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्तया ॥२०॥

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

विवक्षितस्य प्राकरणात्त्वादानुपसर्जनीयकार्यस्य अशक्य-
वक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः,
स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विधा आक्षेपः । क्रमेणोदा-
हरणम्,

ए ! एहि किं बि कीए बि कए

शिद्धिब ! भणामि अलमह वा ।

अविचारिअकज्जारम्-

आरिणी मरउ ण भणिसाम् ॥ [व० अ०]

स्वरूपमिति रूपकम् । दिव्यस्वेन्दुप्रतिबिम्बस्य प्रभाधारि मधु आननमु दिव्यफल-
प्रर्भाङ्गम् अकृत्रिमत्यायु भयव समानम् ।

अवेति । उपमानमध्यानमयी । अथ यदूपभीमे विरसत्वाविरसत्वे निकर्षो-
त्कर्षो हेतु अनुक्तो तद्दृश्योरुक्ताद्युभयोक्तिः एकतरमात्रीतावनुक्तिद्वयम् । आक्षेपा-
कङ्कारमाह ।

निषेध इति । वक्तुमिष्टस्याद्यस्यानुक्तस्यैव वा विशेषाभिधित्तया उक्तिनिषेध
इत्यर्थः । तदाह वक्ष्यमाणोक्ति वक्तुमिष्टताया वीजमाह अनुपसर्जनीयकार्यस्येति
अनुपेक्षणीयप्रतिपादनस्येत्यर्थः । निषेधवीजभृतां विशेषाभिधित्तां व्याप्ये
अशक्येति निषेध इवेति तत्प्रतिपादनस्यानुपेक्षणीयत्वेन निषेधे तात्पर्याभावात् ।
वक्ष्यमाणनिषेधसुदाहरति । ए एहीति ।

ए ! एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कूप ! भणामि अलमहवा ।

अविचारितकार्यारम्भकारिणी विद्यता न भणिसामि ॥ इति ।

ज्योत्स्ना मौक्तिकादाम चन्दनरमः शीतांशुकान्तद्रवः

कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यभोजिनी पद्मवाः ।

अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर-

व्यापाराय भवन्ति हन्त ! किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ॥ उ० अति०]

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥२१॥

हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना ।
यथा,

कुसुमितलताभिरहताप्यधत्त रुजमलिकुलेरदृष्टापि ।

परिवर्तते स्म नलिनिलहरीभिरलोलिताप्यधूर्णत सा ॥

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः अनुक्त-

ए इति प्राक्तने साक्षेपसम्बन्धने 'अविचारितकार्यं' त्वयि प्रेमानुसंध्यास्येष्यां-
विचारणं प्रेमानुबन्धकरणम् । अत्र विरहस्य तस्या मरणस्याशक्यवक्तव्यत्वाभि-
धित्या । उक्त निषेधमाह ।

ज्योत्स्ना इति । शीतांशुकान्तः आ इति विषादं अन्तर्मानसं मानसस्यान्तः प्रभ-
वता सता त्वया करणभूतेन एतं ज्योत्स्नादयं तस्याः स्फुलिङ्गोत्करस्य व्यापाराय
दाहाय भवन्तीत्यर्थः । अत्र तस्याज्ञापनत्वस्यातिप्रसिद्धत्वाभिधित्या । विभावना-
लङ्कारमाह ।

क्रियाया इति । अवापदीपीञ्जलं गृहमित्यादेः सङ्ग्राह्य क्रियापदं कारण-
मात्रपरम् अतएव सीरुहसामसाङ्गी इत्यत्र अभिलाषकारणस्य रतिपूर्वकालस्याभावे-
ऽप्ययमलङ्कारः प्राम्दूर्भितः ।

कुसुमितलतेति । सा विरहिणी कुसुमितलताभिः रुजं दुःखमधत्त ताभिरह-
तापि अत्र कारणस्य हननस्य प्रतिषेधः अलिकुलेः परिवर्तते स्म तैरदृष्टापि अत्र
कारणस्य दंष्ट्रनस्य प्रतिषेधः । नलिनिसम्बन्धिनीभिरलहरीभिरधूर्णत ताभिरलीलि-
तापि अनान्दोक्तितापि अत्र कारणस्यान्दोलनस्य प्रतिषेधः । विशेषीकृतत्वात्

विशेषोक्तिरिति अखण्डेष्विति अखण्डितेषु विभावनायामिवाभिधितेषु कारणे-

निमित्ता, उक्तानिभित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च । क्रमेणोदाह-
रणम्,

निद्रानिद्रतावुदिदे द्युरब्जे सखीजने द्वारपदं पराप्ते ।

अथीकृताश्लेषरसे भुजङ्गे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥

[अनु०नि०]

कपूर् र इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।

नमोऽस्त्ववार्थ्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ।

स एकस्त्रौणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम् ॥ [अचि०नि०]

यथासङ्गं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥ २२ ॥

नित्यर्थः । बहुवचनश्चात्राविवक्षितबहुत्व' एककारणीत्वावपि दृष्टत्वाद्दृश्यमाणत्वाच्च । फलावच इति फलाभाववच इत्येवं योजना फलाभावकथनमित्यर्थः । इत्यावपि कार्यस्याकथनमित्यत्र कार्यस्याभावकथनमित्येवार्थः । अन्यथाऽनुक्तफलके सर्वदे-
वातिप्रसङ्गापत्तेः उदाहरणेष्वभावप्रतियोगितया फलकथनादव्याप्त्यापत्तेः । अनुक्त-
निमित्तेति अनुक्ताचिन्त्यनिमित्तेत्यर्थः अचिन्त्यस्य तु सुतरामनुक्तिः निमित्तश्च फला-
भावश्च ।

निद्रेति । भुजङ्गः कामुकः अथ निद्रानिद्रत्यादीनि कारणानि उक्तानि
नालिङ्गनतश्चलनस्य फलस्याभावः कथितः तन्निमित्तश्च रागातिशयश्चिन्त्योऽप्यनुक्तः ।
उक्तानिमित्तामाह ।

कपूर् र इवेति । दग्धोऽपि यो मकरकेतुर्जने जने शक्तिमान् दग्धः कपूर् र इव
दग्धस्यापि कपूर् रस्य गन्धरसङ्घपाश्रक्तिमत्त्वात् तस्मै मकरकेतवे नमोऽस्त्वित्यर्थः । अत्र
दाहं कारणं तत्फलस्य शक्त्यभावस्याभावः । शक्तिमत्त्वमुक्तं तन्निमित्तमवार्थ्यवीर्यत्व-
मुक्तम् अत्रैककारणीत्वावप्युदाहृतत्वात् कारणीभित्त्वं बहुत्वविवक्षः बीध्या एवमुदाह-
रणापि अचिन्त्यनिमित्ता ।

स एक इति । त्रीणि जननि जयतीत्यन्वयः । अथ तनुहरणं तत्फलस्य बल-
हरणस्याभाव उक्तसन्निमित्तश्चाचिन्त्यम् । यथासङ्गालाहारमाह ।

यथा,

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव ! द्विषाञ्च विदुषाञ्च ऋगीदृशाञ्च ।
तापञ्च सम्मदभरञ्च रतिञ्च पुष्णन्
श्रीर्योषणा च विनयेन च लोलया च ॥

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणोदरेण वा ॥२३॥

साधर्म्यं च वेधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत्समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन, सोऽर्थान्तरन्यासः । क्रमेणोदाहरणम्,
निजदोषाहतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्कमपि पीतम् ॥ [सा०सा०वि०]

यथारुद्धमिति । क्रमेण प्रथमद्वितीयादिक्रमेण क्रमिकाणां तत्क्रमणैव परेषामप्युक्तानाम् ।

एक इति । ॐ देव ! अथ स्त्रीके इदं चित्रं किन्दित्युदाह । एक इति एकस्त्रिधा वससि श्रीर्योषणा तापं तन्वन् विदुषां चेतसि विनयेन सन्मदरसे तन्वन् ऋगीदृशां चेतसि लोलया रतिञ्च तन्वन् एवं विधा वससि अथ यथोक्तक्रमेणैव क्रमिकाणां तत्क्रमेणैव कर्मकरणं चेतःसम्बन्धिना विज्ञादीनामन्वयः । अर्थाकरन्यासात्कारमाह ।

सामान्यं वेति । अन्येन सामान्यप्रतिधीतिना इतरेण वेधर्म्येण समर्थ्यते सत्यत्वेन प्रतिपाद्यते साधर्म्ये वैधर्म्ये समर्थनीयसमर्थकयोः । तथाच किञ्चिद्वर्तमानया उक्तस्य सामान्यस्य तत्सम्बन्धवता विशेषेण तद्वर्तमानयाः सत्यत्वेन प्रतिपादनम् एवं रौद्रा विशेषस्यापि सामान्येन तथा प्रतिपादनं तत्सम्बन्धः । तत्र यथोक्तसामान्यस्य तत्साधर्म्यवता विशेषेण समर्थनमाह ।

निजदोषेति । एवकारोऽऽप्यर्थे तथाचातिसुन्दरमपि वस्तु निजदोषाहतमप्यर्थाजनानां स्थाने विपरीतं भाति तथार्थान्तरं न्यस्यति पश्यतीति । अथ विपरीतवद्विधर्मवर्तमानया उक्तं दोषाहतमनससामान्यं दोषवत्साधर्म्यवता शङ्क

सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि खैरं याम्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।
तदनु भवतः कीर्त्तिः केनाप्यगौयत, येन सा
प्रियगृहमगान्मक्ताशङ्का, क्व नासि शुभप्रदः ॥ [सा०वि०सा०]
गुणानामेव दौरात्म्यात् धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असञ्जातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौरगडिः ॥ [वै०सा०वि०]
अहो हि मे बह्वपराहमायुषा,
यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवम्
जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥ [वै०वि०सा०]

पीतत्वदर्शिना पित्तोपहृतेन विशेषेण समर्थितं दीपवहिशेषस्य पित्तोपहृतस्यैवभावेन
तत्सामान्यमेवभूतमिति सत्यप्रतीतेः उक्तरूपस्य विशेषस्य तत्साधर्म्यवता सामान्येन
समर्थनमाह ।

सुसितेति व्याख्यातमिदम् । दीपोज्जासे अत्र राजदीयमानसुखाधिकरणतया
उक्तस्य रात्रिरूपकालविशेषस्य महीयमानसुखाधिकरणतया ज्ञानासीत्यनेनीत्तेन
सुखाधिकरणत्वसाधर्म्यवता कालसामान्येन समर्थनं सर्वदा सुखदाहृत्वेन रात्रौ सुख-
दाहृत्वं सत्यमिति प्रतीतेः यद्योक्तस्य सामान्यस्य तद्वैधर्म्यवता विशेषेण समर्थनमाह ।

गुणानामिति । धुर्यो भारवहनसमर्थो जनो धुरि भारवहने नियुज्यते तत्र
गुणानामेव दौरात्म्यात् दुःखप्रतीजकत्वमेव दौरात्म्यं तदार्थान्तरं न्यस्यति असञ्जातेति
असञ्जातो क्विचौ त्रणषिञ्जे यत्र तादृशः स्कन्धः सन् सुखं बह्वनुःखरहितं यथा
स्यात्तथा स्वपित्तोत्पत्त्यर्थः । अत्र धुरि नियुज्यमानत्वधर्मवचनात् उक्तस्य प्राक्सामान्यस्य
अप्येवविरोध्यात्मकगडित्वरूपवैधर्म्यवता गडिना मत्रा समर्थनं नरे धुरि नियोगा-
भावाधीनसुखस्वापिनः गडित्वविधर्मिणो धुर्यप्राक्सामान्यस्य धुरि नियोगः सत्य
इति प्रतीतेः । यद्योक्तस्य विशेषस्य तद्वैधर्म्यवता सामान्येन समर्थनमाह ।

अहो हि मे इति । अभिमन्युनरज्जवापांमर्जुने कथयिष्यती दुधिष्ठिरस्य
निवादीतिरिवम् । अहोऽहोमिदम् । अत्र वक्ष्यमाशामित्यनेन सुहृत्पराभवस्य

विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वस्तुवृत्तेन अविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स
विरोधः ।

जातिस्तुभिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणस्त्रिभिः २४

क्रिया हाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येष्वेति ते दश ।

अभिनवनलिनोक्सलय-

सृणालवलय्यादि दवदहनराशिः ।

सुभग ! कुरङ्कृद्गोऽस्याः

विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥ [जा०जा०]

गिरयोऽप्यनुव्रतियुजो मरुदप्यचलोऽश्वयोऽप्यगभीराः ।

सम्भते यद्गन्धाद्यन्तवत्तया प्रतिपादिते यत्ता विरोधस्यैष्यं प्रत्यत्ववत्त जनसामा-
न्यं समर्थितः अदृष्टसुदृष्ट्यराभवस्य संन्यत्वेन दृष्टत्वस्याप्यन्तं संव्यसिति तत्-
प्रतीतेः । विरोधात्कारणात् ।

विरोध इति । विरोधी विरोधाभासः यदपि यस्मिन्निः अविरोधेऽपि विरुद्ध-
त्वेनोच्यमानोऽर्थ इत्यर्थः । वस्तुवृत्तेनेति वस्तुगत्या इत्यर्थः । तस्य जातिगुणक्रिया-
द्रव्यविरोधेन दशविधत्वमाह ।

जातिस्तुभिर्भिरिति । जात्याद्यैस्तुभिर्भिरित्यन्वयः । त्रिभिर्गुणादिभिः हाभ्यां
क्रियाद्रव्याभ्याम् । अतीतरस्य पूर्वपूर्वेषु सद्य विरोधस्तु न युजितः येन सद्यस्य
विरोधस्येवापि तस्य विरोधरूपत्वेन तस्य पृथग्जनकणीयत्वेन दर्शनामीभित्यात् ।
अत्र जाते जात्या सद्य विरोधमाह ।

अभिनवेति । सुभग ! विधिवशतस्त्वद्वियोगस्य पविपाते उपस्थिते कुरङ्क-
द्गोऽस्या अभिनवेत्यदिकं दवदहनराशिः । अत्र नखिनीदन्तादिजातीनां दव-
दहनत्वजात्या सद्य विरोधभासं दवदहनत्वकार्यत्वात्त्वेनावाक्यत्वाद्दविरोधः
नचात्र रूपकमेवेति वाच्यम् । नखिनीदन्तादिश्रीतवस्तुषु उच्यदवदहनानेदस्य विरुद्धः
तस्यैव प्रतिमाहात् । जाते तु विरोधमाह ।

विरुद्धोऽपीति । जातिक्रियाभिन्नधर्मजातमहाधारणमेव युजी न तु वैवेदिकीति

विष्णुभरायति सधुर्नरनाथ ! तवान्तिके नियतम् ॥ [जा०गु०]

येषां कण्ठपरियहप्रणयितां सम्प्राप्य धाराधरः

तोष्यः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि खेहं पराप्नोति च ।

तेषां सङ्गररङ्गसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते !

पांशूनां पटलेः प्रसाधनविधिर्निवर्त्यते कौतुकम् ॥ [जा०क्रि०]

सृजति च जगदिदमवति च

संहरति च हेलयेव यो नियतम् ।

अवतरवमतः शफरो

जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् । [जा०द्र०]

एव हे नरनाथ ! तवान्तिके गिर्यद्वीपे नियतमुग्रत्याद्यभाववत् इत्यर्थः । त्वं गिर्याद्वीपेऽप्युग्रत्याद्याधिक्यानिवर्त्यः । स्रजतिदीप्तता शौर्यसम्पदिव्यापत्तयश्च तत् तयाधिकमित्यर्थः । गाभीशेमगाधवं सुधीरत्वञ्च लघुत्वममहत्वं त्वग्रहत्वापेक्षयाऽमहत्त्ववतीत्यर्थः । अत्र गिरिवादिनामेवग्रत्याद्यभावे गर्भे विरोधमानम् उग्रत्याद्यभावस्यारोपमाणत्वेन न विरोधः । जातेः क्रियाविरोधमाह ।

येषामिति । हे भूपते ! येषां राज्ञां कण्ठपरियहप्रणयितां सम्प्राप्य स प्रसिद्धसोष्णी धाराधरः खड्गीऽनुरज्यते रुधिररक्तो भवति कमपि खेहं रुधिर-क्षमितत्वं प्राप्नोति सङ्गररङ्गसक्तमनसां तेषां राज्ञां त्वया पांशूनां पटलेः प्रसाधनविधिर्निरविविधानं निवर्त्य । इतोदं कौतुकमित्यर्थः । कौतुकञ्च ह्येव लभ्यार्थ-मादायैव । तथाहि यत्सङ्गानोच्छ्रय पक्षस्यापि अनुरागिता सखेहता च नित्यप्रस-क्तानां तेषामनुरागः खेहोचितव्यवहारस्यैवोचित्येन पांशुभिः प्रसाधनात् कौतुक-मित्यर्थः । द्वित्रानां भूमिपानेन पांशुनिभवात् । अत्र राजवजातेः पांशुप्रसाधन-क्रियया विरोधमानं सृजतां तयात्वेन चाविरोधः । अत्र पक्षत्वमुपलक्ष्येणानुरागो विरोधः । जाते द्रव्यविरोधमाह ।

सृजतीति । यत्र द्रव्ये जात्यसम्भवस्तत्र द्रव्यस्य जात्यादिना तादात्म्येन विरोधो भीष्यः । यो जनार्दनो हेलयेव अयमेवैव इदं जगत् सृजति इत्यादि सोऽप्यनुरज्यते शफरः प्रोक्षीमन्त्वरूप इत्यर्थः । शफराकारत्वेन रोहित-वस्त्रमावस्त्रैवाह शफरत्वेनोक्तिततो हतिः रोहितमन्त्वरूपोति हरिवंशे रोहित-

सन्ततं सुसलसक्ता

बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते । ।

द्विजपत्नीनां कठिनाः

सति भवति करा सरोजसुकुमाराः ॥ [गु०गु०]

पेशलमपि खलवचनं दहृतितरां मानसं सुतस्त्वविदाम् ।

परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत्प्रमोदयति ॥ [गु०क्रि०]

क्रौञ्चाद्रिरुहामदृषद्दोऽयं यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।

अभून्नवाभोजदलाभिजातः, म भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥ [गु०द्र०]

परिच्छेदातीतः सकलवंचनानामविषयः

पुनर्जन्मन्यस्त्रिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।

मक्यत्वे नीकत्वात् । अत्रैकव्यक्तित्वेन जनादनत्वं न जातिरती द्रव्यैव जना-
र्दनेन सह तादात्म्येन शफरत्वजातिविरोधभानम् उपमानीपमैयभावात् रूपकं
इश्वरस्य नानाशरीरपरियहासाविरोधः । गुणस्य गुणविरोधमाह ।

सन्ततेति । सन्ततेत्यादि हेतुभिः पूर्वं कठिना द्विजपत्नीनां कराः सति
वत्तमाने भवति त्वयि राशि सरोजसुकुमाराः त्वया चैपामर्थदानाद् दासीभिरैव
कर्मकराणात्तत्पत्नीनां करकाठिन्योपशमात् सीकुमार्यम् । अत्र कठिनत्वसुकु-
मारत्वगुणयोर्विरोधभानं कालभेदात् विरोधः । गुणस्य क्रियाविरोधमाह ।

पेशलमपीति । तस्त्वसुतस्त्वयोः पर्यायः तस्त्वविदामिच्छेः । पेशलं कीमलम्
अत्र पेशलत्वगुणदाहक्रिययोः परुषत्वगुणपमोदनक्रिययोश्च विरोधभानं दुर्जन-
सुजनवचनस्वभावाच्चाविरोधः । गुणस्य द्रव्यविरोधमाह ।

क्रौञ्चाद्रिरिति । अनर्गली निराबाधः । शातच्छेदनं यद्यात् यन्मार्गणानां
तादृशे पाते सति असी क्रौञ्चाद्रिनवाभोजदलवदभिजातः कीमलीऽभूत्सत्यं स
भार्गवी विषेरपूर्वसर्गः विलसच्चष्टिः पातशात इति पाठे यन्मार्गणानामनर्गल-
पाताधीनशातनिमित्तं नवाभोजेत्यादिरर्थः । अत्र क्रौञ्चाद्रिलमेकव्यक्तिमात्र-
इत्थित्वात् न जातिः अतः क्रौञ्चाद्रिणा द्रव्यैव सहाभिजातत्वगुणस्य विरोधभानं
अभिजातत्वस्वारीपात्त विरोधः । क्रियायाः क्रियाविरोधमाह ।

विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापञ्च कुरुते ॥ [क्रि०क्रि०]

अयं वारामिको निलयं इति रत्नाकर इति

श्रितोऽस्माभिस्तृणातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।

क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतम्

क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥ [क्रि०द्र०]

समदमतङ्गज मदजल-

निस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।

क्षितितिलक ! त्वयि तटजुषि

शङ्करचूडापगापि कालिन्दी ॥ [द्र०द्र०]

परिच्छेदेति । व्याख्यातमिदं प्राक् । अत्र जडनतापनक्रियथोरैकत्र विकारे विरोधभानं विकारविशेषसभावात् विरोधः । क्रियाया द्रव्यविरोधमाह ।

अयं वारामिति । अयं निधिवारामिको निलय इति रत्नाकर इति च ज्ञात्वा तृणा तरलितमनोभिरस्माभिः श्रितः तृणा च वारिषु पिपासा रत्नेषु च क्षिप्त्वा निजेत्यादिकं ताम्यदित्यादिकञ्च पानक्रियाविशेषणं करपुटी करकोषः सैव कोटरं गर्तः मुनिरगच्छः । अत्र जलनिवेद्रव्यस्य कर्मतासम्बन्धेन पानक्रियया विरोधभानं मुनिप्रभावादविरोधः । न च जलनिधोनामनेकत्वात्तद्वृत्तिजलनिधित्वं जातिरेवेति वाच्यम् । समुद्रत्वस्य तथात्वेऽपि योगार्थघटितस्य जलनिधित्वस्यातथात्वात् गिरयोऽप्यनुभूतियुज इत्यत्र तु जातिगुणविरोधीदाहरणत्वमन्वय इत्याद्यंशमपहा शैव अत्रित्वस्याजातित्वात् । द्रव्यस्य द्रव्यविरोधमाह ।

समदेति । हे क्षितितिलक ! त्वयि तटजुषि सति श्यामत्वानां इक्षिमदजत्वानां निस्यन्दी धारा सैव तरङ्गिणी तद्वङ्गात् गङ्गापि कालिन्दीर्धर्यः श्यामत्वात् । अत्र गङ्गायमुनयोर्द्रव्ययिसादात्मेन विरोधभानम् आरोपात् विरोधः । यत्ने श्यामत्वारीपादपिकारेण विरोधस्फीरयाञ्च न रूपकम् । अत्रापि श्रौतासक्त-
नन्दाद्यनेकवृत्तित्वेऽपि शङ्करचूडापमालं न जातिः गङ्गात्वस्यैव तथात्वात् । स्वभावोक्त्यस्यारमाह ।

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥२५॥

स्वयोस्वदेकाश्रययोः । रूपं वर्णः संस्थानञ्च । उदाहरणम्,
पश्चादङ्गी प्रसार्य विक्रानतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चैः,
आसज्याभुग्नकण्ठी मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय ।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥ [क्रि०]
व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः । क्रमेणो दाहरणम्,
हित्वा त्वामुपरोधशून्यमनसां मन्ये न मौलिः परः,
लज्जामज्जनमन्तरेण न रसामन्यत्र सन्दृश्यते ।
यस्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याश्रितायाः श्रियः,
प्राप्य त्यागकृतावमाननमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥ [स्तु०]

स्वभावेति । डिम्भः शिशुः आदिना प्रकृष्टज्ञानरहितः पश्चादिपरिग्रहः स्वपदं
स्वीयमात्रपरतया व्याचष्टे स्वयोरिति । स्वभावीययोः क्रियारूपधोरित्यर्थः रूपपदं
व्याचष्टे रूपमिति तत्र पशुक्रियावर्णनामाह ।

पश्चादिति । शयनादुत्थितस्तुरङ्गः खुरेण क्ष्मां विलिखति किं कृत्वेत्यत्राह
पश्चादिति । विकं पृष्ठवंशाधरम् अङ्गश्चातिविततं यथा स्यात्तथा द्राघयित्वा इत्येवं
चकारार्थो बोध्यः पृष्ठवंशाधरे विकमिति कोषः । आभुग्नकण्ठः सधुरसि सुखभास-
व्येत्यन्वयः प्रोथतुण्डावीष्ठाधरो हेष्वाऽश्वशब्दः । अत्र क्रियावर्णनं वर्णसंस्थानयो-
स्वभावानुसन्धेयम् । व्याजस्तुत्यलङ्कारमाह ।

व्याजेति । मुखे आपाततः अन्यथा रूढिसहितपरीता पर्याप्तिः ननु निन्दा-
स्तुतेन स्तुतिर्भवत्येव निन्दाव्याजेन स्तुतिः स्तुतिस्तुतेन निन्दा तु स्तुतिव्याजनिन्दैव
सा कथं व्याजस्तुतिरित्यत उभयसङ्गहाय द्विधा समासमाह ।

व्याजरूपेति । स्तुतिस्तुतेन निन्दा व्याजरूपा स्तुतिः अन्यथा तु व्याजेन स्तुति-
रित्यर्थः । तत्र निन्दास्तुतेन स्तुतिमाह ।

हित्वा त्वामिति । अहं नन्वे त्वां हित्वा त्वां विना उपरीचयस्वमनसां निरूप-

हे हेलाजितबोधिसत्त्व ! वचसां किं विस्तरैस्तीयधे !

नास्ति त्वत्सदृशः परः पररहितधाधने गृहौतव्रतः ।

दृश्यत्पान्यजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-

भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहायकं यन्मरोः ॥ [नि०]

सा सहोक्तिः सहाय्यस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥२६

एकार्थाभिधायकमपि सहाय्यबलात् यद् उभयस्यावगमकं
सा सहोक्तिः । यथा,

सह दिश्रमणिसाहिं दीहरा सासदण्डाः,

सह मणिवलएहिं वाप्पधारा गलन्ति ।

तुह सुहअ ! विश्रोए तीअ उव्वेअणौए

सह अ तणुलदाए दुब्बला जीविदासा ॥

रोधचित्तानां मौलिः श्रेष्ठो न परस्त्वमेव तादृश इत्यर्थः । एवं लज्जायां मज्जनं
विलयां निर्लज्जत्वं रमां लज्जां विना नान्यत्र सन्दृश्यते तस्या एवातिनिर्लज्जत्व-
मित्यर्थः । यस्त्वं सुखशतैरेवाश्रितायाः श्रियत्यागं तनुतेतरां तथा त्यागकृताषमाननं
प्राप्यापि त्वय्येव यस्या रमायाः स्थितिरित्यर्थः । अत्र निरुपरोधत्वेन राज्ञी निन्दा
राज्ञी लज्जादाहृत्वापरिच्छिन्नं श्रीमन्त्पर्याप्त्या स्तुतिः । स्तुतिमुखेन निन्दाभाह ।

हे हेलेति । बोधिसत्त्वं बुद्धिमत्प्राणीं हे हेलाजिततत्क ! हे तीयधे ! वचसां
विस्तरैः किं सङ्क्षिप्तमेव वचमौत्यर्थः । पररहितस्याधाने जनने गृहौतव्रतस्तत्सदृशः
परो जनी नास्ति त्वमेव तादृश इत्यर्थः । यद्यस्मात् दृश्यतां पान्यजनानां पिपासीप-
शमनरूपोपकारघटनायां यद्वैमुख्यं तत्र लब्धस्यायशोभारस्य प्रोद्वहने मरो निर्जल-
दृश्यस्य साहायकं सहायतां कृपया करोषि निर्जलत्वेन मरुभूम्या चारजलत्वेन
त्वया च दृश्यतामुपकारस्वाकरणादयशोभारवहनात् एकी क्षमानस्य भारस्यान्वेनापि
बहनात् सहायता । अत्र स्तुत्यपरा उपकारकनिन्दा पर्याप्तिः । सहोक्त्यल-
ङ्कारभाह ।

सा सहोक्तिरिति । एकार्थाभिधायकमिति शब्दव्युत्पत्तिबलादिकार्यं एव
स्वान्वयानुभावकमित्यर्थः । सह दिश्रसेति ।

आसदृशादिगतं दीर्घत्वादि शब्दम्, दिव्यविद्यादिगतं तु सहाय्यसामर्थ्यात् प्रतिपद्यते ।

विनोक्तिः सा विनान्येन, यत्रान्यः सन्न, नेतरः ।

क्वचिदशोभनः, क्वचिच्छोभनः । क्रमेणोदाहरणम्,

अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।

उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥ [अ]

सृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः ।

अमृतयतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसुतुः ॥ [शो]

परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ॥२७॥

परिवृत्तिरलङ्कारः उदाहरणम्,

सतानामेताप्रामुदितकुसुमानां मरुदयम्

मतं लास्यं दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम् ।

सह दिव्यविद्याभिर्दोषैः आसदृशाः सह सण्णवल्लभैर्वाच्यधारा गलन्ति ।

तत्र सुभग ! विधीये तस्या उदीप्तिः सह तनुलतया दुर्वला जीविताशा ॥

इति संकृतम् । वीचेशसस्य दण्डाकारत्वं न दण्डवम् ।

अत्रेति । शब्दं शब्दव्युत्पत्तिसिद्धं समानविभक्त्यनपदार्थयोः कर्ता स्यात्

कृत्पदाशेषोऽर्तदान्त्रयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादित्यर्थः । विनोक्त्यलङ्कारमाह ।

विनोक्तिरिति । अन्येन विनाऽन्यः सन् न शोभनो न अनशोभन इत्यर्थः ।

एवमन्येन विनाऽन्यः इतरौशोभनो न शोभन इत्यर्थः । तदाह क्वचिदशोभनं

इत्यादि इयम् ।

अरुचिरिति । महत्तमो महाम्भकाररूपा अत्र चन्द्रादिरशोभन इत्यर्थः ।

सृगलोचनयेति । अयं नरेन्द्रः सृगलोचनया विनैव विचित्रव्यवहार-

प्रतिभाप्रभाप्रगल्भाः तदासङ्गात् न तादृश इत्यर्थः । तथा तेनायां दसदुपदेशकेन

सुहृदा विनैव अमृतयेत्यादिः । तदा सङ्गात् नेतादृश इत्यर्थः । परिवृत्त्यलङ्कारमाह ।

परिवृत्तिरिति ।

सतानामिति । सतानीं स्थाने इत्यर्थः मतं सतानामेव सत्यतं आस्यं नृत्त्यम्

सतास्वध्वानामहह ! दृशमादाय सहसा
 ददास्वाधिष्वाधिभ्रमिद्दितमीदृष्यतिकरम् ॥
 अत्र, प्रथमेऽर्धे समेन समंस्य, द्वितीये उत्तमेन न्यूनस्य ।
 नानाविधप्रहरणेर्त्प ! सम्प्रहारे
 स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान् ।
 हस्तारिवोरविसरेण वसुन्धरियम्
 निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिवितीर्णा ॥
 अत्र न्यूनोत्तमस्य ।

प्रत्यक्षा इव यज्ञावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
 तज्ञाविकम्,

भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः । भावः कवेरभिप्रायोऽस्तीति-
 भाविकम् । उदाहरणम्,
 आसौदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
 भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥

अनसं समान्तररहितम् अत्यन्तमित्यर्थः । दृशमादायेति अथन्येर्दृशमानत्वात्
 आधि मांसो व्यथा ।

अत्रेति । आसामीहयो उपादेयत्वेन साम्यम् उत्तमेनेति उपादेयत्वेन दृगुत्तमा
 इत्यन्तेनाध्यादयो न्यूनाः ।

नानाविधेति । छे रूप ! सम्प्रहारे युद्धे तव हस्तारिवोराणां विसरेण समूहेन
 दारुणनिनादवती नानाविधप्रहरणेः प्रहारान् स्वीकृत्य इयं वसुन्धरा तुभ्यं वितीर्णा
 कीदृशी निर्गतीऽपान्धस्वसा सह विप्रलम्भो विद्योनी यस्य तद्दृशपरिरम्भविधिः
 सम्बन्धविधानं यस्यासादृशी त्वया सह तद्विद्योनी न भविष्यतीत्यर्थः । अत्र प्रहारा
 अनुपादेयत्वेन न्यूनाः । भाविकावधारमाह ।

प्रत्यक्षा इवेति । क्रियन्ते इत्येन प्रतिपाद्यन्ते कवेरभिप्राय इति प्रत्यक्षप्राप्त-
 वीधनवशात्तद्दृशपरिदर्शात्प्रसङ्गीकृत्यै कवेरभिप्राय इत्यर्थः ।

अत्रार्थे भूतस्य, द्वितीय भाविनो दर्शनम् ।

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥ २८ ॥

वाक्यार्थता यथा,

वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
नमन्मृत्तः सम्प्रत्यहमतनुरयेऽप्यनतिभाक्,
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥

अनेकपदार्थता यथा,

प्रणयसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
र्ललितशिरौरपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि बधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥

वासीदिति । अस्मिन्नाभावेऽपि तस्मिन्वशीभाया दृश्यमानत्वात् भाविभूषणेति सम्भारः
श्रीभा मूषणजन्या श्रीभारश्चा इत्यादिता साक्षात्कारः । काव्यलिङ्गालङ्कारमाह ।
काव्यलिङ्गमिति । अयमेव काव्यहेतु हेतुलङ्कारयोश्चते वाक्येति वाक्यार्थता
पदार्थता चेत्यर्थः । क्रियान्वयेन समाप्तं वाक्यं क्रियासाक्षात्कारं कारकपदन्तु पदम् ।
वपुरिति । हे'पुरारे । प्राय उत्प्रेषायाम् अहं क्वचिदपि जन्मनि भवन्तं न
प्रणतवान् वपुषः प्रादुर्भावादनुमितं यदि हि प्रणतवान् तदा वपुःप्रादुर्भावी न
स्थान्मृत्तत्वादिति भावः । सम्प्रति च नमन्मृत्तः सत्रहमतनुरशरीरीऽप्ये भावि-
वाक्येऽप्यनतिभाक् नते; शरीरसाध्यत्वात् तदिदं पूर्वापरकाण्डयोरनमनादपराध-
द्वयमपि हे महेश ! क्षन्तव्यम् । अन्तस्मिन् । अत्र च शान्तिकरव्यताश्रया शानविषयत्वमेवाप-
राधः । - सुकृत्स्न पापकृपापराधाभावात् अनमन्मन्वपराधहेतुरेवेति व्याख्यास्यते । अत्र
प्रणतव्यमिति अनतिभाजिति च क्रियान्वयेन समाप्तं वाक्यद्वयं नदर्थश्च अनमन्मन्वपराध-
द्वयहेतुः । पदार्थतायां दर्शयितव्यायां पदस्थानिकत्वं कल्पमेवेति हेतुव्यादाह अन-
केति प्रणयसखीति शरीरपुष्पेन हेतुमुद्यमितशस्त्रां मासुतीं वल्लदाकृत्स्नं मं प्रति
माधुर्यश्रीतिरिचम् । प्रणयिणीनां सखीनां सखीलपरिहासरसोत्प्रेषणैः प्राप्तेः अति-

एकपदार्थता यथा,

भस्मीभूजन ! भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले ! शुभम्,
हा ! सीपानपरम्परां गिरिसुताकान्तालयालङ्कृतिम् ।

अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-
लोकोच्छेदिनि मीचनामनि महामोहे निधायामहे ॥

एषु अपराधद्वये पूर्वापरजन्मनोरनमनं भुजपाते शस्त्रीप-
त्रेपः महामोहे सुखालोकोच्छेदित्वञ्च यथाक्रमसुत्तरूपो
हेतुः ।

पर्यायीकं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ।

वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत् प्रत्या-

श्रीरीषपुष्पहननेरपि यदप्रहासति तत्र वपुषि वधाय शस्त्रसुपक्षिपतस्तत्र शिरसि
आकम्बिकयमदच्छ इव मभैष रुजः पतत्विकन्वयः । अत्र वपुषि वधाय तत्र शस्त्र-
सुपक्षिपत इति कारकपदानि क्रियासाकाङ्क्षनावाक्यमनेकेषां तेषामर्थो रुज-
पाते हेतुः । एकपदे तु समासैकपदार्थनेत्यर्थः ।

भस्मीभूजनमिति । अथवसेवया आसन्नमुक्तेस्तत्त्वज्ञस्योक्तिरियम् । गात्रे भस्मना
उद्धृतभूलीकरणं भस्मीभूजनं हे तादृश ! तत्रात्र भद्रमस्तु इति त्यागोक्तिः । एव-
मपरद्वयेऽपि हा शोचामि गिरिसुताकान्तस्य महेश्वरालयेऽलङ्कृतिभृता सीपान-
परम्परां निशेषीम् एषां त्यागे हेतुमाह अद्येति । आराधनतोषितेन विभुना महि-
शेन मीचनामनि मीचतंत्रे ते महामोहे वयं निधायामहे पात्यामहे इत्यर्थः । मीचस्य
महामोहत्वं कुत इत्यत्राह दुष्पदिति । दुष्पार्कं भस्मीभूजनादीनां सपर्यासुभूजनं
तज्जन्यसुखस्यालोकोऽसुभवत्तदुच्छेदिनीत्यर्थः । मीचविशेषणमिदम् अत्र मीचस्य
महामोहत्वे सपर्यासुखाः लोकोच्छेदितं समासैकपदार्थो हेतुः दर्शित्वादाहरणवये
जनकशापकहेतून् दर्शयति एष्यति । पूर्वद्वये जनको हेतुः भस्मीभूजनेत्यत्र तु
शापकः मीचस्य महामोहताया अलीकत्वेन तज्जनकत्वासम्भवात् उक्तत्वेन इति
वाक्यविविधपदैकपदार्थत्वेन इत्यर्थः । पर्यायीकत्वज्ञापनाह ।

पर्यायीकमिति । व्याचष्टे वाच्यवाचकैति अवगमनव्यापारी व्यञ्जना यत्तत्र
इत्यत्र विवरणं यत्प्रत्यायनमिति यस्य प्रत्यायनमित्यर्थः । यादृशकारकीकप्रकारेण

यनं तत् पर्यायेण भङ्गन्तरेण कथनात् पर्यायीकृतम् । उदा-
हरणम्,

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्ज्विता ।

मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥

अत्र ऐरावणशक्तौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यङ्ग्यमपि
शब्देनोच्यते तेन यदेवोच्यते, तदेव व्यङ्ग्यं, यथा तु व्यङ्ग्यं न
तथोच्यते, यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे, गौः शुक्लचलतीति
विकल्पः, यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति, न तु यथा दृष्टं तथा,
यतोऽभिन्नासंसृष्टत्वेन दृष्टम्, भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति ।

वाच्यताचकभावाभावस्तादृशप्रकारेण अतान्पर्यायान् प्रकारान्तरेण तस्यैव व्यञ्जनया
प्रत्यायनमित्यर्थः । तेनानेकार्थशब्दस्य प्रकरणावारितद्वितीयार्थे व्यङ्ग्येनातिव्याप्तिः
तत्रोक्तप्रकारेणैव व्यङ्ग्यत्वात् संज्ञाव्युत्पत्तिमाह । तत्पर्यायेणेति ।

यं प्रेक्ष्येति । यं राजानं प्रेक्ष्य ऐरावणस्य मुखे मदेन हरेरिन्द्रस्य हृदये
मानेनाभिमानेन चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्ज्विता वासेन मदशोषात् पराजित-
त्वेनाभिमानत्यागाच्च अत्र मदमानयोः प्रेक्षणाभावात् प्रीत्यभावाच्च उक्तकारकप्रका-
रेण तात्पर्याभावाद्वाच्यानामिव मदमाने वारणहरीणां कारकान्तरप्रकारेण व्यङ्ग्यतां
दर्शयति ।

अत्रैरावणशक्तौविति । अत्र हि न प्रीतिकर्मकता मदमानकर्तृकता च
किन्तु ऐरावणशक्तकर्तृकता मदमानकता च मदमानौ मुक्तौ यस्यामित्यर्थात्
कश्चिद्विशेषणस्यापि परनिपातात् न तु मदमानाभ्यां मुक्तावित्यर्थाः । तदा तयोः
प्रेक्षणापपत्तेः ततः कारकान्तरेण तेषां व्यञ्जनाव्यङ्ग्यमपीति भङ्गन्तरं विभिन्न-
कारकतया प्रत्यायनं एवमेकस्मिन्नेक विषये उत्तरज्ञानासमानप्रकारकं पूर्वज्ञान-
मुक्ता तत्र दृष्टान्तयति यथा भवीति । दृष्टे निर्विकल्पेन गृहीतविकल्पः स-
विकल्पकज्ञानं यदेवेति । सामान्यीक्या नपुंसकत्वं य एव गौ दृष्टौ निर्विकल्पेन
गृहीत इत्यर्थः । विकल्पयति सविकल्पकेन गृह्णाति न तु यथा दृष्टमिति । अत्र
यथा प्रत्ययार्थः प्रकारीऽविवक्षितः निर्विकल्पस्य निष्प्रकारकत्वात् किन्तु यादृशं
निष्प्रकारकज्ञानेन गृहीतमित्यर्थः । निर्विकल्पकगृहीतस्य सविकल्पकेन यथैः

उदात्तं वस्तुनः सम्प्रत्,

सम्प्रत् समृद्धियोगः । . यथा,

मुक्ताः केलिविसृत्रहारगंलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः

प्रातः प्राङ्गणसीन्नि मन्थरचलद्वालाङ्गिलाच्चारुणाः ।

दूराद्दाडिमवीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः

यद्विद्वद्वनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलौलायितम् ॥

महतां चोपलक्षणम् ॥ २६ ॥

उपलक्षणमङ्गभावः । अर्थादुपलक्षणीयैः । उदाहरणम्,

तदिदमरस्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनौ ।

विशदयित्वा दर्शयति अभिप्रासंश्लेषत्वेनेति । अत्र यथाशुतार्थो न घटते निर्विकल्पकेनाभिप्रासंश्लेषत्वायहात् किन्तु अमित्रेत्यत्र नञर्थकोऽशब्दः आङ्गुपसर्गण चासंश्लेषत्वेनाट्टमितीर्थः । अशब्दस्य दृष्टमित्यत्रान्वयात् तथाच निर्विकल्पेन भिन्नत्वेनासंश्लेषत्वेन चागृह्यैतमित्यर्थः । भेदसंसर्गाभ्यामिति विशेषणविशेषभेदाऽपि विशिष्टज्ञानविषय इति मतेनेदं संसर्गमात्रं गृह्यते इति तु सर्वमतसिद्धं तदा भेदपदं विशेषणपरम् । उदात्तालङ्कारमाह ।

उदात्तमिति । वस्तुसमृद्धियोगव्यञ्जकोऽर्थः मुक्ता इति विद्वद्वनेषु केली विमूढात् किन्नत्वात् हारात् गलिता मुक्ताः प्रातः प्राङ्गणसीन्नि सम्मार्जनीभिः हताः पतितानन्तरञ्च मन्थरमशौघं चलन्तीनां बालानां नवयौवनानाम् अङ्गुलाच्चारुणाः ततश्च शृङ्गारुणत्वेन दाडिमवीजत्वेन शङ्कितविषयः केलीशुका यत्कर्षन्ति तद्भोजनृपतेस्त्यागलौलायितं लौलेवेत्यर्थः । तेन बहुमुक्तादानात् मुक्तानामीदृशोऽनादर इत्यर्थः । अत्रावज्ञायाः विदुषाञ्च मुक्तासमृद्धिव्यञ्जकोऽयमर्थः । अन्यविधमुदात्तालङ्कारमाह ।

महताच्चेति । महतामिति कर्त्तरि षष्ठी महाजनकर्त्तृकमुपलक्षणं प्रकर्षणं तदुपीङ्गभाव इत्यर्थः । तथाच स्वसम्बन्धेन महता प्रकृतौकृतोऽर्थ इत्यर्थः ।

तदिदमरस्यमिति । अरस्यं दण्डकाह्वयं व्यसनं व्यापारः रचांसि खरदूषणादवः । अत्र महापुरुषरामसम्बन्धात् प्रकृतत्वेन व्यञ्जोऽरस्यरूपोऽर्थः । अत्र वीर-

निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षः क्षयं रामः ॥

न चात्र वीरो रसः तस्येहाङ्गत्वात् ।

तस्मिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।

समुच्चयोऽसौ

तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य एकस्मिन् साधके स्थिते साधका-
न्तराणि यत्र सम्भवन्ति, स समुच्चयः । उदाहरणम्,

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः, प्रियतमो दूरे, मनोऽत्युत्सुकम्,

गाढम् प्रेम, नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः, कुलं निर्मलम् ।

स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि, मन्मथसुहृत्कालः कृतान्तोऽक्षमी,

नो मख्यश्चतुराः, कथं नु विरहः सोढव्य इत्यं शठः ॥

अत्र विरहामहत्वं स्मरमार्गणा एव कुर्वन्ति, तदुपरि प्रिय-
तमदूरस्थित्यादि उपात्तम् । एष एव समुच्चयः सदयोगेऽस-
दयोगे सदसदयोगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते । तथाहि

रसध्वनितमाशङ्कते नचात्रेति । अङ्गत्वात् उदात्तालङ्कारत्वघटकस्वीयस्थायि-
भावाश्रयरामव्यवधानेनाङ्गत्वादित्यर्थः । वीरोत्साहं हि रामप्रकर्षणेन सम्बन्धे-
नारण्यप्रकर्षः रसपदस्य स्थायिभावपरत्वात् प्रकर्षकस्य च रसलाभावात् व्यवधानेन
प्रकर्षकत्वाच्च नापराङ्गत्वम् । समुच्चयालङ्कारमाह ।

तस्मिद्धीति । प्रस्तुतस्वेति प्रस्तुतकार्यस्येत्यर्थः ।

दुर्वारा इति । इत्यम् असहत्वानिकहेतुसत्त्वात् दुःखदायिलेन शठः खलो
विरहः कथं सोढव्यः तान् हेतून् दर्शयति दुर्वारा इति तत्सर्वेऽपि पतिसान्निध्ये
स्मरमार्गणाः सोढव्या एवेत्यत आह प्रियतम इति । तर्हि मर्तुर्निव चेष्टतामित्यत आह
अतिकठिना इति तर्हि विषमक्षणादिना म्रियतां व्यभिचारो वा क्रियतामित्यत
आह कुलमिति आत्मइत्यया व्यभिचारेण वा कुलकलङ्कः स्यादित्यर्थः । तर्हि
धैर्यमीवालम्ब्यतामित्यवाह स्त्रीलमिति कालविशेषे स्त्रीणामपि धैर्यं स्यादित्यवाह
मन्मथेति वसन् इत्यर्थः । दैवानुकूले सर्वनिदमकिञ्चित्करमित्यवाह कृतान्त इति

कुलममलिनं भद्रा मूर्त्तिर्मतिः श्रुतशालिनी,
भुजबलमलं, स्फीता लक्ष्मीः, प्रभुत्वमखण्डितम् ।
प्रकृति सुभगा ह्येते भावाः, अमीभिरयं जने
व्रजति सुतरां दर्पं, राजन् ! त एव तवाङ्गशाः ॥

अत्र सतां योगः । उक्तोदाहरणे त्वसतां योगः ।

शशी दिवसधूसरो, गलितयौवना कामिनी,
सरो विगतवारिजं, मुखमनन्तरं स्वाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः, सततदुर्गतः सज्जनो,
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥

अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति शोभनाशोभ-
नयोगः ।

स त्वन्यो युगपद्या गुणक्रियाः ॥ ३० ॥

कृतान्तो दैव' कृतान्तो यमसिद्धान्तदेवाकृशलकर्मस्विति कीषः । अक्षमः क्षमारहितो
निश्चयमुद्देजक इत्यर्थः । सखीप्रयुक्तीपचारैर्विरहदुःखमुपशमय इत्यत्राह नी मख्य
इति । सयोग इति साधकानां सतां शोभनानां मिश्रितानां तेषाञ्च योग इत्यर्थः ।

कुलममलिनमिति । अयं संसारी यो जनः दर्पमहङ्कारं अङ्गुशा अहङ्कारनिवा-
रकाः ।

अत्र सतामिति । उपादेयत्वात् उक्तोदाहरणं दुर्वारा इत्यादिकं तेषामसत्त्वं
दुःखदायकत्वेनानुपादेयत्वात् । सदसद्योगे त्वाह ।

शशीति । गलितयौवनायां कामिनीत्व' विधेयम् अनन्तरं विद्यारहितं प्रभो
धनपरायणत्वं विधेयं सज्जने सततदुर्गतत्वं विधेयं नृपाङ्गणगते खलत्वं विधेयं
शोभनाशोभनेति स्वदीपेषु शीघ्रावस्था अशोभनाः दैवदीपेषु शीघ्रावस्थास्तु
शोभना अत्र गलितयौवना कामिनी धनपरायणः प्रभुर्नृपाङ्गणगतः खलस्य स्वदी-
पेषु शीघ्रत्वात् शोभनाः अन्ये तु दैवदीपेषु शीघ्राः शोभनाः । अन्यविधसमुच्चया-
जङ्कारमाह ।

स त्वन्य इति । अन्यः समुच्चय इत्यर्थः । युगपदित्येककालवृत्तित्वेन प्रतीयन्त-

गुणौ च क्रिये च, गुणक्रिये च गुणक्रियाः । क्रमेणोदाहरणम्,
 विदलितपक्कारिकुलम्
 तव बलमिदमभवदाशुं विमलञ्च ।
 प्रखलमुखानि नराधिप !
 मलिनानि च तानि जातानि ॥ [गु०गु०]
 अयमेकपदे तथा त्रियोगः
 • प्रियया चोपनतः सुदुःमहो मे ।
 नववारिधरोदयादहोभि-
 र्भवितव्यञ्च निरातपत्वरस्यैः ॥ [क्रि०क्रि०]
 कलुषञ्च तवाहितेष्वकस्मात्
 सितपङ्केरुहमोदरश्चि चक्षुः ।
 पतितञ्च महोपतीन्द्र ! तेषाम्
 वपुषि प्रस्फुटमगपदां कटाक्षैः ॥ [गु० क्रि०]

इत्यर्थः । गुणौ चेति युगपत्तावोधकयोश्चकारयोः गुणद्वयान्वितत्वे गुणयो र्थौगपद्य' क्रियाद्वयान्वितत्वे क्रिययोः गुणक्रियान्वितत्वे गुणयो र्थौगपद्य' क्रियाद्वयान्वितत्वे क्रिययोः गुणाक्रियान्वितत्वे च तयो र्थौगपद्यम् ।

विदलितेति । अत्र विमलत्वयो र्थौगपद्य' चकारद्वयस्य तदन्वितत्वात् न तु भवनजननक्रिययोः । क्रियाद्वययौगपद्यमाह ।

अयमेक इति । अयं प्रियया सह एकपदे एककालरूपे स्थाने त्रियोग इत्यन्वयः । निरातपत्वेनातपराहित्येन रस्यै र्भवितव्यं भूतमित्यर्थः । अत्राचकत्वदीघन्तु अवास्थेव अत्र भवितव्यञ्चोपनतं चेत्यन्वयः । क्रियायाः समुच्चयस्य विवक्षितत्वात् तथाच क्रिया-द्वयान्वितचकाराभ्यां तदद्वयस्यैव र्थौगपद्य' एकपदे इत्यनेनापि तद्वोधनन्तु सम्भेदे-नान्यतरवेद्यर्थभिन्नं न्यायान् युगपत्प्रयोगवाहुल्यं हि सम्भेदः द्वावितितवत् गुणक्रिया-यौगपद्यमाह ।

कलुषञ्चेति । अहितेषु शत्रुषु विषयेषु श्चि इति बहुव्रीहौ नपुंसकत्वात् क्रस्यः अत्र कालुष्यगुणपातक्रिययो र्थौगपद्य' तदन्वितत्वाच्चकारयोः । अत्र यौगपद्ये एक-देशविवक्षा नास्तीत्याह ।

धुनोनि चासिं तनुते च कौर्त्तिम् इत्यादेः, कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ ससाधुक्वादाश्च सुराः सुरालये इत्यादेश्च दर्शनात् व्यधिकरणे इति, एकस्मिन् देशे इति च न वाच्यम् ।

एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् भवति क्रियते वा स पर्यायः ।

क्रमेणोदाहरणम्

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट !

केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।

प्रागर्णवस्य हृदये, वृषलक्ष्मणोऽथ

कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥ [भ०]

यथा वा,

विम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि ! पूर्वमदृश्यत ।

धुनोति चेति । पर्यायलङ्कारमाह ।

एकमिति । भवति क्रियते वेति परेण करणे क्रियत इति अतथात्वेन भवतीति ।

नन्वाश्रयिति । ननु भीः कालकूट ! तव उत्तरोत्तरविशिष्टपदा उत्तरोत्तरोत्तरपदा आश्रयस्थितिः केनोपदिष्टा यतः प्राक् अर्णवस्य हृदयेऽथानन्तरं वृषलक्ष्मणः कण्ठेऽधुना पुनः खलानां वाचि वसतीत्यर्थः । हृदयात् कण्ठे कण्ठात् मुखस्थित्या वाच उत्तरोत्तरत्वात् कलिकाञ्च एव खलसत्त्वाद्धनेत्युक्तम् अत्र क्रमेणानेकव्युत्थितः पारण-क्रियमाणत्वाभावाद्भवन्मात्रं तापकत्वेनारोपानारोपाभ्यामकस्य स्थितिमुक्ता विशिष्टकपदार्थत्वेन एकतयाऽध्यासितस्याप्याह ।

विम्बोष्ठ एवेति । रागो रक्तभाऽनुरागश्च श्लेषादेकतयाऽध्यासितः । अत्रापि परक्रियमाणत्वं नानुक्त्या भवन्मात्रम् । परक्रियासाध्यत्वे उदाहरति श्रीश्रीबन्ध इति अस्मा मात्राणां गुणविनिमय एकेन व्यक्तस्यान्वेन गृह्यणरूपी विनिमयी यौवनेन कल्पितः तद्गृह्यति श्रीश्रीबन्ध इति । बन्धः संस्थानं संस्थानविशिष्टा श्रीश्रीत्यर्थः । यौवने श्रीश्रीस्थीत्यात् मध्यभागक्षेपणाच्च पद्मामिति यौवने हंसकुञ्जरगल्यवलम्बनात्

अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाच्चि ! लक्ष्यते ॥ [भ०]

रागस्य वस्तुती भेदेऽप्येकतयाऽध्यवसितत्वादेकत्वमविरु-
द्धम् ।

श्रीणोबन्धस्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः

पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम् ।

धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयञ्च वक्तुम्

तद्वात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनन ॥ [क्रि०]

तत्ताणं सिरिसंहोअररअणाहरणाम् हिअअमकरसं ।

विंवाहरे प्रियाया शिवेतिथं कुसुमवाणण ॥ [क्रि०]

अन्यस्ततोऽन्यथा ।

अनेकमेकस्मिन् क्रिया भवति क्रियते वा सोऽन्यः । क्रमे-
णोदाहरणम्,

नयनतारल्याञ्च धत्त इति वक्षसः कुचमत्तवत्त्वं कुचमद्वितीयत्वं तः ग्रहणाद्
द्वितीयत्वयोगी लभ्यत तदेव हि अद्वितीयत्वमास्यं कर्तुं धत्तं इत्यर्थः । यद्यपि
वक्षसा स्त्राञ्चद्वितीयराहित्यस्यैव योगः आस्येन तु स्वतन्त्रद्वितीयराहित्यधरण-
मित्यती न निनिमयो न देकस्थानेकत्व इत्यतिशयाप्यद्वितीयत्वपदश्लेषादौदृशा-
द्वितीयत्वस्यैकत्वाध्यासान्नानुपपत्तिः पृथक्श्लोकं रागद्वयस्यैव । अत्र गात्रसामान्यगण-
विनिमयस्य परक्रियमाणत्वोक्तौव गात्रविशेषश्रीबन्धादीनां गणस्य तथात्वलाभः
सामान्यस्य परक्रियमाणोक्तिं विनापि विशिष्यैव तथात्वमुदाहरति । तत्तार्णति ॥

तत्तेषां श्रीसहीदररवाहरेण हृदयमकरसम् ।

विन्वावरे प्रियाया निषिञ्चितं कुसुमवाणणिति ॥ संस्कृतम् ।

श्रीसहीदररवमष्टतं कौस्तुभश्च तदाकर्षणाद्यतानां तपामसुराणाम् एकरसं
मोहिनीरूपप्रियाया विन्वाधरे कुसुमवाणेन निषिञ्चितमित्यर्थः रवाहरणमुपेत्य
तद्गतहृदया बभूवुरित्यर्थः । अन्यविधं पर्यायमाह ।

अन्यस्ततोऽन्यथा इति । ततोऽन्यथा विपरीत इत्यर्थः । वैपरीत्यमेव व्याचष्टे
अनेकमिति । अत्रापि क्रमेण इति पूर्वोक्तमनुपपन्नौघम् ।

मधुरिमरुचिरं वचः खलानाम्
अमृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।

अथ कथयति मोहहेतुमन्त-

र्गतमिव हालाहलं विषं तदेव ॥ [भ०]

तद्ग्रेहं नतभित्ति, मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः

सा धेनुर्जरती, नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।

स क्षुद्रो मुशलध्वनिः, कलमिदं सङ्गोतकं योषिताम्

आश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥ [क्रि०]

मधुरिमिति । खलानां वचः कर्तुं प्रथमं पृथु अमृतं व्यनक्ति यतो मधुरिमणा
माधुर्येण रुचिरम् अद्यानन्तरं मोहहेतुमन्तदेव वचः खलस्थान्तर्गतं हालाहलसंज्ञकं
विषं व्यनक्तौत्यन्वयः । अतैकत्रैव खलेऽमृतविषयोः पारिक्रियमाणत्वानुक्त्या भवन-
मात्मम् । परिक्रियमाणत्वे त्वाह ।

तद्ग्रेहमिति । दरिद्रदामोदरस्य सम्पत्तिं दृष्ट्वा कस्यचिदुक्तिरियम् । अत्र
नतभित्ति ग्रेहं जरद्वेन क्षुद्रमुशलध्वनीनां दरिद्रकालीनानां स्मरणं तत्स्थाने
मन्दिरादीनान्वनभप्रमानत्वं नतभित्ति नौचपिण्डिकं दिवो लब्धावकाशं स्वर्गप्रविष्ट-
क्षुद्रं मुशलध्वनिः क्षुद्रत्वमवहृत्य दीवेल्यादवहृत्यव्यात्यत्वाच्च इयतीं भूमिं इयतीमवस्थां
दिवसैरर्थात् कतिपयैः समारोपितोऽर्थात् विधात्रा । अत्र नतभित्तिमन्दिरादीना-
मनेकेषामेकत्रैव द्विजे स्वामित्वसम्बन्धेन विधात्रा क्रियमाणत्वम् आरोपित इति
कर्मणि प्रत्ययेन कर्तुं विधातुराक्षेपात् । अत्र पर्यायद्वये परिवृत्त्यलङ्कारत्वप्रसक्तिं
निवारयति ।

अक्षति । पर्यायद्वयमिदादेकस्यैत्यस्य विभिन्नोऽन्वयः । तथाहि परिवृत्त्यलङ्कारे
एकस्य धर्मिणः किञ्चिदन्तु हानं किञ्चिदन्तु उपादानम् एकं क्रमेणेत्यादि । पर्याये तु
नैकस्य धर्मिणस्तथात्वं तत्रैकेन धर्मिणाऽर्णवादिना त्यक्तस्य विशेष्यस्यान्वेन धर्मिणा
व्रणलक्षणादिना ग्रहणात् तथाच तत्रैव एकस्य धर्मिण इत्यर्थः । अन्यस्तत इत्यादि-
पर्याये तु एकस्य धर्मस्य हानमेव नतपादानम् अन्यस्य धर्मस्योपादानमेव न तु हानं
परिवृत्तौ तु एकस्य धर्मस्य एकेन धर्मिणा हानमन्वेन धर्मिणोऽप्रदानमित्यतोऽत्र
तथा अविचक्षणान्न परिवृत्तित्वमित्यर्थः । अनुमानालङ्कारमाह ।

अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः ॥ ३१ ॥

पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनं, धर्मिणि
अयोगव्यवच्छेदो व्यापकस्य, साध्यत्वम् । यथा,

यत्रैता लहरौचलाचलदृशो व्यापायन्ति भ्रुवम्,

यत् तत्रैव पतन्ति सन्ततममौ मर्मसृष्टो मार्गणाः ।

तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो

धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदासां स्मरः ॥

साध्यसाधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किञ्चिद्वैचित्र्यमिति
न तथा दर्शितम् ।

विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।

अर्थाद्विशेष्यस्य । उदाहरणम्,

अनुमानमिति पक्षधर्मति । इत्यान्तरस्वभावप्रत्ययस्य सर्वत्रान्वयः । तेन पक्ष-
धर्मत्वेनान्वयव्यतिरेकित्वेन च त्रिरूप इत्यर्थः । धर्मिणीति हेतुरूपधर्मवर्तीत्यर्थः ।
अयोगव्यवच्छेदस्तन्निष्ठाभावाप्रतियोगित्वं व्यापकस्य ति तेनाव्यापकत्वं यत्र साध्यते
तत्र नैदृशं साध्यत्वमित्यर्थः । तत्रानुमानाभास इति भावः ।

यत्रैता इति । एतास्तरङ्गवच्चञ्चलौपान्तमयना यत्र दिशि भ्रुवं व्यापारयन्ति
नत्रैव दिशि यत्रमौ मर्मसृष्टोऽर्थात्सदनस्य मार्गणाः सन्ततमविरतं पतन्ति तत्तच्छा-
दासां शासनधरः आशाकारी स्मरोऽग्रत एव धावति । कीदृशः चक्रीकृतचापं यथा
स्यात्तथाऽञ्चितशरशालितवाणः प्रेङ्खत्करो बद्धमानपाणिः क्रोधनश्चाथात्
कामिषु । अत्र दिक्पक्षः उक्तविशेषणविशिष्टस्मरधावनवत्त्वं साध्यं मर्मस्यञ्चि-
शरपातः साधनं प्रयोगस्त्वम् असां भ्रुव्यापारविशिष्टादिक उक्तविशेषणविशिष्ट-
स्मरधावनवती तदीयमर्मसृष्टःमार्गणपातात् स्मरिषु मर्मसृक्त्वविशेषणात् क्रोधन-
त्वाद्यविशिष्टेन स्मरेण शरपातनेन व्यभिचारः पौर्वापर्यविपर्ययः क्वचित् साध्य-
स्यापि प्राङ्निर्देशः । परिकरालङ्कारमाह ।

विशेषणैरिति । साकूतैर्विशेष्यप्रकर्षे साभिप्रायेः अर्थाद्विशेष्यस्येति । प्रकर्षा-
भावकैरिति शेषः ।

महौजसो मानधना धनार्चितां

धनुर्भृतः संयति लब्धक्रीर्त्तयः ।

न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः

प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समौहितम् ॥

यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थ-
स्वीकारः कृतः तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुप-
न्यासे वैचित्र्यामित्यलङ्कारमध्ये गणितः ।

व्याजोक्तिश्छद्मनेऽद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥ ३२ ॥

निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यप-
देशेन यदपङ्गुवते, सा व्याजोक्तिः । न चैषा अपङ्गुतिः, प्रकृ-
ताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात् । उदाहरणम्,

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढस-

द्रोमाञ्चादिविसंशुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।

महौजस इति । युधिष्ठिरे चरवाक्यमिदम् । तस्य दुर्योधनस्य धनुर्भृती
वीरा असुभिः प्राणैरपि तस्य प्रियाणि समौहितं घटयितुं वाञ्छन्ति प्राणव्ययेनापि
तस्य प्रियाणि कर्तुमिच्छन्तीत्यर्थः । तेषां युद्धेऽकिञ्चित्करत्वं निरस्यति महौजस इति
मानधनत्वेन रणादपलायित्वं धनार्चित्वेन तत्कार्यानुपेक्षकत्वं संयतौत्यादिना
रणं कृतकर्मत्वं न संहता इत्यनेन एकैकस्य कार्यकरणे सामर्थ्यं न भेदवृत्त्यादिना
परस्परवेमत्येन कार्यविघातकत्वाभावः सूचितः । तेन धनुर्भृतां प्रकर्षः तथाप्येक
इति विशेषणैरित्यत्र बहुत्वस्य विवक्षितत्वादिति भावः । व्याजोक्तिप्रलङ्कारमाह ।

व्याजोक्तिरिति । व्याचष्टे निगूढमपीति उद्भिन्नपदसामर्थ्याद्भिन्नगूढत्वज्ञातः प्रभिन्नं
केनापीति छद्मनेत्यस्य व्याख्या साम्यस्याभावादिति साम्यमूलकेऽपङ्गुव एवापङ्गुत्व-
लङ्कारात् ।

शैलेन्द्रेति । उपगूढेत्यत्र भावे क्तः तथाच शैलेन्द्रेण प्रतिपाद्यमानाया उन्-
स्य दीयमानाया गिरिजाया हस्तस्योपगूढेन ईषत्स्यर्शेन उल्लसता रोमाञ्चादिना
रोमाञ्चवेषुभ्यां विसंशुलस्य व्यस्तस्याखिलवैवाहिकविधेर्व्यासङ्गस्यानुष्ठानस्य

आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान्, सस्मितम्
शैलान्तःपुरमाहमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताहः शिवः ॥

अत्र पुलकवेपथू सात्त्विकंरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया
प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः ।

किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।

तादृगन्यव्यपोहाय परिसङ्ख्या तु सा स्मृता ॥३३॥

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजना-
न्तराभावात् सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत् पर्यवस्यति, सा-
भवेत्परिसङ्ख्या अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टं,
तथा उभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति च-
त्वारो भेदाः । क्रमेणोदाहरणम्,

किमासेयं पुसां ? सविधमनवद्यं द्युसरितः,

किमेकान्ते ध्येयं ? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।

भावितया सभावितेन भङ्गेनाकुलः शिवो वोऽवतात् । धीदृशः तुहिनवतीऽचलस्य
करयोः शैत्यम् आः ! आशय्यमित्यूचिवान् सन् सस्मितं यथा स्यात्तथा शैलान्तःपुरम्
तत् स्त्रीगणेन गीर्वादिमाहमण्डलान् स्वीयगणैश्च दृष्टः रीमाद्यादि इत्यादिपदप्राप्त-
त्वादाह । वेपथू इति । सात्त्विकतर्येति सत्यगुणोद्भेदेनैव कामभावात् । परि-
सङ्खालङ्कारमाह ।

किञ्चिदिति । कथितं यत् तादृगन्यव्यपोहाय प्रकल्पत इत्यर्थः तत्कल्पन-
बीजमाह ।

प्रमाणान्तरिति । उदाहरणेषु दृष्टत्वात् सदानुक्तमपि प्रभेदत्रयमाह तर्थाभय-
त्रापीति चत्वार इति प्रश्नपरिसङ्ख्यायोर्द्वितीयं व्यपोह्यमानवाच्यत्वावाच्यत्वाभ्यां
वैगुण्येन चतुष्टम् ।

किमासेव्यमिति । किमित्यादिः प्रश्नः सविधमित्याद्युत्तरं द्युसरितः सविधं
साग्निध्वं तटम् । अत्र यद्वाततटसेवनस्य पुराणादित एव प्राप्तत्वादन्यासेवने

किमाराध्यं ? पुण्यं, किमभिलषणीयञ्च ? करुणा,
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्तौ प्रभवति ॥ [प्र०प्र०]

किं भूषणं ? सुदृढमत्र यशो, न रत्नम्
किं कार्य्यमार्थ्यचरितं सुकृतं, न दीषः ।

किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा, न नेत्रम्,
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥ [प्र०वा]

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।

काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥ [अ०प्र०]

भक्तिर्भवे, न विभवे, व्यसनं शास्त्रे, न युवतिकामास्त्रे ।

चिन्ता यशसि, न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥ [अ०वा०]

यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात्

पर्याप्तिः किमेका इति एकान्ते मरणसमये अत्रापि तथैव पर्याप्तिः एकमुत्तरद्वये-
ऽपि एषु हेतुमाह यदा सक्तति निरवधिमुक्तिरात्यन्तिकी मुक्तिः सालीक्या दिव्या
वत्सा मुक्तिरित्यर्थः । अत्रान्यव्यपीहः व्यज्ञः । वाच्यव्यपीह्यमाह ।

किंभूषणमिति । अत्र व्यपीह्यी वाच्यः अर्थे वसिष्ठादिभिश्चरितमाचरितं किं
कर्म कार्य्ये कस्यच्य सुकृतं विदाविरुद्धमित्याद्युत्तरं न दीषाः चाण्डालीगमनादिदीषाः
अत्र दीषी व्यपीह्यी वाच्यः । अप्रतिहतं व्यवधानेऽपि ग्राहकं कौटुम्बं चक्षुरिति
प्रश्नः उत्तरमाह धिषणमिति धिषणा बुद्धिः नेत्रं व्यपीह्यं वाच्यम् । जानातीति तद-
पर इति पाठे धिषणातीऽपर इत्यर्थः । त्वदपर इति पाठे तु उत्तरपरितुष्टस्य प्रष्टु-
रुत्तरयित्प्रश्नसावाक्यमिदम् । अप्रश्नपरिसङ्गां एतौयमानव्यपीह्यामाह ।

कौटिल्यमिति । करादावेव रागी न हृदीत्यर्थः तथाच कौटिल्यादिदीषा-
नवेव हृदके न सन्ति मयि तु तथापि नानुराग इत्यर्थः । मानिनीं प्रतीयमुक्तिः ।
अत्र हृदयं व्यपीह्यं व्यज्ञम् । वाच्यव्यपीह्यामप्रश्नपरिसङ्गामाह ।

भक्तिरिति । भवं महेशं युवतिरूपे कामस्यास्त्रे इत्यर्थः । अत्र विभवादी
व्यपीह्या वाच्या । कारणमालाखण्डारमाह ।

उत्तरम् उत्तरं प्रति यथोत्तरम् । उदाहरणम्,
जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणम्,
गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते,
जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥

हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः इति हेत्व-
लङ्कारो न लक्षितः आयुष्टं तमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां
कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात् ।

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाश्वासि-
षुर्न पुनर्हेत्वलङ्कारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गमेव हेतुः ।

यथोत्तरञ्चेदिति । मालादीपके पूर्वपूर्वस्यार्थस्य उत्तरीत्तरक्रियां प्रति हेतु-
त्वेऽपि सर्वेषामेकक्रियान्वयः अत्र तु न तथेति भेदः ।

जितेन्द्रियत्वमिति । स्पष्टोऽर्थः । कारणमालापदेन स्मरितस्य हेत्वलङ्कार-
स्यानुक्तवीजं वक्तुमाह ।

हेतुमतेति । हेतुमता कार्येण सहाभेदेन हेतोरभिधानमित्यर्थः । न भूषणतां
मालङ्कारतां तदुदाहरणमाह ।

अविरलेति । अविरलकमलविकासादिभिः कार्यैः सह कारणस्य वसन्-
कालस्याभेदेनाभिधानं परमते स्मते तु कमलविकासादिहेतुरित्यर्थः । आयुष्टं त-
मित्यादाविव सारोपा लक्षणा इदमप्युपलक्षणमेव अविरलः कमलविकासी यत्वेति
बहुव्रीह्यापि विवक्षितार्थसिद्ध्या नायं हेत्वलङ्कार इति मन्यम् । नन्वत्र निर्दिष्टो
नं कश्चिदलङ्कारोऽस्ति वैचित्र्यमलङ्कार इति सामान्यलक्षणाक्रान्तो वैचित्र्याविशेषोऽपि
कश्चिदिह नास्ति तत्कथमिदं काव्यमिष्यत आह ।

कोमलेति । माधुर्यीजः प्रकाशकभिन्नानां लकाराणामनुप्रासोऽत्र कोमलानु-
प्रासः कोमलापरैरित्युक्तत्वात् समाश्वासिषुः ऊचुः कोमलानुप्राससत्त्वादेवाव

क्रियया तु परस्परम् ॥ ३४ ॥

वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्,

अर्थयोरैकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्य-
नामा अलङ्कारः । उदाहरणम्,

हंसाणं सरोहिं सिरौ सारिज्जइ अह सराणं हंसैहिं ।

अस्योस्यं विअ एए अप्पाणं णवरं गरुअन्ति ॥

अत्र उभयेषामपि परस्परजनकता मिथः श्रीसारतासम्भा-
दनद्वारेण ।

उत्तरश्रुतिमात्रतः ।

प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते, तत्र वा सति ॥ ३५ ॥

असकृद् यदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ।

तन्महिम्नेत्युक्तं तदसत्त्वेऽपि प्रधानतयावस्थित्यैव सालङ्कारत्वं प्रागुक्तमत्र बोध्यम् ।
अन्योन्यसंज्ञकमलङ्कारमाह ।

क्रियया त्विति व्याचष्टे अर्थयोरिति । एकजातीययोः परस्परक्रिययोः परस्परैण
जननात् परस्परैण जनीपचार इत्यर्थः । हंसाणमिति ।

हंसानां सरोभिः श्रीः साद्येतेऽथ सरसां हंसैः ।

अन्योन्यमिव एते आत्मानं केवलं गरयन्तीति ॥ संस्कृतम् ।

सार्थते सारा क्रियते सारशब्दात् तत्क्रियते इत्यर्थे नामकारिते सति ततः
कर्मश्लाघ्यात् अथ समुच्चये सरसामपि श्रीः हंसैः सारा क्रियते इत्यर्थः । णवरशब्दः
केवले देशी गरयन्ति गुरु कुर्वन्ति गुरुशब्दात्करीत्यर्थे नामकारिते सति प्रियस्त्रि-
त्यादिना गरादेशे रूपमिदम् ।

अत्र श्रीसारताकरणक्रियाजननद्वारा परस्परस्य परस्परैण जननं दर्शयति
शब्देति । द्विविधमुत्तरालङ्कारमाह ।

उत्तरैति । उत्तरपदार्थं व्याचक्षाणो व्याचष्टे प्रतिवचनेति पूर्ववाक्यं प्रश्न-
वाक्यम् । वाचिषए इति ।

प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र कल्पते, तदेकं ताव-
दुत्तरम् । उदाहरणम्,

वाणिञ्च ! हस्तिदन्ता कुतो अङ्घ्राणं वग्घकत्तीञ्च ।

जाव लुलिञ्चालञ्चमुह्वी घरञ्चि परिसक्कइ सोण्हा ॥

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामहमर्थी, ताः मूल्येन प्रयच्छेति-
क्रे तुर्वचनम् अमुना वाक्येन समुचीयते । नचैतत् काव्यलिङ्गम्
उत्तरस्य ताद्रूप्यानुपपत्तेः । न हि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको
हेतुः, नापीदमनुमानम्, एकधर्मिनिष्ठतया साध्यमाधनयोर-
निर्देशादित्यलङ्कारान्तरमेघोत्तरं साधीयः ।

प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यत् असम्भाव्यरूपं
प्रतिवचनं स्यात् तत् अपरमुत्तरम् । अनयोश्च सङ्गदुपादाने

वाणिजिक ! हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृतयश्च ।

यावत्, लितालकमुखी गृहे परिश्रकृति क्षुषेति ॥ संस्कृतम् ।

परिष्वकृति दीप्यते क्षुषा पुत्रवधूः हस्तिव्याघ्रमारकः मम पुत्रस्तादृशवधूः
समासक्री इत्यादिमारणार्थं न गच्छतीति भावार्थः । अचीन्नीयमानं प्रश्नवाक्यं
दर्शयति ।

हस्तिदन्तेति । अर्थात्यनन्तरं ताः किं सन्तीति वाक्यशेषः । तदेव प्रश्नरूपता
स्यात् ताद्रूप्यं जनकत्वरूपहेतुत्वं तदेव दर्शयति न हि प्रश्नस्येति । न च जनक-
हेतुत्वाभावेऽपि ज्ञापकहेतुत्वादेव हेत्वलङ्कारः स्यात् कथमन्यथा भस्मीञ्चूत्तनेत्यादौ
महामीहेत्वज्ञापकस्य सपर्यासुखालीकच्छेदितस्य हेत्वलङ्कारत्वं प्राग्दर्शितमिति
वाच्यम् । ज्ञापकहेती हेत्वलङ्कारत्वेऽपि उत्तरीयमानप्रश्नातिरिक्तं ज्ञाप्यं प्रत्यं च
तथात्वात् उत्तरीयमनमप्रश्नस्य ज्ञाप्यत्वे हेतूत्तरालङ्कारत्वेनैवाप्राप्तत्वात्, न हेत्वलङ्कार-
त्वमिति भावात् ज्ञाप्यस्य निर्देश्यमानत्वे तु प्रश्नाप्रश्नाधारणमेव हेत्वलङ्कारत्वम् ।

आगतीऽसि यतस्तस्मात् किं कार्यं तव विद्यते ।

इत्यत्र निर्दिष्टप्रश्नज्ञापकस्यानमनस्याप्यत एव हेत्वलङ्कारत्वमेव प्रश्नस्य निर्दिश्य-
मानत्वात् एकधर्मि पक्षः प्रकृतं तु प्रश्नस्य तु धर्मि क्रीता प्रतिवचन

न चाकृताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम् । उदाहरणम्,

का विसमा ? देव्वर्गद्वे, किं दुःखं ? जं जनो गुणगाहो ।

किं सोऽखं ? सुकलत्तं, किं दुःखं ? जं खलो लोभो ॥

प्रश्नपरिसङ्घायामन्यव्यपोह एव तात्पर्यम्, इह तु वाच्य
एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः ।

कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाशयते ३६
धर्मेण केनचिद्दृश्यत्र तत् सूक्ष्मं परिचक्षते ।

कुतोऽपि आकारादिङ्गिताद्वा सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंबन्धः ।

उदाहरणम्,

वक्त्रस्यन्दिस्त्रेदविन्दुप्रबन्धै-

दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।

पुस्त्रं तन्वया व्यञ्जयन्ती वयस्या

स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिखन् ॥ [भा०]

भेदः । तत्र वा सतीत्यादिद्वितीयमुत्तरालङ्कारं व्याचष्टे प्रश्नानन्तरमिति । असम्भाव्य-
तायां हेतुमाह लोकातीति सूत्रे सकृदित्यस्य प्रश्नोत्तरयोर्द्वयोरेष्वन्यत्रमभिप्रेत्य
व्याचष्टे अनयोरिति प्रश्नोत्तरयोरित्यर्थः । का विषमिति ।

का विषमा देवमतिः किं लब्धव्यं जनो गुणगाहो ।

किं सौख्यं सुकलत्तं किं दुःखं खलो लोक इति ॥ संस्कृतम् ।

सौख्यं सुखोपयुक्तं दुःखं दुःखमज्ञेयस्वभावम् । प्रश्नपरिसङ्घातोऽस्य भेदमाह ।

प्रश्नेनैव सद्दयानामनुभव एव प्रमाणम् । सूत्रालङ्कारमाह ।

कुतोऽपीति केनचिद्भवेति प्रकाशयत इत्यन्वयः कुतोऽपीत्यस्वार्थमाह ।

आकारादिति । आकारात् गावचिङ्गात् इङ्गितं क्रिया ।

वक्त्रस्यन्दीति । कयापि विपर्ययितरती कृतायां तस्याः कण्ठे स्वेदविषाकृतं

कुङ्कुमं दृष्ट्वा तस्या अपि हस्ते कयापि लिखितायाः खड्गलेखायाः पुद्गलायित-
सूचिकाया वर्णनमिदम् । प्रकृतरती उत्तानाया नायिकाया वक्त्रे गलितस्त्रेदानां

अत्राकृतिमालोक्य कयापि वितर्कितं पुरुषायितम् असि-
लतालेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीतं, पुंसामेव कृपाणपा-
णिता, योग्यत्वात् । यथा वा

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

ईषन्नेत्रार्पिताकृतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥ [६०]

अत्र जिज्ञासितः सङ्केतकालः कयाचिदिङ्कितमात्रेण वि-
दितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रति-
पादितः ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षी भवेत् सारः परावधिः ॥ ३७ ॥

परः पर्यन्तभागः अवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवो-
त्कर्षस्य विश्रान्तेः । उदाहरणम्,

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं, पुरे सौधम् ।

सौधे तल्पं, तल्पे वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥

पृष्ठ एव गमनं तद्गमननु विपरीतरतावेति वक्तव्यन्दीत्यादिरयमभिप्रायः । भिन्नं द्विधा-
कृतं पुंस्त्वं पुरुषोचितक्रियाकारित्वेन न पुरुषत्वं वयस्या सखी स्यात्वा हसित्वा अवेति ।
आकृतिं कण्ठे कुङ्कुमभेदम् । इङ्कितेन तर्केण दर्शयति सङ्केतकालेति । ज्ञातव्ये
सङ्केतकाले मनोऽयस्य विटं धूर्त्तमुपनायकं तादृशं ज्ञात्वा इत्यर्थः । हसता नेत्रेणार्पितं
ज्ञापितमाकृतं भावी यत्र तादृशं यथा स्यात्तथा लीलित्यादि ।

अत्रेति । इङ्कितमवाशाब्दमपि नायिकाक्रिययैवास्मिन् । सारा-
लङ्कारमाह ।

उत्तरोत्तरमिति । परावधिः, श्लोकसमापनपर्यन्तः । तदैव वैचित्र्यानुभव
इति भावः ।

राज्ये इति । अनङ्गसर्वस्वं वराङ्गना सारमित्यन्वयः सारशब्दी जहङ्गिङ्गी-
ऽजहङ्गिङ्गश्च बोध्यः । तत्किं विभुवनसारा नाराधिता भवतेत्यागमे जहङ्गिङ्गः
नन्वत्र सप्तमी नाधिकरणार्थे राज्यस्य वसुधाधिकरणत्वानुपपत्तेः अधिकरणनिर्देशा-
नुपयोगश्च निर्धारणसप्तमीत्वे तु आधाराभेदयोः पुरसौधयोः सौधतल्पयोस्तल्पवराङ्ग-

भिन्नदेशतयाऽत्यन्तं कार्य्यकारणभूतयोः ।

युगपद्भर्मयोर्यत्र ख्यांतिः सा स्यादसङ्गतिः ॥३८॥

इह यद्देशं कारणं, तद्देशमेव कार्य्यमुत्पद्यमानं दृष्टम्, यथा धूमादि, यत्र हेतुफलरूपयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन नानादेशतया युगपदवभासनं सा तयोः स्वभावोपपन्नपरस्पर-सङ्गतित्यागादसङ्गतिः । उदाहरणम्,

जस्मै अ बणो तस्मै अ वेअणा भणइ जणो तं अलिअं ।

दन्तक्वअं कबोले बह्णए वेअणा सबत्तीणं ॥

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः भिन्नाधारतयैव द्वयो-
रिह विरोधितायाः प्रतिभासात्, विरोधे तु विरोधत्वमेकाश्र-
यनिष्ठमनुक्तमपि पर्य्यवमितम्, अपवादविषयपरिहारेणोत्स-
र्गस्य व्यवस्थितेः, तथा चैवं निदर्शितम् ।

नयोः सामान्यविशेषभावाभावान्निर्द्धारणानुपपत्तिः । न हि धटेषु पटः सुन्दर इति भवति । उच्यते राज्ये राजत्वविषये यद्यदन्तु तत्र वसुधासारं वसुधायां यद्यदन्तु तत्र परं सारमित्यादिरीत्या यद्यदन्तु तत्रेत्यध्याहारादन्वयः । तथाच राज्य इत्यत्र विषय-सप्तमी वसुधायामित्यादिविधिकरणसप्तमी । अध्याहृते तत्रेत्यत्र निर्द्धारणसप्तमीति बाध्यम् । असङ्गत्यलङ्कारमाह ।

भिन्नदेशतयेति । एकत्रैव देशेऽवच्छेदभेदेन भिन्नदेशताव्यावर्चनायात्यन्तमिति तेन दष्टी भुजङ्गेन पदेऽपि घूर्णते इत्यत्र वास्तवकथनेनातिव्याप्तिः । तत्र देशस्यैक-त्वात् केनाप्यतिशयो नातिव्यञ्जेनेति शेषः । संज्ञाव्युत्पत्तिमाह सा तयोरिति । जस्मै य इति ।

यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तदलीकं जनः ।

दन्तक्षतं कपोले बध्वाः वेदना सपत्नीनामिति ॥ संक्षतम् ।

वेदना इति । द्वितीयावहुवचनान् भणतीत्यस्य कर्मपदम् । अत्र सपत्नी-नामीर्षारूपोऽतिशयो व्यङ्ग्यः । अत्र विरोधासङ्कारत्वप्रसक्तिं निरस्यति एषेति । बाधिनी बाधिका एकाश्रयत्व इव भिन्नाश्रयत्वेऽपि विरोधप्रसक्तिरिति भावः ।

समाधिः सुकरं कार्यं कारणांतरयोगतः ।

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्ता तदक्लेशेन कार्यम् आरब्धं समा-
धोयते, स समाधिर्नाम । उदाहरणम्,

मानमस्या निराकर्त्तुं पादयोर्मं पतिष्यतः ।

उपकाराय दिश्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥

समं योगतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ३६

इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया सम्बन्धस्य नियतविषय-
मध्यवसानं चेत्तदा समम् । तत् सयोगोऽसद्योगे च । उदा-
हरणम्,

धातुः शिल्पातिशयनिकषस्थानमेया मृगात्तो,

रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपादो अरस्य

जातं देवात् मद्दृशमनयोः मङ्गतं यत् तदेतत्

शृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥ [स०]

अनुक्तमपीति एकाग्रत्व एव विरोधी न भिन्नाग्रत्वे इत्यनुक्तमपीत्यर्थः । अपत्रादिति
विशेषविधिरपवादः सामान्यविधिस्तर्गः अग्रमेव गोत्रपन्यासः तथा चेवेति
सर्वस्मिन्नेव विरोधीदाहरणं एकाग्रत्व एव विरोधी दर्शित इत्यर्थः । समाध्यल-
ङ्कारमाह ।

समाधिरिति । मानमस्या इति अत्र माननिराकरणं कार्यं पादपतनेन
तदारब्धं घनगर्जितेन सुकरं तस्योद्दीपकत्वेन मानभङ्गहेतुत्वात् । समसञ्ज्ञक-
मलङ्कारमाह ।

सममिति । धद्योम इति उत्तमयोर्योगे योग्यतासम्भावनमित्यर्थः । एव-
मपरत्रापि ।

धातुरिति । निकषस्थानं परीक्षास्थानम् अयं देव एतस्या भर्ता राजा रूपे
विषये अरस्योपरि दत्तपादो दत्तपत्रो वा पाठभेदात् पत्रं पत्रावलम्बनं अराधिक-
रूप इत्यर्थः । यद्यस्यादनयोरेतत् सङ्गतं योगी देवाज्जातं तस्यैवात् शृङ्गाररसस्य

चित्रं चित्रं वत वत महच्चित्रमेतद्विचित्रम् ।

जातो देवादुचितरचना संविभ्राता विधाता ।

यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्त्रादनीया,

यञ्चेतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥ [अस०]

क्वचिद्दुष्टदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।

कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥४०॥

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।

क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ॥३१॥

इयोरत्यन्तविलक्षणतया यत् अनुपपद्यमानतयेव योगः प्र-
तीयते [१], यच्च किञ्चिदारभमाणः कर्त्ता क्रियायाः प्रणाशात्
न केवलमभीष्टं यत् फलं न लभेत, यावदप्रार्थितमप्यनर्थं
विषयमाप्तादयेत् [२], तथा सत्यपि कार्यस्य कारणरूपानु-
कारे यत् तयोर्गुणौ क्रिये च परस्परविरुद्धतां व्रजतः [३--४]
स विपर्ययात्मा चतूरूपो विषमः । क्रमेणोदाहरणम्,

एकातपत्रं राजत्वमधुना उपगतमित्यर्थः योग्याश्रयं प्राप्येति भावः । अस-
द्योगेत्वाद् ।

चित्रमिति । अतिविशद्येऽतिदुर्घे च वीक्षितं प्रथमपरचं स्फीतिः रसः । कखा,
चातुरी । चर्विधं विषमालङ्कारमाह ।

क्वचिदिति । श्लेषो धीनः घटनामुपपद्यमानतां गुणक्रिये विरुद्धे इति क्रमेण
विषम इति चान्वयः । तत्र प्रथमं विषमं व्याचष्टे इयोरिति अनुपपद्यमानतयाऽनु-
चिततया क्लृप्तप्रयोगे इदं बोध्यं कर्तुः क्रियेत्यादि व्याचष्टे मञ्चेति । क्रियायाः
प्रणाशादिति उद्देश्यफलाजननमैवात्र प्रणाशः । फलानवाप्तौ क्रियाध्वंसस्याहेतुत्वात्
हेलन्तरादेव तदप्राप्ते उदाहरणे च तद्बोध्यम् ।

गुणक्रियाभ्यामित्यादिकं व्याचष्टे सत्यपीति । अनुकारः सादृश्यं कार्यस्य कारण-
गुणादिसादृश्ये नियते सतीत्यर्थः । यद्यपि समवायिकारणगुणाद्यनुकार एव

शिरौषादपि ऋङ्गौ क्लेयमायतालोचना ।

अयं क्वच कुकूलाम्निकर्कशी मदनानलः ॥ [२]

सिंहिकासुतसन्धस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः ।

जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ॥ [२]

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं । रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥ [३]

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ! ददासि त्वम् ।

विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥ [४]

अत्रानन्ददानं शरीरतापेन विरुध्यते । एवं,

कार्यस्य तथापि कविनाऽन्यत्रापि तथात्वं सम्भाव्य तयो गुणक्रियाविरोधी वर्णयित् इत्यर्थः । एतदप्युदाहरणे बोध्यम् ।

शिरौषादपीति । क्व क्व तु सा अत्र नायिकामदनाग्न्यीर्योगीऽनुचिततथैव क्रमयेन प्रतिपादितः । कर्कः क्रियेत्यादिकमुदाहरति ।

सिंहिका सिंही तत्सुतः सिंहः अन्यः सिंहिकाया राहुमातुः सुती राहुः साश्रयमाश्रयचन्द्ररहितं शीतांशी शशदर्शनात् सिंहवासादिकमवाप्तवर्मापि सम्भावितं बोध्यम् । शीतांशुमाश्रयणं क्रिया सिंहिकासुतात्तत्त्वं फलं क्रियायास्तदजननरूपात् प्रणाशात् मदनाग्निराश्रयचन्द्रयासीऽधिकोऽनर्थः । कार्यकारणयो गुणविरोधमाह ।

सद्य इति । कृपाणः खड्गः लेखाकारत्वान्निष्ठा तमालवत् नीलापि सा प्रतिरणो यस्य करस्पर्शमवाप्य शरदिन्दित्यादिकं यशः सद्यः प्रसूते इत्यन्वयः । अत्र कारणस्य खड्गस्य गुणी नीलिमा खड्गकार्यस्य यशसो गुणः पाण्डुत्वं विरुद्धं तादृशकारणकारणयो गुणानुकारस्तु सम्भावित एव न तु वास्तवः । तयोः क्रियाविरोधमाह ।

आनन्दमिति । कुवलयेत्यादिकं सम्बोधनम् अत्र कारणस्य नायिकायाः कार्यमानन्ददानं क्रिया नायिकाकार्यस्य विरहस्य तापनं क्रियाविरुद्धा तदाह ।

अत्रेति । इत्यं निमित्तकारणयोः क्रियाविरोधमुदाहृत्य अवयवावयवत्वे कारणकार्ययोः क्रियाविरोधमुदाहरति ।

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा
 भुवनानि यस्य पपिरे शुगक्षये ।
 मदविभ्रमासकलया पपे पुनः
 स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥

इत्यादावपि 'विषमत्वं यथायोगमवगन्तव्यम् ।

महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।

आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकन्तु तत् ४२

आश्रितमाधेयम् आश्रयस्तदाधरः तयोर्महतोरपि विषये
 तदपेक्षया तनू अप्याश्रयाश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया
 यथाक्रमं यत् अधिकतरतां व्रजतः, तदिदं द्विविधम् अधिकं
 नाम क्रमेणोदाहरणम्,

अहो विशालं भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम् ।

माति मातुमशक्वोऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥ [आश्र०त०]

एवं विपुलेनिति : सागरशयस्य सागरशयनविशिष्टस्य क्लृप्तस्य विपुलेन कुक्षिणा
 उदरेण युगक्षये भुवनानि पपिरे पीतानि । स क्लृप्तः पुनरेकतमया पुरस्त्रियाऽसक-
 लया कटाक्षरूपया एकया दृशा पपे पीतः एकया नायिकया कटाक्षेण सर्वाङ्गीनं दृष्ट
 इत्यर्थः । अत्र कुक्षिरवयवः कारणम् अवयविनः सागरशयस्याभिन्नः श्रीकृष्णः
 कार्यः । कारणस्य क्लृप्तेः क्रिया भुवनपानं कार्यस्य श्रीकृष्णस्य क्रिया तु कर्मतामन्व-
 न्नेन कटाक्षेण पानं तद्विहङ्गं भुवनपादक्लृप्तमतः । कटाक्षेण पेयतया विहङ्गत्वेनैवा-
 भासात् यथाश्रीगं यथासम्भवं त्रिलक्षणकार्याणां यत्र येन सम्बन्धेन विरोधः सम्भ-
 वति तादृशविरोध एवालङ्कार इत्यर्थः । अधिकसंज्ञकमलङ्कारमाह ।

महतीरिति । महतीराश्रिताश्रययोराश्रयाश्रयिणौ तनुत्वेऽपि बन्महीयांसौ
 बन्धनावशात् स्यातां तद्व्यथासङ्गां द्विविधोऽधिकसंज्ञकोऽलङ्कार इत्यर्थः । तत्र
 तनुभूतस्याश्रवसाश्रितापेक्षया महत्त्वमाह ।

अहो विशालमिति । माति अथकाशं लभते । अत्र यशोराशिराश्रितौ

युगान्तकालप्रतिसंहतात्मनो
जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विष-

स्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥ [आश्रित०त०]

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।

या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ ४३ ॥

न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन केनापि यत्, तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणं तत् अनौकप्रतिनिधितुल्यत्वात् प्रत्यनोकमभिधोयते । यथाऽनीकं अभियोज्ये तत्प्रतिनिधिभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते तथेह प्रतियोगिनि विजये तदोयोऽन्या विजोयते इत्यर्थः ।
उदाहरणम्,

महत्त्वेन कविना विवक्षितः तदपेक्षया तनोर्भुवनत्रितयोदरस्य महत्त्वम् । तनु-
भूतस्याश्रितस्याश्रयापेक्षया महत्त्वमाह ।

युगान्तेति । यस्य कैटभरिपोर्विषो यस्यां तनौ जगन्ति सविकाशमयन्त्व-
मासत तस्यां तपोधनस्य नारदस्याभ्यागमसम्भवा मुदो न ममुः नावकाशं लेभिरे
इत्यर्थः । कैटभरिपोः कौटशस्य युगान्तकाले प्रतिसंहताः स्वीदरे प्रवेशिता
आत्मानः प्राणिनो येन तादृशस्य तनुदयभेदेऽपि कैटभरिपुसम्बन्धित्वेनैकत्वाध्यासाद्-
यस्यां तत्रेति नानुपपन्नम् अत्राश्रयस्तनु मङ्गती तदपेक्षया तन्वीनां मुदां महत्त्वं
वर्णितम् । प्रत्यनीकालङ्कारमाह ।

प्रतिपक्षमिति । प्रतिपक्षं प्रतिकर्तुं तिरस्कर्तुं अशक्तेन केनापि या तत्सम्ब-
न्धिनोऽन्यस्य तिरस्क्रिया तस्य प्रतिपक्षस्यैव स्तुत्यै पर्यवस्यति सा प्रत्यनीकनामा-
लङ्कार इत्यर्थः । व्याचष्टे ।

न्यक्कृतीति । इदं प्रतिकरणबीजं दर्शितम् । संश्राव्युत्पत्तिमाह तदनीकेति
प्रतिनिधितुल्यतां याहयति यथेति ।

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः, सा च सुन्दर ! भवत्यनुरक्ता ।
पञ्चभि र्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ।

यथा वा,

यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः कायनियहृष्टहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशमिन्दुमधुनापि बाधते ॥

इन्द्रोरत्र तदीयता सम्बन्धिसम्बन्धात् ॥

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यत् निगूह्यते ।

निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ४४

सहजम् आगन्तुकं वा किमपि साधारणं यत् लक्षणं, तद्-
द्वारेण यत्, किञ्चित्कोनचिद्वस्तु वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरो-
धायते तत् मीलितमिति द्विधा स्मरन्ति । क्रमेण उदाहरणम्
अपाङ्गतरले दृशौ, मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्यरा गतिरतीव कान्तं सुखम् ।

त्वं विनिर्जितेति । विनिर्जितो मनोभवरूपो येन त्वं तादृशः सा चेति
भवति त्वयि अनेन तस्यासदीयत्वं दर्शितम् । अतः पञ्चभिरित्यादि अनुशब्दात्
क्रोधजात् दुःखात् ।

यस्य किञ्चिदिति । विष्णुना पुरा राज्ञोः शिरश्चिन्नमतस्तादृशकायनियहृष्ट-
हीतमत्सरी राज्ञे विष्णुस्वरूपस्य यस्य श्रीकृष्णस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः स न तस्य
कमनीयवक्त्रसदृशमिन्दुमधुनापि बाधते इत्यर्थः । मात्सर्योऽपि च मत्सर इति कीषः ।
सम्बन्धिसम्बन्धादिति श्रीकृष्णस्य सम्बन्धि तद्वक्त्रं तस्माद्वक्त्ररूपसम्बन्धादित्यर्थः ।
द्विविधं मीलिताख्यमाह ।

समेनेति । निगूह्यनानस्य यल्लक्ष्यं चिह्नं तत्समेन निगूहकस्य लक्षणा निजेना-
गन्तुकैव वा वस्तु यन्निगूह्यते तन्निगूह्यमेव निजागन्तुकत्वभेदात् द्विविधी मीलिताख-
्यमाह इत्यर्थः । तत्र निजलक्षणायाह ।

अपाङ्गिति । अगदृशः अपङ्गके अर्थात् यौवने सति स्वती खीलयामपाङ्गे तरख-

इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वती लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥ [स०]

अत्र दृक्तरलतादिंकमङ्गस्य स्वाभाविकं साधारणञ्च
मदोदयेन तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-
स्वत्पातशङ्कितधियो विवशा द्विषस्ते ।

अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पम्
तेषामहो वत भियां न बुधोऽप्यभिन्नः ॥ [आ०]

अत्र तु सामर्थ्यात् अवमितस्य शैत्यस्यागन्तुकत्वात् तत्प्रभ-
वयोरपि कम्पपुलकयोस्तादृष्यं ममानता च, भयेष्वपि तयो-
रुपलक्षितत्वात् ।

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परम्परम् ।

विशेषणतया यत्र वस्तु, सैकावली द्विधा ॥ ४५ ॥

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो वीक्षया विशेषणभावेन
यत् स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैः एकावली
भण्यते । क्रमेणोदाहरणम्,

त्वादिकं यत् स्फुरितं तत्तस्मात् मदोदयो मदिरापानाधीनोऽव मत्ततीदयः कृतपदी-
ऽपि न लक्ष्यते इत्यर्थः । आगन्तुकलक्षणमाह ।

ये कन्दरास्त्रिति । ये तत्र द्विषस्त्वर्दाभिपातशङ्कायुक्तधियः सन्तः सदाः हिमाद्रेः
कन्दरासु निवसन्ति उद्वतपुलकं, सकम्पञ्जाङ्गमुद्वहतामपि तेषां भियांमभिन्नी बुधः
पण्डितोऽपि नेत्यर्थः । वत खेदे हिमसम्बन्धेनापि पुलकादिसम्भवादिति भावः । ननु
कम्पपुलकयोस्तदङ्गुलित्वात् कथममागन्तुकत्वमित्यत आह अवेति । सामर्थ्यं
हिमाद्रिपदलभ्यहिमस्यावसितस्य प्राप्तस्य तादृष्यमागन्तुकत्वम् । एकावल्यलङ्कारमाह ।

स्थाप्यते इति । यथापूर्वं पूर्वं पूर्वं वस्तु नियतं परं परं वस्तु विशेषणतया स्थाप्यते
अपीक्ष्यते वा तद्बुद्ध्यभावप्रतिषेधितया निर्दिश्यते वेत्यर्थः ।

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि
 वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्गः ।
 रूपं समुन्मीलितसद्विलासम्,
 अस्त्रं विलासा कुसुमायुधस्य ॥ [स्था०]
 न तज्जलं, यन्न सुचारुपङ्कजम्,
 न पङ्कजं तत्, यदलीनषट्पदम् ।
 न षट्पदोऽसौ, कलगुञ्जितो न यः,
 न गुञ्जितं तत्, न जहार यन्मनः ॥ [नि०]

पूर्वत्र, पुराणां वराङ्गनाः, तासाम् अङ्गविशेषणमुखेन-
 रूपं, तस्य विलासाः तेषामप्यस्त्रमित्यमुना क्रमेण विशेषणं
 विधीयते । उत्तरत्र प्रतिषेधेऽप्येवं योज्यम् ।

यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।

स्मरणम्

यः पदार्थः केनचिदाकारेण नियतः यदा कदाचित् अनु-
 भूतोऽभूत् स कालान्तरे स्मृतिप्रतिबोधाधायिनि तत्समाने

पुराणीति । यस्यां नगर्थ्यां पुराणि वराङ्गनासहितानि वराङ्गनाश्च रूपेत्यादिः
 एवमपरत्रापि अत्र पुरादिषु वराङ्गनादिकं विशेषणतया स्थापितम् ।

न तज्जलमिति । शरत्कालवर्णनमिदम् । अत्र सुचारुपङ्कजत्वाभाववन्तमुद्दिश्य
 तदोयजलत्वाभावी विषेयः पूर्वनिर्दिष्टः । तद्दृष्टेराभावस्य प्रतियोगितया सुचारुपङ्क-
 जत्वमुक्तं सुचारुपङ्कजत्वञ्च सुचारु पङ्कजं यत्रेति बङ्गव्रीहिणा सुचारुपङ्कजमेव विशे-
 षणमपोहितम् । एवमुत्तरत्रापि । ननु वराङ्गनानां विशेषणं न रूपं किन्त्वङ्गमेव
 तत्रात्र समुन्मीलितेत्यादिकं कथं पूर्वनिर्दिष्टविशेषणतया स्थापितम् अविशेषणे रूपे
 एव विशेषणतया स्थापितत्वादित्यतो रूपस्यापि परम्परया विशेषणत्वमुपपादयति
 तन्मिति । अरथाखण्डारमाह ।

वस्तुनि दृष्टे सति यत्, तथैव स्मर्यते, तत् भवेत् स्मरणम् ।
उदाहरणम्,

निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः प्राविंतं चलदृशां लहरीभिः ।

तद्भवेः कुहुरुतेः सुरनार्थः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥

यथा वा,

करजु प्राग्निभ्रजमोआत्यनमुहविणिवेसिआहरपुडस्स ।

समरिअपञ्चजस्स एमह कण्हस्स रोमच्चम् ॥

भ्रान्तिमान् अन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ॥ ४६ ॥

तदिति अन्यत् अप्राकरणिकं निर्दिश्यते तेन समानम्
अर्थादिह प्राकरणिकम् आश्रीयते, तस्य तथाविधस्य दृष्टौ
सत्यां यत्, अप्राकरणिकतया संवेदनम् स भ्रान्तिमान्, न चेष्ट
रूपकं प्रथमातिशयोक्ति र्वा तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात् इह

यथानुभवमिति । वृत्तावेशस्य स्पष्टा व्याख्या स्मृतिप्रबोधः उद्बोधः तथैवेति
पूर्वानुभूतरूपेष्वेवेत्यर्थः ।

निम्नेति । अपसरसां जलक्रीडावर्णनमिदं चलदृशां नारीणां निम्ननाभिकुहास्य-
लहरीभिस्तरङ्गै र्यदम्भः प्रावितं प्रवेशितं कुहुरुहेत्यव्यक्तस्वतैः सुरनार्थः सुरतकण्ठ-
रुतानि स्मारिताः । स्मृत्यर्थकर्मणि षष्ठी । सुरनार्थस्य कारितान्नात् कर्मणि क्तप्रत्यय-
नीक्ताः । करजुएति ।

करयुगट्छोतयशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य ।

संस्मृत पाञ्चजन्यस्य नमत कृण्वस्य रोमाच्चमिति ॥ संस्कृतम् ।

भ्रान्तिमदलहारमाह ।

भ्रान्तिमानिति । अन्यसदृशस्य प्राकरणिकस्य दर्शने सति यदन्वत्वेन संवे-
दनमित्यर्थः । एवमेव व्याख्यातुं तत्तुल्यत्वं तत्पदार्थं व्याचष्टे तदिति । तथा-
विधस्य प्राकरणिकस्य तुल्यस्य नचैतदिति प्राकरणिकस्य मुख्यस्य अप्राकरणिकचन्द्र-
तुल्यत्वेन संवेदनाद्रूपकत्वप्रसक्तिः । ननु रूपके प्राकरणिकस्य मुख्यस्य शब्दत्वमत्र तु
न तथेति भेद इत्यत आह प्रथमेति कमलमननभसोत्यादौ सुखानुक्तिरूपनिगरण-

च अर्थानुगमनेन संज्ञायाः प्रवृत्तेः तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात्
उदाहरणम्,

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेदि शशिनः,
तरुच्छिद्रप्रोतान् विसमिति करी सङ्कलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति,
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो ! विप्लवयति ॥

आक्षेप उपमानस्य, प्रतीपमुपमेयता ।

तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥४७

अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थेन यत्
उपमानमाक्षिप्यते, यदपि, तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्योपमा-
नान्तरविवक्षयाऽनादरार्थमुपमेयभावः कल्प्यते, तत् उपमेय-
स्योपमानप्रतिकूलवर्तित्वात् उभयरूपं प्रतीपम् । क्रमेणोदा-
हरणम्,

लावण्योक्ति सप्रतापगरिमख्यग्रेसरे त्यागिनाम्,
देव ! त्वय्यवनोभरत्तमभुजे निष्पादिते वैधसा ।

रूपा प्रथमातिशयोक्तिरित्यर्थः । वस्तुता भ्रमस्येति आहार्यज्ञानविषयत्वात्तस्येत्यर्थः ।
अर्थानुगमनेनेति विषयतासम्बन्धेन भ्रान्तिविशिष्ट इत्येवमर्थावगमः । बाधावतारान्
पूर्वं भ्रमः बाधकालीनन्वाहार्यं तच्च भ्रमप्रमाभिन्नं तृतीयज्ञानमेवेति तस्मिन्नाहः ।

कपाले इति । अहो प्रभामत्तश्चन्द्र इदं जगत् विप्लवयति । तद्दर्शयति कपाले
इति कपाले स्थालीकर्परे पय इति दुग्धमिति । तरुच्छिद्रं तरुपवान्तरालं तेन प्रोतान्
प्रविष्टान् करानित्यन्वयः । विसं मण्डलं सङ्कलयति गृह्णाति वनिता च नग्रा-
बोध्या । द्विविधं प्रतीपालङ्कारमाह ।

आक्षेप इति । आक्षेपो विफलतयाऽधिक्षेपः तस्य उपमानस्य उपमेयता यदि
वा कल्प्या इत्यन्वयः । कैमर्थेन किमर्थतया वैयर्थेन संज्ञाव्युत्पत्तिमाह तदुप-
मेयस्येति ।

इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा, किमुत्पादितम्
चिन्तारत्नमदो, मुधैव किममौ सृष्टाः कुलज्जाभृतः ॥ [आ०]

ए ! एहि दाव सुन्दरि ! कस्यं दाऊण सुणसु बअणिज्जं ।
तुह्य मुहेण किमोअरि ! चंदो उअमिज्जइ जणेण ॥ [अनि०]

अत्र मुखेनोपमीयमानस्य शशिनः स्वल्पतरुगुणत्वात्
उपमित्यनिष्यत्या बअणिज्जमिति वचनीयपदाभिव्यङ्ग्यस्तिर-
स्कारः । क्वचित्तु निष्यन्नैवोपमितिक्रिया अनादरनिबन्धनम् ।
यथा,

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि मुग्धे ! ।

सन्तोदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥ [नि०]

इहोपमेयीकरणमेव उत्पलानामनादरः । अनयैव रीत्या
यत् असामान्यगुणयोगात्, न उपमानभावमपि अनुभूतपूर्व

लावण्यीकसीति । हे देव ! लावण्यादिविशेषणचतुष्टयविशिष्टे त्वयि बंधसा-
निष्पादिते इन्द्रादिचतुष्टयनिष्पादनं त्रयेति पूर्वापरार्थाः । तत्रैव लावण्यवत्त्वादिन्द्रा-
र्वैयर्थ्यम् एवं तत्रैव मतप्रतापगरिभक्त्यात् पूषाः सूर्यस्य तत्रैव त्यागाधिक्याद्विन्ता-
रदस्य तत्र भक्त्यैवावनीभक्तमत्वात् कुलज्जाभृता वैयर्थ्यमित्यर्थः । उपमान-
योपमेयताकल्पनमाह ।

ए एहीति । ए ! एहि तावत् सुन्दरि ! कस्यं दत्त्वा शृणु वचनीयम् ।

तव मुखेन ह्यशीदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन इति ॥ संस्कृतम् ।

ए इति । प्राकृतसाक्षेपसम्बोधने । वचनीयं परिवादम् । चन्द्रस्यैव मुखस्य
उपमानं न भवतु तस्य तन्मुखीपमेयताऽपि तन्मुखस्य परिवाद इत्यर्थः । अर्वाति
वचनीयपदाभिव्यङ्गतया उपमित्यनिष्यत्या इत्यन्वयः ।

• गर्वमिति । 'असंवाह्यं संबोदुमयोग्यं लोचनयुगलेन गर्वं किं वहसीत्यन्वयः ।
सन्तीदृशानीति । इदं लोचनयुगलमिव दृश्यन्ते यानि इत्यर्थे नीलनलिनानामुप-
मानानामुपमेयताकल्पनं तेषां तिरस्कारनिबन्धनं नीलादिपदीपपदपद्मवाचकपदाना-
मेवोत्पलबीधकत्वमती नलिनपदस्यापि तथात्वम् । उपमितिस्तु वचनीयपदाभावः ।

सहते, तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम् ।
यथा,

अहमेव गुरुः सुदारुणानाम्
इति हालाहल ! तात ! मा स्म दृष्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो
भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥

अत्र, हालाहलस्योपमानत्वमसम्भाव्यम् एवोपनिबद्धम् ।

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।

एकात्म्यं बध्यतेयोगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम् ४८

अतादृशमपि तादृशतया विवक्षितं यत् अप्रस्तुतार्थेन
सम्पृक्तमपरित्यक्तनिजगुणमेव तदेकात्मतया निबद्धते तत्
समानगुणनिबन्धनात् सामान्यम् । उदाहरणम्,

त्रिपुत्रैश्च उपमानमधिचिष्य यत्र तस्य उपमानता कल्पते तत्रापि तस्याधिचिपवशात्
तिरस्कारिणायमलङ्कार इत्याह अनर्थेवेति । तथाच तस्य उपमेयता कल्प्या इत्युप-
लक्षणम् उपमानस्य तिरस्कारमार्तेऽयमलङ्कार इत्यर्थः । यदसामान्येति । असा-
मान्यस्य असाधारणस्य योगाद्य उपमानभावस्तं यत्र सहते इत्यर्थः । तदसहनञ्च-
धिपवशादिति बोध्यम् । तस्य तत्कल्पनायां उपमानताकल्पनायाम् ।

अहमेवेति । हे हालाहल ! तात ! अहमेवेत्यादि कृत्वा दृष्यो मास्म दपं
मा कुर्वित्यर्थः दर्पाकरणे हेतुमाह नन्विति । भवदिव दृश्यन्ते यानि तानि भवा-
दृशानि भवदुपमेयानीत्यर्थः ।

अवेति । असम्भाव्यं दर्पकरणनिषेधरूपादधिचिपत् । सामान्यसंज्ञकमल-
ङ्कारमाह ।

प्रस्तुतस्येति । प्रस्तुतस्य प्रकृतस्य अन्येनाप्रकृतेन सहैकात्म्यमभेदी बध्यत
इत्यर्थः । एकात्मता बन्धश्च भेदेनानुपलभ्यमानतया पर्यवसित एव बोध्यः । रूपके-
ऽप्येकात्मताबन्धसत्त्वान्तहारणायाह योगादिति । सम्पृक्तमिति तस्यैव व्याख्या

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः

सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।

शशभृति विततधान्नि धवल्लयति धरामविभाव्यतां गताः ।

प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥

अत्र प्रस्तुततदन्ययोः अन्यूनानतिरिक्ततया निबद्धं धवल-
त्वमेकात्मताहेतुः, अत एव पृथग्भावेन न तयोः उपलक्षणम् ।

यथा वा

वेत्रत्वचां तुल्यरुचां बधूनां कर्णायतो गण्डतलागतानि ।

भृङ्गाः सहैलं यदि नापतिष्यन् को वेदयिष्यन्नवत्सम्पकानि ॥

अत्र निमित्तान्तरजनितापि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रति-
पन्नमभेदं न व्युदसितुमुत्सहते प्रतीतत्वात्तस्य, प्रतीतिश्च बाधा
योगात् ।

व्यवसायतद्गणालङ्कारवारणाय पूरयित्वा व्याचष्टे अपरित्यक्तेति तद्गुणे तु निज
गुणत्यागः । संज्ञाव्युत्पत्तिमाह समानेति ।

मलयजेति । शशभृति चन्द्रे धरां धवल्लयति सति अविभाव्यताम् अपरिचयेता
गता अभिसारिका निरस्तलोकपरिचयत्वभियः सत्यः प्रियवसतिं सुखमेव प्रयान्ती-
त्यन्वयः । अपरिचयत्वं हेतुमर्भविशेषणमाह ।

मलयजेत्यादि । दन्तपत्रं हस्तिदन्तकृतभ्रूषाविशेषः । एतादृशश्चेताभरणादपरि-
चयेता तद्गुणादेकात्मताबन्धः पर्यवस्यति ।

वेत्रत्वचेति । प्राच्यदेशे वेत्रविशेषो गौरत्वक् तदीयत्वचा तुल्यरुचां बधूनां
कर्णायतो गण्डतलागतानि नवत्सम्पकानि कश्चम्पकत्वेनावेदयिष्यत् यदि सहैलं
सलीलं भृङ्गा नापतिष्यन् क्रीडात् दष्टं गण्डेऽपि पतनसम्भवात् सहैलमित्युक्तं
गण्डचम्पकयोर्वर्षसाभ्यादपरिचयः । अत्रापि भेदेन परिचयेताभावादेकात्मता
पर्यवसानम् ।

अत्रेति । निमित्तान्तरं भृङ्गपातः व्युदसितुम् अप्रतीतिं कर्त्तुं बाधायोगात्
अप्रतीतिकरणत्वायोगात् पुनः प्रतीत्यजननरूपीऽप्रासास्यज्ञानरूपी वा बाधस्तु

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।

एकात्मा युगपद्बृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥ ४६ ॥

अन्यत् प्रकुर्वतः कार्य्यमशक्यान्यस्य वस्तुनः ।

तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥५०॥

प्रसिद्धाधारपरिहारेण यत्, आधेयस्य विशिष्टा स्थितिः
अभिधीयते, स प्रथमो विशेषः । उदाहरणम्

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।

रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥

एकमपि वस्तु यत् एकेनेव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्त्तते,

स द्वितीयः । उदाहरणम्

सा वसद् तुह्य हिअए, सा चेअ अक्कोसु सा अ वअणिसु ।

अह्मारिमाणं सुन्दर ! ओआसो कथं पात्राणं ॥

यदपि किञ्चिद्भ्रमसेनावभमाणस्तेनेव यत्ने नाशक्यमपि

कार्यान्तरमारभते, सोऽपरो विशेषः । उदाहरणम्

अस्यैव तथाच पूर्वं तादृशप्रतीतिकशादेवायमलङ्कार इति भावः । त्रिविधं
विशेषालङ्कारमाह ।

विनेति । वृत्तावेवास्य स्पष्टा व्याख्या ।

दिवमपीति । दिवमुपयातानामपि येषां कवीनामनल्पगुणगणा गिरः आकल्पं
रमयन्ति ते कवयः कथमिव न वन्द्या इत्यर्थः । अत्र कर्तृतासम्बन्धेनाधाराः
कवयः । द्वितीयं विशेषं व्याचष्टे एकमपीति एकात्मा इत्यस्य विवरणमेकेनैवेति ।
सा वसद् इति ।

सा वसति तव हृदये सा चेवाक्षिषु सा च वचनेषु ।

अस्मादृशौनां सुन्दर ! अवकाशः कथं पापानामिति ॥ संस्कृतम् ।

अत्र हृदयाद्यनेकेषु विषयितासम्बन्धेन एकस्या नायिकाया वृत्तिः । तृतीयं

स्फुरदङ्गुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यवियम् ।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता वृहस्पतिश्च ॥

यथा वा,

गृहिणी सचित्रः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेन अवतिष्ठते-
तां विना प्रार्येणालङ्कारत्वायोगात् अत एवोक्तम्,

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः, अनयाऽर्थो विभाव्यते ।

यन्नोऽस्यां कविना कार्य्यः, कोऽलङ्कारोऽनया विना इति ॥

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।

वस्तु तद्गुणतामेति, भण्यते, स तु तद्गुणः ॥५६

विशेषं व्याचष्टे यदपि चेति । आरभते जनयति स्फुरदिति । स्फुरदित्यादिविशेषण-
वयविशिष्टं त्वां सृजता विधिना सत्यं भुवि मनोभवादितयं ससृजे ।

स्फुरदित्यादि विशेषणान्मनीभवस्य उत्प्रतापेत्यादिविशेषणात् सवितुः अनव-
द्येत्यादिविशेषणान् वृहस्पतिः सजेनं नव इति विश्वेव सङ्गमनीयं त्वमेव भुवि
नवमेतत् तयमित्यर्थः । भावसृजनमदाहृत्य अभावसृजनमदाहरति ।

गृहिणीति । इन्दुमतीमरणेऽजप्रियापोऽयम् । मिथी रहसि ललिते
कलाविधौ सुरतकेली त्वां हरता निष्करुणेन विधिना मम किं न हृतं तदद ।
गृहिणीत्यादिचतुष्कं हृतं तच्चतुष्कमेव मम सर्वस्वमिति भावः । अतस्तव हरणादन्य-
तयहरणम् । ननु पूर्वश्लोकेन वस्तुती मनोभवादिदृष्टजनं परश्लोके च न वस्तुतः स्वि-
वादिहरणम् एव पूर्वोक्तालङ्कारिष्वपि यद्यदुक्तं तत्तत्र वास्तवमित्यत आह सर्वत्र व-
मिति उक्तवक्ष्यमाणेष्वित्यर्थः । अतिशयोक्तिराहाय्यारीपीक्तिः प्रार्येति । यथा-
सङ्गादिकतिपयालङ्कारान् विवेत्यर्थः । सैषेति । वक्रोक्तिराहाय्यारीपीक्तिः
विभाव्यते वैचित्र्यरूपेण विशेषेण भाव्यते प्रतीयत इत्यर्थः । तद्गुणालङ्कारमाह ।

स्वमुत्सृज्येति । तद्गुणताम् उत्ज्वलगुणोयगुणवत्तां व्याचष्टे वस्तु तिरक्त-

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपं केनापि समीपगतेन प्रगुणतया
स्वगुणसम्पदोपरक्तं तत्पृतिभासमेव यत् समासादयति, स तद्-
गुणः, (तस्य अप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तौति) । उदाहरणम्,

विभिन्नवर्णां गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।

रत्नेः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥

अत्र रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य, तदपेक्षया च हरि-
न्मणीनां प्रगुणवर्णता ।

परगुणाननुहारस्तस्य, तत् स्यादतद्गुणः ।

यदि तु तद्वीर्यम् वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायाम् इदं
न्यूनगुणं न गृह्णीयात्, तथा भवेदतद्गुणो नाम । उदा-
हरणम्,

धवलोऽमि जह्वि सुन्दर ! तद्वि तुए मज्ज रंजिअं हिअअं ।
राअपूरिए वि हिअए सुहअ ! णिहितो ण रत्तोऽमि ॥

तेति । वस्तुतः समुत्सृजनाभावात्तिरस्कार एव समुत्सृजनामिति भावः । तिर-
स्कारहेतुमाह योगादिति तद्विवरणं केनापीत्यादि ।

विभिन्नवर्णां इति । यत्र गिरौ सूर्यस्य रथ्या रथतुरगाः स्वभावतो हरिद्वर्णा
अपि गरुडाग्रजेनारूपेण विभिन्नवर्णां अरुणीकृताः वंशकरीरैर्वंशद्गुरैरिव नीलैः,
रत्नेः परितः स्फुरन्त्या रुचा रत्नयोः लीलां रुचमानिन्यिरे प्रापिता इत्यर्थः । अत्र
तद्गुणद्वयं यादयति अचेति । अतद्गुणालङ्कारमाह ।

तद्रूपेति क्वचित्पाठः । अस्येति प्रकृतस्येत्यर्थः । तत् स्यात्तदा स्यात् परगुणाननु-
हारः परस्व स्वतः सिद्ध एव किं तत्र वैचित्र्यमित्यतः पूरयित्वा व्याचष्टे सम्भवन्त्या-
मपीति । धवलोऽसीति ।

धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।

रागपूरितेऽपि हृदये सुभग ! निहितो न रत्तोऽसीति ॥ संस्कृतम् ।

धवली विशदस्वभावः वैशद्यात् श्लेषवशात् चक्रगुणः विरोधालङ्कारः गौरपरं
वा अत्र धवलपदं रञ्जितरक्तपदद्वयमपि श्लेषवशाद्गुरक्तग्रीवपरम् । तत्र पूर्वार्द्धे

अत्रातिरक्तेनापि मनसा संयुक्तो न रक्ततामुपगत इति अतद्गुणः ।

किञ्च तदिति अप्रकृतम्, अस्येति च प्रकृतमत्र निर्दिश्यते, तेन यत्, अप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमित्तात् न अनुविधीयते, सोऽतद्गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम् । यथा,

गाङ्गाम्बु, सितमम्बु, यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मञ्जतः ।

राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च नचापचीयते ॥

यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥ ५२ ॥

तथैव यद्विधीयते, स व्याघात इति स्मृतः ।

येनोपायेन यत् एकेनोपकल्पितं, तस्यान्येन जिगीषुतया तदुपायकमेव यत् अन्यथाकरणं, स स्वसाधितवस्तुव्याहृति-हेतुत्वात् व्याघातः । उदाहरणम्,

स्वयं योगेन रज्जुकत्वधवलत्वगुणयोरेकत्र नायके विरोधाभासः परार्द्धे तु अतद्गुणः तं याहयति ।

अचेति । तद्गुणालङ्कारे अप्रकृतस्य गुणग्रहणं प्रकृते नेत्युक्तम् अतद्गुणे तु प्रकृताप्रकृतत्वनियमो नास्तीत्यतः प्रकृतद्वये तद्गुदाहृत्य प्रकृतेनाप्रकृतगुणग्रहणेऽप्यथ-मलङ्कार इति वक्तुमाह ।

किञ्चेति । तद्वितीति तद्गुणैव तत्प्रकृतपरमपि अस्यैव चेदप्यदन्तु प्रकृत-परमेवेत्यर्थः । तथाच प्रकृतेनाप्रकृतगुणग्रहणे उदाहरति ।

गाङ्गामिति । गाङ्गं गङ्गाया अम्बु सितं यामुनं यमुनाया अम्बु, कज्जलाभ-मित्यर्थः । अत्र यामुनाम्बुपेक्षया राजहंसः प्रकृतः सम्बोध्यत्वात् यद्यप्यत्र अप्रस्तुत-प्रशंसायां स्वसन्निहितपरजनगुणग्रहणे, जन एव प्रकृतः तथापि सम्बोध्यत्वे नाम्बु-द्वयापेक्षया राजहंसस्यापेक्षिकं प्रकृतत्वं न तु सम्बोध्यत्वमात्रादेव प्रकृतत्वं तथा येनास्याम्बुदितेन चन्द्रं गमितः क्लान्तिमित्यादौ सम्बोध्यस्य चन्द्रस्य प्रकृतत्वापत्त्या अप्रस्तुतप्रशंसीदाहरणत्वानुपपत्तेः अत्र आपेक्षिकमेव प्रकृतत्वम् अप्रकृतस्यापि राज-हंसस्य सम्बोध्यत्वात् परगुणायादहितस्वभावत्वात् निमित्तम् । व्याघातालङ्कारमाह ।

यद्यथेति । यथा येनोपायेन साधितं यद्वस्तु अपरेण तथैव तेनोपायेनैव तद-

दृशा दग्धं मनमिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।

विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥

सैषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यंदिह स्थितिः ॥५३॥

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्य-
निरपेक्षतया यत् एकत्र शब्दभाग एव, अर्थविषय एव, उभय-
त्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः ।
तत्र शब्दालङ्कारसंसृष्टिः यथा,

वदनसौरभलोभपरिभ्रमदुभ्रमरसम्भ्रमसम्भ्रतशोभया ।

चलितया विदधे कलमेखला कलकलीऽलकलीलदृशाऽन्यया ॥

अर्थालङ्कारसंसृष्टिस्तु,

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः । [उत्०]

असत्प्ररुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥ [उप०]

न्यथा विधीयत इत्यर्थः । एवमेव व्याचष्टे येनेति संज्ञाऽऽत्यक्षिमाह साधितेति ।

दृशा दग्धमिति । दृशैव कटाक्षेणैव पुंसां तत एव कामीहीनात् अत्र दृगुपाये-
नैव साधितस्य दाहस्य दृगुपायेनैव जीवनादन्यथाकरणं न केवलमेतावता जयोऽपि
न विरूपाक्षस्य तस्य वामलोचनत्वशदपि जयः । वामं सुन्दरम् । उक्तालङ्काराणा-
मन्योन्ययोगाधीनालङ्कारानाह सैषेति भेदेनेति व्याचष्टे अन्योन्यनिरपेक्षतयेति वक्ष्य-
माणविविधसङ्करे हि अन्योन्यसापेक्षता तद्राहित्येनेत्यर्थः । यथासम्भवं संसृष्टिं
वितण्णीति एकत्र शब्दभाग इत्यादि । समवायः सम्बन्धः । वदनसौरभेति नायिका-
न्तरक्रियावर्णनान्तरं भ्रमरव्याकुलिताया अन्यस्या नायिकाया वर्णनमिदम् । चलि-
तयाऽन्यया नायिकया कली गभीरी मेखलाकलकलीऽव्यक्ततादृशशब्दी विदधे ।
कौदृश्या वदनसौरभाधीनलीभेन परिभ्रमती भ्रमरात् सम्भ्रमिण भयेन सम्भ्रता
जनिता शोभा यस्यास्तादृश्या तथा अलके लीलदृशा अलके भ्रमरभ्रमिण तत्र दृगुली-
लत्वम् । अत्र पूर्वाङ्गे भकारस्य तृतीयचरणे च लकारस्यानुप्रासः चतुर्थचरणे च
यमकं परस्परनिरपेक्षं विविधसङ्करासम्भवात् ।

लिम्पतीति । अत्र श्लोकद्वये अलङ्कारद्वयसंसृष्टिं स्वतन्त्रेच्छलात् व्युत्क्रमेणाह ।

पूर्वत्र परस्परनिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टिं प्रयोजयतः ;
उत्तरत्र तु तथाविधे उपमोक्षेत्ते । शब्दार्थालङ्कारयोस्तु
संसृष्टिः,

सो णत्थि एत्थ गामे जो ऐअं महमहत्तलाअस्सम् ।

तरुणाणं ह्मिअअलुडिं परिसक्कन्तीं णिवारेइ ॥

अत्रानुप्रासो रूपकञ्चान्योन्यानपेक्षे, संसर्गश्च तयोरेकत्र
वाक्ये क्वन्दसि वा समवेतत्वात् ।

अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वन्तु सङ्करः ।

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परम्
अनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां सङ्कीर्ण्यमाणस्वरूपत्वात्
सङ्करः । उदाहरणम्,

आत्ते सीमन्तरत्ते मरकतिनि, हृते हेमताटङ्कपत्ते

लुप्तायां मेखलायां भ्रुटिति मणि-तुलाकोटियुग्मे गृहीते ।

पूर्वत्रेति । तथाविधपरस्परनिरपेक्षे । अद्भुतदर्थालङ्कारयोः संसृष्टिं दर्शयति
सो णत्थीति ।

स नास्ति अत्र गामे य एषां मह महीयमानलावण्याम् ।

तरुणानां हृदयलुण्ठाकीं परिष्वक्कन्तीं निवारयति ॥ इति संस्कृतम् ॥

प्रौढयौवनायाः कस्याश्चिदुपभोगिन दर्पनिवारकमन्विष्यतः कस्यचिदुक्तिरियम् ।
महामहंति उल्लसवीलवायमाने इत्यर्थः । परिष्वक्कन्तीं दौष्यमानां निवारयति यौवन-
दर्पादिति शेषः । अत्रेति णत्थि एत्थेति महमहंति चानुप्रासः लुण्ठाकीरूपकश्च
संसर्गात्मकस्य संसृष्टिपदस्यार्थमत्र दर्शयति संसर्गश्चेति लिम्पतौन्यत्र वाक्यभेदात्तादृश-
संसर्गानुपपत्तेराह क्वन्दसि वेति क्वन्दः पद्यम् । अलङ्काराणामङ्गाङ्गिभावरूपमनु-
ग्राह्यानुग्राहकत्वं सङ्करमाह ।

अविश्रान्तीति । विश्रान्तिः स्वातन्त्र्यमात्मनि तदभावजुषाम् अस्वतन्त्रात्मना-
मित्यर्थः । सङ्कर इत्यत्र एक इति शेषः । सङ्करान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

आत्ते इति । हे राजन् ! अरखे इत्यरीषां पर्यटनीनां लदरिसृगदृशां पूर्वा-

शोणं विम्बोष्ठकान्धा, त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये,
राजन् ! गुञ्जाफलानां स्रज इति शवरा नैव हारं हरन्ति ॥[द्वयोः]

अथ तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतं, तदाश्रयेण च
तद्गुणः सचेतसां प्रभूतचमत्कृतिनिमित्तमित्यनयोरङ्गाङ्गि-
भावः । यथा वा,

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः ।

परिप्रेङ्गत्तारापरिकर-कपालाङ्कित-तले

शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति । [बहु०]

उपमा रूपकम् उत्प्रेक्षा श्लेषश्चेति चत्वारोऽत्र पूर्ववत्
अङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते । कलङ्क एवाक्षवलयमिति रूपकपरि-
ग्रहे करधृतत्वमेव साधकप्रमाणतां प्रतिपद्यते, अस्य हि रूप-

शोक्तसमसालङ्कारे क्वते सत्यपि हारं मुक्तायैवेयकं शवराः किराता नैव हरन्ति अह-
रण्ये हेतुमाह गुञ्जेति तादृशभ्रमे हेतुमाह शोणमिति पूर्वाङ्गे भास्ते गृह्यते तादृक्-
पत्रं कर्णभूषाविशेषः मरकतिनीत्यस्य पूर्वापरयो र्दयोरप्यन्वयः । मणितुलाकोटि-
मणियुक्तनूपुरः ।

अचेति । तद्गुणमिति हारेण विम्बोष्ठगुणशोणत्वगृहणरूपतद्गुणालङ्कारं
तज्जानाधीनत्वान् मुक्ताफलभ्रान्तिमदलङ्कारस्य तदपेक्षाप्रादुर्भूतं ज्ञातं तदाश्रयेण
चेति एतादृशभ्रान्त्यजनने तादृशतद्गुणस्य विदग्धजनचमत्कृतिनिमित्तत्वाभावात् ।
अलङ्कारसङ्करमाह ।

जटाभाभिरिति । शशीव्योम्नि चरति पितृवने श्मशान इव व्योमश्मशानयो-
र्विशेषणमाह । परिप्रेङ्गन् चलन् तारापरिकरः कपालानीव तेनाङ्कितं तत्र स्वरूपं
यस्य व्योम्नि तथाभूते श्मशाने तु परिप्रेङ्गन् तारापरिकर इव यानि कपालानि
तेरङ्किततले एवं व्योमः श्मशानतुल्यत्वे उक्ते तस्मारिणः शशिनस्तस्मारियोगित्वं
व्यज्ञम् । अतः शशिनस्तदुपयोगिविशेषणान्वाह जटाभाभिरिति जटातुलाभिर्भाभि-
र्विशिष्ट इत्यर्थः । विशेषणे द्वितीया । योनिनीऽपि जटाबलात् तथाच जटातुल्य-

काले तिरोहितकलङ्करूपम् अक्षवलयमेव मुख्यतया अवगम्यते, तस्यैव च करग्रहणयोग्यतायां सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः, श्लेषच्छा-
यया तु कलङ्कस्य करधारणम् अंसदेव प्रत्यासत्त्या उपचर्य
योज्यते, शशाङ्केन केवलं कलङ्कस्य मूर्त्त्यैव उद्ग्रहणात् कल-
ङ्कोऽक्षवलयमिवेति तु उपमायां कलङ्कस्य उत्कटतया प्रति-
पत्तिः, नचास्य करधृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येऽप्युपचार एव
शरणं स्यात् । एवंप्रथमं सङ्करः शब्दालङ्कारयोरपि परि-
दृश्यते । यथा,

रश्मीनां जटालं व्यञ्जं करो रश्मिरेव करो हस्तः तेन धृतकलङ्करूपाक्षवलयः
योगिनोऽप्यक्षवलयधारित्वात् । तथा कलितेन प्राप्तेन वैराग्येण उदयकालीनरक्तिम
शून्यत्वेनैव विषयवैराग्येण विशदः शुभ एव विशदी निष्पापः योगिनोऽपि विषय-
वैराग्येण निष्पापत्वात् । विषयवैराग्यस्य हेतुमुत्प्रेक्षते वियोगीति उद्दीपकत्वाच्चन्द्रेण
वियोगिव्यापादनात् पापीत्यर्थैव वैराग्योत्पत्तेरित्यर्थः । भस्मेष आपाण्डुरेव भस्म-
नैवापाण्डुः योगिनोऽपि भस्मना आपाण्डुत्वात् सर्वमिदं शशिनो योमितेन व्यञ्ज-
त्वात् । अत्रेति जटाभाभिरित्यत्र पितृवम इत्यत्र तारापरिकरेत्यादौ चीपमा
शशनि च व्यञ्जरूपकं करे हस्तस्य कलङ्कोऽक्षवलयस्य रक्तिमशून्यत्वे विषयवैरा-
ग्यस्य निर्मले निष्पापस्य च रूपकं वैराग्यहेतुत्वेन वियोगिव्यापत्ते विशदपदार्थः ।
निष्पापत्वहेतुत्वेन वैराग्यस्य चन्द्रनिष्ठापाण्डुत्वहेतुत्वेन भस्मनशीत्प्रेक्षा रश्मि-
हस्तयोः करपदस्य रक्तिमशून्यत्वविषयवैराग्ययो वैराग्यपदस्य निर्मलत्वनिष्पापयो-
र्विशदपदस्य च श्लेषः एषामलङ्काराणामिकानुरोधित्वमपरंख्यतीऽङ्गाङ्गिभावः ।
ननु कलङ्काक्षवलय इत्यत्र कलङ्कोऽक्षवलयमिवेत्युपमा समासस्यापि सम्भवाद्भूषणोप-
मयोः सन्देहसङ्कर एवायं तत्कथं तदंशेऽनुयाहकत्वसङ्कर इत्यत्र आह कलङ्क एवेति
रूपकैति रूपणाधिकरणस्यापलपितप्रायत्वं तिरोधानं मुख्यतयेति धरणक्रियान्वयि
तया मुख्यता ननु रश्मी रूपितेन हस्तेनाक्षवलयधरणप्रतीतिरपि करप्रियमाणं
कलङ्कोऽक्षवलयरूपणादेव कलङ्कस्य करप्रियमाणत्वन्तु, बाधितमिवेत्यत्र आह श्लेष-
च्छायया त्विति । अन्त्यालङ्कारनिर्वाहकस्य श्लेषस्य श्लेषालङ्कारत्वाभावाच्छायाप्रत्यासत्त्या
इति हस्तवाचककरपदवाच्यरश्मिसामानाधिकरण्यकलङ्कस्य हस्तेन सह प्रत्या-

राजति तटीयमभिहत दानव-रासाऽतिपाति-साराव नदा ।

गजता च यूथमविरत-दानवरा साऽतिपातिसारा वनदा ॥

अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगतं परस्परापेक्षे ।

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादन्यश्चयः ॥५४॥

मत्तिः तथा उपचर्य आरोप्य असदेव धरणं कलङ्गे योज्यते इत्यर्थः । तथाच कलङ्गस्य हस्तप्रियमाणत्वात्तत्र रूपितस्याच्चवलयस्य तेन धरणमुपपन्नम् । ननु शशाङ्गेन रश्मिनेव कलङ्गस्य धरणमस्ति तत्कथमुपचार इत्यत आह शशाङ्गेनेति । मूर्त्या मन्त्रेण । ननु कलङ्गेऽच्चवलयरूपणादेवीक्तप्रत्यासत्त्या उपचारकल्पनं तथाचैवमुपचार-परीहाराय कलङ्गेऽच्चवलयोपमैवास्तु इत्याशङ्क्य तथापि नोपचारपरिहार इति समा-धत्ते कलङ्गीऽच्चवलयमिवेतीति उत्कटतया धरणान्वयितया नन्वस्येव तदन्वयितया बोध इत्यत आह नचास्येति मुख्येऽपीति भावः । तद्वितानं मुख्यत्वेऽपीत्यर्थः । उप-चार उक्तप्रत्यासत्त्या हस्तधरणीपचार एव इत्यर्थः । नचैवमुभयथाप्युपचारेण उपमारूपकयोः सैव सन्देहसङ्करापत्तिरिति वाच्यम् । अच्चवलयस्य हस्तेन धरणस्य सार्वलौकिकप्रसिद्ध्या रश्मी हस्तस्य कलङ्गेऽच्चवलयस्य रूपकमेव पुर-स्फूर्तिकं नोपमेति भावस्य प्रागेव दर्शितत्वात् । एवंविधोऽनुयाह्यानुयाहकरूपः ।

राजतीति । इयं तटी राजति तस्मिन्मन्त्रेणान्न नदस्य कथनान्नदस्यैव तटी बोध्या । तटी कौटशी अभिहती नाशितो दानवानां रासः कौट्या यत्र तादृशी अभिहितश्च परादे खरसाङ्गयूथकर्तृका बोध्या । पुनः कौटशी अतिपाती तीव्र-वेगः साराव आरावयुक्ती नदी यस्यास्तादृशी अनेन तटी नदस्येति व्यक्तम् आरावश्च कल्लोलस्य जलपक्षिणाश्च बोध्यः । तथा सा प्रसिद्धा गजता गजसमूहोऽत्र यूथं स्वपालनौयगजयूथम् अतिपाति अतिशयं पीडयति यतः सारस्य प्रधानस्य अवनस्य पालनस्य दात्री तस्यां गजयूथसत्त्वात् तेनैव दानवरासाभिहिते बोध्या । गजता कौटशी अविरतेन दानेन नदजलेन वरा श्रेष्ठा प्रमत्तत्वात् ।

अत्रेति । दाह इत्यादिकं द्वितीयचतुर्थचरणद्वयं यमकम् उभयचैव प्रति-लोमपाठः । एकघटकैकवर्षपराहत्या परस्य भङ्गः इत्यतः परस्परमनुयहः । अल-ङ्कारयोः सन्देहसङ्करमाह ।

इयोर्बङ्गनां वा अलङ्काराणाम् एकत्र समावेशेऽपि विरो-
धात् न यत्र युगपदवस्थानं, नचैकतरस्य परिग्रहे साधकं,
तदितरस्य परिहारे बाधकमस्ति, येनैकंतर एव परिगृह्येत,
स निश्चयाभावरूपो द्वितीयः सङ्करः, समुच्चयेन सङ्करस्यैवाक्षे-
पात् । उदाहरणम्,

जह् गम्भीरो जह् रञ्जणिवभरो

जह् अ णिन्मलच्छाओ ।

तह् किं विधिना एसो

सरसवाणिओ जह्णिही ण किओ ॥

अत्र, समुद्रे प्रस्तुते विशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः
किमसौ समासोक्तिः, किम् अञ्चरप्रस्तुतस्य सुखेन, कस्यापि
तत्समगुणतया प्रस्तुतस्य प्रतीतेः इयमप्रस्तुतप्रशंसा इति
सन्देहः । यथा वा,

एकस्मेति । न्यायः साधकप्रमाणम् एकस्याप्यलङ्कारस्य परस्परविरुद्धस्य ग्रहे
तदभावादनिययः सन्देहरूपोऽपरः सङ्कर इत्यर्थः व्याचष्टे इयोर्बिति । ननु इय-
मेव गृह्यतामित्यत्राह विरोधादिति । समुच्चयेनेति । एकस्य चेति चकारस्या-
निययश्चेत्यन्वयेन सङ्करस्यैव समुचितत्वादित्यर्थः ।

जह् गम्भीर इति यथा

गम्भीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः ।

तथा किं विधिना एष सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः ॥ इति संस्कृतम् ।

अप्रस्तुतार्थप्रतीतेरिति । समुद्रस्य प्रकृतत्वे धीरो धनवान् सञ्ज्ञस्यभावा
लोकानुपभोग्यस्त्रीयवस्तुत्वेनादाता पुरुषो अत्राप्रकृतः न च सरसपानीयत्वस्य
पुरुषेऽसम्भवात् कथं विशेषणसाम्यमिति वाच्यम् । तेनाक्षिप्तस्य धरोपभोग्यवस्तु-
मत्त्वस्य उभयवान्मयात् समासोक्तिरिति । प्रस्तुतकथनेनाप्रस्तुतप्रतीतेः समासोक्ति-
त्वात् कीदृशत्वं दर्शयति किमञ्चेरिति । समगुणता गाम्भीर्यादिरूपा अप्रस्तुत-

नयनानन्ददायीन्दोर्विर्विम्बमेतत् प्रसीदति ।

अधुना विनिरुद्धाशमविशीर्णमिदं तमः ॥

अत्र किं कामस्योद्दीपकः कालो वर्तते इति भङ्गन्तरेण अभिधानात् पर्यायोक्तम्, उत वदनस्येन्दुविम्बतया अर्धवसानात् अतिशयोक्तिः, किं वा एतदिति वक्तुं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशात् रूपकं, अथवा तयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम् अथवा तुल्ययोगिता, किमु प्रदीपसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः, आहोस्वित् मुखंनैर्मल्यप्रस्तावात् अप्रस्तुतप्रशंसा ? इति बहूनां सन्देहादयमेव सङ्करः । यत्र तु न्यायदोषयोरन्यतरस्यावतारः, तत्र एकतरस्य निश्चयात् न संशयः । न्यायश्च साधकत्वम् अनुकूलता दोषोऽपि बाधकत्वं प्रतिकूलता । तत्र

अथनेन प्रतीतेरेवाप्रस्तुतप्रशंसात्वात् समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसयोरिति नात्र भेदात् । अने कालङ्कारसन्देहमाह । यथा वा

नयनानन्देति । नयनानन्ददायि एतत् इन्दोर्विम्बं प्रसीदति प्रसन्नं भवति निरुद्धाशं निरुद्धदिकं तमोऽधुनापि अविशीर्णमिति काकः । पर्यायोक्तमिति अधुना पदेनाधिकरणता भङ्गा वाच्यस्य वर्तमानकालस्य कर्तृत्वविशेषणत्वभङ्गा व्यङ्ग्यत्वात् उत वदनस्येति एतत्पदेनापि इन्दुविम्बस्यैव निर्देशे आननस्य केनापि पदेनानुक्त्या कमलमनभसीत्यादिवदतिशयोक्तिरित्यर्थः । एतत्पदेन वक्तुनिर्देशे त रूपकमित्याह किमेतदिति । एतत्पञ्चमे निरुद्धामित्यत्र निरुद्धकामुकप्रत्याशमित्यर्थः । तमश्च तमोगुणजः क्रोधः अथवैतयोरिति एतत्पक्षे चार्थः पूरणीयः । तथाच इन्दोर्विम्बमेतन्मुखञ्चेति समुच्चयविवक्षायामित्यर्थः । दीपकमिति प्रकृत-मुखाप्रकृतेन्दुविम्बयोः प्रसादरूपैकक्रियान्वयरूपमित्यर्थः । अथवेति द्वयोरपि प्रकृतत्वे तुल्ययोगितादीपकतुल्ययोगितयोरियानेव हि भेदः । किमु प्रदीपेति प्रदीपवर्णने चन्द्रस्य प्रकृतत्वेन तद्वर्णनादप्रकृतस्य मुखस्यापि प्रसादरूपविशेषणसाम्यात् प्रतीत्या समासोक्तिरित्यर्थः । मुखस्य प्रस्तुतत्वे तु अप्रस्तुतप्रशंसा तदाह

सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः ।

इत्यत्र मुख्यतया अवगम्यमाना हासद्युतिर्वक्त्र एवानुकूल्यं भजते इत्युपमायाः साधकं, शशिनि तु न तथा प्रतिकूलैति रूपकं प्रति तस्य अबाधकता ।

वक्त्रेन्दौ तव सत्यं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतः

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति-रूपकस्य साधकतां प्रतिपद्यते, न तूपमाया बाधकताम् ।

आहोस्त्रिदिति । अहो पदान्तरं तदितर्के अयमेवेति सन्देह एव सङ्कर इत्यर्थः । निश्चयस्तु न सङ्कर इत्याह यत्रत्विति । एकस्य साधकमेवापरस्य बाधकमित्यत्र उभयोपादानानौचित्यादाह साधकत्वमनुकूलतेति । एकस्य साधकमपरस्य बाधकं न भवति साधकत्वांशे औत्क्यरूपा अनुकूलता एवमेकस्य बाधकमप्यपरस्य साधकं न भवति किन्तु बाधकत्वांशे औत्क्यरूपा प्रतिकूलतेत्यर्थः ।

सौभाग्यमिति । ज्योत्स्नाब्रुव्या हासद्युतिर्वक्त्रशशिनः सौभाग्यं वितनीतेत्यर्थः । अत्र वक्त्रं शशीव वक्त्रमेव शशीति च उपमारूपकयोः सन्देहे हासद्युतिरूपमायामानुकूल्यमित्याह अत्र मुख्यतयेति । ज्योत्स्नेवैत्युपमावशात् सादृश्यविशेष्यतया इत्यर्थः । तादृश हासद्युतिर्वक्त्र एव उपमा समासाधीनविशेष्यताकल्परूपमानुकूल्यं भजते इत्यर्थः । रूपकं प्रति तु तस्यानैकान्तं बाधकत्वमित्याह शशिनि त्विति । रूपकाधीनविशेष्यताके शशिनि तु इत्यर्थः । वक्त्राभिन्नत्वेन प्रतीयमाने शशिन्यापवक्त्रधर्महासद्युतेः परम्परया प्रतीति सम्भवादित्यर्थः किन्तु साक्षात् सम्बन्धेन वक्त्रं हासद्युतेः पुरःस्मूर्तिकत्वेन रूपकापेक्षया उपमायामानुकूल्यमित्यर्थः । उपमायाः मानुकूल्यं दर्शयित्वा रूपकं आनुकूल्यं दर्शयति ।

वक्त्रेन्दाविति । अत्र तदुच्येति शेषः । अत्र वक्त्रमेव इन्दुरिति रूपमाणतया विशेष्यस्य इन्दोरपरत्वमनुगुणमित्याह अपरत्वमिति । अयमपरः पण्डित इत्युक्ती पण्डितान्तरापेक्षैवापरत्वप्रतीति । यथा तथाऽपरः शीतांशुरित्युक्तावपि वक्त्रात्मकेन्दपेक्षैवापरत्वप्रतीति नैलिन्दुमुख्यवक्त्रापेक्षेत्यर्थः । वक्त्रमिन्दुरिवैत्युपमायान्तस्यानैकान्तं प्रातिकूल्यमित्याह न तु वक्त्रस्येति । उपमावशाद्विशेष्यस्य वक्त्रस्येत्यर्थः । वक्त्रापरत्वस्यापोन्दोरबाधादित्यर्थः । इदानीं बाधकतौत्क्यं दर्शयति ।

राजनारायणं लक्ष्मीस्वामालिङ्गति निर्भरम् ।

इत्यत्र पुनरालिङ्गनमुपमां निरस्यति सदृशं प्रति परप्रेय-
सीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्यासम्भवात् ।

पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु-

मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ।

इत्यत्र मञ्जीरशिञ्जितम् अम्बुजे प्रतिकूलम्, असम्भवा-
दिति रूपकस्य बाधकं, न तु पादेऽनुकूलमित्युपमायाः साधक-
मभिधेयते, विध्युपमर्दिनो बाधकस्य तदपेक्षयोक्तत्वेन
प्रतिपत्तेः । एवमन्यत्रापि सुधीभिः परीक्ष्यम् ।

स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्घ्यतिद्वयम् ।

व्यवस्थितञ्च

राजनारायणमिति । लक्ष्मी नारायणस्य प्रेयसी राजरूपं नारायणं त्वां निर्भर-
मालिङ्गतीत्यर्थः । राजा नारायण इवेत्युपमासमासे नारायणसादृशं त्वामा-
लिङ्गतीत्युपमायामालिङ्गनस्य प्रतिकूलीत्कथमित्याह इत्यत्र पुनरिति । उप-
माया निरासे हेतुमाह सदृशं प्रतीति स्वभट्टसदृशं प्रतीत्यर्थः पातित्रत्येन प्रेयस्या
प्रयुक्तस्येत्यर्थः । अतोऽत्र रूपकानुकूल्यसत्त्वेऽपि तदपेक्षया उपमाप्रतिकूलस्य पुर-
स्फूर्त्तिकत्वेन तदौत्कथ्यमित्यर्थः रूपकप्रातिकूल्योक्तत्वं दर्शयति ।

पादाम्बुजमिति । अम्बिकायाः पादाम्बुजं अम्बुजतुल्यः पादो वो विजयाय भवतु
कीदृशं मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितेन मनोहरम् अम्बुजे प्रतिकूलमिति पाद एवाम्बुजमिति
रूपकवशाद्दिश्येतया लक्ष्मीऽम्बुजे इत्यर्थः । असम्भवादिति अम्बुजे मञ्जीर-
बाधादित्यर्थः । अत्र उपमायामानुकूल्यापेक्षया रूपण्ये सति रूपकेऽप्यानुकूल्योक्तव्यं
स्यादिति वाच्यम् । उपमासमाससम्भवेऽनुपात्तस्य रूपस्य व्यञ्जनया बुद्धानारोहा-
दिति प्रागेव उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहमित्यादि व्याख्यावसरे प्रतिपादितं
जस्य रञ्जानुरण इत्यादौ गुणसिन्धुरित्यादौ उपमासमासासम्भवादेव नायिका-
प्रतिनायिकाजनानां रूप्याणां व्यञ्जनया बोधः । विध्युपमर्दिन इति उक्तयुक्त्या
रूपकमिध्युपमर्दिन इत्यर्थः । अजङ्गारयीरेकबोधबोधत्वरूपं सङ्करमाह ।

अभिन्न एव पदे स्फुटतया यत् उभावपि शब्दार्थालङ्कारौ
व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्यपरः सङ्करः । उदाहरणम्,

स्यष्टोल्लसत्किरण-केसर-सूर्यविम्ब-
विस्तीर्णकर्णिकमथी दिवसारविन्दम् ।

श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुषावतार-

बह्वान्धकारमधुपावलि सञ्चुकोच ॥

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।

तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥ ५५ ॥

तदयमनुग्राह्यानुग्राहकतया, सन्देहेन, एकपदप्रतिपा-
द्यतया च व्यवस्थितत्वात् त्रिप्रकारएव सङ्करो व्याकृतः । प्रका-
गन्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम्, आनन्ध्यात् तत्प्रभेदानामिति
प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलङ्काराः ।

कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिश-
यहेतुत्वे कश्चिदलङ्कारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य कश्चिञ्चोभयस्य ?
इति चेत् । उक्तम् [३३८ पृ०] अत्र यथा काव्ये दोषगुणा-

स्फुटमिति † एकत्र विषये बोधकशब्दरूपे व्यवस्थां परस्परभेदेन स्थितिम् ।

स्यष्टोल्लसदिति । सन्ध्यावर्षणमिदम् । अथ अनन्तरं दिवसरूपम् अरविन्दं सञ्चु-
कोच सङ्कुचितं बभूव । कीदृशं स्यष्टं यथा त्यासत्या उल्लसन्तः किरणा एव केशराः
यस्यां तादृशी सूर्यविम्बरूपा विस्तीर्णा कर्णिका यत्र तादृशं किरणाः केशराः सूर्य-
विम्बश्च कर्णिका इत्यर्थः । पुनः 'कीदृशं श्लिष्टः परस्परं संसृष्टोऽष्टदिगात्मकी दल-
कलापी यत्र तादृशं तथा उषावतारे प्रातःप्रवृत्तो गुह्यासु बह्वान्धकारा एव मधुपाव-
लिश्च यत्र तादृशम् ।

अत्रेति । प्रथमपादे किरणेषु केशराणां रूपकं संयुक्त षकारटकारधीर्लकार-
रस्य चानुप्रासः । चतुर्थपादेऽन्धकारे मधुपावलिरूपकं धकारानुप्रासः । एकपद-
प्रतिपाद्यतयेति प्रतिपत्तिरचानुप्रासांश्चि श्रौती रूपकांश्चि च शाब्दी । शब्दार्थोभयेति

लङ्काराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकावैव प्रभवतः, निमित्तान्तरस्याभावात् ततश्च योऽलङ्कारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते, स तदलङ्कारो व्यपस्थाप्यते इति, एवञ्च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालङ्कारौ, तथा शब्दहेतुकार्यान्तरन्यासप्रभृतयोऽपि द्रष्टव्याः, अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यम् उक्ततया प्रतिभासते इति वाञ्छालङ्कारमध्ये वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिताः । योऽलङ्कारो यदाश्रितः स तदलङ्कार इत्यपि कल्पनायाम् अन्वयव्यतिरेकावैव समाश्रयितव्यौ, तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्थाभावादित्यलङ्काराणां यद्योक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्ञायान् ।

एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तीऽपि कैचन ।

उक्ते ष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः ॥५६॥

तथा हि अनुप्रासस्य प्रसिद्धाभावो वैफल्यं वृत्तिविरोधः इति ये त्रयो दोषाः ते प्रसिद्धिविरुद्धताम्, अपुष्टार्थत्वम्, प्रतिकूलवर्णताञ्च यथाक्रमं न व्यतिक्रामन्ति, तत्सम्भावत्वात् । क्रमेणोदाहरणम्.

शब्दतदर्थतदुभयगतत्वेनेत्यर्थः । कः पुनरित्यादि प्रश्नोत्तरे स्पष्टार्थके शब्दहेतुकार्यान्तरेति ।

अथदासा वञ्चदावजमवने व्यञ्जनमव्यञ्जनम् ।

वत वीर ! तव द्विषणां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥

इत्यादिकं तादृशं बोध्यम् अलङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन स्थितौ परोक्तं निवामक्रमपि अस्मदुक्तनियामक एवान्तर्भवतीत्याह योऽलङ्कार इति । अलङ्काराणामपि शेषसम्भवेऽपि दीर्घोच्चारणदोषेष्वेव तेषामन्तर्भाव इत्याह एषां दोषा इति उक्तालङ्काराणां केषाञ्चिदित्यर्थः । प्रसिद्धाभाव इति अनुप्रासितपदार्थयो विवक्षिते-

चक्री चक्रारपङ्क्तिं हरिरपि च हरीन्, धूर्जटिधूर्ध्वजान्तान्
अक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः, कूवरायं कुवेरः ।

रंहः सङ्घः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य

स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेः सोऽवतात् स्यन्दनी वः ॥

अत्र कर्त्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिः अनुप्रासानुरोधेनैव कृता,
न पुराणैतिहासादिषु तथाप्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः ।

भण तरुणि ! रमणमन्दिरम् आनन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ! ।

यदि सङ्गीलोक्तापिनि ! गच्छसि तत् किं त्वदीयं मे ॥

अनुरणन्मणिमेखलम् अविद्वतशिञ्जानमञ्जुमञ्जोरम् ।

परिसरणमरुणचरणे ! रणरणकमकारणं कुरुते ॥

ऽन्वये तापि शास्त्रे लोके वा प्रसिद्धाभाव इत्यर्थः । वैफल्यम् अनुप्रासार्थदत्तविशेष-
णानां वक्तृविशेषताव्याख्याविषयत्वेन विशेष्यप्रकर्षाधानराहित्यमित्यर्थः । तृप्तिविरोध
इति अनुप्रासघटकवर्णानां रसविशेषरतिकाव्ये स्थित्यनीचित्यमित्यर्थः ।

चक्रीति । अहिमरुचः सूर्यस्य स स्यन्दनी वी भुभानवतात् । जगदुपकृतये नित्यं
तुरगे युक्तस्य यीजितस्य यस्य स्यन्दनस्य चक्रारपङ्क्तिं चक्रायभागश्रेणीं चक्री
विष्णुः प्रीतिप्रसन्नः सन् स्तौति एवं सर्वत्रैव प्रीतिप्रसन्नः सन् स्तौतीत्यन्वयः ।
हरिरिन्द्री हरौन्वान् धूर्ध्वजान्तान् सन्मुखध्वजप्रान्तान् धूः स्त्री क्रीवे यानमुखमिति
कीषः । धूर्ध्वजायानिति क्वचित्पाठः । तत्र चायश्चन्दस्य पुलिङ्गत्वं न दृष्टचरं नक्षत्र-
नाथश्चन्द्रोऽप्यक्षं चक्रं कुवेरोऽपि कूवरायं कूवरायं युगन्धर इति कीषः । सुराणां सङ्घः
सम्बुहोऽपि रंहो वेगम् । अत्र प्रसिद्धिविरोधं दर्शयति ।

अवेति । वैफल्यमुदाहरति ।

भण तरुणीति । रमणगृहपथमनासद्य व्याकुलामभिसारिकां प्रति कस्या-
श्चित् स्त्रिया उक्तरियम् । अभिसारिकायाः पुरुषान्तरेण समं सङ्गीलोक्ताभावात्
तं दृष्टा तस्याः पत्न्यानादेव । तरुणीत्यानन्देत्यादि सङ्गीलेत्यादि च सम्बोधनवच्यं
हे तादृशि ! अर्थात्तद्दर्शितवर्त्तना यदि रमणमन्दिरं गच्छसि तत्तदा त्वदीयं किं वस्तु
समं स्यात् तद्गण किं मत्तं दास्यसीति पर्थवसितार्थः ।

अत्र वाच्यस्य विचिन्त्यमानं न किञ्चिदपि चारुत्वं प्रतीयते इत्यपुष्टार्थतैवानुप्रासस्य वैफल्यम् ।

अक्रुण्ठोत्क्रुण्ठयेति [२३३] अत्र शृङ्गारे परुषवर्णाङ्गुलः पूर्वोक्तरीत्या विरुध्यते इति परुषानुप्रासोऽत्र प्रतिकूलवर्णतैव वृत्तिविरोधः ।

यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वं दोषः । तथा भुजङ्गमस्येव मणिः सदम्भाः, ग्राहावकीर्णव नदी सदम्भाः । दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्रसभं सदम्भाः ॥

उपमायाम्, उपमानस्य जाति-प्रमाण-गतन्यूनत्वम्, अधि-

अत्र वक्त्राः स्त्रियाः स्त्रियां रत्यभावाद्दर्शनवेतनप्रार्थनेऽनुपयोगाच्च तस्मै न्दर्यबोधकानेकसम्बोधनवैफल्यम् । अन्यदप्याह अनुरणदिति हि अरुण ! चरणे तव परिसरणं गमनमर्थात् पुंसां रणरणकं क्षामचिन्तामकारणं कुरुते इत्यर्थः । चिन्ता रणरणन्तु तदिति कोषः । चिन्ता च कामचिन्ता । परिसरणं कीदृशं अनुरणं अनल्पं रणन्ती शब्दायमाना मणिमखला यत्र अविरतं शिञ्जानं शब्दायमानं मञ्जु मञ्जीरञ्च यत्र ताडशम् । अत्रंति कामचिन्ताजननस्य निष्फलत्वकथनाद्वैराग्य वतः पुरुषस्त्रियमुक्तिस्तत्र तस्यां बाधबोधकतश्चरणतद्गमनविशेषणवैयर्थ्यमिति भावः । वृत्तिविरोधमुदाहरति अक्रुण्ठोत्क्रुण्ठयेति व्याख्यातमिदं प्रति कूलवर्णदोषोदाहरणम् । भुजङ्गमस्येति सदम्भा दम्भयुक्ता जनाः स्त्रीयदुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः चेतः प्रमुखं आपाततः कर्षन्ति तत्र दृष्टान्तमाह ।

भुजङ्गमस्यैवेति । तदीयमणिः कीदृशः सदम्भाः विद्यमानपानीयः मणि-दृपणादीनामन्तर्गतस्वच्छतैवाभ्यः तस्य मणेर्भुजङ्गमसम्बन्धात् दुरन्ततासदम्भत्वेन आपाततथेतः कर्षणं दृष्टान्तान्तरमाह यादृशेति । सदम्भा हिमजला अतथेतः कर्षणं ग्राहावकीर्णत्वेन दुरन्तता । उपमायामिति उपमेयजात्यपेक्षया उपमानजातेरिति निष्कृष्टत्वमत्युत्तमत्वं वेत्यर्थः । एवमुपमेयपरिमाणापेक्षया उपमानपरिमाणाख्यात्यल्पत्वमत्यधिकत्वं वेत्यर्थः । अनुचितार्थत्वमिति यद्यपि पूर्वलिखितोक्त्या उक्तश्लोकस्य निन्दाव्यञ्जकत्वमेवानुचितार्थत्वमिति पर्याप्तं तथापि दोषान्तरलक्षणाकालत्वे सति औचित्याभावात् एव तस्मान्माल्यलक्षणाभिस्यभिप्रायेणैदमुक्तधर्माश्रयत्वे-

कता वा तादृशौ अनुचितार्थत्वं दोषः, धर्माश्रये तु न्यूनाधि-
कत्वे यथाक्रमं हीनपदत्वमधिकपदत्वञ्च न व्यभिचरतः ।
क्रमेणोदाहरणम्,

चाण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् । [जा०न्यू०]

वङ्गिस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥ [प्र०न्यू०]

अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।

युगादौ भगवान् ब्रैधा विनिर्मिद्भुरिव प्रजाः [जा अ०]

पातालमिव ते नाभिः, स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।

वे शोदण्डः पुनरयं कालिन्दौपातसन्निभः ॥ [प्र०अ०]

अत्र चाण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थाऽत्यर्थमेव कद-
र्थितः इत्यनुचितार्थता ।

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।

व्यराजन्नीलजीमूतभागास्निष्ट इवांशुमान् ॥ [ध०न्यू०]

अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयस्तडिल्लक्षणे धर्मः केनापि
पदेन न प्रतिपादित इति हीनपदत्वम् ।

स पीतवासाः प्रगृह्णीतशाङ्गीं मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।

त्विति धर्मो विशेषणम् उपमेयं निर्दिष्टविशेषणापेक्षया उपमानस्य विशेषणं न्यून-
मधिकक्षेत्र्यः । अत्रोपमानजानेर्निकृष्टत्वमुदाहरति चाण्डालैरेवेति । युष्माभि-
र्ब्राह्मणैः । उपमानपरिमाणाधिक्यमाह पातालमिवेति । स्तनाविति । अद्यापि
स्तनश्रेष्ठेत्यादौ तु रूपकमेव नीपमा तताचाह्यार्यीरिपितस्यादुष्टत्वात् दोष एव
नाभिङ्गदेत्यादावपि बीज्यं कालिन्दोप्रवाहः । उपमानस्य विशेषणन्यूनता-
मुदाहरति ।

स मुनिरिति । मुनिर्नारदी विरेके मौञ्ज्या मेखलया लाञ्छितः चित्रितः
कृष्णाजिनरूपेपटं वहन् इत्यत्र दृष्टान्तमाह नीलेति । नीलमेघस्य भाग एकदेशः
तेनास्निष्टः सुधीऽंशुमान् मूर्ध् इव ।

अत्रेति । कृष्णाजिनस्थाने तु मेघैकदेश एवेति भावः । उपमानस्य विशे-
षणाधिक्यमुदाहरति ।

शतच्छन्देन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनैव मेघः ॥ [ध० अ०]

अत्रोपमेयस्य शङ्खादेरनिर्देशे शशिनो ग्रहणमतिरिच्यते
इत्यधिकपदत्वम् ।

लिङ्गवचनभेदोऽपि उपमानपमेययोः साधारणं चेत् धर्ममन्व-
रूपं कुर्यात्, तदा एकतरस्यैव तद्धर्ममन्वयावगतेः सविशेषण-
स्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्वं वा प्रतीयमानेन धर्मेण प्रतीयते
इति प्रकान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम् ।

यथा,

चिन्तारत्नमिव च्युतोऽपि करतो धिक् मन्दभाग्यस्य मे । [लिभे०]
शक्तवो भक्षिता देव शुद्धाः कुलबधूरिव । [व०भे०]

यत्र तु नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः, सामान्याभिधायिपदं

स पौगवासा इति । स० कृष्णां मनीषं भीमस्र वपुराप । कौदशः पौतत्रासाः
चनेन मनीषं प्रगृहीतशाङ्गसंज्ञकधन्वा च चनेन भीमं शतक्रदा विद्युत् इन्द्रायुधं
शक्रधनुः । अथेति पौतवासः स्थाने शतक्रदा शाङ्गधनुः स्थाने इन्द्रायुधं शङ्खा-
निर्देशात् शशिसंसर्गोऽतिरिच्यते इत्यर्थः । न लिङ्गवचने भिन्नं न हीनाधि-
कतापि वा । उपमा भूषणायत्नं यवीवेगो न धीमतामिति दक्षिणा वीहृषा-
सुवेगसत्त्वैर्लिङ्गवचनभेदो दीप इति पर्यापितं तत्र तदुद्देशकारणं दर्शयंस्तत्त्वे
तद्भेदो भग्नप्रक्रमदोषात्सर्गेत एवेत्याह ।

लिङ्गिति । लिङ्गवचनभेदे साधारणधर्मसावदुपमानोपमेयशरीरेकतरस्य सम-
लिङ्गत्वयैव निर्दिष्टो भवति अतः सति लिङ्गवचनभेदे यदि साधारणधर्ममन्वरूप-
मेकतरस्यैवान्वययोग्यं कुर्यात्तदा स धर्मो यदन्वययोग्यत्वैव तद्धर्ममन्वयावगमा-
तद्धर्मविशिष्टस्यैव उपमेयत्वमुपमानत्वं वा प्रतीयमानेन व्यञ्जने धर्मान्तरस्यैव
प्रतीयते इत्यत उपमानधर्मेण उपमारूपस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमत्व-
मित्यर्थः । तत्र लिङ्गभेदे उदाहरति चिन्तारत्नमिवेति । अत्र च्युतिधर्मस्योप-
कान्तः उपमानं निर्वहति च्युतेति स्त्रीलिङ्गनिर्दिष्टस्योपमेयायां नायिकायामेवा-
न्वयो न तु रत्ने उपमाने वचनानुसमानम् । वचनभेदे उदाहरति ।

शक्तव इति । अत्र शुद्धा इति वचननिर्दिष्टस्य कुलबध्वात्मिकवचनपदार्थोऽनङ्ग

स्वरूपभेदं नापद्यते, न तत्र एतद्दूषणावतारः, उभयथापि
अस्य अनुगमत्तमस्वभावात् । - यथा,

गुणेरनर्घः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ।

तद्देशोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभ्यतः ।

दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥

कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्वलितरूप
तया विश्रान्तिमासादयनीत्यभावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः
यथा,

अतिथिं नाम काकुत्स्थात् पुत्रमाप कुमुदती ।

पश्चिमात् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ॥

यात् लिङ्गस्य समानम् । इत्यमुहमकारणं दर्शयित्वाऽनुहमेकारणमाह यत्र त्विति ।
तत्र लिङ्गभेदं दर्शयति ।

गुणैरिति । अत्र गुणशब्दः पुल्लिङ्गः रत्नशब्दी नपुंसकलिङ्गः अनर्घैरित्युभयत्र
समानं वचनस्य समानमेव वचनभेदे तद्दर्शयति तद्देश इति तस्या वेशसदीया
विभ्रमा इव परां शोभां दधते स्म । अत्र दधते इति दधधात्वोरिकवचनबद्ध-
वचनयोः समानं वेशविभ्रमाणां विशेषणमाह अन्याभिर्गिति । अन्याभिः स्त्रीभि-
रसदृशः असाधारण इत्यर्थः अन्यासां स्त्रीषामेतादृशवैशविभ्रमा न सन्तीत्यर्थः ।
अत्रासदृश इति क्लिप्तकप्रत्ययाभ्यां साधितयोः सदृशसदृशपदयोर्वचनद्वये समानता
तथा मधुरतया भ्यतः पूरितः मधुरतां विभ्रतश्च अत्र भुजः क्षप्रत्ययक्लिप्तप्रत्य-
यान्तत्वेन वचनद्वये समानता लिङ्गस्य समानम् । ईदृशं विषयैऽनुदवेगः । अनुदवेग-
कारणान्तरमपि दक्षिणा दर्शितमनुसन्धेयम् ।

कालपुरुषेति । कालोऽतीतवर्तमानादिः पुरुषा नाम युष्मदस्य योग्याः प्रथम-
मध्यमीत्तमाः विश्वरप्रवृत्तप्रवर्तनात्मकः सप्तम्यादिः उपमानोपमेययोस्तद्भेदे इत्यर्थः
न तथां प्रतीतिरस्वलिता इत्यनेनास्यान्पटीषत्वं सूचितं विभिन्नतन्निर्देशापेक्षया
अभिन्नतन्निर्देशोऽत्युत्तम इत्यत्र तात्पर्यम् अतएव काव्ये प्रायशो विभिन्नतन्निर्देश एव
न विगीयते च तत्र कालभेदे उदाहरति ।

अतिथिमिति । काकुत्स्थात् कुशान् कुमुदती तन्मन्त्री पश्चिमात् शेषप्रहरात् तत्र
निद्राघूर्णाभावात् न पुनरापेति । अत्र यस्यतीतप्रागेरपि चेतनासामन्वयः

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुरा भापेति कालभेदः ।

प्रत्यग्रमञ्जनविशेषविविक्तमूर्तिः

कौसुभरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।

विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती

बालप्रबालविटपप्रभवा लतेव ॥

अत्र, लता विभ्राजते नतु विभ्राजसे इति सम्बोध्यमान-
निष्ठस्य परभागस्य असम्बोध्यमानविषयतया व्यत्यासात्
पुरुषभेदः ।

गङ्गेव प्रवहतु ते सदेव कौर्त्तिरित्यादौ च गङ्गा प्रवहति
न तु प्रवहतु इति अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मनो विधेः । एवञ्जातीय-
कस्य चान्यस्यार्थस्य उपमानगतस्यासम्भवाद्बिध्यादिभेदः ॥

अत्रत्येव तथापि चेकालिकप्रान्तेरेव विवक्षितत्वादतीतत्वेन तात्पर्याभावादन्वयः ।
वर्तमानमाह नित्यप्रवृत्तात्मिका सम्भवत्येव कालवधे इति भावः । पुरुषभेदमुदा-
हरति प्रत्ययेति । अशोके मदनपूजाप्रसक्ता स्नाता वासवदत्ता प्रति राज्ञं
चक्तिरियम् । मकरकेतनं कामदेवमर्चयन्ती मं विभ्राजसे बालप्रबालविटपप्रभवा
लतेव विटपविशिष्टा हृष्याकाराः प्रबालपुष्पाः समुद्रे वर्त्तन्ते तद्विटपे सम्भाविता
लतेव इत्यभूतीपमा तयोर्विशेषमाह ।

प्रत्ययेति । प्रत्ययेण तत्कालीनेन मञ्जनविशेषेण स्नानविशेषेण विविक्तमूर्ति-
निर्षिक्तमूर्तिं वासवदत्ता लतानु प्रत्ययं तत्कालमञ्जनविशेषात् जलाधीभावात्
विविक्तमूर्तिरुत्थितशरीरा तथा कौसुभरागेण रुचिरः स्फुरदंशुकस्त्राङ्गी वस्या
राज्ञी तादृशी लतानु कौसुभरागवत् रुचिरं स्फुरताऽङ्गुना रश्मिना कान्ता कम-
नीया तथा मकरकेतनं कामदेवमर्चयन्ती राज्ञी तादृशी लतापि मकरकेतनं समुद्र-
मर्चयन्ती स्वशीभया पूजितं कुर्वन्ती विधिभेदमुदाहरति ।

गङ्गेवेति । विधेरिति भेद इति शेषः । एवंजातीयस्येति माभातिवाम
पुत्री भविष्यति कर्षं एव त्वं ददासि मार्कण्डेय इव त्वं चिरञ्जीव इत्यादिषु काल-
पुरुषविधिभेदा दृष्टव्या इत्यर्थः । ईदृशस्य दीपस्य यत्किञ्चिद्दीपतामात्रं स्यात्-
यितुमाशङ्कते ।

ननु समानम् उच्चारितं प्रतीयमानं धर्मान्तरम् उपादाय पर्यवसितायाम् उपमायाम् उपमेयस्य प्रकृतधर्माभिसम्बन्धान्न कश्चित् कालभेदोऽस्ति ।

यत्रापि उपात्तेनेव सामान्यधर्मेण उपमा अवगम्यते, यथा, युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदतीति, तत्र युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयं सत्यं वदतीति प्रतिपत्स्यामहे । सत्यवादी सत्यं वदतीति- च न पौनरुक्त्यम् आशङ्कनीयम्, रेपोषं पृष्णातीतिवत् युधिष्ठिर इव सत्यवदनेन सत्यवाद्ययमित्यर्थावगमात् । सत्यमेवैतत्, किन्तु स्थितेषु प्रयोगेषु समर्थनमिदं नतु सर्वथा निरवद्यम्, प्रस्तुतवस्तुप्रतीतिविधातात् इति, सचेतस एवात्र प्रमाणम् ।

ननु समानमिति । समानं साधारणं धर्मान्तरमुच्चारितं वा प्रतीयमानव्यङ्ग्यं वा उपादाय पर्यवसितायामुपमायामित्यर्थः उपमेयस्यैवेत्यर्थः । प्रकृतधर्मं उपमानान्वितकालादिरूपः । ननु यत्र भिन्नकालादिनेव धर्मेण उपमायां तात्पर्यं तत्र का गतिरित्यत्राह ।

अत्रापीति । उपात्तेनेवेति भिन्नकालादिकेनेति शेषः । तादृशं स्थलं दर्शयति यथा युधिष्ठिर इवेति यत्र वर्तमानं सत्यवदनस्य युधिष्ठिरे बाधेऽपि तेनैव धर्मोपमायां तात्पर्यात् समाधत्ते तत्रापीति । अत्र पौनरुक्त्याशङ्कां निरस्यति सत्यवादी सत्यमिति । युधिष्ठिर इव सत्यवदनेनेति युधिष्ठिरसत्यवदनतुल्यसत्यवदनेनेत्यर्थः । शिद्धिती नृत्यतीत्यत्रैव कर्तृविशेषणस्य तदीयशिक्षाक्रियायां हेतुत्वावगमात् आपाततः पुनरुक्ततया प्रतीतस्य विधेयं प्रति हेतुदृष्टान्तमाह रेपोषमिति । अत्र धनं तत्करणकपोषणेन पुष्पातीत्यर्थः । अत्रापाततः पुनरुक्ततया प्रतीतस्य समन्तधाल्यर्थस्य धनकरणकपोषणस्य यथा पोषणसामान्यं हेतुता तथा युधिष्ठिरसत्यवदनतुल्यसत्यवदनस्य सत्यवदनसामान्यं हेतुत्वात् विशेषसिद्ध्या सामान्यसिद्धेस्तस्य हेतुतायाः सर्वत्रिकत्वात् विशेषं विना सामान्यसिद्धेस्तस्या हेतुतायाः सार्वत्रिकसिद्धत्वात् इत्यं सर्वत्रैव समन्तधाल्यर्थस्यानुप्रयुज्यमानधाल्यर्थं हेतुत्वं प्रदर्शितमित्यवघातव्यम् । नैवमित्यनुक्ता सत्यमेतदित्युक्ताऽस्य समाधानस्यादृश्यत्वं प्रतिपादितं किन्वापाततः प्रतीतिमान्यर्थेभ्यश्चात्रमित्याह किन्तु स्थितेष्विति प्रयोगबाहुल्येन स्थितेष्वित्यर्थः । आपाततः प्रतीतिमान्यर्थेसाच्चिण आद्रियन्ते सचेतस एवेति ।

असादृश्यासम्भवावपि उपमायाम् अनुचितार्थतायामेव पर्य-
वस्यतः । यथा,

यथासि काव्यशशिनं विततार्थैरश्मिम्, [असा०]

अत्र काव्यस्य शशिना अर्थानाञ्च रश्मिभिः साधर्म्यं
कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम् ।

निष्पेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः

शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।

जाञ्ज्वल्यमाना इव वारिधारा

दिनाङ्गभाजः परिवेशिनोऽर्कात् ॥ [अस०]

अत्रापि ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्यमण्डलात् निष्पतन्त्यो न-
सम्भवन्तीत्युपनिबध्यमानोऽर्थोऽनौचित्यमेव पुष्पाति ।

उत्प्रेक्षायामपि, सम्भावनं ध्रुवेवादय एव शब्दा वक्तुं
सहन्ते, न यथाशब्दोऽपि, केवलस्य अस्य साधर्म्यमेव प्रतिपाद-

असादृश्वेति । असादृश्यं सादृश्यविरुद्धः असम्भव उपमानस्यश्चिन्तितस्य
श्लोकत्वम् अनुचितार्थतायामिति अनुचितार्थत्वसानान्यत्वस्यस्य उपमानजात्यादि-
नूनाधिकत्वप्रदर्शने दर्शितत्वस्यात्रापि सत्त्वात् ।

यथामोति । काव्यं शशोव अर्था रश्मय इवेति समासः । कृतकस्यापि सादृश्य-
रूपकत्वात्तत्राप्ययं दोष इत्यभिप्रायः । अत्र काव्यशशिनीर्यैरश्मिणीषु उपमायामसा-
दृश्यं यादृश्यति अत्रेति असम्भवमुदाहरति ।

निष्पेतुरिति । आकर्षककटाङ्गुली वीरेषु मुच्यमानानां वाचानां वर्धनमिदम् । दीप्ताः
शरास्तस्य वीरस्य आस्यादिव निष्पेतुः । आस्यात् कोटशात् धनुर्मण्डलमध्यभाजः
धनुष आकर्षककर्षणे आस्यस्य तथात्वात् तत्र दृष्टान्तमाह जाञ्ज्वल्येति परिवेशिनी
नध्याङ्गार्कात् जाञ्ज्वल्यमाना वारिधारा इवेत्यर्थः । धनुर्मण्डलस्थाने परिवेशः
नद्यात् अभूतीपमेति वाच्यम् । सम्भावनयापि प्रकृष्टिसम्भव एव तथात्वादिति
व्याख्यातं नद्याकाण्डीदनात् इत्यादिश्लोकव्याख्यावसरे । उत्प्रेक्षायामपि दोषमाह ।

उत्प्रेक्षायामपीति । केवलस्यास्वेति असमासस्य क्लेशार्थः । समासे तु साध-

यितुं पर्याप्तत्वात्, तस्य चास्यामविवक्षितत्वादिति तत्राशक्ति-
रस्यावाचकत्वं दोषः । यथा,

उद्ययौ दीर्घिकागर्भात् मुकुलं मेचकोत्पलम् ।

नारोलीचनचातुर्यशङ्कासङ्गुचितं यथा ॥

उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वात् निरुपा-
ख्यप्रख्यं तत्समर्थनाय यदर्थान्तरन्यासोपादानं, तत् आलेख्य-
मिव गगनतलेऽत्यन्तमममौचौनमिति निर्विषयत्वमेतस्य
अनुचितार्थतैवं दोषः । यथा,

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लौने दिवाभीतमिवाश्वकारम् ।

चुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव ॥

अत्राचेतनस्य तमसो दिवाकरात् त्रास एव न सम्भवतीति
कुत एव तत्रयोजितमद्रिणा परिव्राणं, सम्भावितेन तु रूपेण

व्याघ्रकत्वमप्यस्य नास्तीति भावः । यथा यथासम्भवं यथायोगं यथोचितं यथास्व-
यथासङ्गं यथानामगतस्येत्यादिषु ।

उदययाविति । मेचकोत्पलमिति तद्वितान् प्रत्ययान्तं मेचकोत्पलीयमित्यर्थः ।
चातुर्यशङ्का चातुर्यपातः स्वपराजयशङ्का । उत्प्रेक्षितार्थेऽर्थान्तरन्यासोऽप्युक्त-
लक्षणाक्रान्तत्वे नानुचितार्थत्वं एव निवेशित इत्याह ।

उत्प्रेक्षितमपीति । तात्त्विकेन याथार्थ्येन उपाख्या संज्ञा निरुपाख्यं संज्ञा-
विशेषरहितमस्तीकं यदस्वन्तरं तन्मुख्यं तत्समर्थनाय तत्सत्यत्वप्रतिपादनाय आलेख्यं
चित्रलंखा ।

दिवाकरादिति । यो हिमालयः गुहासु लौनमश्वकारं दिवा दिवसे दिवा-
कराद्रक्षति तथीत्प्रेक्ष्यते भूतमिवेति । इत्युत्प्रेक्षितभीततमोरक्षणं सत्त्वत्वेन
प्रतिपादयितुमर्हान्तरं न्वस्यति चुद्रेऽपीति न केवलं शरणापन्ने महति जन एव उच्चैः-
शिरसां विभूत्याद्युन्नतशिरसामुच्चशिखराणाञ्च रक्षणप्रयोजकं ममत्वम् अपि तु चुद्रे-
ऽपीत्यर्थः । अत्र वक्ष्यमाणशरणागतसामाश्वेन वक्ष्यमाणविशेषस्य तमसः समर्थनम् ।

अचेति । ननु यद्यस्तीकार्यसमर्थनायाथान्तरन्यासोऽनुचितस्तत्कथं सुसितवसना-
लङ्कारायामित्यत्र गीयमानकीर्त्या वस्तुतोऽप्रकाशिकयाप्यभिसारिकया निःशङ्कं प्रिय-

प्रतिभासमानस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति व्यर्थ एव तत्समर्थनायां यन्नः । साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमप्युपमानविशेषं प्रकाशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावात् अनुपादेयत्वं यत् तत् अपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तता वा दोषः । यथा,

सृशति तिग्मरुचौ ककुभः करै-
 दयितयेव विजृम्भिततापया ।
 अतनुमानपरिग्रहया स्थितम्
 रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया ॥

ग्रहणमनमुखमलीकं भणसीत्यनेन समर्थितमित्यत आह सम्भावितेनेति । तत्र हि नीत्प्रेषा किन्तु अलीकमपि शीर्ष्यां सुखेन प्रियग्रहणमनं प्रौढोक्तिवशात्प्रस्थितमत-
 सन्नानुपपत्त्यवतारि तन्निरासीऽर्थान्तरग्रासनं कृतः । प्रकृतं तूत्प्रेषायामसम्भावितमेव भीततमसी रक्षणमलीकत्वेनैव प्रतिभासमानमप्रौढोक्तिसिद्धत्वे नाहाय्यज्ञानस्याप्य-
 विशेषमर्थान्तरन्यासनिरसनीयानुपपत्तिसत्त्वं नावतरतीत्येवार्थः । समासोक्तिलभ्या-
 र्थस्य शब्देन कथनमपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तदोषे वाऽभिनिविशत इत्याह साधारण्येति ।
 प्रकृतसाधारणविशेषणवशादनुक्तमप्युपमानविशेषं समासोक्तिः प्रकाशयतीत्यतस्तस्या-
 नुक्तस्थोपमानस्य शब्देन पुनः प्रतिपादने प्रयोजनाभावादनुपादेयतायां सत्यां यत्त-
 दुपादानं तदुपाष्टार्थत्वं पुनरुक्तत्वं वा दोष इत्यर्थः । विशेषणपदस्त्वेवापुष्टार्थत्वं
 समासोक्तिलभ्यार्थस्य तु विशेष्यत्वेनापुष्टार्थत्वाभावात्तत्र सम्भवतीत्यत आह पुनरुक्तं
 वा इति ।

सृशतीति । दीर्घतरदिवसश्रीवर्षंनमिदम् । तिग्मरुचौ मूर्ध्ने करैः रश्मिभिः
 ककुभो दिशः सृशति सति चिरया दीर्घयापि दिनश्रिया अतनीरनल्पस्य मानस्य
 परियही यस्या स्तादृश्या स्थितम् । अतनुना अनङ्गेन यो मानः क्रीडस्तत्परियङ्गया
 दयितयेव दिनश्रीदयितयो हयोरपि विशेषणान्तरदयमाह विजृम्भितेति रुचिरयेति
 च चण्डकराधीनो दिनश्रियः मानाधीनश्च दयितायास्तापः भेषशिशाद्यभावा-
 ज्जोनश्रियः सौन्दर्याच्च दयिताया रुचिरता । अत्र करपदद्वेषात् पाणिनाऽन्य-
 नायिका स्पर्शिनं स्वनायकं दृष्ट्वा मानिन्वाः स्वनायिकायाः समासोक्तिवशात् प्रतीति-

अत्र तिग्मरुचेः ककुभाश्च यथा सदृशविशेषणवशेन व्यक्तिः विशेषपरिग्रहेण च नार्थकतया नार्थिकात्वेन व्यक्तिः, तथा शेषदिवसत्रियोऽपि प्रतिनार्थिकात्वं भविष्यतीति किं दयितयेति स्वशब्दोपादानेन । शेषोपमायास्तु स विषयः, यत्र उपमानस्योपादानमन्तरेण साधारणेष्वपि विशेषेषु न तथा प्रतीतिः, यथा,

स्वयञ्च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता ।

प्रभातमभ्ये वाखापुफललुब्धेहितप्रदा ॥ इति ।

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि उपमेयम् अनयैव रीत्या प्रतीतं न पुनः प्रयोगेण कदर्थता नैयम् । यथा,

आहृतेषु विहङ्गमेषु मशकी नायान् पुरो वार्थ्यते,

मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम् ।

नव च तोम्बरुचे नीयकत्वस्य ककुभां प्रतिनार्थिकात्वस्य च यथा समासोक्तिवशात् प्रतीतिस्तथा दिनत्रियोऽपि मानिनो नार्थिकात्वेन प्रतीतिसम्भवे दयितमर्वेति यदुक्तं तत् पुनरुक्तदोष इत्याह ।

अत्रेति । सदृशविशेषणमुभयसाधारणधर्मः तच्च तिग्मरुचिनायकयोः करणान्यनार्थिकास्यार्थत्वं ककुपुप्रतिनार्थिकयो नार्थककरस्यप्रमानत्वं दिनत्र्योनार्थिकयोस्तु तद्वशंनविजृम्भिततापत्वमतनुमानपरिग्रहणं रुचिरत्वसाध्यक्तिविशेषः । शब्दस्य स्तोपुलिङ्गं तच्च तिग्मरुचिनायकयोः पुलिङ्गम् अन्वार्सा स्त्रीलिङ्गं मन्त्रियं शेषोपमेवास्तु न समासोक्तिरित्यत आह शेषोपमायास्त्विति ।

स्वयञ्चेत्यादिकं व्याख्यातं प्राक् । अत्र प्रभातसभ्यापदे शेषोपमाप्रतीतिः । समासोक्तौ यथा अप्राकरणिकस्य शब्दवाच्यत्वे पुनरुक्तिर्दर्शिता तथा अप्रस्तुतप्रशंसायामपि प्रांकरणिकस्य शब्दवाच्यता पुनरुक्तिरित्याह ।

अप्रस्तुतप्रशंसायामपीति । आहनेष्विति । सामान्य निरुद्धं जन्म धिक् यतोऽचेतसं भद्राभद्ररहितचित्तम् अनाद्यष्टम् अपरिभाषितं तत्त्वं भद्राभद्रं येन तादृशमानसं चेती यस्य तादृशं प्रभुमिव । सामान्यस्याचेतसं दर्शयति ।

आहनेष्विति । विहङ्गमेषु विह्वयसा गच्छन्, आहनेषु सत्सु, विह्वयीगामि-

खद्योतीऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनाम्
धिकं सामान्यमचेतसं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥

अत्र, अचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुतविशिष्टसामान्यद्वारेण अभि-
व्यक्तौ न युक्तमेव पुनः कथनम् । तदेतेऽलङ्कारदोषाः यथासम्भ-
विनोऽन्येऽप्येवञ्चातीयकाः पूर्वोक्तयैव दोषजात्या अन्तर्भाविताः
न पृथक् प्रतिपादनमहन्तीति

सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम् ।

इति काव्यप्रकाशेऽर्थालङ्कारनिर्णयो नामं

दशम उक्तासः ।

समाप्तश्चायं श्रीमन्नटभट्टकृतः काव्यप्रकाशः ।

त्वेन मशकः अपि पुरः आयान् आगच्छन् न वाप्येते अवारणे तु आगच्छति इत्येवम्
आगमनम् एव विधेयं बोध्यम् न तु वारणं तस्याः चेतःकृत्यत्वाभावात् तथा दृष्टमणिः
मणिस्थलाकर्षकः अन्यमूल्यमणिः महामूल्यमणीनां कर्षं धत्ते यतो मध्येवारिधि
वारिधेर्मध्ये वासवान् वारिधिमध्यवासंसाभ्यासत् स्थितमहामूल्यमणिरुचिधरणं मध्ये
वां धुरि वा वसन्निति क्वचित्पाठः । तदा च धूः स्वी क्रीवे यानसुखमिति कीषात्
धुरि यानस्य सुखे वा तस्य मध्ये वा वसन्नित्यर्थः । यानश्रीभाकारित्वासाभ्या
महामूल्यमणिधारणं तथा तेजस्विनां मृधादीनां मध्येऽर्थाद्रणनायां प्रचलितुं
गन्तुं खद्योतीऽपि न कम्पते न विभेति गच्छत्येवेत्यर्थः । अत ईदृशानुचितकारित्व-
वशादेव सामान्यानामचेतस्त्वम् । अत्र अचेतसः प्रभोर्मशकाद्यप्रस्तुतकथनादिव
प्राप्तिसम्भवे शब्दवाच्यत्वं पुनरुक्तिरेवेत्याह ।

अत्राचेतस इति । अप्रस्तुता आगमनाद्यनुचितकारिणी मशकादेवः । इदानी-
मेवां दाषा यथायोगमिति कारिकाश्लेषसंहृत्य दर्शयति तदेते इति ।

इति काव्यप्रकाशे दशमीऽङ्कासः ।

पण्डितकुलश्रुतिना वि, ए, उपाधिधारिणा श्रीजीवानन्दविरासागरभट्टाचार्ये

श्रीमद्भारत्यालङ्कारकृता व्याख्यानवल्गव्यं सङ्क्षिता व्याख्या समाप्ता ।

समाप्तश्चायं यत्नः ।

